गुरुकुल-शोध-भारती

2005 Ma:—Oct.

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका
(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रोफेसर ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार-249404

संस्थापक
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
The Founder of
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
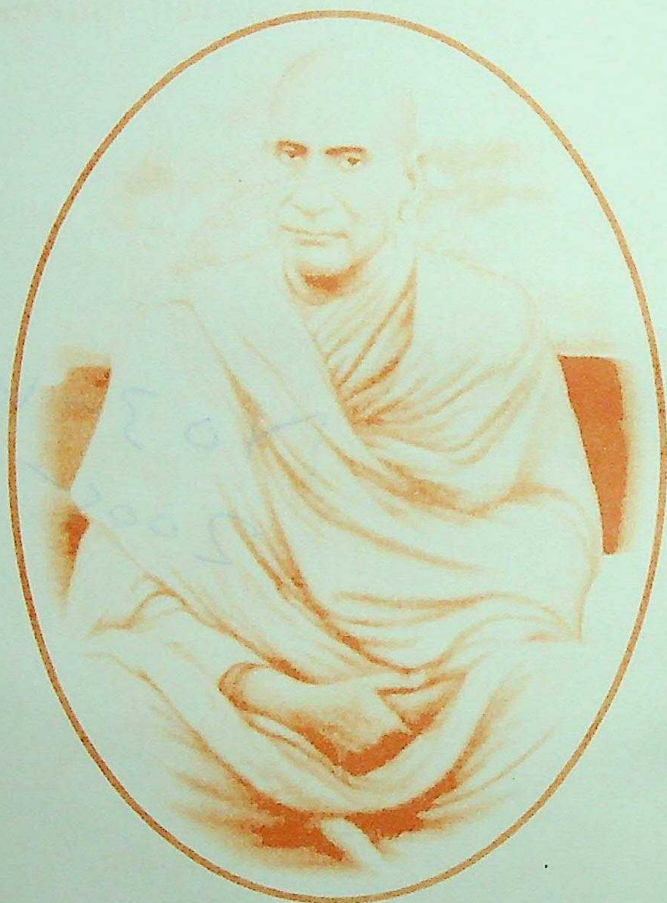
स्वामी श्रद्धानन्द जी
Swami Shraddhanand Ji

(1856 – 1926)

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (तृतीयोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

अंक 3 मार्च 2005

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

2005

सम्पादक-मण्डल

प्रकाशक प्रो. ए.के. चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

मूल्य १०० रुपये वार्षिक

मुद्रक- किरण प्रिन्टिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार- फोन २४५६७५

विषयानुक्रमणिका

1.	सम्पादकीयम्	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री	1
2.	श्लेषकाव्यपरम्परा	प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री	11
3.	वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा	प्रो. अमरनाथ पाण्डेय	21
4.	ऋग्वेद में उपसर्ग	डॉ0 महावीर अग्रवाल	27
5.	ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात	डॉ0 मीरा रानी रावत	35
6.	वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र	डॉ0 सोमदेव शतांशु	41
7.	निघण्टु में अनुपलब्ध-निरुक्त में व्याख्यात पद	डॉ0 वेदपाल	47
8.	वेदों में निहित लोकमंगल की भावना	डॉ0 मंजुलता शर्मा	54
9.	वैदिक यज्ञ और महर्षि दयानन्द सरस्वती	डॉ0 बलवीर आचार्य	59
10.	वैदिक पञ्चकोश-एक विवेचन	डॉ0 कृष्णा आचार्य	74
11.	काम, क्रोध व लोभ के शमन में सहायक मन्त्र	ले0 मनोहर विद्यालंकार	81
12.	वैदिक वाङ्मय में पशुतत्त्वचिन्तन	डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा	85
13.	वैदिक इन्द्र के विभिन्नार्थ-दर्शन	डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार	89
14.	वेदों में यज्ञ	डॉ0 रमा दुबे	95
15.	उपनिषदों का एक भौगोलिक अध्ययन	डॉ0 विजेन्द्र कुमार तोमर	101
16.	आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण	डॉ0 जगत नारायण त्रिपाठी	110
17.	जैन चिन्तन में कर्मफलभोग	डॉ0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार	115
18.	श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग	डॉ0 (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता	121
19.	महाभारत का वनपर्व-आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में	डॉ0 (श्रीमती) निरूपा सिंह	125
20.	कालिदास और वैदिक व्यवस्था	डॉ0 वेदप्रकाश उपाध्याय	129
21.	कालिदास का प्रकृतिदर्शन	कु0 पुष्पा	134
22.	पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्	डॉ0 भारतेन्दु पाण्डेयः	140
23.	डॉ0 रामकिरण शर्मा के उपन्यासों में आदर्शवाद	डॉ0 मंजुल गुप्ता	144
24.	राजशेखर और साहित्यिक आदान-प्रदान	डॉ0 किरण टण्डन	157
25.	शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ	डॉ0 वीना बिश्नोई शर्मा	165
26.	भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य के कवि पन्त	डॉ0 सत्यप्रकाश शर्मा	174
27.	मानसिक स्वास्थ्य का सुधार एवं उन्नति	डॉ0 विजयलक्ष्मी	187
28.	नारी-मानव-निर्माण	डॉ0 मृदुल जोशी	192
29.	प्राचीन भारत में सती-प्रथा	डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता	196
30.	Yajna and air Pollution	D.R. Khanna	204
31.	Yajna Samagri for different season	Navneet and Prabhat	212
32.	Globaliation of Ayurveda and its Impact on South East Asia	Dr. S.K. Joshi	221
33.	Water in Vedas	R. Bhutiani & D.R. Khanna	225
34.	Stress and Health	Vikram Singh & Dr. C.P. Khokar	232

ब्राह्मण-साहित्य में अध्यात्म

विश्वसाहित्य की सबसे प्राचीनतम धरोहर वेद है। वेद उस ज्ञानराशि का नाम है, जिसमें समस्त मानवीय मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ आत्मचिन्तन भी मुखरित हुआ है। उपर्युक्त साहित्य में जीवन को जीने के लिये जिन मानदण्डों की स्थापना की गयी है, वे यथार्थ अनुभूति पर आधारित हैं, इसलिये वेद का यथार्थ सत्य है और जीवन का यथार्थ भी इससे भिन्न नहीं है। सम्भवतः, इसी कारण ब्राह्मणग्रन्थ सत्यवक्ता को धर्म वक्ता और धर्मवक्ता को सत्यवक्ता मानता है।[१] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवनयात्रा का प्रथम सोपान भी सत्य है और अन्तिम सोपान भी।

आचार्य यास्क ने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा माना है। इन ऋषियों ने अन्तर्दृष्टि विहीन परवर्ती पीढ़ियों को मन्त्र का उपदेश दिया। समय के साथ आगे आने वाली पीढ़ियाँ, जब मन्त्र के उपदेश को समझने में असमर्थ हो गयीं, तब इस निरुक्त, वेद तथा वेदाङ्गों का समाम्नान किया गया।'[२]

उपर्युक्त यास्क के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदाङ्ग अर्थात् वेद को समझने में सहायक ब्राह्मणग्रन्थ आदि का गठन किया गया। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र और ब्राह्मण मूलतः, भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वेद के मर्म को हृदयङ्गम कराने के लिये, जिन विधाओं का गठन प्रारम्भ हुआ, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण विधा ब्राह्मण ग्रन्थ है। ब्राह्मण के विषय में ब्राह्मणग्रन्थ कहता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही ब्राह्मण हुए।[३] इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि सृष्ट वाणी को चार भागों में बाँटा गया तथा जो वाक् शेष रह गयी, उसको ब्राह्मण में स्थापित कर दिया गया, अतः, ब्राह्मण दो प्रकार की वाणी बोलते हैं, एक वेद की और अन्य जो वेद की नहीं है।[४] इससे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों की विषयवस्तु वेद से भिन्न भी है।

जहाँ तक ब्राह्मण-साहित्य में अध्यात्म का प्रश्न है, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त साहित्य की मुख्य धारा अध्यात्म नहीं है। वैदिक काल का ऋषि जिस तरह सत्य की गवेषणा के लिये

---

१ शत०ब्रा०,१४.४.२.२६. 'यो वै सधर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति।'

२ निरु०,१.२०.

३ जै०ब्रा०,२.२६६. 'ऋषिर्ह स्म मन्त्रकृद् ब्राह्मण आजायते।'

४ मै०सं०,१.११.५. 'सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् . . . . ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुस्तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न।'

कटिबद्ध दिखायी देता है, उस प्रवृत्ति के दर्शन ब्राह्मण-साहित्य में नहीं होते। यह शैलीगत भिन्नता सर्वथा अस्वाभाविक नहीं है।

ब्राह्मण-साहित्य में, निरुक्त की तरह, अधिदैवत और अध्यात्म शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। ब्राह्मणग्रन्थ 'अयन' शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है कि आदित्य ही अयन है, क्योंकि वही लोकों में जाता है, यह अधिदैवतपक्ष है। प्राण ही अयन है, क्योंकि वही सबमें गतिशील रहता है, यह अध्यात्मपक्ष है।[1] एक अन्य स्थल पर 'अक्षर' की त्रिविध व्याख्या करता हुआ ब्राह्मणग्रन्थ कहता है कि तीन सौ साठ अक्षर, तीन सौ साठ ऊष्म तथा तीन सौ साठ सन्धियाँ हैं। जो अक्षर हैं, वे दिन हैं, जो ऊष्म हैं, वे रात्रियाँ हैं और जो सन्धियाँ हैं, वे अहोरात्र की सन्धियाँ हैं, यह अधिदैवतपक्ष है। अधिदैवतपक्ष में अक्षर थे, वे अध्यात्मपक्ष में अस्थियाँ हैं और जो अधिदैवतपक्ष में ऊष्म थे, वे अध्यात्मपक्ष में मज्जा हैं।[2]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में अध्यात्म वह है, जो कर्मकाण्ड प्रधान बाह्य जगत् से हटकर शरीर की ओर केन्द्रित होता है। हम कह सकते हैं कि जिसमें चिन्तन की दृष्टि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होती हो, वह अध्यात्म है। इस पथ का पथिक समस्त प्रपञ्चों से मुक्त होकर अपने को जानने का प्रयास करता है। तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है कि 'सावित्र अग्नि को जानने वाला, इस लोक से मुक्त होकर आत्मा को जानता है कि यह मैं हूँ।'[3] 'यह मैं हूँ' इस सत्य का साक्षात्कार ही आत्म अथवा अध्यात्म दर्शन है। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि यह जो शरीर में तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही अध्यात्म है और जो आत्मा है, वह अमृत है तथा यह सब कुछ ब्रह्म है।[4]

उपर्युक्त शतपथ-ब्राह्मण के उद्धरण से आत्मा तेजोरूप, अविनाशी तथा सर्वव्यापक सिद्ध होती है। वह पुरुष होने के कारण ब्रह्म है। ब्राह्मणग्रन्थ इस आत्मा को अविनाशी के साथ अविच्छेद्य भी मानता है।[5]

ब्राह्मणग्रन्थ के अनुसार अन्तरात्मन् पुरुष हिरण्मय है, वह धूमरहित ज्योति, आकाश, पृथिवी, सम्पूर्णभूत इत्यादि की अपेक्षा बहुत बड़ा है। वह प्राण का आत्मा है, मेरा आत्मा है। ऐसे इस आत्मा को इस

---

१ जै०ब्रा०,२.२९. 'आदित्य एवायनम्। स ह्येषु लोकेष्वेति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। प्राण एवायनम्। स ह्यस्मिन् सर्वस्मिन्नेति।'

२ ऐ०आ०,३.२.२-४. 'अथाध्यात्मम्। यान्यक्षराण्यधिदैवतमवोचामास्थीनि तान्यध्यात्मं यानूष्मणोऽधिदैवतमवोचाम मज्जानस्तेऽध्यात्मम्।'

३ तै०सं०,३.१०.११.१. 'अथ यो ह वैतमग्निः सावित्रं वेद। स एवास्माल्लोकात्प्रेत्यात्मानं वेद। अयमहमस्मीति।'

४ शत०ब्रा०,१४.५.५.१. 'यश्चायमध्यात्मः शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्।'

५ शत०ब्रा०,१४.७.३.१५. 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।'

लोक को छोड़ने के बाद प्राप्त करूँगा। जिसके प्राप्त होने पर, फिर वास्तव में, कोई सन्देह नहीं रहता।[१] उक्त उद्धरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि इन लौकिक पदार्थों की तुलना में वह आत्मतत्त्व अधिक व्यापक तथा इनसे पृथक् भी है।

शाङ्खायन-आरण्यक कहता है कि नेति, नेति के द्वारा उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये, यह जो कुछ भी है, वह सब कुछ आत्मा है। उसको **'तत्त्वमसि'** के द्वारा जानना चाहिये कि मैं ब्रह्म हूँ। यह आत्मा ब्रह्म है, यह सबकी अनुभूति है, ऐसा आचार्य याज्ञवल्क्य का उपदेश है।[२] यह सब कुछ आत्मा ही है, इस तथ्य की पुष्टि शतपथ-ब्राह्मण से भी हो जाती है।[३] कहीं आत्मा को लौकिक पदार्थों से पृथक् बताया गया है, तो कहीं जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है,- का प्रतिपादन ब्राह्मणों ने किया है। स्थूलदृष्ट्या इन दोनों तरह के वक्तव्यों में अन्तर है, परन्तु तत्त्वदृष्टि से विवेचन करने पर दोनों कथनों में पूर्ण अविरोध है। जहाँ ब्राह्मण की भेदक दृष्टि है, वहाँ वह सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का प्रतिपादन करना चाहता है और जहाँ अभेद दृष्टि है, वहाँ वह सर्वकाल में, सर्वत्र स्थित रहने वाले स्वरूप को ध्यान में रखकर वक्तव्य देता है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादन करने की एक विशिष्ट शैली है। वह एक ही वस्तु को अनेक रूपों में और अनेक वस्तुओं को एक रूप में प्रतिपादन करता है, जैसे-आत्मा को त्रिष्टुप्,[४] देवता,[५] पङ्क्ति,[६] पञ्चमी,[७] प्रजा,[८] यजमान,[९] वपा,[१०] वृषाकपिः,[११] यज्ञ का होता,[१२] हृदय,[१३] प्रजापति,[१४] वाक्[१५] इत्यादि अनेक

---

१ शत०ब्रा०,१०.६.३.२. 'अयमन्तरात्मपुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान्दिवो ज्यायानाकाशाज्ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्सर्वेभ्यो भूतेभ्य स प्राणस्यात्मैष मऽआत्मैतमित आत्मानं प्रेत्याभिसंभविष्यामिति। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति।'

२ शां०आ०,१३.१. 'स एष नेत्यात्मा न गृह्यः। . . . . . .इदं सर्वं यदयमात्मा, स एष तत्त्वमसीत्यात्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मीति. . . . .अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनमिति याज्ञवल्क्यः।'

३ शत०ब्रा०,४.२.२.१. 'सर्वꣳ ह्ययमात्मा।'

४ शत०ब्रा०,६.२.१.२४.

५ तै०सं०,२.५.११.६.

६ ऐ०ब्रा०,२.२१.

७ काठ०सं०,२२.४.

८ षड्०ब्रा०,२.८.

९ गो०ब्रा०,२.५.४.

१० तै०सं०,६.३.९.

११ ऐ०ब्रा०,६.२९.

१२ कौ०ब्रा०,९.६.

१३ मै०सं०,३.१०.२.

१४ शत०ब्रा०,४.६.१.१.

१५ मै०सं०,१.९.५.

रूपों में देखता है। इस शैलीगत विशिष्टता के कारण आचार्य यास्क ब्राह्मणों के विषय में कहते हैं कि **'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति'**[१] कि किसी गुण वैशिष्ट्य के आधार पर ब्राह्मण सभी को सब प्रकार से कहता है।[२] परन्तु वर्णन की यह शैली सर्वथा निराधार नहीं है, कोई न कोई तत्त्व उसके मूल में होता है। सम्भवतः, वैदिक साहित्य में इस प्रकार की शैली के अन्यत्र दर्शन नहीं होते। इस शैली का आधार भारतीय दर्शन का अध्यात्म-चिन्तन है। एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की अवधारणा का, जितना सफल प्रयोग, ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ है, वैसा विश्वसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिये निश्चयात्मकता का अभाव होते हुए भी यह ग्राह्य है। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अपनी परम्परा से ब्राह्मणग्रन्थ के ऋषियों को शब्द और उसके अर्थ को देखने की एक विशिष्ट शैली प्राप्त हुई, जिसमें वैदिक शब्दों के विविध अर्थ निहित हैं। मन्त्रार्थ करते समय उनमें से किसी एक अथवा अनेक अर्थों को लेकर प्रकरण आदि के औचित्य के आधार पर मन्त्र की व्याख्या करनी चाहिये।

उपर्युक्त शैली के परिप्रेक्ष्य में हम ब्राह्मणग्रन्थों के अध्यात्म-चिन्तन की विवेचना करेंगे।

अक्षर को स्पष्ट करते हुए जैमिनीयोपनिषद् में कहा गया है कि वह नष्ट नहीं होता, इसलिये उसका नाम 'अक्षय' है, परोक्षवृत्ति में 'अक्षय' ही 'अक्षर' होगया है।[३] गोपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि देवता परोक्षप्रिय और प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले होते हैं।[४] शतपथ-ब्राह्मण देवताओं को परोक्ष मानता है और उन्हें परोक्षकाम बतलाता है।[५]

उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि देवता परोक्षप्रिय हैं। इस तथ्य की परीक्षा, चाहे हम, व्याकरण की दृष्टि से करें या फिर दार्शनिक दृष्टि से, दोनों दृष्टियों से देखने पर लगभग ९० प्रतिशत देवतावाचक शब्द अव्युत्पन्न अथवा ऐकपदिक हैं। प्रस्तुत अक्षर शब्द भी पाणिनि व्याकरण में उणादिकोष की सहायता से व्युत्पन्न किया जाता है।[६] यह भी नहीं माना जा सकता कि आचार्य पाणिनि को देवतावाचक पदों का ज्ञान नहीं था। जो आचार्य अपने व्याकरण की आधारशिला वैदिक साहित्य को बनाकर चल रहा हो, जिसका प्रत्येक प्रत्यय, आगम और आदेश वैदिक स्वरप्रक्रिया को ध्यान में रखकर कल्पित किये

---

१ निरु०,७.२४.

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ७१०.

३ जै०उप०,१.७.२.२. 'यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षरम्। अक्षयं ह वै नामैतत्। तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते।'

४ गो०ब्रा०,१.२.२१. 'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।'

५ शत०ब्रा०,३.१.३.२५. 'परोक्षं वै देवाः।' शत०ब्रा०,६.१.१.२, ७.४.१.१०. 'परोक्षकामा हि देवाः।'

६ उणा०,३.७०. 'अशेः सरन्।'

गये हों, वह देवता वाचक पदों से अपरिचित रहा हो, नहीं माना जा सकता। पर फिर भी उसने इन पदों को व्युत्पन्न बनाने का प्रयास नहीं किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि पाणिनि ने **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः'** सिद्धान्त का अनुसरण किया है।

दार्शनिक दृष्टि से देखने पर भी देवता परोक्षप्रिय सिद्ध होते हैं। देवता या आत्मतत्त्व की प्राप्ति सहज नहीं होती। उसके लिये एक जीवनदृष्टि का विकास परम आवश्यक है। धर्म का तत्त्व जितना गूढ है, उसे देखते हुए उपर्युक्त वक्तव्य सर्वथा युक्तिसङ्गत है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति धर्मरूपी वृक्ष का फल है, अतः, परोक्ष को प्रत्यक्ष करने का सङ्केत देकर ब्राह्मणग्रन्थ अध्यात्म दर्शन की दिशा का निर्देश कर रहे हैं।

एकत्व में अनेकत्व का दर्शन और अनेकत्व की एकता में प्रतिष्ठा अध्यात्म दर्शन का आधार है। शतपथ-ब्राह्मण में अग्नि को रुद्र, वरुण, इन्द्र और ब्रह्म कहा गया है। जब अग्नि प्रदीप्त होकर द्योतित होता है, तब वह रुद्र है,[१] जब यही अग्नि प्रदीप्ततर होता है, तब वह वरुण है,[२] जब यह प्रदीप्त होकर ऊँचे उठते हुए धूम समूह के साथ अत्यन्त वेग से प्रज्वलित होता है, तब वह इन्द्र है,[३] जब इसकी ज्वालायें तिरछी होकर शान्त होती हैं, तब वह मित्र है,[४] और जब यह अङ्गार रूप में चमकता है, तब वह ब्रह्म है।[५] काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण से भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।[६] रुद्र से प्रारम्भ होकर, ब्रह्म तक की अवस्थायें अग्नि के क्रमिक विकास को द्योतित करती हैं। ब्रह्म से पूर्व तक की सभी अवस्थाओं में क्रियाशीलता विद्यमान है, परन्तु ब्रह्म में पहुँचकर क्रिया निष्क्रिय हो जाती है। इस निष्क्रियता की प्राप्ति ही ब्रह्म है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य और स्पष्ट होता है कि वह एक वस्तु अवस्था में अन्तर आ जाने अथवा अपने सहजरूप को प्राप्त होने पर ब्रह्म बन जाती है। योगदर्शन में योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध योग है।[७] यहाँ वृत्ति-निरोध से तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के शमन से है। उपर्युक्त ब्राह्मण-साहित्य के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

---

१ शत०ब्रा०,२.३.२.९. 'अथ यत्रैतत्प्रथमः समिद्धो भवति, धूप्यत एव तर्हि हैष भवति रुद्रः।'
२ शत०ब्रा०,२.३.२.१०. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति, तर्हि हैष भवति वरुणः।'
३ शत०ब्रा०,२.३.२.११. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति, उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति, तर्हि हैष भवतीन्द्रः।'
४ शत०ब्रा०,२.३.२.१२. 'अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः।'
५ शत०ब्रा०,२.३.२.१३. 'अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकाश्यन्त इव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म।'
६ का०शत०ब्रा०,३.१.२.१. 'स यत्र ह वा एष प्रथमः संप्रधूप्य प्रज्वलति तद्ध वरुणो भवति, अथ यत्र संप्रज्वलितो भवत्यवरेणेव वर्षिमाणं तद्ध रुद्रो भवत्यथ यत्र वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवत्यथ यत्र नितरामर्चयो भवन्ति तद्ध मित्रो भवति, अथ यत्राङ्गारा मल्मलायन्तीव तद्ध ब्रह्म भवति।'
७ योगदर्शन, १.१.

अग्नि पद का निर्वचन करते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि सबसे पहले उत्पन्न होने के कारण यह 'अग्रि' है और परोक्षवृत्ति में यह 'अग्रि' ही 'अग्नि' हो गया है।[1] पुरुष सूक्त में पुरुष से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्त्व 'विराट्' है।[2] शतपथ-ब्राह्मण की दृष्टि में 'अग्नि' और पुरुषसूक्त के ऋषि की दृष्टि में 'विराट्' अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया का प्रथम चरण है। अग्नि की अग्रता का आधार प्रकाश है और विराट् अथवा महत् की महत्ता का आभास विना प्रकाश के सम्भव नहीं है, अत:, विराट् और अग्नि एक तत्त्व के दो नाम हैं।

ब्राह्मण-साहित्य में ब्रह्म को अग्नि बताया गया है।[3] शतपथ-ब्राह्मण में अग्नि को ब्रह्म का मुख कहा गया है।[4] काठक-संहिता में मुख से उत्पन्न होने वाला तत्त्व अग्नि बताया गया है।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अग्नि है, उसका मुख भी अग्नि है और उस मुख से उत्पन्न होने वाला भी अग्नि है। कहने का आशय यह है कि सत्ता भी अग्नि है और सत्ता का विकार भी अग्नि है। सत्ता का जन्म सत्ता से होता है और विलय अथवा मृत्यु भी सत्तारूप होती है। सम्भवत:, इसीलिये वैदिक ऋषि **'पुरुष एवेदं सर्वम्'**[6] के रूप में शाश्वत सत्य का उद्घोष करता है। यही पुरुष प्रलय अवस्था में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।[7] ब्राह्मण-साहित्य में सत्ता के सत् और असत् रूपों का वर्णन निश्चय ही वैदिक परम्परा के दार्शनिक विकास को द्योतित करता है।

ब्राह्मण-साहित्य में सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो देवता और प्राणों से भिन्न है, वह सत्य है। देवता और प्राण त्य अर्थात् प्रथम पुरुष है।[8] कहा गया है कि प्रजापति प्रजा को उत्पन्न करके पुन: उसीमें प्रवेश कर गये,[9] यह पुन: प्रविष्ट हुआ आत्मतत्त्व सत् त्यद् अर्थात् स्वयं और स्वयं से भिन्न हो गया।[10] इसलिये जो कुछ भी है, वह सत्य ही है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि 'ओ३म्' सत्य है और

---

१ शत०ब्रा०,६.१.१.११. 'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्।'

२ ऋ०,१०.९०.५.

३ कौ०ब्रा०,९.१.५, जै०ब्रा०,१.१८२. ' ब्रह्म वा अग्नि:।' शत०ब्रा०,१.५.१.११. ' ब्रह्म ह्यग्नि:. . . .तस्मादाह ब्राह्मणेति।'

४ शत०ब्रा०,६.१.१.१०. 'मुखꣳ ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म।'

५ काठ०सङ्क०,१०१. 'मुखादग्निरजायत।'

६ ऋ०,१०.९०.२.

७ ऋ०,१०.१२९.२.

८ शां०आ०,३.६. कौ०उप०,१.६. 'किं तद्यत्सत्यमिति, यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ, यद्देवाश्च प्राणाश्च तत् त्यम्।'

९ काठ०सं०,१२.५, २७.१. 'सेमा: प्रजा असृजत, सा प्रजापतिमेव पुन: प्राविशत्।' ऋ०,१०.९०.४.

१० तै०आ०,८.६.१. तै०उप०,२.६१. 'तदनुप्रविश्य [illegible] यदिदं किंच [illegible]त्याचक्षते।'

'न' अनृत है।[1] कहने का आशय यह है कि भावात्मक सत् है और अभावात्मक असत्। भाव का अस्तित्व होता है और अस्तित्व ही सत्ता है और अभाव अस्तित्व से रहित होता है, अत:, अभाव असत् है। संसार में अभाव के प्राप्त होने वाली वस्तु सत् नहीं हो सकती, इसलिये उसे आत्मा नहीं मान सकते।

एक वस्तु को अनेक कोणों से देखने की प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मणग्रन्थ आत्मा अथवा ब्रह्म को अन्तरिक्ष कहते हैं।[2] अन्तरिक्ष नामकरण का दूसरा कारण जैमिनीयोपनिषद् के अनुसार यह है कि सब कुछ इसके अन्दर स्थित है, इसलिये परोक्षवृत्ति में 'अन्तर्यक्ष' से 'अन्तरिक्ष' शब्द निष्पन्न हुआ है।[3] जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार अन्त: ईक्षण शक्ति के कारण यह 'अन्तरिक्ष' नाम से अभिहित होता है।[4] अन्तरिक्ष के उपर्युक्त सभी निर्वचन अन्तरिक्ष के ब्रह्मत्व को ध्यान में रखकर किये गये हैं, क्योंकि ब्रह्म ब्रह्माण्ड के अन्दर है और ब्रह्माण्ड ब्रह्म के अन्दर। इसके अतिरिक्त अन्त: ईक्षण शक्ति चेतनतत्त्व के प्रत्येक अंश में विद्यमान है। वही अन्तर्यामी होकर इहलोक, परलोक तथा सम्पूर्ण भूतों का अन्दर से नियमन करता है।[5] ब्राह्मणग्रन्थ की दृष्टि से अन्तरिक्ष का अध्ययन करने पर यह तथ्य विशेषरूप से रेखाङ्कित होता है।

ब्राह्मण-साहित्य में 'अप्' शब्द का वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। ब्राह्मण के अनुसार जलरूप होकर प्रजापति ने सबको व्याप्त किया।[6] गोपथ-ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म ने कहा कि मैं इसके द्वारा 'ज़ो कुछ भी है' उस सबको व्याप्त करूँगा, इस कारण आप: होता हुआ वह सभी कामनाओं को व्याप्त कर लेता है।[7]

उपर्युक्त अध्ययन से 'आप:' के सम्बन्ध में एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि व्यापनशीलता के कारण इसका नाम 'आप:' है। यह व्यापनशीलता जहाँ सलिल के पक्ष में घटित होती है, वहाँ वह आत्मतत्त्व की चरित्रगत विशेषता को भी प्रकट करती है। यदि 'आप:' का कोई भौतिक अर्थ है तो निश्चितरूप से उसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। जिस प्रकार विना 'आप:' के सृष्टि को समझना सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार अध्यात्मक्षेत्र में ब्रह्म के आपत्व (व्यापकत्व) को समझे विना आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

---

१ ऐ०आ०,२.३.६. 'ओ३मिति सत्यं, नेत्यनृतम्।'
२ काठ०सं०,१६.२. 'आत्मा अन्तरिक्षम्।' जै०उप०,२.३.३.६. 'तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्।'
३ जै०उप०,१.६.१.४. 'तद्यस्मिन्निदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्। तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते।'
४ जै०ब्रा०,२.५६. 'यदस्मिन् सर्वस्मिन् अन्तरीक्षते तस्मादन्तरिक्षम्।'
५ शत०ब्रा०,१४.६.७.३. 'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयतीति।'
६ शत०ब्रा०,१.१.१.१४, २.१.१.४, ४.५.७.७. 'अद्भिर्वाऽइदं सर्वमाप्तम्।' जै०ब्रा०,१.३१४. 'आपो भूत्वा सर्वमाप्नोत्।' काठ०सङ्क०,४९: ६-७. 'आपो वा इदं सर्वमाप्नुवंस्तदेनमाह सर्वमाप्नुहीति।'
७ गो०ब्रा०,१.१.२. 'तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते।'

ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड परक यज्ञ है। फिर भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि-विधानों की छाया में अध्यात्म का सन्देश मुखरित हुआ है। न केवल अन्य प्रसङ्गों में, अपितु जहाँ विशुद्धरूप से यज्ञ अथवा अग्निहोत्र का वर्णन चल रहा है, वहाँ भी ब्राह्मणग्रन्थों के ऋषि ने यज्ञ का अध्यात्मपरक अर्थ करने में सङ्कोच नहीं किया है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि आत्मा ही यज्ञ है।[१] जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है।[२] गोपथ-ब्राह्मण रूपक के माध्यम से पुरुषरूपी यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है। उसके अनुसार यज्ञरूपी पुरुष का हविर्धान शिर, आहवनीय मुख, सदस् उदर, उक्थ अन्त:करण, मार्जालीय (वेदि के दक्षिण का वह स्थान जहाँ यज्ञपात्रों का मार्जन किया जाता है) और आग्नीध्रीय (वह स्थान जहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती है) भुजायें और देवता अन्त:सदस् के धिष्ण्य अर्थात् यज्ञाग्नि स्थापन करने के स्थान हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ ही आत्मा है, और वह अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है, इसलिये सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। तैत्तिरीय-आरण्यक कहता है कि यज्ञ का मेघ ही हविर्धान है, विद्युत् ही अग्नि है, वर्षा ही हवि है, मेघ-गर्जना ही वषट्कार है, वायु ही आत्मा है और अमावस्या ही स्विष्टकृत् है।[४] यज्ञ की वेदि को शतपथ-ब्राह्मण की दृष्टि में इसलिये वेदि कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ के द्वारा वह विष्णु इस सम्पूर्ण को प्राप्त कर लेता है।[५] यह यज्ञ ही यजमान की आत्मा है।[६]

तैत्तिरीय आरण्यक एक विस्तृत रूपक के द्वारा आत्मसाधना का रूप स्पष्ट करता हुआ कहता है कि यजमान यज्ञ की आत्मा है, श्रद्धा उसकी पत्नी है, शरीर समिध है, उरस् ही वेदि है, लोम ही आसन है, शिखा ही वेद है, हृदय ही यज्ञमण्डप का स्तम्भ है, इच्छाएँ ही घृत हैं, क्रोध ही पशु है, तप ही अग्नि है, दम ही शमयिता है, वाक् ही यज्ञ की दक्षिणा है, प्राण ही होता है, चक्षु ही उद्गाता है, मन ही अध्वर्यु है, श्रोत्र ही ब्रह्मा है, जो धारण किया जाता है, वह दीक्षा है, जो खाया जाता है, वह हवि है, जो पिया जाता है, वह सोमपान है.

---

१ शत०ब्रा०,६.२.१.७. 'आत्मा वै यज्ञः।'

२ मै०सं०,३.६.७. 'अजातो वै पुरुषः, स वै यज्ञेनैव जायते।' जै०उप०,३.३.४.८. 'अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न यजते। स यज्ञेनैव जायते।'

३ गो०ब्रा०,२.५.४. 'पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीय उदरं सदः, अन्तरुक्थानि, बाहू मार्जालीयश्चाग्नीध्रीयश्च या इमा देवतास्तेऽन्तः सदसं धिष्ण्याः, प्रतिष्ठे गार्हपत्यव्रतश्रपणाविति।'

४ तै०आ०,२.१४.१. 'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षः हविस्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावस्या स्विष्टकृत्।'

५ शत०ब्रा०,१.२.५.७. 'तद्यदनेन इमाः सर्वाः समविन्दत, तस्माद्वेदिर्नाम।'

६ शत०ब्रा०,११.१.८.६. 'एष ह वै यजमानस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति यद्यज्ञः।'

. . . . . .जो मरण है, वह यज्ञान्त स्नान है।[1] इस प्रकार आत्मसाधनारूप यज्ञ का आधार यजमान है और वह श्रद्धारूपापत्नी के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता। साधना का माध्यम शरीर होता है और यज्ञ विना समिधाओं के प्रारम्भ नहीं हो सकता, अतः, इस साधना में शरीर को समिधा बनाना पड़ता है। आत्मसाधना के मार्ग में विशेषरूप से इच्छा और क्रोध दोनों को छोड़ना पड़ता है, अतः, ब्राह्मण का ऋषि इच्छाओं को घृत तथा क्रोध को यज्ञीय पशु बनाकर दोनों को तपरूपी अग्नि में भस्म करने का निर्देश देता है। सम्पूर्ण ब्रह्म को यज्ञमय देखता हुआ वह सम्पूर्ण भक्ष्य पदार्थ को हवि तथा सम्पूर्ण पेय को सोम के रूप में चित्रित करता है। इस आत्म-साधनारूपी यज्ञ की पूर्णता मरण के साथ होती है।

शाङ्खायन-आरण्यक का ऋषि इस आत्मसाधना रूपी यज्ञ का दर्शन कुछ भिन्न प्रकार से करता है। उसके अनुसार यह वैराज दश प्रकार का अग्निहोत्र है। इसका आहवनीय ही प्राण है, गार्हपत्य ही अपान है, अन्वाहार्य ही व्यान है, मन ही अग्नि है, मन्यु ही धूम है, दन्त ही ज्वालायें हैं, श्रद्धा ही अङ्गार हैं, वाक् ही पयस् है, सत्य ही समित् है, प्रजा ही आहुति है, वह आत्मतत्त्व ही रस है।[2] इस प्रकार शरीर में स्थित प्राण, अपान, व्यान आदि वायु के प्रकार ही यज्ञ हैं। मन, मन्यु और श्रद्धा- ये तपरूप अग्नि के विभिन्न रूप हैं। वाक् अर्थात् ज्ञान, सत्य तथा प्रज्ञा- ये उस यज्ञाग्नि के आधार हैं और आत्मा इस यज्ञ का सार है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य साधन आत्मसाधना के लिये अनावश्यक हैं। वस्तुतः, आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को अपने से भिन्न किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। जब मन में उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये सच्ची लगन लग जाये, तभी से उसके अन्दर तपरूप अग्नि का जन्म होता है। मनुष्य के सहज मनोविकार इस अग्नि का हव्य हैं। श्रद्धा, ज्ञान और सत्य- इस यज्ञ के मन्त्र हैं तथा फल आत्मतत्त्व की प्राप्ति है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि यज्ञ की परिणति अध्यात्म मानता है। यदि यज्ञ उस अव्यक्त को व्यक्त करता है, तब उस यज्ञ का पर्यवसान व्यक्त के अव्यक्त होने में है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना अध्यात्म है। अध्यात्म-दर्शन का केन्द्रबिन्दु आत्मतत्त्व है। ब्राह्मण की दृष्टि में यह आत्मतत्त्व एक और

---

१ तै०आ०,१०.६४.१. 'यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा वेत्रमग्नीद् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानम् . . . . . .यन्मरणं तदवभृथः।'

२ शा०आ०,१०.८. 'तदेतद्वैराजं दशविधमग्निहोत्रं भवति, तस्य प्राण एवाहवनीयोऽपानो गार्हपत्यो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो मनो धूमो मन्युरर्चिर्दन्ता अङ्गारश्श्रद्धा पयो वाक् समित् सत्यमाहुतिः प्रज्ञात्मा स रसः।'

सर्वव्यापक है, अतः, नित्य भी है। अनेकत्व में एकत्व का, वैविध्य में साम्य का, यज्ञ में पुरुष का, व्यक्त में अव्यक्त का तथा सत्ता में सत्य का दर्शन करना ब्राह्मणग्रन्थ की अध्यात्म वर्णनशैली है।

प्रो0 ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल-शोध-भारती अंक २००५ (पृ०११-२०)

श्लेषकाव्यपरम्परा

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री

संस्कृतकाव्यानि प्रायशः सालङ्काराणि दृश्यन्ते। महाकविभिः सर्वेऽपि काव्यभेदा अनेकैरलङ्कारैरलंकृताः। उपमारूपकाद्यलङ्कारास्तु बाहुल्येन सर्वत्रैव दृग्गोचराः। केचन कवयस्तु श्लेषालङ्कारप्रयोगमीप्सितं मत्वा तत्रैव स्वशब्दरचनाचातुर्यं प्रकटयाञ्चक्रिरे। यतो हि बुद्धिविस्तारैकवित्तानां संस्कृतकवीनां श्लेषेऽस्त्येव कोऽप्यादरः। बुद्धिमतां प्रियेषु बहुष्वलङ्कारेषु श्लेषालङ्कारोऽन्यतमः। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे श्लेषालङ्कारस्य लक्षणं तु न कृतं परं तत्र गुणक्रमे श्लेषगुणं विवेचयता श्लेषालङ्कारस्य बीजं काव्यशास्त्राचार्याणां बुद्धिभूमावुप्तमेव। भरतमुनिमनुसरता दण्डिना गुणगणनायां त्वयं श्लेषः पठित परं, अर्थालङ्कारविवेचनक्रमे श्लेषस्यार्थलङ्कारत्वमपि स्वीकृतम्। यथा-**श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।**[1]

यद्यपि भामह-वामन-शोभाकरमित्र-रुद्रट-विद्यानाथादिभिः शब्दालङ्कारपरिगणने श्लेषो न स्वीकृतः, परं अर्थालङ्कारेषु श्लेषालङ्कारस्य वर्णनं सोदाहरणं कृतम्। रुद्रट-भोज-मम्मट-हेमचन्द्र-जयदेवादयस्तु यथा शब्दालङ्कारेषु तथैवार्थालङ्कारेषु श्लेषालङ्कारं स्वीकृतवन्तः। शब्दे चार्थे चोभयत्र विद्यमानत्वादस्य श्लेषस्योभयालङ्कारत्वं सिध्यति। महाकविदण्डिनः काव्यादर्शे **'द्विसन्धान'**शब्दो विभाति, अयं द्विसन्धानशब्द एवापरस्मिन् काले शब्दश्लेषालङ्कारतां प्रपेदे। आचार्यरुद्रटः काव्यालङ्कारे शब्दश्लेषमर्थश्लेषं च विस्तृतरूपेण निरूपयामास। यथा-

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाश्लिष्टविविधपदसन्धिः।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः॥[2]
यत्रैकमनेकार्थैः वाक्यरचितं पदैरनेकमेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥[3]

आचार्यमम्मटेन रुद्रटमतानुसारमेव शब्दश्लेषो वर्णितः, यथा-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृषः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥[4]

---

१. काव्यादर्श-२.३१.
२. काव्या०४.१.
३. काव्या०१०.१.
४. का०प्र०९.८४.

अर्थाद् वर्ण-पद-प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-भाषा-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा शब्दश्लेषः। संस्कृतकविभिः स्वकाव्यरचनायां शब्दश्लेष एव बहुधा प्रयासः कृतः। हृदयप्रधानैः कविभिः श्लेषनिर्मितवत्यादरो न प्रदर्शितः परं बुद्धिप्रधानैः कविभिः सर्वं बुद्धिवैभवं श्लेषरचनायामेवैकीकृतम्। श्लेषमाध्यमेनानेकार्थग्रहणप्रवृत्तिर्वेदेष्वपि विलोक्यते यथा **'इन्द्रशत्रुः'** शब्दोऽनेकार्थकः। यथा च-**'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः'** अस्य मन्त्रस्यानेकार्थाः स्वीक्रियन्ते। वैदिककालादेवारभ्य श्लेषरचनोत्तरोत्तरं वृद्धिं गता। लौकिकसंस्कृतसाहित्ये तु श्लेषेण पूर्णाधिकारः प्राप्तः। यद्यपि बहुसंख्यकेषु काव्येषु श्लेषो द्रष्टुं शक्यते, परं सर्वाणि काव्यानि श्लेषकाव्यान्तर्गतानि न। श्लेषकाव्येषु तान्येव काव्यानि गण्यन्ते येषु श्लेषरचनायामेव कवीनामत्यादरः प्रयत्नश्च विलोक्यते। श्लेषकाव्यरचनायां महाकविः सुबन्धुः कनिष्ठिकामधितिष्ठति। सुबन्धुः स्वयमेवात्मविकत्थने कृतभूरिश्रमो विदग्धजनवेद्यं पद्यं प्रयुङ्क्ते। यथा-

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्॥

गद्यमयेन काव्यबन्धेन निबद्धायां वासवदत्तायां स्वरचनायां महाकविना सुबन्धुना क्वचित् सभङ्गश्लेषः क्वचिच्चाभङ्गश्लेषः सुतरां विरचितः। नृपतिं चिन्तामणिं वर्णयन् सरलं सभङ्गश्लेषं प्रकटयति, यथा-**'कृष्ण इव कृतवसुदेव तर्पणः कंसारातिरिव जनितयशोदानन्दसमृद्धिः नृसिंह इव दर्शितहिरण्यकशिपुक्षेत्रदानविस्मयः, जलनिधिरिव वाहिनीशतनायकः समकरप्रचारश्च।'**[१]

सभङ्गश्लेषेण सह प्रयुक्ते परसंख्यालङ्कारे श्लेषावलिः कस्य नास्त्याह्लादकारिणी, यथा-'छलनिग्रहप्रयोगो वादेषु, नास्तिकता चार्वाकेषु, कण्टकयोगो नियोगेषु, परीवादो वीणासु, खलसंयोगः शालिषु, नेत्रोत्पाटनं मुनीनाम्, द्विजराजविरुद्धता पङ्कजानाम्।'

वासवदत्तायाः संस्कृतटीकाकारेण पण्डितशङ्करदेवशास्त्रिणा अनल्पेनायासेन स्वमेधया बहवोऽर्थाः प्रकाशिताः। श्लेषनिरूपणे सुबन्धोर्नाम विदुषां हृदये वसति।

महाकविबाणभट्टविरचिते गद्यकाव्ये श्लेषोल्लासः प्रायशः परिदृश्यते। कादम्बर्यां स्थाने स्थाने श्लेषालङ्कारोऽयं बहुभिरलङ्कारै सह प्रयुक्तो विभाति। श्लेषालङ्कारस्येदमपरं वैशिष्ट्यं विद्यते यदसौ केनाप्यलङ्कारेण सह प्रयुक्तः सन् कामपि चमत्कारकारिणीं शोभामाधत्ते। नृपतिशूद्रकवर्णने श्लिष्टानि विशेषणानि प्रयुक्तानि सन्ति, यथा-**'कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः' 'दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृतकरः'**

---

१. वासवदत्ता पृ०११-१२.

श्लेषकाव्यपरम्परा

'वैनतेय इव विनतानन्दजननः।' अत्रोपमालङ्कारेण सह सभङ्गश्लेषो विद्यते। कादम्बर्यामेकं पद्यमपि सभङ्गश्लेषस्य शोभामावहति, यथा-

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्तिहृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

बाणभट्टेन कादम्बर्यां विन्ध्याटवीवर्णने, शाल्मलीतरुवर्णने, शबरसेनापतिवर्णने, चाण्डालकन्यावर्णने, जाबाल्याश्रमवर्णने, हारीतवर्णने च प्रायश उपमालङ्कारेण विरोधाभासालङ्कारेण, परिसंख्यालङ्कारेण च सह श्लेषो वृद्धिं नीतः।

महाकविना त्रिविक्रमभट्टेन चम्पूकाव्यपरम्परायां नलचम्पूकाव्यस्य विशिष्टा रचना कृता। यद्यपि नलचम्पूकाव्यं श्लेषकाव्येषु न परिगण्यते। परं त्रिविक्रमभट्टेन स्वग्रन्थे पदे पदे श्लेषस्यैव महिमा प्रकाशिता। अलङ्कारशास्त्रिभिः श्लेषस्य येऽपि भेदाः प्रभेदाश्च समुद्भावितास्ते सर्वे नलचम्पूकाव्ये तत्प्रणेत्रा यथास्थानं व्यवस्थापिताः। त्रिविक्रमभट्टस्य-काव्यप्रतिभा-प्रसारः सभङ्गश्लेष-प्रगुम्फने समजायत। यद्यपि प्रथमं तु श्लेषस्य तत्रापि च सभङ्गश्लेषस्य रचनाऽतीव कष्टसाध्या परं श्रीमता त्रिविक्रमभट्टेन महता प्रयासेन साध्यायां तस्यामेव निजाभिलाषः परिवर्धितः। स्वयमेव श्लेषविषये भावसारल्येन स्वमतं प्रकटयति। यथा-

भङ्गश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।
दुर्गस्तरितुमारब्धो बाहुभ्यामम्भसां पतिः॥ [1]

यद्यप्यात्मविश्वासं संवर्ध्य नलचम्पूकारेण स्वरचना वृद्धिं नीता तथापि तन्मनसि पाठकानुद्दिश्य कश्चित्संशयलेशोऽपि प्रादुरासीत्। किं सभङ्गश्लेषस्याधिक्येन मम काव्यं सचेतसां हृदि नैरस्यं तु नोत्पादयिष्यति? किं जना मम काव्यपठनात् पराङ्मुखास्तु न भविष्यन्ति, इत्यादयो भावा यस्मिन् पद्ये सम्पद्यन्ते तत्पद्यमिदम्-

वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः।
नोद्वेगस्तत्र कर्त्तव्यो यस्मान्नैको रसः कवेः॥ [2]

त्रिविक्रमभट्टेनातीव सरलतया सभङ्गश्लेषो निबद्धः। सामान्यतः सभङ्गश्लेषोऽतीव कठिनो भवति परं भट्टेनेयं भावना खण्डिता। सभङ्गश्लेषान्वितानि कानिचित् पद्यानि गद्यानि वा यथेप्सितानि समुदाह्रियन्ते। कुकवि-बालकयोः साम्यं सभङ्गश्लेषरचनयेत्थं ब्रूते—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।

---

१. नलचम्पू १.२२.
२. नलचम्पू १.१६.

सन्त्येके बहुलालापा कवयो बालका इव॥

गद्यभागेऽपि मृगयां वर्णयन् सभङ्गपदश्लेषरचनायां स्वबुद्धिचातुर्यं प्रकटयति भट्टः। यथा-

ततश्च तैः क्रियन्ते विकलभा वनानि कुञ्जाः कुञ्जराश्च। ध्रियन्तेऽनेकधारयातिपातिनः खड्गाः खड्गिनश्च॥ [१]

त्रिविक्रमभट्टेन मनोहारिणा सभङ्गपदश्लेषरचनया पक्षिगणमुनिगणयोः समता प्रदर्शिता, यथा-

राजन् जलपक्षिणो मुनय इव येऽमीनाहारं वाञ्छन्ति बहुधावनव्यसनिनो विसाधाराः॥ [२]

नलचम्पूकाव्ये सभङ्गश्लेषः

त्रिविक्रमभट्टः सभङ्गवचनश्लेषेऽपि परमां प्रौढीमुपेतः। स्वकाव्यस्य द्वितीयोच्छ्वासे राज्ञो भीमस्य वर्णयन् तत् क्रीडावनवृक्षाणां पुरवासिनां च स्वरूपं सभङ्गवचनश्लेषमय्या वाचा प्रोवाच-यथा-'**यस्यावनरतमुत्कृष्टालयः क्रीडावनपादपाः पौरलोकाश्च।**'

नलचम्पूकाव्ये सभङ्गलिङ्गश्लेषः

तृतीयोच्छ्वासे स्वप्नावस्थायां प्रियङ्गुमञ्जर्याश्चन्द्रमण्डलादवतीर्य समीपमागच्छन् दृक्पथमवतीर्णः शिवः कीदृशोऽस्ति। शिवमेव सभङ्गवचनश्लेषेण वर्णयति, यथा-'**सालसदृशं भुजवनं भवानीं च दधानः सर्वदा नववारं त्रिशूलं मन्दाकिनीं च धारयन्।**'

नलचम्पूकाव्ये विभक्तिश्लेषः

नलचम्पूकाव्ये विभक्तिश्लेषोऽपि पाठकानां मनांसि सम्मोहयति। अन्यरचनायां कस्यांचिदेव क्वचिदेवैवंविधः श्लेषः सुधीभिर्विलोक्यते। परं त्रिविक्रमभट्टस्य रचनायां त्वेवंविधाः प्रयोगा बहुत्र दृश्यन्ते। राज्ञो भीमस्य वर्णने विभक्तिश्लेषेऽपि सभङ्गश्लेषतां कविरयं चारुतया निबध्नाति, यथा-'**यस्याश्च सुमधुरया वाचा सदृशी शोभते कण्ठे कुसुममालिका। अलिकालयाऽप्यलकवल्लरीमालया सह विराजते तिलकवल्लरी।**'

चतुर्थोच्छ्वासे दमयन्त्याः पुरस्तात् नलपितुर्वीरसेनस्य श्रेष्ठतां राजहंसः समुचितेन विभक्तिश्लेषेण समुद्गायति। यथा-'**यस्य च बहुशोभयाङ्गप्रभया सह स्फुरत्युदारा मनोवृत्तिः, अखण्डनयाऽज्ञया सदृशी राजते राज्यस्थितिः, सज्ञया सेनया सह श्लाघनीया कृपाणयष्टिः।**'

एवं प्रकारेण नलचम्पूकाव्ये त्रिविक्रमभट्टेन श्लेषरचनया वैशिष्ट्यमुत्पाद्य संस्कृतजगत्यां महद्यशः समर्जितम्।

---

१. नलचम्पू पृ०६७.

२. नलचम्पू पृ०१०५.

श्लेषकाव्यपरम्परा

श्रीहर्षविरचिते नैषधीयचरितमहाकाव्ये श्लेषस्य प्रयोगो नूनमनल्पतामावहति। सम्प्रति तस्मिन् काव्ये द्वाविंशतितमाः सर्गाः सन्ति। यद्यपि सर्वेषु सर्गेषु क्वचित् क्वचित् तु श्लेषः स्वकान्तिं प्रकाशयत्येव। परं त्रयोदशसर्गे स्वयंवरवर्णने तु श्लेषस्योत्कृष्टतमं रूपं विलोक्यते। '**ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि वीरसेनोः**' अस्मात् श्लोकादारभ्य '**किं ते तथा मतिरमुष्य यथाशयः स्यात्।**' इति पद्यं यावत् सर्वाण्यपि पद्यानि द्व्यर्थकानि सन्ति। प्रथमार्थो यदि देवपक्षे तर्हि द्वितीयार्थो श्लेषप्रभावेण नलपक्षे, प्रथमार्थो यदि नलपक्षे तर्हि द्वितीयार्थो देवपक्षे गृह्यते। परं तत्रैकं पद्यमीदृशं दृक्पथमवतरति यत्र सभङ्गश्लेषमाहात्म्येन एकस्मिन्नेव पदे युगपद् पञ्चार्थाः प्रस्फुरन्ति। यथा-

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलो खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते॥

अस्मिन् पद्ये पञ्चार्थानां दर्शनं पण्डितप्रवरेण नारायणनामधारिणा कृतम्। '**अर्थस्य टीकनं टीकेति**' टीकालक्षणानुसारं नारायणकृतायां नैषधीयप्रकाशाख्यायां टीकायामस्य श्लोकस्य पञ्चार्था निपुणतया विदग्धजनैरभिगम्यते।

अत्र ये पञ्चार्था टीकाकारेण नारायणेन समुद्भावितास्ते संक्षेपरूपेण प्रस्तूयन्ते—

इन्द्रपक्षे—अराणां पर्वतानामजनं पादः क्षेपणं तत्र गतिरूपाय भूतो वज्रस्तेन कृत्वायं नः पुरुषः सामर्थ्यवान् वज्रायुधो देव इन्द्रः पतिर्भतो भर्तृत्वेन किं न निश्चीयते। निश्चितश्चेतत् किं न व्रियत इति वा। अथवा- धराजगत्या भूलोकस्य पतिः पालयिता न किन्तु अर्थात् स्वर्लोकस्य पतिः इन्द्रस्त्वया किमु किमिति न निर्णीयते इन्द्रत्वेन किमिति न निश्चीयते।

वह्निपक्षे—धरतीति धरो वाहनं स चासावजश्च मेषः, धर इव पर्वततुल्यो वा यो मेषस्तेन कृत्वा या गतिः, धरायां भूमौ अजेन कृत्वा या गतिस्तयोपलक्षितः, देवो द्युतिमानमरश्च वह्निः न निश्चीयत इति न।

यमपक्षे—एष धरान् पर्वतान् शृङ्गाभ्यां खुरैर्वा अजति क्षिपति धराजो महिषस्तस्य गत्या तेन वा या गतिस्तयोपलक्षितः धर्मरूपत्वात् पतिः पालयिता देवः क्रीडापरोऽमरश्च यमो न निर्णीयत इति न।

वरुणपक्षे—एष धराजगत्या भूलोकस्य पतिर्न किन्त्वर्थात् पातालस्य। धरतीति धरो धर्ता जगतः पोषकः स चासावजश्च तस्य धराजस्य श्रीविष्णोर्गतिः प्रथममयनमाधारो जलं तस्य पतिर्न। अपितु तत्पतिर्वरुण एव किमिति न निर्णीयते।

नलपक्षे—एष धराजगत्या भूलोकस्य पतिः स्वामी ना मनुष्यो नलो देवो राजा न अपितु नल एवेति किं न निश्चीयते किं वा नाव्रियते। अपितु निश्चेयो वरणीयश्च। नैषधराज एव गतिर्यस्यास्तया भवत्या मनुष्योऽयं नलो

राजा पतिः किं न निश्चीयते किं वा न व्रियते। एष धरायां भूलोकेऽतिसौन्दर्याजः काम इति बुद्ध्या प्राणेशो मनुष्यो नलो न तु देवः कश्चिदिति किं न निर्णीयते किं वा न व्रियते। निकटस्थानामेषां चतुर्णामाकारधारणात् कृत्रिमं सौन्दर्यं अस्य तु सहजमिति दर्शनमात्रेण तारतम्यं ज्ञात्वा एष नलो निश्चेयो वरणीयश्चेत्यर्थः।

श्लेषकाव्यपरम्परायामेतानि काव्यानि गणनीयानि तु सन्ति संस्कृतसाहित्येतिवृत्तविद्भिस्तु नैषां नामानि श्लेषकाव्यगणनायां पठितानि तत्र तु तान्येव काव्यानि सन्ति येषां प्रणेत्रा काव्यस्याभिधानमेव द्वयर्थकत्वेनाकारि। यतो हि तत्र कवीनामखिला रचना निश्चप्रचत्वेनार्थद्वयं त्रयं ततोऽधिकं वा प्रकाशयति। अतोऽग्रे तेषामेव काव्यानां परिचये स्वमतिमातनोमि यानि श्लेषकाव्यपरम्परापोषितानि।

श्लेषकाव्यानामधिकं प्रणयनं दशमशताब्द्याः समारभ्य षोडशशताब्दीं यावदथवा एकोनविंशतिशताब्दीं यावदजायत।

श्लेषकाव्ये त्वेकमपि पद्यं बह्वीं प्रतिष्ठां लभते यदि तत्र बहवोऽर्थाः प्रकाशन्ते। प्रसिद्धाचार्यस्य हेमचन्द्रसूरिणः शिष्येण वर्धमानसागरनामधेयेन **'कुमारविहारप्रशस्ति'**नामककाव्यस्यैकस्य पद्यस्य व्याख्या षोडशोत्तरैकशतैरर्थैरकारि। अस्य कालो द्वादशशताब्द्याः काल एव। प्राप्तं पद्यं त्वेवं प्रस्तूयते[1]—

गम्भीरः श्रुतिभिः सदाचरणतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः
सत्कान्तारचितप्रियो बहुगुणो यः साम्यमालम्बते।
श्री-चालुक्य-नरेश्वरेण-विविध-श्री-हेमचन्द्रेण च
श्रीमद्वागभटमन्त्रिणा च परिवादिन्या च मन्त्रेण च॥

द्वादशशताब्द्या उत्तरार्धमधिवसता सोमप्रभसूरिणा एकमभूतपूर्वं पद्यं विरच्य तस्यैकशतार्थाः स्वोपज्ञवृत्तौ प्रकाशिताः। पद्यमिदं वर्तते-

कल्याणसारसविता न हरेक्षमोहकान्ताथवारणसमानजयाद्यदेव।
धर्मार्थ-कामद-महोदय-वीरधीर-सोमप्रभाव-परमागमसिद्धसूरे॥

अस्य चतुर्विंशत्यर्थास्तु तीर्थंकराश्रिताः शेषाश्च सिद्धसूर्योपाध्याय-मुनि-गौतमाश्रिताः।

धर्मदासगणिविरचितोपदेशमाला नाम्नि पुस्तके **'दोस-समय'** इत्याख्यः शब्दएकपञ्चाशत् पद्यारम्भे विद्यते। अस्मिन् **'दोससमय'** इत्याख्ये शब्दे लावण्यधर्मस्य शिष्य-उदयधर्मगणि एकोत्तरशतार्थान् ददर्श। अस्य

---

१. अनेकार्थसाहित्यसंग्रह, पृ०६३-६४

ग्रन्थस्य रचनाकालः सप्तदशशताब्द्याः पूर्वार्ध एव मन्यते।[1] अस्य मूलग्रन्थस्य प्रतिलिपिः बड़ोदरास्थिते कान्तिविजयभण्डारे विद्यते।

एकं पञ्चपद्यात्मकं **'त्रिसन्धानस्तोत्रम्'** कर्णगतमस्ति। अत्र रत्नशेखरसूरि ऋषभ-नेमि-पार्श्वजिन-सम्बद्धांस्त्रीनर्थान् दृष्ट्वा विवेचयामास।

'अष्टलक्ष्मी' इत्याख्ये ग्रन्थस्त्वप्रतिमप्रतिभोद्भूत एव। अत्र **'राजानो ददते सौख्यम्'** इदं वाक्यमस्ति। एतस्मिन् वाक्ये सुन्दरसूरिणा अष्टलक्षार्थाः संनिवेशिताः। अञ्चलगच्छीयमाणिक्यचन्द्रसूरिणा **'राजानो ददते सौख्यम्'** इत्यस्य वाक्यस्य चतुःषष्ठ्यर्थाः कृताः। उक्तार्थसमन्विता प्रतिलिपिरद्यापि नाहटाग्रन्थालये वर्तते।[2] **'काव्यद्वयर्थकरणस्तव'** इत्याख्यं स्तोत्रकाव्यं सप्तपद्यात्मकं विद्यते। अत्र प्रथमेषु षट्सु पद्येषु क्रमशः कुमारसम्भव-मेघदूत-शिशुपालवंध-तर्कशास्त्र-सप्तपदार्थी-वृत्तरत्नाकर-ग्रन्थानां मङ्गलश्लोका आभासन्ते। श्रीसमयसुन्दरमणिः समस्तेषु मङ्गलश्लोकेषु पार्श्वनाथस्तुतिपरानेवार्थान् दृष्टवान्। अत्र सर्वेषु पद्येषु निश्चितमेव एकाधिका अर्थाः दृश्यन्ते। पार्श्वस्तव स्तोत्रस्य समुल्लेखोऽपि प्राप्यते।[3] द्विसन्धान-साहित्यपरम्परायामस्यापि नाम ग्राह्यम्।

'विविधार्थमर्मज्ञ'स्तोत्रे सोमतिलकसूरिणा श्लेषमय्या वाचा जिनदेवस्य स्तवनमकारि। अस्मिन् प्रत्येकस्मात् पद्याद् द्वित्रा नापितु चत्वारोऽर्था निःसरन्ति।[4] सोमतिलकसूरिरयं महान् मेधावानासीत्। अनेन विदुषा **'विविधार्थमयविवरणे'** गायत्रीमन्त्रमादाय श्लेषमाध्यमेनार्हत्-प्रजापति-शंकर-पार्वत्यादीनां स्तुत्यात्मकं विवरणं व्यलेखि।

'चतुर्विंशतिसन्धानकाव्यस्य' सन्धानकाव्यकृतिषु नूनमुत्तमं स्थानं वर्तते। चतुर्विंशतिसन्धान-काव्यस्य प्रणेता पं० जगन्नाथ आसीत्। पं० जगन्नाथस्य कालः षोडशशताब्द्याः पूर्वार्ध एव स्वीक्रियते। अमुं ग्रन्थं पं० जगन्नाथो ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ रविवासरे रम्य-वासगृहशोभिते अम्बावतनाम्निनगरे प्रणिनाय प्रणीय च सन्धान-काव्यं जगति यशो लेभे।

श्रीसोमदेवसूरिकृतं **'पञ्चविंशतिसंधानकाव्यमपि'** विद्यते। अस्मिन् ग्रन्थे सोमसूरिणा श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रादारभ्य द्वादशपद्यैर्वीरजिनेन्द्र-स्तवनं कृतम्। अत्र प्रथमपद्यादन्तिमपद्याद्यान्यत्र सर्वत्रैव

---

१. अनेकार्थरत्नमञ्जूषा-प्रस्तावना, पृ०१०.
२. अनेकार्थ-साहित्य-लेखः।
३. दिगम्बरजैन ग्रन्थकर्ता एवं ग्रन्थकार।
४. जैन अनेकार्थ साहित्यलेख- अगरचन्दनाहटा, जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १.

पञ्चविंशत्यर्था द्रष्टुं शक्यन्ते। चतुर्विंशत्यर्थास्तु तीर्थंकराश्रिता: सन्ति, पञ्चविंशत्यर्थस्तु गुरुपक्षाश्रित:। अस्मिन् काव्ये वीरजिनेन्द्रस्तवने **'षट्चक्रबन्धस्य' 'अष्टदलकमलबन्धस्य'** च निर्देश: समुपलभ्यते।

संस्कृतभाषायां राजप्रशस्तिपरम्परापि विलोक्यते। अस्यां प्रशस्तिपरम्परायामपि बहूनि ग्रन्थरत्नानि सन्ति। राजप्रशस्तिष्वपि श्लेषालङ्कारस्य बहुलता दृश्यते। धारानरेशभोजराजानुसारं महाकविना दण्डिनापि द्विसन्धानकाव्यस्य प्रणयनं कृतम्। यत्र रामायणमहाभारतयो: कथा युगपदेव श्लिष्टै: पदैर्गुम्फिता। भोजराजस्त्वाह—**'तृतीयस्य यथा- दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धो रामायण-महाभारतार्थमनुबध्नाति।'** इति।

श्लेषकाव्यपरम्पराया: प्रमुखा: कवयस्त्रय एव गण्यन्ते। **'रामचरितम्'** काव्यस्य रचयिता सन्ध्याकरनन्दी द्विसन्धानमहाकाव्यस्य रचयिता जैनकविर्धनञ्जय:, 'राघवपाण्डवीयम्' इत्याख्यस्य महाकाव्यस्य प्रणेता कविराज पण्डितश्च।

श्लेषकाव्यपरम्परायां कविराजपण्डित: स्वात्मानं सुबन्धु-बाणभट्टाभ्यां तुलयन् प्राह—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रय:।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

अस्मिन् पद्ये कविराजपण्डितेन महदात्मविकत्थनं कृतम्। अस्यामात्मश्लाघायामतिशयोक्तिर्न विद्यते। यतो हि यथा सुबन्धोर्वासवदत्तायां बाणभट्टस्य च कादम्बर्यां श्लेषरचना रम्या, सरसा मनोहारिणी च विद्यते तथैव कविराजपण्डितस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** इत्याख्ये महाकाव्ये श्लेष: पदे पदे सुतरां शोभते विदुषां चेतसि च लभते प्रतिष्ठाम्।

राघवपाण्डवीये महाकाव्ये त्रयोदशसर्गा: सन्ति पद्यानि च चतु:षष्ट्युत्तरशतानि। महाकविना कविराज-पण्डितेन सर्वत्र सर्गान्तेऽन्तिमे पद्ये निजाश्रयदातु: कामदेवस्य सादरं नाम गृहीतम्। महाकाव्यमिदं कामदेवाङ्कपदाभिधेयमप्यस्ति। द्विसन्धानशब्दस्तु श्लेषकाव्यरचनापद्धतिं निर्वक्ति। यतो हि तत्र सर्वेषां पद्यानां द्विधा व्याख्या सारल्येन काठिन्येन वा कर्तुं शक्यते। श्लेषालङ्कारस्य परिपालनं यथा कविराजकृते महाकाव्ये दृश्यते तथा नान्येषां कवीनां श्लेषरचनासु। कविराजपण्डितेन रामायणमहाभारतयो: सर्वा: कथा: स्वकाव्ये श्लेषमय्या शब्दरचनया समाख्याता:। अस्मिन् काव्ये तेषामेव छन्दसां प्रयोगो संदृश्यते येषां प्रयोग: श्लेषालङ्काररचनायां कामपि बाधां न जनयति। कविना काव्ये प्रयुक्तानां छन्दसां नामानि प्रस्तूयन्ते—अनुष्टुप्-इन्द्रवज्रा-उपजाति-पृथ्वी-द्रुतविलम्बित-गाथा-विषमपद-पुष्पिताग्रा-प्रमिताक्षरा-प्रहर्षिणी-मालिनी-मन्दाक्रान्ता-मञ्जुभाषिणी-रथोद्धता-रुचिरा-वसन्ततिलका-शालिनी-हरिणी-शिखरिणी—इत्यादीनि छन्दांसि स्वकाव्यशोभाभिवर्धनाय महाकविना प्रयुक्तानि।

श्लेषकाव्यपरम्परा

राघवपाण्डवीयेऽस्मिन् महाकाव्ये कविराजेन येन पद्यद्वयेन पाण्डुदशरथयोर्वर्णनं कृतं तदेव पद्यद्वयं विदुषां तोषाय समुदाह्रियते। यथा-

रत्नावतंस इव भारतमण्डलस्य क्रामन्दिशो दशरथः स्फुटवीरलक्ष्मीः।।
राजा सुमन्त्रविहिताभिरतिर्बभूव पाण्डुर्यशोभिरभिरञ्जित-सर्वलोकः।। [1]

विचित्रवीर्यस्य दिवंगतस्य पितुः सः राज्यं प्रतिपद्य बाल्ये।
पुरीमयोध्यां धृतराष्ट्रभद्रां सहस्तिशोभां सुखमध्युवास।। [2]

एकस्मिन्नेव पद्ये महाकविना कविराजेन दशरथमृगयाविहारः पाण्डुमृगयाविहारश्च श्लिष्टैः पदैर्निरूपितः। यथा-

स गाढबुद्धिस्तमसोपकण्ठे विवर्तमानं गतभीरभीकम्।
मत्वा मृगं मार्गणलक्ष्यभूतमनग्रजन्मानमृषिं चकार।।

कविराजे स्वकाव्यस्य प्रथमे सर्गे विलक्षणं पद्यं निर्मितम्, षट्सु पक्षेषु तस्यार्थाः कृताः। पद्यमिदं विद्यते—

विशिष्टगीता धृतवंशदीप्तिः श्रुतिप्रतिष्ठा पुरुषार्थसूतिः।
सन्मार्गविस्तारवती सुजातिर्यं भारतश्रीर्भजतेऽभिरामा।। [3]

एकादशशताब्द्या उत्तरार्धे सन्ध्याकरनन्दी **'रामचरितमहाकाव्यम्'** रचयामास। श्लेषपरम्पराया इदमपि काव्यमुत्कृष्टम्। अत्र सर्वेषु पद्येषु द्वावर्थौ भासेते। प्रथमार्थः- रामपक्षे द्वितीयार्थश्च रामपालपक्षे। पालवंशीयो राजारामपालः पूर्ववङ्गे राजपदमलञ्चकार तदाश्रयमवाप्यैव सन्ध्याकरनन्दी महाकविर्बभूव। **'रामचरित'**महाकाव्ये पञ्चदशसर्गाः सन्ति श्लोकाश्च पञ्चशताधिकाः।

महाकवेर्धनञ्जयस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** महाकाव्यमतीव प्राचीनमस्ति। दिगम्बरजैनसम्प्रदायस्य प्रचारको महाकविर्धनञ्जयो द्वादशशताब्द्याः पूर्वार्धे स्वग्रन्थं जग्रन्थ। महाकाव्यस्य सर्गान्ते धनञ्जयस्य नाम पठ्यते। धनञ्जयरचितस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** महाकाव्यस्य अपरं नाम **'द्विसन्धान'**महाकाव्यमपि श्रूयते। अत्राष्टादशसर्गाः सन्ति।

एकादशशताब्द्यां धारानरेशभोजराजस्य शासनकाले द्रोणाचार्यस्य शिष्यः सुराचार्यः **'नेमिनाथरचितम्'** महाकाव्यं प्रणिनाय। अस्मिन् काव्ये ऋषभदेवस्य नेमिजैनसाधूनां च कथायुगपद् प्रसरति।

---

१. १.४९.
२. १.५१.
३. १.३१.

द्वादशशताब्द्याः पूर्वार्धे चालुक्यनरेशस्य सोमदेवस्य राजकविर्विद्यामाधवः **'पार्वतीरुक्मणीयम्'** महाकाव्यं रचयामास। कविरयं नीलालये वसति स्म। गुणवत्या समीपे नीलालयोऽस्ति। **'पार्वतीरुक्मणीये'** महाकाव्ये नवसर्गाः सन्ति। अत्र पार्वतीपरमेश्वरयोः रुक्मणीकृष्णयोश्च प्रणयकथा कथ्यते। काव्यमिदं विलोमकाव्यमपि कथ्यते।

श्रीमता विद्वद्धौरेयेण पुष्पदन्तेन श्रीमद्भागवतपुराणनिहितमेकस्य पद्यस्य स्वटीकायां एकोत्तरशतसंख्याका अर्थाः कृताः।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्

तेन ब्रह्म हृदाय आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।

तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा

धाम्ना स्वेन सदा निररतकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

श्लेषकाव्यचातुरीमञ्चता नैषधमहाकाव्यनिर्मात्रा श्रीमता हर्षकविना वचनश्लेषविषये स्वप्रातिभमप्रतिमतयोन्मेषितम्। एकस्मिन्नेव वचने त्रीणि वचनानि विराजन्ते। यथा—

अपिलोकयुगं दृशावपि श्रुतिदृष्टारमणी गुणेष्वपि।

श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते नितरां धरापतेः॥

लोकयुगं मातृकुलं पितृकुलं 'व्यतिभाते' विनिमयं कुरुते, नेत्रे उभेऽपिऽन्योन्यं विनिमयकरणपरे, गुणा अपि अनाकर्णिता दृष्टाश्च अन्योन्यं व्यतिरेकं विनिमयं कुरुते। श्रुतिगामितया अन्योन्यं व्यतिपूर्वस्य **'भा'** धातोः **'कर्तरिकर्मव्यतिहारे'** अनेनात्मनेपदं 'व्यतिभाते'। इदमेव रूपं द्विवचने स वर्णे दीर्घे कृते 'व्यतिभाते' बहुवचने च **'आत्मनेपदेष्वनतः'** इति झस्यादादेशश्च, अतो बहुवचनेऽपि 'व्यतिभाते' पदं भवति एवं प्रकारेण त्रिष्वपि वचनेषु 'व्यतिभाते' पदं वचनश्लेषचातुरी समातनोति नितराम्।

सप्तदशशताब्द्या पूर्वार्धे वेङ्कटवर्धनमहोदयो **'यादवराघवीयम्'** महाकाव्यं प्रणीतवानिति कथ्यते काव्यमिदं विलोमकाव्यरचनासु पदं निदधाति। एवं श्लेषकाव्यपरम्परा पुरातनी। श्लेषकाव्यानि बहूनि सन्ति। श्लेषरचनायां जैनकवीनां महद्यशः। यद्यपि श्लेषकाव्यानि चित्रकाव्यान्तर्गतानि सन्ति तथापि बुद्धिवैभवं कृतभूरिश्रमाणां तपस्विनां काव्यपुरुषाणां महाकवीनां चरणयोर्नतिं वितनोमि।

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ01-21-26)

वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा

प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय

एन 1/30, ए-9, नगवा, वाराणसी-221005

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त 108 सरमापणिविषयक है। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है कि इन्द्र ने पुरोहित बृहस्पति की गायों को पणियों ने चुरा लिया था। बृहस्पति ने इन्द्र को प्रेरित किया। इन्द्र ने गायों को खोजने के लिए सरमा नामक देवशुनी (देवताओं की कुतिया) को भेजा। वह नदी पारकर वल के पुर में पहुँची और उसने गुप्त स्थान में छिपायी गयी गायों को देखा-**ऐन्द्रपुरोहितस्य बृहस्पतेर्गोषु वलनाम्नोऽसुरस्य भटैः पणिनामकैरसुरैरपहृत्य गुहायां निहितासु सतीषु बृहस्पतिप्रेरितेनेन्द्रेण गवामन्वेषणाय सरमा नाम देवशुनी प्रेषिता। सा च महतीं नदीमुत्तीर्य बलपुरं प्राप्य गुप्तस्थाने नीतास्ता गा ददर्श।''**
पणियों ने सरमा से पूछा-क्या इच्छा करती हुई इस स्थान पर पहुँची हो? मार्ग बहुत दूर, उभड़ा हुआ तथा गमनागमन से रहित था। हम लोगों में तुम्हारा क्या अभिप्राय है? तुम्हारी यात्रा कैसी थी? तुमने रसा के जल को किस प्रकार पार किया-

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि॥[1]

सरमा ने कहा- मैं इन्द्र की दूती हूँ। इन्द्र के द्वारा भेजी गयी मैं तुम लोगों की बड़ी निधि की इन्छा करती हुई घूम रही हूँ। मेरे कूदने के भय से रसा के जल ने मेरी सहायता की। उस प्रकार रसा के जल को मैंने पार किया-

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इन्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि॥[2]

फिर पणि कहते हैं-इन्द्र कैसा है? उसकी दृष्टि कैसी है, जिसकी दूती तुम दूर से यहाँ आयी हो ? यदि वह आये, तो हम उसे मित्र बनायेंगे; तब वह हमारी गायों का स्वामी होगा। अब सरमा उत्तर देती है- मैं नहीं, समझती कि उसको कोई कष्ट पहुँचा सकता है। वह शत्रुओं को कष्ट देता है, जिसकी दूती मैं दूर से आयी हूँ। बहती हुई गहरी नदियाँ उसे छिपा नहीं सकतीं। इन्द्र द्वारा मारे जाकर तुम लोग पृथ्वी पर पड़ जाओगे। पणि सरमा से कहते हैं- बिना युद्ध किये इन गायों को कौन मुक्त करा सकता है? हमारे शस्त्र तीक्ष्ण हैं। इस पर सरमा कहती है- हे पणियो! तुम्हारे वचन शस्त्र के आघात से सुरक्षित हो सकते हैं, शरीर बाणों के लक्ष्य से

---

1 ऋग्वेद 10.108.1
2 ऋ0 10.108.2

बच सकते हैं, तुम्हारे पास पहुँचने का मार्ग भी अगम्य हो सकता है, किन्तु बृहस्पति किसी भी प्रकार दया नहीं करेंगे-

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥[3]

जर्मनी के विद्वान् Hanns-Peter Schmiat का कथन है कि प्रारम्भ में बृहस्पति इन्द्र का विशेषण था। इन्द्र राजा भी था और पुरोहित भी था। इन्द्र में ही पुरोहित तथा राजा के कार्य संनिविष्ट थे। विकास के क्रम में बृहस्पति का कार्य अर्थात् पुरोहित का कार्य पृथक् हो गया। यह तब हुआ होगा, जब इन्द्र ने पुरोहित के कार्य के लिए एक विशेषज्ञ को नियुक्त किया होगा, जो इस कार्य में निपुण रहा होगा। इस प्रकार राजा से पौरोहित्य पृथक् हुआ होगा। यह तब हुआ होगा, जब राजा के लिए सम्भव नहीं रहा होगा कि वह शासन भी करे और पुरोहित के जटिल कार्य का सम्पादन भी करे। यह स्थिति ऋग्वेद-काल के अन्त में हुई होगी-

"Indra himself acts as a priest and bears himself the epithet brhaspati, It is hardly Conceivable that he should have borrowed the functions and the name of the god Brhaspati, on the Contrary, the emergence of the god Brhespati can only be explained if we assume that the divine king Indra in whom the priestly function was combined with the royal function was in the course of development divisted of his priestly function. This meant divisted of his priestly function. This development will have taken place when the Vedic king relinquished his priestly prerogatives and transferred them to a professional priest. The reason for the king's withdrawal from his priestly duties was, at least partly, the specialization and growing complication of the ritual technique, which made it unfeasible to continue any longer the Combination of priestly and royal power in one hand. This event was presumably simultaneous with the consolidation of the class or class system which was gradually emerging in the time of the Rig-Veda and was probably finally established by the end of the Geodic period."[4]

बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्' में बृहस्पति इन्द्र के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है।

फिर पणि कहते हैं- गायों, अश्वों तथा सम्पत्तियों से भरा हुआ यह खजाना पर्वतों से ढका हुआ है। पणि उसकी रक्षा करते हैं। तुम व्यर्थ में खाली स्थान पर यहाँ आयी हो। अब सरमा कहती है-सोमपान से उत्तेजित अयास्य, अङ्गिरस्, नवग्वा आदि ऋषि यहाँ आयेंगे। वे गायों के विशाल समूह को बाँट लेंगे। पणि सरमा को अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं, किन्तु वह दृढ़ रहती है। वह कहती है-हे पणियो! तुम लोग अन्यत्र चले जाओ। बृहस्पति, सोम, पत्थरों

---

3 ऋ0 10..108.6

4 German Scholars on India, Vol. II (Nachiketa Publication Limited, Bombay, 1976), P.229.

तथा बुद्धिमान् ऋषियों ने जिनका पता लगा लिया है, वे गायें चट्टानों का आवरण तोड़ती हुई सत्य के नियम के अनुसार बाहर निकल आयेंगी-

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।

बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥[5]

वाल्मीकीय रामायण में भी सरमा नामक राक्षसी का वृत्तान्त मिलता है। सीता ने उसे अपनी सखी बना लिया था। वह सीता की रक्षा में नियुक्त थी। वह दृढ़व्रत तथा दयालु थी। रावण ने राम का मायामय छिन्न मस्तक सीता को दिखा दिया। उसने सीता से कहा कि सोये हुए राम के शिर को प्रहस्त ने काट डाला है-

अथ सुप्तस्य रामस्य प्रहस्तेन प्रमाथिना॥''

असक्तं कृतहस्तेन शिरश्छिन्नं महासिना॥[6]

रावण के इस प्रकार कहने पर सीता विलाप करने लगी। राम के अभिज्ञानों को देखकर सीता अत्यन्त दुःखित हुईं और कैकेयी की निन्दा करने लगी। उन्होंने कहा-हे कैकेयि, अब तुम्हारी इच्छा पूर्ण हुई। तुमने कुल को नष्ट कर दिया। सीता को अत्यन्त मोहित देखकर सरमा वहाँ पहुँच गयी। उसने सीता को आश्वस्त किया- हे वैदेहि, व्यथित मत होओ। रावण ने तुमसे जो कुछ कहा है, उसे मैने सुन लिया है। यहाँ से निकलकर वह जिस कार्य के लिए गया है, उसे मै जानती हूँ। राम का रात्रि में वध सम्भव नहीं है।[7] सरमा ने कहा कि वानरों का भी वध नहीं हुआ है। वे भी राम के द्वारा सुरक्षित है। राम पराक्रमी हैं। वे अपनी भी रक्षा करने में समर्थ है और दूसरे की भी रक्षा करने में-**विक्रान्तो रक्षिता नित्यमात्मनश्च परस्य च।**[8]

मायावी रावण ने माया के द्वारा राम का शिर दिखाया है। राम वानरसेना के साथ समुद्र को पारकर उसके दक्षिणी तट पर विराजमान हैं। राम का कार्य सिद्ध होगा। राक्षस घबड़ाए हुए हैं। उनका कोलाहल हो रहा है। लक्ष्मी तुम्हारा वरण करेंगी। अब राक्षसों का भय उपस्थित हो गया है। जितक्रोध तथा अचिन्त्यपराक्रम राम युद्ध में रावण को मारकर तुम्हारे पास आयेंगे और मैं देखूँगी कि तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो गया है। मै राम के पास जाकर तुम्हारा कुशल बताकर लौट आऊँगी। निरालम्ब आकाश में चलते हुए मेरी गति का अनुगमन कोई नहीं कर सकता, चाहे वह वायु हो या गरुड़ -

---

5 ऋ0 10.108.11

6 युद्ध 31/24

7 युद्ध0 33/58 समाश्वसिहि वैदेहि मा भूत् ते मनसो व्यथा। उक्ता यद् रावणेन त्वं प्रत्युक्तश्च स्वयं त्वया।। सखीस्नेहेन तद् भीरु मया सर्वं प्रतिश्रुतम्। लीनया गहने शून्ये भयमुत्सृज्य रावणात्।। तव हेतोर्विशालाक्षि नहि मे रावणाद् भयम्।। स सम्भ्रान्तश्च निष्क्रान्तो यत्कृते राक्षसेश्वरः। तत्र मे विदितं सर्वंमभनिष्क्रम्य मैथिलि।। न शक्यं सौप्तिकं कर्तुं रामस्य विदितात्मनः। वधश्च पुरुषव्याघ्रे तस्मिन् तस्मिन् नैवोपपद्यते।।

8 युद्ध0 33/11

श्रीस्त्वां भजति शोकघ्नी रक्षसां भयमागतम्।[९]
अवजित्य जितक्रोधस्तमचिन्त्यपराक्रमः।
रावणं समरे हत्वा भर्ता त्वाधिगमिष्यति।।[१०]
आगतस्य हि रामस्य क्षिप्रमङ्कागतां सतीम्।
अहं द्रक्ष्यामि सिद्धार्थां त्वां शत्रौ विनिपातिते।।[११]
उत्सहेयमहं गत्वा त्वद्वाक्यमसितेक्षणे।
निवेद्य कुशलं रामे प्रतिच्छन्ना निवर्तितुम्।।
नहि मे क्रममाणाया निरालम्बे विहायसि।
समर्थो गतिमन्वेतुं पवनो गरुडोऽपि वा।।''[१२]

सीता ने कहा- तुम आकाश में भी जाने में समर्थ हो और पाताल में भी। यदि मेरा प्रिय करना चाहती हो, तो जाकर पता लगाओ कि रावण क्या कर रहा है। इस पर सरमा ने जानकी से कहा कि यदि तुम्हारा इस प्रकार का अभिप्राय है, तो मैं जाकर शत्रु के अभिप्राय को जानकर आती हूँ। इसके बाद वह रावण के पास गयी और रावण के निश्चय को जानकर शीघ्र ही अशोकवनिका में आ गयी। उसने सीता से कहा कि अतिवृद्ध मन्त्री ने रावण से कहा कि सीता का सत्कार करके उन्हें राम को दे दीजिए। जनस्थान में जो घटित हुआ है, वह पर्याप्त निदर्शन है। समुद्र का लङ्घन, राक्षसों का वध–क्या युद्ध में कोई मनुष्य ऐसा कर सका है? वृद्ध मन्त्रियों से प्रबोधित होने पर भी रावण तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता है। मृत्यु के वश में होने के कारण उसकी बुद्धि इस प्रकार हो गयी है। मैं बताती हूँ कि सभी राक्षसों तथा रावण का वध करके राम तुम्हें अयोध्या ले जायेंगे-

अतिस्निग्धेन वैदेहि मन्त्रिवृद्धेन चोदितः।।
दीयताममिसत्कृत्य मनुजेन्द्राय मैथिली।
निदर्शनं ते पर्याप्तं जनस्थाने यदद्धुतम्।।
लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः।
वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो युधि।।
एवं स मन्त्रिवृद्धैश्च मात्रा च बहुबोधितः।
न त्वामुत्सहते मोक्तुमर्थमर्थपरो यथा।।[१३]

---

9 युद्ध0 33/29
10 वही 33/30
11 वही 33/32
12 वही 34/34
13 युद्ध0 34/2023

वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा

तदेषा सुस्थिरा बुद्धिर्मृत्युलोभादुपस्थिता।[14]

निहत्य रावणं संख्ये सर्वथा निशितैः शरैः।

प्रतिनेष्यति रामस्त्वामयोध्यामसितेक्षणे।।[15]

अब विचार करेंगे कि वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा का क्या सम्बन्ध है। कहा गया है कि इतिहास तथा पुराण से वेद का समुपबृंहण करना चाहिए-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।''

इतिहास तथा पुराण वेद के तात्पर्य को प्रकाशित करते हैं। रामायण, महाभारत आदि में वेद का तात्पर्य निगूढ़ है। अनुत्तम रामायण काव्य गायत्री का स्वरूप है। रामायण के चौबीस हजार श्लोक चौबीस अक्षरों वाली गायत्री के स्वरूप का उन्मीलन करते हैं।[16]

वेद में प्रकाशित तत्त्वों के आलोक में देखने से इतिहास तथा पुराण में निबद्ध कथानकों का रहस्य भी प्रकाशित होता है। प्रतीक के रूप में ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं, जिनको वेद के ही आलोक में समझा जा सकता है। उस दृष्टि से समीक्षा करने पर सरमा के प्रसङ्ग का प्रकटन हो जाता है। वेद की सरमा देवताओं की शुनी है। वह इन्द्र के आदेश से पणियों के पास जाती है। और कहती है कि चुरायी हुई गायों को लौटा दो। यदि तुम लोग नहीं लौटाते हो, तो भी बृहस्पति क्षमा नहीं करेंगे। बृहस्पति ऋत के देवता हैं। ऋत अपना कार्य करता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। ऋत के नियम से ही यह सृष्टि चल रही है। शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल ऋत के अनुसार मिल रहा है। ऋत अप्रतिहत तत्त्व है, जो सारी व्यवस्था प्रदान कर रहा है। पणियों ने अच्छा कार्य नहीं किया है, अतः ऋत इन्हें दण्ड देगा और गायें बृहस्पति के आदेश से बाहर आ जायेंगी। इन्द्र का यह कार्य गायों को मुक्त कराना है। इन्द्र में ऐश्वर्य का तत्त्व है और ज्ञान का भी तत्त्व है। उसके स्वरूप में बृहस्पति भी विद्यमान हैं। सरमा की गति अप्रतिहत है, इसलिए वह रसा को पारकर पणियों के पास पहुँच जाती है, वह ऋत का सन्देश पहुँचाने में समर्थ है। वह ऋत का अनुगमन करती है और प्रलोभन से आकृष्ट नहीं होती। एक निश्चल नियम चल रहा है, उसको रोकने वाला, उसको विचलित करने वाला कोई नहीं है। यही स्थिति सरमा के सम्बन्ध में भी है। पणि उसको अपनी बहिन बनाना चाहते हैं, किन्तु वह उनकी बात नहीं मानती। सत्य के मार्ग पर चलने वाली सरमा भला असत्य का समर्थन कैसे कर सकती है?

रामायण की सरमा वेद की सरमा है। वह कालज्ञा है, मृदुभाषिणी है। कहा गया है कि वह राक्षसी है। वस्तुतः वह ऋत की देवी है और छिपकर राक्षसी के रूप में विद्यमान है। वह कहीं भी जा सकती है। उसे कोई देख नहीं सकता। रावण भी उसका अहित नहीं कर सकता।

---

14 वही 34/25

15 वही 34/26

16 उत्तर0111/18 गायत्र्याश्च स्वरूपं तद्रामायणमनुत्तमम्।

वह रावण से भी नहीं डरती। वह रावण के निश्चय को जानती है। वेद की सरमा ही राक्षसी के रूप में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए रामायण में प्रतिष्ठित है। तात्त्विक रूप से वह राक्षसी नहीं है। वह सत्य का अनुगमन करती है, इसीलिए सीता की सखी है। वेद में इन्द्र की दूती सरमा नदी पारकर पणियों के पास जाती है। रामायण में भी दूतकार्य का विधान किया गया है। राम इन्द्र का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। पणियों के प्रतिनिधि के रूप में रावण विद्यमान हैं। रावण ने सीता का अपहरण किया है, सीता को पीड़ित किया है। पणियों ने गायों को चुरा रखा है। सीता गो का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। जिस प्रकार चोर की भाँति पणियों ने गायों का अपहरण किया है, उसी प्रकार रावण ने सीता का अपहरण किया है। जिस प्रकार ऋत के प्रभाव से गायें मुक्त होती है। उसी प्रकार ऋत के स्वरूप राम के प्रभाव से सीता मुक्त होती है। वाल्मीकि ने वेद की सरमा को छिपाकर रखा है। उसके चरित्र की मीमांसा करने पर आवरण हट जाता है। रामायण में राम, सीता तथा रावण का त्रिक है और वेद में इन्द्र, गो तथा पणियों का त्रिक है। दोनों में सरमा की सन्निधि है, जो अभीष्ट करने में लगी है। वेद की सरमा गायों के अनुसन्धान में तत्पर है और रामायण की सरमा सीता की रक्षा करने में। जो गो की पवित्रता है, वह सीता की भी है।

रामायण की सरमा के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि सीता की वह विश्वास-पात्र है। सीता के सामने उसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित है। राक्षस उसके वास्तविक रूप को जानने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे असत्य के मार्ग पर चल रहे हैं। कवि वाल्मीकि की कुशलता है कि वे लङ्का में सरमा-जैसे पात्र की योजना करते हैं और सीता को परम अवलम्बन प्रदान करते हैं। यह रहस्य तब तक प्रकाशित नहीं हो सकता, जब तक वेद की सरमा का स्वरूप नहीं समझ लिया जाता।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ027-34)

ऋग्वेद में उपसर्ग

डॉ0 महावीर अग्रवाल डी. लिट.
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
गु0काँ0वि0वि0, हरिद्वार

भर्तृहरि ने पद विभाग के लिए प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ विद्वान् पदों के दो भेद, कुछ चार और कुछ पाँच भेद मानते हैं।[1] आचार्य पाणिनि यद्यपि सत्ता तो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की मानते हैं, तथापि उन्होंने उपसर्ग एवं निपात की अव्ययसंज्ञा[2] मानकर उनसे आनेवाली विभक्तियों का प्रत्ययलक्षण द्वारा लोप करके[3] सभी पदों को सुबन्त तथा तिङन्त इन दो भेदों में ही समाविष्ट कर लिया है। ऋग्वेद में दो ऐसी ऋचाएँ है,[4] जिनसे चतुर्विध पदों की पुष्टि होती है। यद्यपि वहाँ चारों पदों का नामतः उल्लेख नहीं है, फिर भी यास्क पदों के चार भेद मानते हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। प्रातिशाख्य ग्रन्थ[5], बृहद्देवता[6] तथा कौटिल्य-अर्थशास्त्र[7] में में भी ये ही चार भेद स्वीकार किये गए हैं।

उक्त चार पदों के अतिरिक्त कुछ विद्वान् कर्मप्रवचनीय को भी पाँचवाँ भेद मानते हैं। आचार्य रुद्रट का कथन है कि कर्मप्रवचनीय का उपसर्गों में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों में प्रयोजन तथा व्यापार भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। अस्तु किसी ने भी उपसर्गों की पृथक् पदत्व की अवहेलना नहीं की है।

विभिन्न आचार्यो का उपसर्ग-विचार

संहिताओं में उपसर्ग शब्द का स्पष्टतः उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ऋग्वेद में **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**- कहकर पदों के चार भेद तो माने हैं, किन्तु इन चारों भेदों का नामतः पृथक्-पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह शब्द उपलब्ध तो है, परन्तु वहाँ भी प्र, परा आदि पारिभाषिक शब्द न होकर सामान्य संयोजन अर्थ में हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में[8]

---

1 द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
2 स्वरादिनिपातमव्ययम् पा0 1.1.37
3 अव्ययादाप्सुपः। पा0 2.4.82
4 ऋ0. 1.164.65 तथा 4.58.3
5 ऋक् प्रा0 12.25 शुक्ल यजु0 प्रा0 8.46 तथा अथर्व प्रा0 1.1
6 बृहद्देवता 139
7 कौ0 अर्थ0 2.10
8 ऐत0 ब्रा0 4.4 पर सायणभाष्य।

महानाम्नी नामक अतिच्छन्दस् ऋचाओं में जोड़कर बोले जाने वाले कुछ पदों या पदसमूहों का उपसर्ग शब्द से अभिधान मिलता है। ताण्ड्य-ब्राह्मण[9] में मतिन्र, स्वित् प्रवह तथा हरिह आदि अन्य शब्दों को भी उपसर्ग कहा है। परन्तु योगसूत्र[10] में विघ्न अर्थ में, द्राह्यायण गृह्यसूत्र[11] में चन्द्र-सूर्यग्रहण के लिए, तथा विष्णु धर्मसूत्र में[12] अनिष्ट या उत्पात आदि अर्थो में उपसर्ग शब्द पाया जाता है। आयुर्वेद में रोग[13] और मार्कण्डेय पुराण में विप्लव[14] अर्थ में यह उपलब्ध होता है।

यास्क से पूर्व प्र, पशरा आदि उपसर्ग पारिभाषिक अर्थ में रूढ़ हो चुके थे। यास्कीय निरुक्त में उपसर्गो का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उसमें शाकटायन तथा गार्ग्य दो प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख है, जिन्होंने उपसर्गों पर कुछ सिद्धान्त स्थित किये थे।[15] यास्क के अनन्तर पाणिनि का युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। पाणिनि के आधार पर कुछ प्रातिशाख्यों, भाष्यों और वृत्तिग्रन्थों में आकर उपसर्ग और प्रतिष्ठित, परिवर्धित तथा सुदृढ़ रूप को प्राप्त हुआ। महाभाष्य के पश्चात् भर्तृहरि के वाक्यपदीय[16] में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्यों में भोजदेव, हेमचन्द्र तथा अनुभूति स्वरूप आदि हुए हैं, जिन्होंने यथामति उपसर्गों पर प्रकाश डाला है। प्रादियों की मुग्धबोध व्याकरण में[17] गि' तथा जैनेन्द्र व्याकरण में[18] गि' और ति' दोनों संज्ञाएँ मानी गई हैं। सारस्वत प्रक्रिया में[19] उपसर्गों के सोदाहरण विभिन्न अर्थ तथा लक्षण, आशुबोध व्याकरण में[20] प्रादियों से वृद्ध्यादि विचार, गणरत्नमहोदधि में[21] उपसर्गों के अनेकार्थक होने का समर्थन, ऋक्तन्त्र में[22] उपसर्गों से द्वित्व तथा दीर्घादि पर किंचित् विवेचन उपलब्ध है।

---

9 ता0 ब्रा0 12,13,22 पर सायणभाष्य
10 योग सू0 337
11 द्रा0 गृ0 सू0 512
12 विष्णुधर्मसूत्र 6771
13 सुभृत 4020
14 मार्कण्डेयपुराण 92.7
15 निरुक्त 113
16 वाक्यपदीय 2, 180, 187, 192
17 मुग्धबोधसूत्र 10.1
18 जै0 व्या0 1.2, 129130
19 सार0 अव्ययभाग सूत्र 89
20 संज्ञाप्रकरण सूत्र 31, अच् सन्धि 14,15,16
21 निपात निर्णय 46
22 ऋक्तन्त्र 3, 4, 7 तथा 3,6,5

इसके बाद व्याकरण शास्त्र में एक ऐसा युग है, जो नव्य मत के नाम से जाना जाता है। इसके प्रवर्त्तक आचार्य नागेश भट्ट माने जाते हैं। इस काल में उपसर्गों पर अनेक सैद्धान्तिक निर्णय किये गए हैं। परमलघुमंजूषा, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमजूंषा, वैयाकरणभूषणसार, व्याकरण-सिद्धान्त-सुधाानिधि, व्याकरण-सिद्धान्त-कारिका, वृत्तिदीपिका तथा शब्दकौस्तुभ में उपसर्गों के वाचकत्व तथा द्योतकत्व पर विचार किया गया है। इसी प्रकार वेदाङ्गप्रकाश में प्रस्तुत स्वामी दयानन्द के विचार भी उपसर्ग विषयक सिद्धान्त-निर्धारण में सहायक सिद्ध हुए हैं।

उपसर्ग लक्षण

उपसर्ग शब्द लोक में यद्यपि विपत्ति, भौतिक-दैविक उपद्रव,, प्रेतबाधा, चन्द्र-सूर्य ग्रहण आदि के लिए प्रयुक्त होता है, तथापि व्याकरण का उपसर्ग प्र, परा आदि के लिए रूढ़ है। शाकटायन के मतानुसार उपसर्ग वे कहलते हैं जो नाम तथा आख्यात से सम्बद्ध होकर उनके विशिष्ट अर्थों को द्योतित करते हैं। ये नामाख्यात से अतिरिक्त प्रयोग में नहीं आते तथा स्वतन्त्ररूप से अर्थाभिव्यक्ति करने में भी असमर्थ हैं। आचार्य गार्ग्य उपसर्गों को सार्थक तथा नामाख्यातों के अर्थों में विकार लाने वाला मानते हैं।[23]

पाणिनि ने अद्रव्य वाचक प्र, परा आदि को क्रिया के योग में उपसर्ग कहा है[24] तथा वे निपात, उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय इस प्रकार चार विभाग करते हैं। सत्त्व के योग में अद्रव्यार्थक प्रादियों की निपात संज्ञा होती है।[25] उपसर्गसंज्ञकं प्रादियों की क्रिया के साथ सन्निधि आवश्यक है, तदभाव में उक्त संज्ञा नहीं होती। यथा-प्रणमन्ति- इस उदाहरण में णत्व का निमित्तक उपसर्ग संज्ञक 'प्र' है। नम् धातु से संयुक्त होने पर 'प्र' की **'उपसर्गाः क्रियायोगे'** सूत्र द्वारा उपसर्ग संज्ञा होती है। तत्पश्चात् **'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य'** यह सूत्र न को ण कर देता है। **'प्रगतो नायकोऽस्मात् स प्रनायको ग्रामः'** यहाँ प्र शब्द का अन्वय **'नी'** धातु से न होकर ग्राम शब्द से होता है। अतः क्रिया से अनन्वित होने के कारण यहाँ प्र की उपसर्ग संज्ञा नहीं होती। उपसर्गत्व के अभाव में उपसर्ग संज्ञा का कार्य णत्व भी नहीं होता।

वार्तिककार कात्यायन[26] के अनुसार प्रादि जिस क्रिया से संयुक्त होते हैं, उस क्रिया के प्रति वे उपसर्ग कहलाते हैं। भाष्यकार पतंजलि[27] ने भी उपसर्गत्व के लिए प्रादियों का क्रियायोगित्व स्वीकार किया है।

आचार्य शौनक का उपसर्ग लक्षण संदिग्ध है।[28] एक ओर तो वे केवल क्रिया के योग में ही प्रादियों को उपसर्ग कहते हैं, दूसरी ओर उपसर्गों को नाम तथा आख्यात दोनों में विशेषता

---

23 निरुक्त 113
24 उपसर्गाः क्रियायोगे पा0 1.4.60
25 प्रादयः, पा0 1.4.58
26 पा0 1.4.60 पर वा0 3, 4
27 व्याकरण महाभाष्य 2,1,1

उत्पन्न करने वाला मानते हैं। ऋक् भाष्यकार आचार्य सायण ने क्रियाओं के पूर्व संयुक्त होने पर प्रादियों को उपसर्ग कहा है।[29] दुर्गाचार्य भी उपर्युक्त मतों के पोषक हैं।[30] स्कन्दस्वामी के मत में नाम या आख्यात से सम्बद्ध होकर उनके अर्थ विशेष का सृजन करने वाले प्रादि उपसर्ग कहे जाते हैं।[31] नाट्यशास्त्र में प्रातिपदिकार्थयुक्त धात्वर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने वाले प्र आदि उपसर्ग माने गये हैं।[32]

उपसर्गों की द्योतकता या वाचकता

उपसर्ग नामपदों या आख्यातपदों से सम्बद्ध होकर उनकी अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं या उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ भी होता है, इस विषय में संस्कृत वैयाकरणों में दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं।

द्योतकतावादी संप्रदाय-इस सम्प्रदाय के अनुसार नाम और आख्यात की भांति उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। उपसर्ग नामाख्यातों से सम्बद्ध होकर उनके अर्थों में वैशिष्ट्योत्पादन करते हैं। इस मत के उद्भावक आचार्य शाकटायन माने जाते हैं।[33] जैसे दीपक के प्रकाश से पूर्व विद्यमान वस्तुओं की ही प्रतीति होती है।

वैसे ही उपसर्ग धातुओं में पूर्वस्थित अर्थों को व्यक्त करते हैं। नवीन अर्थों को उत्पन्न नहीं करते। वार्तिककार कात्यायन, नैयायिक, आचार्य गंगेश आदि उपसर्गों की द्योतकता को ही मानते हैं। महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवध महाकाव्य में उपसर्गों को धातुओं में निगूढ़ अर्थ के अभिव्यञ्जक (द्योतक) लिखा है।[34]

वाचकतावादी संप्रदाय-इस पक्ष को पुष्ट करने वालों में अग्रणी हैं—आचार्य गार्ग्य। ये नाम और आख्यात की तरह उपसर्गों को भी स्वतन्त्र अर्थ के वाचक मानते हैं। ये उपसर्ग नाम अथवा आख्यात से संयुक्त होकर केवल मात्र उनके अर्थों को अभिव्यक्त ही नहीं करते, अपितु उसमें नूतन अर्थ की सृष्टि भी करते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने उपसर्गों के विषय में वाचकत्व, द्योतकत्व, तथा सहकारित्व ये तीनों विकल्प दिए है।[35]

---

28 बृ0 दे0 2.94, तथा ऋक् प्रा0 12.25।

29 प्रागुपसृजत आख्यातस्येत्युपसर्गाः। ऋक् 1.164.45 का भाष्य।

30 उपगृह्य आख्यातं तस्यैवार्थविशेषं सृजन्त्युत्पादयन्तीत्युपसर्गाः, निरुक्त 1.3 दुर्ग।

31 स्कन्दभाष्य निरुक्त 1.3

32 ना0 शा0 14.26

33 निरु. 1.3

34 शि0 व0 10.15 सन्तमेव चिरमप्रवृतत्वाद प्रकाशितमदिरद्युतदङ्गे। विभ्रमः मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम्।।

35 वा0प02.190. स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते।।

उपसर्ग में धात्वर्थ परिवर्तन

उपसर्ग के संयोग से धातु के अर्थ में परिवर्तन तथा परिवर्धन आदि विशेषता आ जाने से उपसर्ग का भी अपना विशेष महत्त्व है। इस विषय में विद्वानों में भले ही मतभेद हो कि उपसर्ग-योग से व्यक्त हुआ अर्थ किसका है, किन्तु उपसर्ग धातुओं से संयुक्त होकर नूतन अर्थ की सृष्टि करते हैं।, इसमें सभी सहमत हैं।

नाम या आख्यात के साथ सम्बद्ध होना उपसर्गों का स्वाभाविक धर्म है, यह सम्बन्ध नामार्थ या आख्यातार्थ की स्थिति में कुछ न कुछ परिवर्तन कर देता है। यह परिवर्तन तीन प्रकार का होता है-

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्यः उपसर्गगतिस्त्रिधा।।[36]

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ में आमूलचूल परिवर्तन कर देता है, जबकि उस अर्थ की पहले धातु में संभावना भी नहीं होती। कदाचित् उपसर्गार्थ धात्वर्थ का अनुवर्ती या सहयोगी होता है, अर्थात् उनमें परस्पर अनुकूलता होती है। उपसर्ग का अर्थ धात्वर्थ के तत्सम होता है। कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देता है या उस अर्थ को पहले से अधिक समृद्ध कर देता है।

ऋग्वेद में उपसर्ग प्रयोग

लोक[37] में उपसर्ग धातु से पूर्व तथा अव्यवहित ही प्रयुक्त होते हैं। परन्तु वेद में[38] अव्यवहितपूर्व, व्यवहित पूर्व, अव्यवहित पर तथा व्यवहित पर सभी प्रयोग देखे जा सकते हैं। जैसे-

1. अग्न आयाहि वातये। ऋ.6.16.10
2. आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि। ऋ. 3.45.1
3. हरिभ्यां याहि ओक आ। ऋ. 7.32.4
4. विश्वास्मभ्यं सं जयतं धनानि। ऋ. 1.108.13
5. जयेम सं युधि स्पृधः। ऋ. 1.8.3
6. समिन्द्रो गा अजयत। ऋ. 4.17.11

जब उपसर्ग धातु से अव्यवहित पूर्व रहता है, तब वह क्रिया सामान्य को ही सूचित करता है। किन्तु पर या व्यवहित की दशा में उपसर्ग से सूचित अर्थ में विशेष बल आ जाता

---

36 वै0 भू0 सार श्लोक 46
37 ते प्राग्धातोः। पा0 1/41/80
38 छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च। पा0 1/4/81, 82

है। वह बल भी भिन्न-भिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार का होता है। जैसे-जब हम **अग्न आयाहि** कहते हैं तो इससे इतना ही सूचित होता है कि अग्नि को आगमन का निमन्त्रण दिया जा रहा है। और जब **'आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि'** ऐसा व्यवहित प्रयोग करते हैं, तब आभिमुख्यार्थक आङ् पर अधिक बल हो जाता है तथा स्तोता की अपने अभिमुख बुलाने की आतुरता प्रकट होती है। वही स्तोता जब **'हरिभ्यां याहि ओक आ'** कहता है तब आङ् का बल 'ओक' पर होता है, तथा यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि स्तोता इन्द्रदेव को विशेष रूप से अपने घर में बुला रहा है। इस प्रकार के बल का अन्तर अनेक वेदमन्त्रों में उपसर्गों के प्रयोगों में देखा जा सकता है।

एकाकी उपसर्गों से वति प्रत्यय

वैदिक प्रयोगों में कहीं-कहीं विशिष्ट अर्थ में उपसर्गों से वति प्रत्यय होता है। इसमें पाणिनि का **उपसर्गाच्छान्दसि धात्वर्थे**[39] सूत्र प्रमाण रूप में विहित है। इस सूत्र का अर्थ है साधन विशिष्ट धाात्वर्थ में वर्तमान उपसर्ग से स्वार्थ में वति प्रत्यय होता है। यथा-**यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्**[40]। यहां 'उद्वत:' और 'निवत:' का अर्थ 'उद्वतानि' और 'निगतानि' किया जाता है। जिस प्रकार लोक में 'उद्बाहु:' (ऊर्ध्वं गतो बाहु: यस्य स:) यहाँ उत् उपसर्ग से ऊर्ध्व गमन अर्थ साधित होता है, उसी प्रकार वेद में भी 'उद्वत:' और 'निवत:' के उत् और नि उपसर्ग में उद्गत और निर्गत क्रिया समाहित है, इसी को ससाधन क्रिया कहते हैं।

यद्यपि पाणिनि या किन्हीं अन्य आचार्यों ने इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है कि किन-किन उपसर्गों से इस प्रकार वति प्रत्यय होता है, तथापि शोध से यह विदित होता है कि ऋग्वेद में यह केवल प्र, नि, उत्, परा, और सम्, उपसर्गों के साथ प्रयुक्त हुआ है। लगभग प्र, उपसर्ग से 40, नि उपसर्ग से 6, उत् से 60, परा से 64 तथा सम् उपसर्ग से केवल 3 बार वति प्रत्यय का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों में हुआ है।

उपसर्गों में द्वित्व

वेदों में कुछ उपसर्गों को द्वित्व होता है। पाणिनि ने इसे **'प्रसमुपोद: पादपूरणे'**[४१] इस सूत्र द्वारा निर्देशित किया है। प्र, सम्, उप ओर उत् इन उपसर्गों को पादपूर्त्यर्थ द्वित्व होता है।

ऋग्वेद में प्र का द्वित्व प्रयोग 12 स्थानों में मिलता है। सम् का केवल एक, उप के तीन तथा उत् का भी एक ही उदाहरण उपलब्ध है। प्रमाणार्थ उदाहरण देखिए -

प्र प्र प्र वयममृतं जातवेदसम् । ऋग् 6.48.1

सम् सं समिद्युवसे वृषन् । ऋग् 10.191.1

---

39 पा0 5/1/188

40 ऋ0 10/142/4

41 पा0 8.1.9

उप उपोप मे परामृश । ऋग् 1.126.7

उत् किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ । ऋग् 4.21.9

पादपूर्त्ति के लिए इनका प्रयोग प्राय: वेद में ही होता है। काशिकाकार ने लोक में इनका प्रतिषेध करते हुए लिखा है। **'सामर्थ्याच्च छन्दस्येव विधानं भाषायामनर्थकं स्यात् प्रयोगाभावात्।'** परन्तु आचार्य शाकटायन तथा कई अन्य आचार्यों ने लोक में भी उपर्युक्त उपसर्गों का लौकिक प्रयोग पादपूर्त्यर्थ दिखाया है।

पाणिनि ने पादपूर्त्यर्थ द्वित्व होने वाले उपसर्गों में प्र, सम्, उप और उत् का ही परिगणन किया है, किन्तु इनके अतिरिक्त परा, अप तथा अभि आदि का भी द्वित्व प्रयोग ऋग्वेद में प्राप्त होता है। माधव ने भी इनके द्वित्व का संकेत किया है, किन्तु पादपूर्त्यर्थ न मानकर वीप्सा आदि अर्थों में माना है।

वस्तुत: वैदिक प्रयोगों में जहाँ भी उपसर्गों को द्वित्व होता है। वहाँ क्रियापद उसके साथ स्वत: द्विरावृत्त हो जाता है, और वहाँ द्विरावृत्ति पादपूर्त्यर्थ न होकर बल देने के लिए ही होती है। जैसे कि निरुक्तकार ने कहा है-**अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथा अहो दर्शनीया अहो दर्शनीयेति।**[४२]

सोपसर्ग धातुओं से प्रत्यय विधान-उपसर्ग और समास:-

वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत के समान समास की जटिलता नहीं थी। ऋग्वेद में प्राय: दो पदों के ही समास मिलते हैं। तीन पदों के समास प्रयोग बहुत कम हैं। ऋग्वेद में उपसर्गों का सुबन्तों, आख्यातों एवं अव्ययों के साथ समास निम्न प्रकार से प्राप्त होता है-

1. प्र, परा आदि उपसर्गों का समर्थ सुबन्तों के साथ नित्य समास होता है।[43] यथा-प्रहन्ता, ऋग् 10/27/1, पराहता, ऋग् 5.56.3 परिच्छिन्ना:, ऋग् 7.33.6।

2. प्र उपसर्ग का अव्यय के साथ भी समास होता है। अनेक विद्वान् इसे द्विरुक्त समास भी कहते हैं।[44] यथा-प्रऽप्र ऋग् 1.40.7 तथा 3.9.3 पदपाठ में इसे समस्त मानकर प्रऽप्र इस प्रकार अवग्रह चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

3. अति आदि उपसर्गों का अतिक्रमण अर्थ में द्वितीयान्त सुबन्तों के साथ समास होता है।[45] यथा-अत्यविम् (अविं दशा-पवित्रम् अतिक्रम्य) ऋग् 1.6.5.

4. दुर् उपसर्ग का निन्दा अर्थ में समास होता है।[46] यथा-दुष्कृतम् -ऋग् 10.100.7/10. 85.32

---

42 निरु. 10/2

43 कुगति प्रादय: पा0 2/2/18

44 प्रसमुपोद: पादपूरणे पा0 8/1/6

45 अत्यादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। पा0 वा0

5. सु और अति उपसर्ग का पूजा अर्थ में अन्य सुबन्तों के साथ समास होता है।[47] यथा-सुसंस्कृत:, ऋग् 1.48.11, सुक्रतु:, ऋग् 1.25.10, अतियाजस्य ऋग् 6.52.1

6. विभक्त्यादि अर्थों में उपसर्गों के साथ अव्ययीभाव समास होता है।[48] यथा-अनुष्वधम्, ऋग् 1.81.4, अनुकामम्, ऋ0 1.17.3, आदि।

7. आभिमुख्य अर्थ में अभि और प्रति उपसर्ग का लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव संज्ञक होता है। यथा-अभिप्रियम्, ऋग् 1.162.3, प्रतिकामम्, ऋग् 3.48.1

8. आख्यात के साथ उपसर्ग का समास तब होता है, जब आख्यात पर उदात्त स्वर हो। यथा-अभिभा, ऋग् 2.42.1 तथा प्रपा ऋ0 10.4.1, किन्तु एक से अधिक उपसर्गों का समास अनुदात्त स्वर होने पर भी होता है। यथा-अनुपरेहि, ऋग् 1018.1, अभिसंयन्तु, ऋग् 1.125.7 आदि।

इस प्रकार ऋग्वेद में मन्त्रों के अर्थों को जानने के लिए उपसर्गों के स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है।

---

46 दुर्निन्दायाम्, महाभा0 2/2/18

47 स्वती पूजायाम्, महाभा0 2/2/18

48 अव्ययं विभक्ति0 पा0 2/1/6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ035-40)

ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात

डॉ. मीरा रानी रावत
रीडर संस्कृत-विभाग
आर्य कन्या महाविद्यालय
हरदोई (उ.प्र.)

आख्यात को परिभाषित करते हुए आचार्य यास्क ने निरुक्त में लिखा है-**भाव प्रधानमाख्यातम्**[1] अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता हो वह आख्यात है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी भावाभिधायक पद को ही आख्यात माना गया है।[2] 'आ' उपसर्गपूर्वक 'ख्या' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर आख्यात शब्द निष्पन्न होता है। यदि आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति **'आ समन्ताद् ख्यायते अनेन'** की जाए तो इसके अनुसार आख्यात शब्द उस शब्द को कहते हैं जिसके साथ कारक, विशेषण और अव्यय अर्थात् सभी प्रकार के शब्द संयुक्त होते हैं तथा पूर्ण रूप से जिसके द्वारा प्रत्येक शब्द को कह दिया जाता है। इस प्रकार का पद तिङन्त पद कहलाता है।[3]

वेंकटमाधव ने आख्यातानुक्रमणी में लकारों के निरूपण के साथ-साथ क्रियावाची पदों के अध्याहार का हेतु क्या है? आत्मनेपद परस्मैपद में क्या अन्तर है? आदि विषयों पर भी गम्भीरता से विचार किया है।

लट् वृत्ति

सामान्यतः लट् लकार का प्रयोग वर्तमान काल में होता है। व्यापार के आरम्भ होकर समाप्त न होने तक व्याप्त काल में प्राचीन वैयाकरण धातु से लट् का विधान करते हैं।[4] आख्यातानुक्रमणी में यह भी उल्लेख मिलता है कि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ लट् होने पर भी वर्तमान काल विवक्षित नहीं है,[5] उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं।[6] इसी प्रकार यद् और तद् के योग में भी लट् प्रयुक्त होने पर वर्तमान काल विवक्षित नहीं होता है।[7]

---

1 निरुक्त 1/1

2 तदाख्यातं येन भावं स धातुः। ऋक्प्रतिशाख्य 12/19

3 द्र0 निरुक्त मीमांसा, पं0 शिवनारायण शास्त्री पृ0 115

4 अर्थे प्रवृत्तेऽविरते च धातोर्लट् स्मर्यते शब्दविदैः पुराणैः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/10

5 अथापि वर्तमानत्वं क्वचिन्नैव विवक्षितम्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/18

6 द्र0 ऋग्वेद 1/2/5; 1/2/9; 1/3/12; 1/27/6

7 वही 1/41/12; 1/28/1; 1/41/5; 1/1/4; 8/16/5

कहीं-कहीं विवक्षित भी होता है।[8] लट् का प्रयोग भूतकाल में भी दृष्टिगोचर होता है। यथा-शत्रुं न किला विवित्से[9]

कदा के योग में भविष्यत् काल में भी लट्[10] का प्रयोग मिलता है। पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है।[11]

छन्द के अनुरोध से मन्त्र में जहाँ भूत एवम् भविष्यत् काल में लट् का प्रयोग मिलता है वहाँ काल विवक्षित नहीं होता है। जिस प्रकार कदा शब्द के साथ सम्बन्ध होने पर काल महत्त्वपूर्ण नहीं होता है, उसी प्रकार वाक्यों में अर्थ का स्वभाव काल को बाधित करता है।[12]

लिट् वृत्ति

परोक्ष अनद्यतन काल में लिट् का विधान इष्ट है।[13] पाणिनि भी इसी मत के समर्थक हैं। उदाहरणार्थ-**ये अग्नेः परिजज्ञिरे।**[14] **इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।**[15]

यहाँ जज्ञिरे, चक्रमे प्रयोग लिट् प्रत्ययान्त हैं। अपरोक्ष भूतकाल में भी लिट् का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[16] यथा-**जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृळहां पुरं विविशुः॥**[१७]

प्रस्तुत ऋक् का अर्थ वेंकटमाधव के अनुसार इस प्रकार है कि शत्रुओं को जानते हुए इन्होंने युद्ध का आह्वान किया सेना की रक्षा सावधानी से की और शत्रु के दृढ़ नगर में प्रवेश किया।' यहाँ ऋषि ने पूर्व यौवन काल में कृतकर्मों को वृद्ध होने पर वर्णित किया है, अतः अपरोक्षता स्पष्ट है।

अन्त में माधव ने स्पष्टरूप से निर्देश दिया है कि जहाँ यथाविहित लिट् स्थापित न हो सके, वहाँ वाक्यार्थ के अनुसार उन-उन अर्थों को प्रदर्शित करना चाहिये।[18]

---

8 वही 1/44/12
9 वही 1/32/4
10 वही 1/25/5
11 विभाषा कदाकर्ह्योः। अष्टाध्यायी 3/3/5
12 छन्दसोऽनुविधानाय यत्र भूतभविष्यतोः। लट् प्रयुक्तो न कालस्य विवक्षा तत्र विद्यते।। कदादियोगे कालस्य भवत्यत्रिभवो यथा। अर्थस्वभावश्च तथा कालं वाक्येषु बाधते।। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/28-29
13 प्रदर्शयँल्लिटो वृत्तिं परोक्षे तत्र लिट्स्मृतः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/1
14 परोक्षे लिट् अष्टाध्यायी 3/2/115
15 ऋग्वेद 10/62/6
16 वही 1/22/17
17 अपरोक्षेऽपि लिङ् दृष्टो। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/5
18 यदा नु शक्नुयाद्येष लिटं स्थापयितुं तदा। वाक्यार्थानुगुणाँस्ताँस्तान् पण्डितोऽर्थान् प्रदर्शयेत्।। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/10

लङ् वृत्ति

पाणिनि ने अनद्यतन भूतकाल में लङ् का विधान किया है।[19] ऋग्वेदानुक्रमणी में अनद्यतन तथा अद्यतन भूतकाल में लङ् के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, लिट् के परोक्ष भूतकाल में विहित होने के कारण लङ् प्रत्यक्ष भूतकाल में शेष रह जाता है।[20] यथा-**इन्द्रो अस्माँ अरदत्**।[21] यहाँ अरदत् प्रत्यक्ष भूतकाल का उदाहरण है। परोक्ष भूतकाल में भी लङ् का प्रयोग मिलता है।[22] यथा-इन्द्रस्य **नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।**[23]

यहाँ **चकार** पद द्वारा कर्मों की परोक्षता प्रतिपादित की गयी है।[24] ऐतिहासिक पक्ष की मान्यता के कारण माधव ने इस सूक्त में वर्णित कर्मों का परोक्ष प्रतिपादित किया है। वस्तुत: ये प्राकृतिक घटनाएँ सृष्टि में सदैव घटित होती रहती हैं। लोक प्रसिद्ध, परोक्षभूत प्रयोग करने वाले के दर्शनयोग्य काल में कात्यायन ने लङ् का विधान् किया है।[25] उदाहरणार्थ-**जिहीत पर्वतो गिरि:**।[26]

यहाँ माधव का अभिप्राय है कि पर्वतों का कम्पन लोक प्रसिद्ध तथा परोक्षभूत है तथा ऋषि के दर्शन का विषय है, अत: जिहीत में लङ् का प्रयोग कात्यायन वार्तिकानुसार है। अद्यतन भूतकाल में भी लङ् का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[27] यथा-**आयमद्य सुकृतम्**[28] यहाँ आयम् में अद्यतन भूतकाल में लङ् का प्रयोग हुआ है।

लुङ् वृत्ति:-प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अद्यतन भूतकाल में लुङ् का प्रयोग इष्ट है।[29] यथा-**अभि स्तोमा अनूषत**[30] यहाँ अनूषत में लुङ का प्रयोग है। सामान्य भूतकाल में भी लुङ्

---

19 अनद्यतने लङ् अष्टाध्यायी 3/2/11

20 भूतेऽनद्यतने लङ् स्याल्लङ् स्मृतोऽद्यतनेऽपि च। लिट: परोक्षे स्मरणाल्लङ् प्रत्यक्षेऽवशिष्यते।। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/2

21 ऋग्वेद 3/33/6

22 परोक्षे चाऽपि दृश्यते ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/5

23 ऋग्वेद 1/32/1

24 कर्मणामत्र पारोक्ष्यं चकारेति प्रदर्शितम् ऋग्वेदानुक्रमणी 213/6

25 परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दृष्टिगोचरे। लङ् कात्यायनो ब्रूते जिहीत पर्वतो गिरि:। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/7

26 ऋग्वेद 1/37/7

27 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/11

28 ऋग्वेद 1/125/3

29 प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा लुङ् भूतेऽद्यतने भवेत्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/12

30 ऋग्वेद 1/11/8

दृष्टिगोचर होता है।[31] यथा-**सं वो मदासो अग्मत।**[32] यहाँ अग्मत' में लुङ् प्रयुक्त है। पाणिनि ने भी सामान्य भूतकाल में लुङ् का विधान किया है।[33]

लिङ् वृत्तिः-लिङ् का स्मरण अनेक अर्थो में किया जाता है।[34] कर्तव्यता की प्रतीति सभी अर्थों में विद्यमान रहती है। काकु के भेद से विधि आदि छः अर्थ होते हैं।[35] पाणिनि ने भी **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्**[36] सूत्र द्वारा षडर्थों का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद में अनेक ऋचाओं में प्रार्थनाविषयक लिङ् मिलता है।[37] हेतु हेतुमान् के अर्थ में भी लिङ् होता है।[38] पाणिनि ने भी इसका विधान किया है।[39] यथा-**यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्।**।[40] यहाँ **ईशीय** तथा **स्यात्** में हेतुहेतुमदर्थ में लिङ् है। अतः लिङ् का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है।

लोट् व लेट् वृत्ति-ऋग्वेदानुक्रमणी में समुल्लिखित है कि विधि आदि अर्थों में लिङ् का प्रयोग होता है। उन्हीं अर्थों में लोट् एवम् लेट् का भी प्रयोग होता है।[41] यथा-**नाहमतो निरया**[42] यहाँ विधि अर्थ में लोट् प्रयुक्त है।

क्रियाओं के समुच्चय को द्योतन करने के लिये विकल्प से लोट् का प्रयोग किया जाता है।[43] यथा-**प्रेह्यभीहि धृष्णुहि।**[44] यहाँ समुच्चय में लेट् का प्रयोग है। वेद में प्रार्थना के अर्थ में अनेक स्थानों पर लेट् दृष्टिगोचर होता है।[45] यथा-**स देवाँ एह वक्षति।**[46] यहाँ **वक्षति** में लेट् का प्रयोग है।

---

31 अथापि भूतसामान्ये पश्यामोऽद्यतनीमिमाम्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/15
32 ऋग्वेद 1/20/5
33 लुङ् अष्टाध्यायी 3/2/110
34 प्रदर्शयँल्लिङो वृत्तिं बहुष्वर्थेषु लिङ् स्मृतः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/1
35 कर्तव्यता प्रतीतिस्तु सर्वेष्वर्थेषु विद्यते। विध्यादयः काकुभदात् षड् भवन्तीति पण्डिताः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/2
36 अष्टाध्यायी 3/3/161
37 ऋग्वेद 1/17/6; 8/62/11
38 हेतुहेतुमतोर्लिङ् स्याद। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/9
39 अष्टाध्यायी 3/3/156
40 ऋग्वेद 8/14/1
41 लोड्लेटावपि विध्यादौ स्मृतौ यत्र लिङो विधिः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/2
42 ऋग्वेद 4/18/2
43 समुच्चयेऽन्यतरस्यामस्योदाहरणं विदुः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/4
44 ऋग्वेद 1/80/2
45 दृश्यते बहवो लेट् प्रार्थना विषया इह। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/5
46 ऋग्वेद 1/1/2

विधि तथा हेतुमान् अर्थ में भी लेट् का प्रयोग मिलता है।[47] अन्त में माधव ने निर्देश दिया है कि वाक्यार्थ के अनुसार लोट् तथा लेट् के अर्थ को प्रदर्शित करें।[48]

लृट् और लृट् वृत्ति-लृट् का प्रयोग अन्य लकारों की अपेक्षा अल्प है। लृट् के प्रयोग को दर्शाती हुई अनेक ऋचाओं को माधव ने उदाहरणार्थ उपन्यस्त किया है।[49] हेतुहेतुमद् में भी कहीं-कहीं लृट् का प्रयोग होता है।[50]

लृट् का प्रयोग लृट् की अपेक्षा भी कम प्राप्त होता है। वेंकट माधव ने ब्राह्मणग्रन्थों के कुछ स्थलों को उदाहरणार्थ उपन्यस्त किया है।[51]

क्रिया रहित वाक्यों में क्रिया का अध्याहार-क्रिया रहित वाक्यों के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किस आधार पर क्रियावाची पद का अध्याहार किया जाए। ऋग्वेदानुक्रमणी में उल्लेख मिलता है कि कारकों की अपेक्षा से क्रियावाची पद का अध्याहार कर लेना चाहिये।[52] यथा-**यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्।**[53] इस ऋक् में परिचरन्ति पद का अध्याहार किया गया है। कहीं-कहीं वाक्य में प्रयुक्त उपसर्ग क्रिया के अध्याहार में सहायक हो जाते हैं।[54] यथा-**यस्ते सखिभ्य आ वरम्।**[55] यहाँ आ' उपसर्ग से **'प्रयच्छेत्'** पद का अध्याहार किया गया है।

वेंकट माधव ने यह भी निर्देश दिया है कि यद् आदि के योग में यदि तिङन्त पद को सर्वानुदात्त प्रयोग होता है तो प्रयुक्त वाक्य के अनुरूप मध्य में क्रियावाची पद का अध्याहार करना चाहिये।[56] क्रियापद उपमेय के साथ अन्वित न होने की स्थिति में उपमेय के साथ अन्वय के योग्य अन्य क्रियापद का अध्याहार करना चाहिये।[57]

आत्मनेपद एवम् परस्मैपद पर विचार:-माधव ने भाव और कर्म विवक्षित होने पर आत्मनेपद का विधान किया है।[58] यहाँ यह ध्यातव्य है कि कतिपय धातुयें स्वतः ही कर्ता की ओर अभिमुख होती हैं। यथा-**अग्निमीळे पुरोहितम्।**[59] यहाँ स्तुति का फल स्वतः ही कर्ता की

---

47 द्र० ऋग्वेद 1/46/1, 8/31/; 1/30/8
48 वाक्यार्थानुगुणं लोटो लेटश्चार्थं प्रदर्शयत्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/8
49 ऋग्वेद 1/44/5; 1/81/5
50 ऋग्वेद 1/161/2
51 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/6/6/4
52 अपेक्षया क्रियाक्षेपः कारकाणामिति स्थितिः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/2
53 ऋग्वेद 1/43/9
54 उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते क्रियाक्षेपाय च क्वचित्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/4
55 ऋग्वेद 1/4/4
56 पश्यद् यदादियोगेऽपि निहतं यदि तिङ्पदम्। मध्ये क्रियापदाक्षेपस्तत्तद्वाक्यानुरूपतः॥ ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/6
57 यदोपमेये नान्वेति क्रियाशब्दस्तदाऽपि च। उपमेयान्वये योग्यामन्यामध्याहरेत् क्रियाम्। वही 2/7/9 द्र० ऋग्वेद 1/116/1; 2/27/1; 2/16/1
58 आत्मनेपदमेवैषु दृश्यते भावकर्मणोः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/3
59 वदन्ति तत्र कवयः स्वाभावादिह केचन। अभिसंयन्ति कर्तारम् 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/4

ओर अभिगमन कर रहा है। अत: **ईळे** पद में आत्मनेपद है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहाँ क्रिया का फल स्वत: कर्ता की ओर अभिमुख रहता है उनके वाचक धातुओं में आत्मनेपद का प्रयोग होता है, उनसे भिन्न परस्मैपदी होती हैं।[60]

ईक्ष् तथा दृश् धातु के माध्यम से आत्मनेपद तथा परस्मैपद को स्पष्ट किया जा सकता है। कार्य के प्रयोजन का सम्बन्ध मन में करके देखने को ईक्षण मानते हैं, परन्तु दृश् के साथ इस प्रकार का नियम नहीं है।[61] यथा-**अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय।**[62] यहाँ घृत की ओर देखती हुई पत्नी कहती है–[63]**अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय।** अर्थात् दोष रहित नेत्र से तुझे तेजस्वी सन्तान के लिये देखती हूँ। यहाँ चित्त में कार्यार्थ का सन्धान स्पष्ट है अत: 'ईक्ष्' आत्मनेपदी धातु का प्रयोग हुआ है। **नराशंस सुधृष्टमपश्यम्** अर्थात् नरों के द्वारा प्रशंसनीय शत्रुओं के अतिशय धर्षिता को देखता हूँ। यहाँ दृश् धातु का अर्थ केवल देखना है, अत: दृश् धातु परस्मैपदी है।

उभययपदी धातुएँ भी प्राप्त होती हैं। यथा–**प्रातारत्नं प्रातरित्वा दधाति।**[64] यहाँ उभयपदी धातु 'धा' का प्रयोग है **दधाति** और **धत्ते** दोनों रूप **'धा'** धातु से ही निष्पन्न होता है। इसके अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।[65]

अन्तत: हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। आख्यात सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से ऋग्वेदानुक्रमणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

60 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/6
61 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/7
62 तैत्तिरीय संहिता 1/1/10/3
63 ऋग्वेद 1/18/9
64 ऋग्वेद 1/125/1
65 ऋग्वेद 3/8/1; 1/64/4

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ041-46)

वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र

डॉ. सोमदेव शतांशु
प्रवाचक संस्कृत-विभाग
गु0का0 वि0वि0 हरिद्वार

अवयवी एवं अवयवों का इतरेतर सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदाङ्ग वेदों के मर्म को समझने एवं उनके कार्यान्वयन में अत्यधिक सहयोगी हैं। कालक्रम से जब मानवबुद्धि रजोगुण तमोगुण से समाक्रान्त हो वेदज्ञान को हृदयगंम करने में असमर्थ हुई, तब परावरज्ञ ऋषियों ने वेदार्थ के सुखबोध के लिए वेदांगों की रचना की। वेदांगों में श्रौतसूत्र कल्पग्रन्थ नाम से जाने जाते हैं। कल्पग्रन्थों[1] में यज्ञों का प्रतिपादन प्रकार विहित है। कल्पांगभूत श्रौतसूत्रों में वेदविहित यज्ञों का विधान एवं मन्त्रों का विनियोग विहित है। इन कल्पसूत्रों के विना मन्त्राभिप्रेत कर्मानुष्ठान अशक्य: प्राय: है।[2]

श्रौतसूत्रों की वेदार्थ से सम्बद्धता यहाँ विचेच्य है। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ नि:संदेह ब्रह्माण्ड में सतत प्रवर्तमान आधिदैविक तथा आध्यात्मिक यज्ञों के निदर्शन हैं। श्रौतसूत्र इन यज्ञों के व्यवस्थाक हैं। तो नि:संदेह हमें उन्हें वेदार्थ के विभिन्न आयामों का द्योतक मानना पड़ेगा।

अधिकांश यज्ञीयमन्त्र अध्वर्युवेद-यजुर्वेद में आम्नात हैं। भरतमुनि का कथन है- नाट्यशास्त्र में अभिनयतत्त्व यजुर्वेद से उपगृहीत हुआ।[3] इसका अभिप्राय: हुआ यज्ञीय कर्मकाण्ड या यज्ञीय पदार्थ किसी प्रत्यायनीय के प्रतीक हैं। जैसे जल सत्य या पवित्रता का, अग्नि आत्मा या परमात्मा का तथा आज्य श्रद्धा का ब्राह्मणग्रन्थों में एतद्विषयक अनेकश: प्रमाण उपलब्ध हैं। इस विषय में विशेषत: समर्पणानन्द जी का शतपथ भाष्य उल्लेखनीय है। जैसे कोई अभिनेता राम के चरित्र का अभिनय कर रहा है तो उसे हमें रामचरित के भाव को हृदयंगम कराने वाला मानने में कोई आपत्ति नहीं होती। उसी प्रकार यज्ञविधायक इन श्रौतसूत्रों को वेदार्थ में सहायक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। नाटक पात्र शब्द भी यज्ञीय पात्र आज्य स्थली जुहू, उपभृत, स्रुव आदि की औपमिक सादृश्य से प्रयुक्त होते हैं-**पात्रमिव पात्रम्।** श्रौतसूत्रों में वर्णित यज्ञों का मूल उद्देश्य दैवत एवं अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना है, यास्क का भी यही अभिप्राय प्रतीत

---

1 कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति कल्प:। दुर्गभाष्य

2 वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पै: कर्माणि याज्ञिका:। न तु कल्पैर्विना केचिन् मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्।। कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्तिक 1/3/11

3 यजुर्वेदादभिनयान्। भरत, नाट्यशास्त्र अध्याय 1/17

होता है।[4] ब्राह्मणग्रन्थों में तो इस तथ्य का निर्दशन पदे पदे देखा जा सकता है-**इत्यधियज्ञम् अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** आदि।

बौधायन श्रौतसूत्र दर्शपूर्ण मास प्रकरण का यह वाक्य भी ध्यातव्य है-'**तस्य च (वेदस्य) कर्मऽवबोधनमेवार्थः तदधीनमेव कर्म अभ्युदयहेतुः तथा च दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम। न च तस्याध्ययनमात्रात् तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति,**[5] **चोदितानां कर्मणां सुखावबोधाय भगवान् बौधायनः कल्पमकल्पयत्। यतो ब्राह्मणानामानन्त्यं दुःखबोधता च अतो न तैः सुखं कर्मावबोध इति कल्पसूत्राणीमानि प्रतिनियतशाखान्तराणि अङ्गीचक्रुः पूर्वाचार्याः।**'

उक्त सन्दर्भ में वेदविहित कर्मों का सुखावबोधन ही श्रौतसूत्रों का प्रयोजन है। इतना तो निर्विवाद ही है। अतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि अधिदेव एवं अध्यात्म जगत् की क्रियाओं एवं पदार्थों का वर्णन करने वाले मन्त्रों का गूढ़ अभिप्रायों को साक्षात् कराने या प्रत्यक्षतः समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों को विशिष्ट क्रियाओं से किया गया। यज्ञकर्म करते हुए किस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में बोध कराने वाले वाक्यों को विनियोग कहते हैं-**विनियुज्यतेऽनेन**-जिससे सम्बद्ध किया जाए।[6] इस प्रकार यह विनियोग शब्द भी श्रौतसूत्रों एवं मन्त्रार्थ के प्रगाढ़ सम्बन्ध को द्योतित करता है।

कालान्तर में यज्ञप्रभाव वृद्धि के साथ विविध इच्छापूर्ति के लिए अनेक यज्ञों का प्रचलन हुआ तथा अनुकूलार्थ मन्त्र न मिलने पर मन्त्रार्थ के विपरीत भी विनियोग होने लगे।[7]

अतः महर्षि स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रगत याज्ञिक प्रक्रिया को प्रमाण मानते हुए भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कहा है-'इसलिये युक्ति से सिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन (शाखाब्राह्मण/श्रौतसूत्र) में कहा गया विनियोग ग्रहण योग्य है। जैसे युक्ति विरुद्ध जैसे अश्वमेध में अश्व के साथ राजमहिषी का समागम यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि का स्त्रियों और कन्याओं से अश्लील सम्भाषण, वेद विरुद्ध।[8] यथा-गौ, अश्व, अजा, अवि पुरुष आदि की हिंसा यह अमान्य है।

श्रौतसूत्रों के विधान अनेक रूप से मन्त्रार्थ स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे कहीं विशिष्ट पदों का अर्थ बताते हुए यथा हवि व्रीहि, यव, आज्य, पयः आदि कहीं पर विनियोग क्रम को स्पष्ट करते हुए यथा-**आम्नाय प्रणिधीरं पूर्वमिदमुत्तरमिति।**[9]

---

4 याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। निरुक्त 1/19

5 शाबर-भाष्य- 1/11

6 युधिष्ठर मीमांसक-शाबर भाष्य पृ. 124

7 दधिक्राव्णो अकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान्। प्राश्य। आश्वलायन श्रौतसूत्र 6/13

8 ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषय। पृ0 288

9 बौ.श्रौ.सू. 24/1/2

वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्रों में विहित अग्निहोत्र के कर्मकाण्डों के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त भावों की चर्चा करते हैं। अग्निहोत्रादि समस्त याग आहिताग्नि यजमान को करने का अधिकार है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम अग्निहोत्र शब्द पर विचार करते हैं।

संसार में मनुष्य की उत्पत्ति के पश्चात् सर्वप्रथम वह अहोरात्र का परिवर्तन का अनुभव करता है, यद्यपि यह सामान्य घटना प्रतीत होती है, किन्तु अतिमहत्त्वपूर्ण घटना है। यही दिन रात अध्यात्म में जागरण एवं सुषुप्ति के द्योतक हैं। इसी तत्त्व की व्याख्या ऋषियों ने अग्निहोत्र के रूप में की है।[10] यथा दिन-रात का काल विभाग अधिदैव में सबसे छोटा है तथा अहोरात्र का प्रतिनिधिभूत अग्निहोत्र भी सबसे छोटा है। मनुष्य जीवन दिन-रात में व्यतीत होता है। अतः अग्निहोत्र का अनुष्ठान भी यावज्जीव करना होता है।[11] इसी दृष्टि से शतपथकार ने अग्निहोत्र को जरामर्य सत्र[12] कहा है। अग्निहोत्र रातदिन में दो बार किया जाता है। उभयकाल का मिलाकर एक अग्निहोत्र कर्म होता है।

अग्न्याधान कर्म मध्याह्न काल तक चलता है। अतः अग्निहोत्र सायंकाल प्रारंभ होता है। ततः प्रातःकाल प्रातरग्निहोत्र होता है। यह विधान यजुर्वेद के **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहाः**[१३] रहस्य को प्रकट करता है कि पहले प्रातःकालीन **सूर्यो ज्योतिः** न पढ़कर **अग्निर्ज्योर्तिः** क्यों पढ़ा गया।

अधिदैव में भी सृष्टिरूप दिन से पूर्व रात्रि रूप प्रलय विद्यमान था। सर्ग वर्णन से पूर्व प्रलय का बोध ही नहीं हो सकता। इसलिए ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी सद् से पूर्व असद् प्रलय का वर्णन है।[14] अग्नयाधान[15] के विना कोई याग संभव नहीं है। श्रौतसूत्रों में अग्न्याधान के लिए कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, फाल्गुनी, विशाखा तथा उत्तर भाद्रपदा नक्षत्र उपयुक्त माने गए हैं।[16] यदि ब्राह्मण कृत्तिका[17] नक्षत्र में आधान करता है तो वह ब्रह्मतेज सम्पन्न होता है। मृगशीर्ष[18] में आधान करने से ब्रह्मतेज तथा यज्ञफल, पूर्वा फाल्गुनी से विशेष दान प्राप्ति तथा उत्तराफाल्गुनी से विशेष श्री प्राप्ति होती है।

---

10 गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः 13/43 अश्वं जज्ञानं मा हिंसीः। यजुः 13/44
11 श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय, पृ0 23 (युधिष्ठिर मीमांसक)
12 यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति। लुप्त ऋग्वेदीय ब्राह्मण
13 यजुर्वेद 3/9
14 12/4/1/1
15 नासदासीन्नो सदासीत् ऋ0 10/129/1 तम आसीत् तमसा गूळमग्रे0। ऋ0 10/129/3
16 अग्नियों को स्थापित करने के लिये जलते हुए अंगारों को किसी विशेष व्यक्ति के द्वारा समय विशेष में विशेष मन्त्रों के साथ विशेष स्थल में रखा जाना। धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 पृ0514
17 कृत्तिकासु रोहिण्यां मृगशिरसि विशाखयोरुत्तरयोः प्रोष्ठपदयोः। आश्वलायन श्रौतसूत्र 2.1.10
18 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5-3-3

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कृत्तिका के सम्बन्ध में शतपथ में कहा है-अन्य सभी नक्षत्र एक दो तीन अथवा चार हैं किन्तु कृत्तिकाएँ बहुत-सी हैं। अत: इसमें अग्न्याधान से बहुत्व को प्राप्त होता है। यह पूर्व दिशा से कभी च्युत नहीं होती, अन्य सभी च्युत हो जाते हैं। अत: यजमान भी च्युत नहीं होता।[19] तैत्तिरीय-ब्राह्मण में रोहिणी के सम्बन्ध में लिखा है- **'प्रजापतिः रोहिण्यामग्निमसृजत्। तं देवा रोहिण्याम् आदधत। ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद् रोहिण्यै रोहिणीत्वम्। रोहिण्यामग्निमाधत्ते ऋध्नोत्येव। सर्वान रोहान् रोहति।**[20]

कृत्तिका रोहिणी आदि नक्षत्र विशिष्ट काल में अग्न्याधान से बहुत्व तथा समृद्धि प्राप्ति इनका बहुत्व तथा अग्निप्राधान्य को संकेतित कर रहे हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मण को वसन्त में क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शरद में तथा रथकार को वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए।[21] यदि सोमयाग करना हो तो ऋतुनक्षत्र विचार करने की आवश्यकता नहीं है।[22]

इसका अभिप्राय यह है कि वसन्त आज्य ज्ञानस्नेह का प्रतीक है, ग्रीष्म इध्म कठोर उग्र दहन प्रकृति का है। शरद हविः-अन्नादि पोषणतत्त्व आदि का प्रतीक है। अत: ब्राह्मणादि वर्ण भी उन-उन गुण विशेषों को अपने अन्दर धारण करें।

अग्न्याधान के लिए अश्वत्थ (पीपल) की दो अरणियों[23] को मथकर अग्नि उत्पन्न कर स्थापना की जाती है। यह विधि पृथ्वी में सर्वप्रथम भौतिक अग्नि की उत्पत्ति वनस्पतियों के संघर्षण से ही मानी जाती है। आहवनीय अग्नि स्थापना के समय आहवनीय कुण्ड के पास पहले घोड़े को पूर्वाभिमुख खड़ा किया जाता है, उसके दक्षिण पैर से कुण्डस्थ संभारों का स्पर्श कराया जाता है। तदनन्तर घुमाकर आहवनीय कुण्ड की पूर्व दिशा पश्चिमाभिमुख खड़ा करके उसका दाहिना पैर कुण्ड में स्थापित संभारों पर जैसे पड़े वैसे कुदाया जाता है और कुण्डस्थ अश्वपद चिह्न से स्पर्श कर उस पर अग्नि रखी जाती है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में इस समय ब्रह्मा के द्वारा रथचक्र को घुमाने का भी निर्देश मिलता है।

वेदि स्थापित तीन अग्नियों में से गार्हपत्याग्नि पार्थिव अग्नि का प्रतीक है। आहवनीयाग्नि सौर अग्नि का तथा दक्षिणाग्नि अन्तरिक्षस्थ अग्नि का प्रतीक है। वेदों में अनेकत्र सूर्य को कहा गया है-**एको अश्वो वहति सप्तनामा।**[24] सूर्य की स्वधुरि पर गति को ध्यान में रखकर **त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्।**[२५]

---

19 वही 5/3/6
20 वही, 5/3/89
21 शतपथ ब्राह्मण 2/1/2
22 तै. ब्रा. 1/22
23 वसन्तो ब्राह्मणस्य ग्रीष्मो राजन्यस्य हेमन्तो वा शरद् वैश्यस्य वर्षा रथकारस्य। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5/3/18
24 ऋग्वेद 1/164/2
25 ऋग्वेद 1/164/2

इसी अधिदैव रहस्य को ध्यान में रखकर आहवनीयाग्नि आधान के समय प्रतीक रूप से अश्व को उपस्थित किया जाता है।[26]

इस अग्निस्थापन क्रिया के पश्चात् यजमान या अध्वर्यु छः समिधाएँ लेकर अग्नि में आहूत करता है। कहीं पर तीन काष्ठ लेकर आहवनीयाग्नि के चारों ओर रखने का विधान मिलता है।[27] ये समिधाएँ पलाश की हों, क्योंकि पलाश ब्रह्मवृक्ष है। पलाश नहीं मिले तो विकङ्कत किंकणी वज, काश्मर्य, खम्भारी, बिल्व, खैर, उदुम्बर का प्रयोग करें। शतपथ के अनुसार विकङ्कत स्निग्ध गुणयुक्त, काश्मर्य कीटाणुनाशक, बिल्वपुष्टिकारक, खादिर कठोर सारवान्, गूलर शक्तिवर्धक होता है।[28] इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती लिखते हैं-राष्ट्ररक्षारूपी **अग्नि की सुरक्षा के लिए यदि पलाशगुण युक्त कोई ब्राह्मण न मिले तो जो स्नेहयुक्त, दोषनाशक, दृढ़व्रत, सारवान्, ऊर्जस्वी, मनुष्य मिले, उनसे कार्य लेना चाहिए।**[29]

अग्नि स्थापना के पश्चात् व्रतधारण किया जाता है। केशादिकर्तन तथा नियम-संयम[30] तथा जल स्पर्शपूर्वक या अग्नि को देखते हुए **अग्ने व्रतपते** इत्यादि मन्त्रोचारणपूर्वक व्रत ग्रहण लिया जाता है। तत्सदृश होने के लिए ही इनके साक्ष्य में व्रत ग्रहण किया जाता है।

श्रौतसूत्रों के हवाले से यागों में जो पशुबलि की कुप्रथा चल पड़ी है। वह सर्वथा भ्रान्त है। संक्षेप में वेदविहित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ है। एक स्पष्ट प्रमाण-**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त**[31] **वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्तः।**[32] पशुयज्ञ में अंहिस्य है इस तथ्य को चरक संहिता में अतिसार रोगोत्पत्ति प्रसंग में स्पष्ट किया है।[33] **आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीयाः बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नभाग इक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशुनामभवत् गवालम्भः प्रवर्त्तितः अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।**

---

26 सोमेन यक्ष्यमाणो नर्त्तु पृच्छेन्न नक्षत्रम्। आश्वलायन श्रौ.सू. 2/1/15

27 शालाग्निं निर्मथ्य वा। मानवश्रौतसूत्र 1.5.1.14

28 श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय पृ. 21

29 शतपथब्राह्मण 1/3/3/18

30 क. प्रजापति यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्। 6-6-3.1 ख. रक्षोघ्नं ददृशुर्यत् काश्मर्यम्। 3.4.1-14 ग. मज्जा स .... श्रोत्रत उदभिनत् स एव वनस्पतिरभवद् बिल्व। 13.4.1.8 घ. अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् तस्मात् स दारुणो बहुसारः। वही 13.4.4.9 ङ-ऊर्गुदुम्बरः। वही- 3.2.1.33

31 स्वामी समर्पणानन्द। शतपथ-भाष्य पृ. 226

32 यजुर्वेद-23/14

33 चरकसंहिता-चिकित्सास्थान 19/4

इस प्रकार गवालम्भ से पृषध्र के यज्ञ में अतिसार रोग प्रथम उत्पन्न हुआ। चरक के कथन की पुष्टि वसिष्ठधर्मसूत्र[34] में निम्नरूपेण की है-

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्त्विघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्।।[३५]

पहले तीन रोग थे- ईर्ष्या, क्षुधा एवं बुढ़ापा। पृषध्र[36] ने गौ हत्याकर 98 नये रोगों को उत्पन्न किया। उक्त श्रौत एवं परवर्ती प्रमाणों से स्पष्ट है कि यागों में पशु अवध्य हैं।[37]

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रों में विहित कर्मकाण्ड अनेक प्रकार से वेदमन्त्रों के आधिदैविक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वपूर्ण रहस्यों को समझाने में सहायक है। आज आवश्यकता है इन सूत्र ग्रन्थों को समझकर वेद के वास्तविक मर्म तक पहुँचने की। वेदाङ्गों की रचना का वेदाङ्गत्व महत्त्व इसी में है।

---

34 वसिष्ठधर्मसूत्र 21/23

35 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5.4.9

36 पृषध्र-पुरुरवा पौत्र नहुष-युधिष्ठिर मीमांसक शाबर भाष्य पृ0176

37 अग्निपशु के आलभन से यज्ञ-आपो ह यद् बृहती विश्वमायन गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम। यश्चिदापो महिनापर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। ऋ. 10/121/7.8

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ047-53)

निघण्टु में अनुपलब्ध-निरुक्त में व्याख्यात पद

डॉ0 वेदपाल
रीडर संस्कृत जनता वैदिक कालेज
बडौत (बागपत)

महर्षि यास्क ने निरुक्त में कुछ ऐसे भी पदों का निर्वचन किया है, जो निघण्टु में अनुपलब्ध हैं। ऐसे पदों की संख्या पाँच सौ के लगभग है। प्रश्न उठता है कि यदि इन पदों का निर्वचन ही करना था तो यास्क ने इन पदों को निघण्टु में ही समाम्नात क्योंकि नहीं किया? इससे निघण्टु व निरुक्त का एकर्तृत्व खण्डित सा प्रतीत होता है, क्योंकि यदि इन दोनों का कर्ता एक होता तो व्याख्येय निघण्टु में निरुक्त में व्याख्यात पदों को अवश्य आम्नात करता। निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पदों की व्याख्यातव्यता एवं दोनों का एकर्तृत्व प्रस्तुत पत्र का विवेच्य विषय है।

दुर्ग ने स्वनिघण्टु भाष्य[1] में छन्दोभ्य: समाहृत्य0' की व्याख्या में यह प्रसङ्ग उठाया है कि-निघण्टु में इतने ही पदों को संगृहीत क्यों किया? दुर्ग का मत है कि-मन्त्र में अवस्थित ये ही पद ऐसे थे जो अभिनिविष्ट बुद्धि वाले, मेधावी, तपस्वी, लक्षण, विनियोग, आर्षच्छन्द, दैवत निदानविदों के भी मन्त्रार्थ परिज्ञान के उद्यम को भङ्ग करने वाले थे। दुर्बोध होने से, इन पदों का परिज्ञान होने पर अप्रतिहत गति से मन्त्रार्थ परिज्ञान किया जा सकता है। इसलिए ये पद ही ज्ञापक हैं।[2]

दुर्ग ने निघण्टु पठित पदों के समाम्नान का प्रयोजन तो दर्शा दिया, किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि क्या निघण्टु पठित पदों से व्यतिरिक्त पद मन्त्रार्थ परिज्ञान रूप उद्यम को भङ्ग करने वाले न थे? इस विषय में यह कहना समीचीन होगा कि अन्य भी अनेक पद हो सकते हैं जो मन्त्रार्थबोध में बाधक हों, किन्तु ऐसा मानने से निघण्टु पठित पदों की दुर्बोधता खण्डित नहीं होती। अन्य पद भी क्लिष्ट हो सकते हैं अत: व्याख्येय भी। ऐसा मानने में कोई दोष भी नहीं है। दुर्ग ने **'एवकार'**[3] के द्वारा जो इन पदों के लिए निर्धारण करना चाहा है, वह उचित प्रतीत नहीं होता।

---

1 दुर्ग ने निरुक्तभाष्य को निघण्टुभाष्य नाम दिया है।

2 दुर्गवृत्ति 1.1 कस्मात् पुनरेतावन्त एव ग्रन्थीकृता इति? उच्यते-इतो यस्मादेतैरेव छन्दस्यवस्थितैरभिनिविष्टधियामपि मेधाविनां तपस्विनां लक्षणविनियोगार्षछन्दो दैवतनिदानविदामपि सतां मन्त्रार्थपरिज्ञानोद्यमभङ्ग: क्रियते, दुष्परिज्ञानत्वात् तेषामेतेषु परिज्ञातेषु अप्रतिबन्धेन शक्यते मन्त्रार्थ: परिज्ञातुमिति अत उच्यते ते एवं ज्ञापका भवन्तीति।

3 दुर्गवृत्ति 1.1-एतैरेव छन्दस्यव0......... त एव

आचार्य यास्क ने भी 'निघण्टव'[4] पद का निर्वचन करते हुए कहा है कि ये पद मन्त्रार्थ निगमयिता होने से निगन्तु होते हुए निघण्टु कहलाने लगे, किन्तु यास्क ने ऐसा कहते हुए 'एवकार' द्वारा पदों का निर्धारण नहीं किया। अतः निघण्टु में अनुपलब्ध (किन्तु निरुक्त में व्याख्यात) पदों की व्याख्यातव्यता को अवकाश प्रापत हो गया। विचारणीय विषय यह है कि क्या निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पद दुर्बोध हैं? क्या वे ज्ञात होने पर मन्त्रार्थबोध में सहायक होते हैं? क्या उनमें सभी पद अभिनिविष्ट धी वालों के लिए क्लिष्ट हैं अथवा कुछ ऐसे पद भी हैं जो भूयसे निर्वचनाय[5] कहकर और अधिक स्पष्ट करने की मनीषा से व्याख्यात किए हैं? क्या उन पदों का वर्गीकरण नैघण्टुक, नैगम अथवा दैवतकाण्ड के अन्तर्गत किया जा सकता है? क्या महर्षि यास्क का निर्वचन सिखा देने का प्रयोजन निघण्टु पठित पदों के व्याख्यात कर देने मात्र से ही पूर्ण न हो रहा था अथवा निम्क्त का प्रयोजन मात्र निर्वचन न होकर व्याख्यात पदों के माध्यम से मन्त्रार्थ करना सिखाना है? क्या उन पदों को निघण्टु के पदों की ही भाँति अप्रसङ्ग में असम्बद्ध ढंग से ही व्याख्यात किया है अथवा प्रसङ्गवश ही कहा है अथवा प्रसङ्गाप्रसङ्ग जिस भी तरह से अध्येता के सारल्य का ध्यान रखते हुए दुर्बोधता को दूर करने का प्रयास किया गया है? क्या निघण्टु पठित पदों के निर्वचन की शैली की ही भाँति निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के निर्वचन में कुछ नूतन शैली का प्रयोग किया गया है? इत्यादि उत्कण्ठायुक्त प्रश्न ही इस विवेचन का मूल हैं।

निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) यास्क भूमिकागत पद।[6]

(2) नैघण्टुक काण्डगत पद।[7]

(3) नैगम काण्डगत पद।[8]

(4) दैवत काण्डगत पद।[9]

यास्क भूमिकागत पद

यास्क भूमिकागत पदों में सर्वप्रथम पठित **'निघण्टवः'**[10] पद ही अतिपरोक्षवृत्तियुक्त हैं। अतिपरोक्षवृत्ति होने से यह नैगमकाण्ड में होना चाहिए था, किन्तु इसे यास्क भूमिका में

---

4 निरुक्त-1.1
5 निरुक्त 30.1, 7.4
6 निरुक्त. 1.1-2.1
7 निरुक्त 2.2-सम्पूर्ण तृतीय अध्याय
8 निरुक्त 4.1-सम्पूर्ण षष्ठ अध्याय
9 निरुक्त 7.1-द्वादश अध्याय पर्यन्त
10 निरुक्त 1.1

व्याख्यात किया गया है। यह छन्द में अवस्थित पद नहीं है। अतः दुर्बोध होता हुआ भी निघण्टु में समाम्नात नहीं किया जा सकता, क्योंकि निघण्टु में केवल मन्त्रस्थ पद ही पठित हैं। निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के लिए एक यह सिद्धान्त भी निःसृत हुआ कि इन पदों में ऐसे पद भी है जो मन्त्रस्थ नहीं, अपितु प्रसङ्गवश व्याख्यात पद हैं अथवा विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। यास्क भूमिका में पठित **'निघण्टवः'** व **'निपाताः'**[11] ये दो पद पारिभाषिक हैं और आत्यन्तिक रूप से व्याख्येय भी हैं।

'चित्' निपात के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यास्क ने 'आचार्यः' व 'कुल्माषाः'[12] का निर्वचन किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि इन पदों का निर्वचन न करते तो 'चित्' निपात का पूजा व कुत्सा अर्थ द्योतित न हो पाता। 'आचार्यः' पद के निर्वचन द्वारा आचार्य पद की गरिमा व 'कुल्माषाः' पद के द्वारा कुल्माष के ब्याज से दरिद्रता की निन्दा की गई है, जो कि इन पदों के निर्वचन के विना सम्भव न थी। अतः प्रसङ्गवश पठित ये पद भी आत्यन्तिक रूप से व्याख्यातव्य थे।

'नु' निपात[13] को वेद में प्रदर्शित करने के लिए मन्त्रांश दिया। पुनः उस मन्त्रांश[14] में आए दुर्बोध पद (वयाः) को व्याख्यात किया, जबकि उस पद से 'नु' निपात का विशेष अर्थ प्रकट होता हो-ऐसा नहीं है। पुनरपि 'वयाः'[15] पद का निर्वचन कर तथा 'वयाः' के अर्थ-शाखा' शब्द का भी हेत्वाक्षिप्त निर्वचन किया है। अतः इन पदों के प्रसङ्ग में एक यह भी सिद्धान्त निःसृत हुआ कि केवल प्रसङ्गवश भी पदों का निर्वचन किया गया है। प्रसङ्गवश आए हुए पद अव्याख्यात तो छोड़े जो सकते थे, किन्तु ऐसे पदों का निघण्टु में समाम्नात करना (प्रसङ्ग का पहले ध्यान न होने से) किञ्चित् कठिन प्रतीत होता है।

'नूनम्' निपात को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र[16] प्रस्तुत करके मन्त्र में पठित श्वः[17] पद के प्रसङ्ग से अद्य, द्युः, ह्यः आदि पदों का निर्वचन आचार्य की सचेष्ट चेष्टा ही कही जाएगी कि वे निरुक्त अध्येता को प्रत्येक शब्द का मर्म ज्ञात करने के लिए उद्बोधित करना चाहते हैं।

आचार्य शब्द संरचना को ध्यान में रखते हुए ही धात्वन्वेषण करते हैं। जैसे-अन्यः नानेयः, ह्यो हीनः, वरो वरयितव्यः, चित्तं चेततेः, मघम् मंहनीयः, दक्षिणा दक्षतेः, हस्तो हन्तेः, भगो भजतेः, वीरो वीरयति[18] इत्यादि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

---

11 निरुक्त 1.2
12 निरुक्त 1.2.4
13 निरुक्त 1.2.4
14 वृक्षस्य नु ते पुरूहूत वयाः ऋ. 6.24.3
15 निरुक्त 1.2.4
16 न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्। अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। ऋ. 1.17001
17 निरुक्त 1.3.6
18 निरुक्त 1.3.7

'त्व' निपात के प्रसङ्ग में आचार्य ने मन्त्र प्रस्तुत किया है।[19] प्रस्तुत 'ऋचां त्वः'[20] मन्त्र के प्रत्येक पद को व्याख्यात किया है। इस मन्त्रव्याख्या से प्रतीत होता है कि आचार्य का उद्देश्य निर्वचन मात्र न होकर मन्त्रव्याख्या शिक्षण भी है। यतः गायत्रम्, शक्वर्य, ब्रह्मा, ब्रह्म, अध्वर्युः आदि[21] पदों का निर्वचन 'त्व' निपात को स्पष्ट करने में साक्षात् रूप से सहायक नहीं है।

'त्व' निपात को सर्वनाम पद मानते हुए प्रथमा बहुवचन 'त्वे' को वेद में प्रदर्शित करने के लिए मन्त्र[22] प्रस्तुत कर सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या भी की है, जबकि 'त्व' निपात का अर्थ तो स्पष्ट ही था। यहाँ भी अक्षि, कर्णः, आस्यम्, दध्नः, प्रस्नेया, ह्रदः आदि पदों[23] का (अप्रसङ्ग में) निर्वचन यही साक्षी देता है कि आचार्य मन्त्र व्याख्या प्रकार भी सिखाना चाहते हैं। 'दध्न' शब्द को आचार्य प्रमाणवाची नामपद मानते हैं, जबकि आचार्य पाणिनि 'दध्न' को प्रमाणवाची प्रत्यय मानते हैं।[24]

इस प्रकार भूमिका में आए पदों के निर्वचन प्रकार में भी ऐसी कोई विशिष्ट भिन्नता नहीं है, जो कि उन पदों के निर्वचन प्रकार को नैघण्टुक, नैगम, दैवत काण्ड में आए पदों से पृथक् कर सके।

नैघण्टुक काण्डगत पदः-नैघण्टुक काण्ड में 'गौ' पद को वेद में दिखाने के लिए मन्त्रांश दिया[25]। मन्त्रस्थ नामपद 'मत्सर' को व्याख्यात किया। यद्यपि मत्सर शब्द लोभवाची[26] नामपदों में पढ़ा गया था, पुनरपि यहाँ **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** में मत्सर का अर्थ सोम अभिप्रेत था। अतः एक ही प्रवृत्तिनिमित्त से दोनों अर्थ सिद्ध कर दिए। 'गो' का अर्थ गो का पय है। अतः 'पयः'[27] का निर्वचन देकर पयः के प्रसङ्ग से क्षीर का निर्वचन भी दे दिया है।

इस प्रकार निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात इन पदों के लिए यह कहा जा सकता है कि ये प्रायशः नामपद ही हैं और मन्त्रांश में पठित केवल नामपदों का ही व उस नामपद के प्रसङ्ग से आए पदों का भी निर्वचन किया गया है। जैसे 'अंशुः' मन्त्राश[28] में पठित नामपद है। **'इति अधिषवणचर्मणः'**[29] ऐसा कहकर 'चर्म' पद का भी निर्वचन कर दिया है।

---

19 निरुक्त 1.3.7
20 ऋ. 10.71.11
21 निरुक्त 1.3.7
22 ऋ. 10.71.7-अक्षण्वन्तः
23 निरुक्त 1.3.8
24 प्रमाणे द्वयसज्दघ्न0।
25 ऋ. 9.46.4-गोभिः श्रीणीत मत्सरम्
26 निरुक्त 2.2.5
27 निरुक्त 2.2.5
28 अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि-ऋ. 10.94.9
29 निरुक्त 2.2.5

इसी प्रकार वृक्ष पद मन्त्रांश[30] में पठित है और उसके प्रसङ्ग से 'क्षा' पद का निर्वचन कर दिया है।

सूर्य की सभी रश्मियों को गो कहते हैं। इस प्रसङ्ग में[31] भी सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या की है। भू:, शृङ्गम्, पाद: ऐसे ही पद हैं, जबकि इन पदों का निर्वचन 'गो' शब्द का अर्थ- 'सभी सूर्य रश्मि' सिद्ध करने में साक्षात् सहायक नहीं है। पुनरपि सम्पूर्ण मन्त्रव्याख्या से 'गो' शब्द का अर्थ सुस्पष्ट अवश्य होता है।

निर्ऋति पद पृथिवी वाची नामों में पठित है। इसके दो अर्थ हैं-पृथिवी व कष्ट प्राप्ति।[32] एक ही मन्त्र में निर्ऋति के दोनों अर्थ प्रकट करने के लिए यास्क ने **'य ईं चकार०'**[33] ऋचा को प्रस्तुत किया है। उसी मन्त्र में 'माता' व 'योनि' ये दो पद आए हैं। मन्त्रार्थ के साथ ही इन पदों का अर्थ भी पृथक् हो जाता है,[34] अत: ऐसा कहा जा सकता है कि निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों में कुछ ऐसे भी पद हैं जो मन्त्रार्थ करते समय साक्षात् सहायक होते हैं।

समुद्र के दो अर्थ हैं- अन्तरिक्ष और सागर,[35] दोनों को विभक्त करने के लिए एक मन्त्र दिया है और इसी प्रसङ्ग से 'शन्तनु:' जैसे ऐतिहासिक नाम पद की अन्वर्थसंज्ञा प्रकट की है। कहीं-कहीं 'आपनीफणत्'[36] व 'आशयत्'[37] जैसे तिङन्त पद का भी निर्वचन किया है। प्रसङ्गवश संख्याओं[38] का भी निर्वचन किया है जो कि वेदमन्त्र में पठित नहीं हैं।

इस प्रकार नैघण्टुक काण्डगत निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के लिए कहा जा सकता है कि ये पद नाम व आख्यात दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं और ये मन्त्रार्थ से साक्षात् रूप से जुड़े भी प्रतीत होते हैं।

नैगमकाण्डगत पद

नैगमकाण्डगत पद अतिपरोक्षवृत्ति वाले हैं। उन पदों को सुस्फुट करने के लिए सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या ही अपेक्षित है, किन्तु आचार्य ने प्रसङ्गवश मन्त्रस्थ पदों से व्यतिरिक्त अन्य पदों की भी व्याख्या की है। जैसे-जहा[39] को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र दिया है। मर्या शब्द को

---

30 वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौस्ततो वया:-ऋ. 10.27.22
31 निरुक्त 2.2.7
32 निरुक्त 2.2.8
33 ऋ. 1.164.32
34 निरुक्त 2.2.9 माता-माता, अन्तरिक्ष; योनि-योनि, वायु
35 ऋ. 10.98.7
36 निरुक्त 2.7.28
37 निरुक्त 2.5.16
38 निरुक्त 2.2.9
39 निरुक्त 4.1

मन्त्रस्थ होने से व्याख्यात किया। मर्या का अर्थ मर्यादा है। पुनः मर्यादा का भी निर्वचन दिया। वास्तव में नैगमकाण्डगत पद ही उस कोटि में रखने चाहिए, जिनके लिए दुर्ग ने **एवकार**[40] का प्रयोग किया है। इन्हीं पदों के ज्ञान से सम्पूर्ण वेदमन्त्र स्पष्ट होता प्रतीत होता है।

'दयते'[41] जैसे पदों के लिए मन्त्रांश दिया है, किन्तु मन्त्रांश में पठित पदों का निर्वचन नहीं किया। नैगम काण्ड में लगभग एक सौ पचास पद ऐसे हैं जो निघण्टु में अनुपलब्ध हैं, किन्तु निरुक्त में व्याख्यात हैं। नैगम काण्ड में निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पद केवल अतिपरोक्षवृत्ति वाले ही नहीं हैं, क्योंकि वे प्रसङ्गवश पठित हैं। अतः वे प्रत्यक्षवृत्ति व परोक्षवृत्ति वाले भी हैं।

दैवत काण्ड गत पद

दैवतकाण्डगत पदों की संख्या लगभग दो सौ है। दैवतकाण्ड में निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात सभी पद देवतावाची नहीं हैं। जैसे-मन्त्राः, छन्दांसि[42] आदि। उनके प्रसङ्ग से स्तोमः, यजुः, साम[43] इन पदों का भी निर्वचन कर दिया है।

गायत्री[44] आदि ग्यारह छन्द के नाम पदों का भी निर्वचन किया गया है। अग्नि[45] आदि देवतापरक मन्त्रों को भी निर्वचन पुरस्सर ही दर्शाया है। प्रसङ्गवश गङ्गा आदि[46] (नदीवाची) का निर्वचन कर दिया है। कतिपय मन्त्रस्थ पद ज्यों के त्यों ही उठाकर व्याख्यात किए हैं। यथा-पराञ्चनैः,[47] स्वर्कैः[48] इत्यादि।

इस प्रकार निघ्रण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के विषय में कहा जा सकता है कि यास्क ने इन पदों की व्याख्या करते समय यह ध्यान नहीं दिया है कि-नैगमकाण्ड है तो अतिपरोक्षवृत्ति वाले ही होने चाहिए। प्रत्यक्षवृत्ति व परोक्षवृत्ति पदों का भी प्रसङ्गवश ग्रहण किया है। रोदसी,[49] पर्शुः,[50] लक्ष्मी,[51] अप्सरा[52] आदि को दैवतकाण्ड में न

---

40 दुर्गवृत्ति 1.1
41 निरुक्त 4.3.17
42 निरुक्त 7.3.12
43 निरुक्त 7.3
44 निरुक्त 7.3
45 निरुक्त 7.4
46 निरुक्त 9.3.24
47 निरुक्त 11.3.22
48 निरुक्त 11.2.12
49 निरुक्त 6.1.1
50 निरुक्त 4.1.2
51 निरुक्त 4.2.9
52 निरुक्त 5.3.12

रखकर नैगमकाण्ड में ही प्रसङ्गवश व्याख्या की है। इससे ज्ञात होता है कि इन पदों के लिए आचार्य को प्रकरण अपेक्षित न था, ये पद प्रसङ्गवश कहे हैं। साथ ही इन पदों की आत्यन्तिक व्याख्यातव्यता भी थी। दैवतकाण्ड में भी यह ध्यान नहीं रखा गया कि दैवतकाण्ड है तो सभी पद देवता वाचक या उनसे सम्बन्धित ही होने चाहिए, अपितु सामान्य पदों का भी प्रसङ्गवश ग्रहण किया है। इन सभी पदों के लिए यही कहा जा सकता है कि ये पद प्रकरणरहित होते हुए भी आत्यन्तिक रूप से व्याख्येय थे, इसीलिए आचार्य ने इन्हें निघण्टु में विना पढ़े ही निरुक्त में व्याख्यात किया। ऐसा मानने पर निघण्टु निरुक्त का एककर्तृत्व भी खण्डित नहीं होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ054-58)

वेदों में निहित लोकमंगल की भावना

डॉ0 मन्जुलता शर्मा
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
सैण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा।

वेद वाङ्मय विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। इसमें मानव समाज की धार्मिक भावनाएँ और दार्शनिक विचारधाराएँ समाहित हैं। विशेषत: यह भारतीयों की जीवनधारा के रूप में अतीत से लेकर आज तक प्रवाहित है। वेद भारतीयों के लिए आध्यात्मिक धरातल प्रस्तुत करके उनके दैनिक जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

भारतीय परम्परा ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा के रूप में स्वीकार करती है। ऋषियों ने अपने अन्तस् में जिस वेदवाणी का मनन किया, वही स्तुतियों के संकलन के रूप में प्रस्फुटित हुए। वस्तुत: धर्म और विचारधारा का समन्वित स्वरूप ही वैदिक संस्कृति एवं परम्परा के रूप में विकसित हुआ। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय:'[1] के अनुसार वेद **मन्त्र** के साथ-साथ **श्रुति** के नाम से भी स्वीकृत किये गए। वेद का वास्तविक अर्थ सद्ज्ञान है जो सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करके मानव कर्म को निरूपित करता है। चारों वेदों के समस्त मन्त्र जिस आधारपीठ पर अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाये हुए हैं, वह है–यज्ञ की प्रतिष्ठा। यज्ञ को ही वैदिक कर्मकाण्ड का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। वैदिक आर्य अग्निकुण्ड में देवताओं के उद्देश्य से अपने परमप्रिय पदार्थ का हवन करते थे तथा इस पदार्थ प्रक्षेप के फलस्वरूप अपनी भौतिक समृद्धि और उन्नति की कामना करते थे-**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिर:।।**[2]

इस प्रकार बाह्यरूप से देखने पर यज्ञ किसी देवता विशेष के लिये द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप मात्र हैं, परन्तु वास्तव में यह एक विलक्षण रहस्य से संवलित है। महर्षि कात्यायन ने यज्ञ का लक्षण बताते हुए लिखा है–**'द्रव्यं देवता त्याग: याग:'**[3] अर्थात् जब देवता को लक्ष्य करके प्रज्वलित अग्नि में द्रव्यों की आहुति दी जाती है, तब वह विसर्गात्मक क्रिया यज्ञ कहलाती है। हमारे शरीर में वैश्वानर अग्निदेव विद्यमान हैं, हम प्रतिदिन भोजन के द्वारा उनको सन्तुष्ट करते हैं।[4] पशु, पक्षी, कृमि, कीट यह समस्त जीव भोजन करके याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। बीज रूपी वृक्ष इस यज्ञ द्वारा ही अंकुरित होकर विशाल वृक्ष में परिणित हो जाता है। पृथिवी, चन्द्र,

---

1 मनुस्मृति 2/10
2 ऋग्वेद-अग्निसूक्त 1/1/6
3 कात्यायन श्रौतसूत्रम् 1/2/1
4 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता: / गीता 15/14

द्युलोक आदि की स्थिति भी यज्ञ से ही है। देवों के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ आधिदैविक और शरीर पोषण हेतु किया जाने वाला यज्ञ आधिभौतिक कहलाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥[5]

लोकव्यवहार में यज्ञ भले ही देव सन्तुष्टि का माध्यम हो, परन्तु वास्तविक रूप में इससे जनकल्याण की भावना जुड़ी हुयी है। क्योंकि यज्ञ से सन्तुष्ट देवों के द्वारा लोकमंगल के कार्यों को करने की अपेक्षा की जाती थी। वस्तुतः जब चैतन्य एवं आनन्द का पूर्ण सामरस्य हो जाता है, तब मनुष्य उस अदृश्य शक्ति की अनुभूति में उल्लसित हो उठता है। आर्य संस्कृति समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के विकास हेतु प्रासाद खड़ा नहीं करती अपितु वह व्यक्ति और समाज दोनों के विकास का आग्रह करती है। अतः उभय प्रकार की उन्नति के लिये आर्यों ने यज्ञ संस्था का निर्माण किया। ब्राह्मणों के तत्त्वदर्शन के अनुसार यज्ञ में एक आभिचारिक शक्ति होती है जो इच्छित फलों की प्राप्ति कराती है। पापों को दूर करने के लिये, समृद्धि एवं धनधान्य की प्रचुरता हेतु अनेक याज्ञिक अनुष्ठान किए जाते थे, जिसमें वैश्वानरः, गार्हपत्य, सवितृ, पूषन्, मरुत्, विश्वकर्मन् एवं विश्वेदेवा आदि के रूप में अग्नि का आह्वान किया जाता था।[6] यज्ञ की भावना केवल धार्मिक कृत्यों की साधिका नहीं है, अपितु भौतिक जगत् की नियामक भी है। यज्ञ के द्वारा प्रदूषित पर्यावरण की शुद्धि तो होती है, साथ ही अनेकों घातक उत्सर्जक गैसें भी नष्ट होती हैं, जो ऑक्सीजन की शुद्धता में बाधक हैं। इस पृथिवी को मूल ऊर्जा भगवान् सूर्य से प्राप्त होती है, उसकी किरणें प्रतिदिन प्राणतत्त्वों को लेकर पृथ्वी पर आती हैं और इस पृथिवी में समाविष्ट होकर पुनः अन्न, औषधि शाक, फल, पुष्प, लता, गुल्म पशु पक्षी, कीटपतंगादि के रूप में पुनः अवतरित होती रहती हैं। इस प्रकार सूर्य से जो प्राणतत्त्व इस पृथिवी पर आते हैं, वे ही पुनः सूर्य में चले जाते हैं। इस प्रक्रिया को वैदिक परिभाषा में 'गवामयन' कहा जाता है। पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती हुयी उसमें आहुति प्रदान करती रहती है। प्रातःकाल सविता के रूप में भगवान् सूर्य प्रतिदिन अमृततत्त्व की आहुति पृथिवी पर करता है। इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदानगत आहुतियों के द्वारा यज्ञ होता रहता है।[7] गायत्री मन्त्र इसी शुद्ध प्रकाश की याचना का मन्त्र है।[8] द्यौस् पुत्री उषा समस्त भोग्य पदार्थों की प्रदान करने वाली है। समस्त विश्व की चेष्टा एवं कार्यशीलता उसी पर आश्रित है।[9] परन्तु आज सूर्य का यह देवत्व रूप क्षीण हो रहा है। कटते हुए जंगलों के फलस्वरूप विच्छिन्न होती 'ओजोन' की परत विनाश के नवीन अध्याय लिखने को तत्पर है। वृक्षों के अभाव में न तो वर्षा होती है और जो

---

5 श्रीमद्भगवद्गीता 8/4
6 अथर्ववेद 6/119, 7/64,2, 12/2,11,12
7 भूमिं पर्जन्यो जिन्वति, दिवं जिन्वन्ति चाग्नयः, ऋग्वेद-3.2.1.1
8 यजुर्वेद 36/3
9 ऋग्वेद 1/48/16

होती भी है, वह जल रोकने वाले वृक्षों के अभाव में न्ष्ट हो जाती है। इससे एक ओर भूमिगत जलस्तर गिरता जा रहा है। और दूसरी ओर हमारी प्राकृतिक सम्पदा भी नष्ट हो रही है। जलस्तर की गिरावट भूकम्प आदि के द्वारा अपने विचलन का संकेत दे रही है। हमारे वेद वृक्षों के प्रति जिस देवत्व को स्वीकार करते थे, जिन मानवीय सम्बन्धों को मानकर उनकी उपासना करते थे, जिनको अपने स्वस्थ जीवन के लिए विकसित होने का कर्तव्य याद दिलाते थे, आज वह वैदिक संस्कृति कहीं विलुप्त हो रही है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि का यह आह्वान कितना संवेदनशील है-

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।

नानावीर्या औषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः[१०]।

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन उल्लासमय था, उसमें निरन्तर प्रगतिशील रहने की अभिलाषा थी। उनका प्रमुख लक्ष्य सुसंस्कृत एवं सुगठित समाज का निर्माण करना था। ऋषियों ने शस्य श्यामला वसुन्धरा की गोद में क्रीड़ा करने की कामना की है, क्योंकि उनकी सृष्टि में सब कुछ स्वाभाविक है। पृथिवी उनकी माता है और वह स्वयं अबोध शिशु। तो फिर भला पर्जन्य को पिता के रूप में क्यों न स्वीकार किया जाए, क्योंकि पृथिवी की प्रकट-अप्रकट सम्पदाएँ पर्जन्य पर ही तो निर्भर हैं। वही उसकी उत्पत्ति में सहायक है-

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं नव्यं यास्त ऊर्जस्तन्वऽः संबभूवुः।

तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।[११]

प्रकृति की इस अनन्त धरोहर ने ही हमारे उज्ज्वलभविष्य का इतिहास लिखा है। एक ओर उन्नत पर्वत शिखर और घने जंगल तथा दूसरी ओर समुद्रों की करधनी धारण किये हुए पृथिवी का यह भव्य रूप हमें गौरवान्वित करता है।[12] वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति जिस अनुभूति का परिचय दिया है, उसमें भी विश्वकल्याण की भावना निहित है। अथर्ववेद का पृथिवीसूक्त राष्ट्र की शस्य श्यामला भूमि को उत्कृष्ट बनाने की कामना करता है:-

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।

वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु।[१३]

आकाश तक फैली लताएँ, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष राष्ट्र की समृद्धि के आधार हैं। यह वसुन्धरा अपने गर्भ में अनेक प्रकार के रत्न एवं खनिज सम्पदा को संजोये हुए है। अतः जब प्रकृति की यही चेतना मनुष्य को जाग्रत करेगी तब मन्त्रों का यह प्राणतत्त्व आकार लेगा। शान्तिपाठ के

---

10 अथर्ववेद 12/1/2
11 अथर्ववेद 12/1/12
12 अथर्ववेद 12/1/4
13 अथर्ववेद 12/1/6

रूप में जिस शान्ति का आश्वासन दिया गया है, उसमें विश्वबन्धुत्व के साथ-साथ प्राकृतिक आपदाओं से भी शान्ति का आह्वान है। यह समस्त औषधियाँ वनस्पतियाँ तब ही तो हमारा कल्याण कर सकेंगी, जब उन्हें शुद्ध जलवायु मिले। वृक्षों से व्याप्त ये जंगल वास्तव में ऊर्जा के स्रोत हैं, समृद्धि की कामधेनु हैं, अतः यदि मानव सभ्यता को बचाना है, जनकल्याण के मार्ग प्रशस्त करने हैं तो पृथिवी से यही प्रार्थना करनी होगी-**अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु**[14] नदियों के प्रति हमारा मातृत्व भाव हमारे कल्याण का केन्द्र बिन्दु है। क्योंकि नदियाँ न केवल हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूरक रही हैं, अपितु उनसे एक दिव्य सन्देश भी मिलता रहा है। सर्वात्मदर्शी ऋषियों ने उनमें जीवन का साक्षात्कार किया है। यद्यपि ये ऋषि स्थूल प्रकृतिवादी नहीं थे, प्रत्युत प्रकृति के प्रति उनका एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था। इस दृष्टिकोण के साथ जीवन की यह कल्पना तब और भी साकार हो उठती है जब हम आदिकाल से ही नदी विशेष को तन्नामक देवी विशेष से प्रतिष्ठित करते हैं[15] और ऐसे जल एवं जलाशयों की उपासना 'सन्तति' अथवा किसी, 'वरदान' की आशा से की जाती है।[16] ऋवेद में दिव्याआपः कहकर नदी के देवत्व को स्वीकार किया गया है। नदी सूक्त का ऋषि नदियों से यही प्रार्थना करता है कि वह भरतवंशियों का उद्धार करे।[17] वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उन प्राकृतिक उपादानों के विकास की बात करता है जिसमें मानव का हित निहित है।

तत्कालीन समाज में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन धर्मकल्पना से व्याप्त था। भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति धर्म पर निर्भर थी। इसके आध्यात्मिक रूप ने उसके जीवन को विपत्ति में आश्वस्त किया और ऐहिक स्वरूप में लौकिक व्यवहार को समझने की प्रेरणा दी। त्रैवणिकों का जो धर्म उसमें बताया गया है वह प्रार्थना और श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड के रूप में है। वेद न केवल श्रौत कर्मानुष्ठान द्वारा अपितु साधारण रूप से भी प्रवृत्ति धर्म के महत्त्व को प्रकाशित करता है। ऋग्वेद में जुआ जैसी सामाजिक बुराई पर 'अक्षसूक्तम्' में विस्तार से चर्चा की गयी है। इस सूक्त का ऋषि स्वीकार करता है कि पासों से खेलते हुए व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। वह अपने परिवार और समाज के प्रति दायित्व को भूलकर जीतने की कामना में अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देता है।[18] उसके इस दुराचरण से परिवार के समस्त लोग उससे द्वेष करते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, जिससे तिरस्कृत होकर जुआरी का जीवन आनन्दरहित हो जाता है।[19] इसलिए इस सामाजिक बुराई का विरोध वेदों में किया गया है। ऋग्वेद का ऋषि जुआ खेलने वाले का मार्गदर्शन करते हुए कहता है कि- हे जुआरी! पासों से मत खेलो। खेती ही

---

14 अथर्ववेद 12/1/11
15 ऋ0 3/33/3
16 ऋ0 10/30/12
17 ऋ0 3/33/11,12
18 ऋ010/34/5,6
19 ऋ0 10/34/3,4

जोतो। प्राप्त धन को बहुत मानते हुए सन्तोष करो। वहाँ तेरी गायें हैं, स्त्री है, यह श्रेष्ठ सवितादेव का आदेश है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितवस्तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥२०

इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद जुआ जैसी कुप्रथा का कठोरता से निषेध करते हैं और एक ऐसे कल्याणकारी समाज का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसमें लोकहित सुरक्षित है।

वस्तुतः वेदों के प्रत्येक मन्त्र में लोकमंगल की भावना विद्यमान है, क्योंकि एक ओर ऋषि पृथिवीसूक्त के द्वारा समुद्र एवं नदियों से आपूरित, धनधान्य से परिपूर्ण भारतीय वसुन्धरा के प्राकृतिक उपादानों की बात करता है, वहीं दूसरी ओर शिवसंकल्पयुक्त श्रेष्ठ मन वाले भारतीय ही उसे अभीष्ट हैं। क्योंकि विचार एक ऐसा भाव है जो मानव क्रियाओं को गति देता है, विचारों का क्रियोन्मुख दृढ़रूप ही संकल्प कहा जाता है अतः राष्ट्रगौरव और सामाजिक संरचना की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये विचारों की शुद्धता और शिवता बहुत आवश्यक है। विचारों का उदय एवं विस्तार मन देवता द्वारा होता है, जिस प्रकार अच्छा सारथि घोड़ों को चाबुक मारकर इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ मन इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है।[21] अतः त्रिकालदर्शी, आत्मद्रष्टा, ज्योति स्वरूप, तीव्र गतिमान् मन की स्तुति आवश्यक है, क्योंकि श्रेष्ठ साधकों के लिए नियन्त्रित मन ही तप का मूल है।

अस्तु! आज भी भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति के व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवनयात्रा कर रही है। सर्वाङ्गीण अभ्युदय ही इसका प्राणतत्त्व है। भारतीय समाज के संगठन, उसकी जीवनचर्या के नियम और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक ऊर्जा भी अनुकरणीय है। वेदों में लोकमंगल कामना की अनुगूंज है, इसलिए आज भी वे अपने उच्च आदर्शों के कारण व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर विश्व कल्याण का उद्घोष करते है। विश्व बन्धुत्व की यही भावना जब जनमानस को आन्दोलित करेगी, तब सामाजिक अवमूल्यन पर लगा हुआ प्रश्नचिह्न अनुत्तरित नहीं रहेगा।

---

20 ऋ० 10/34/13

21 शुक्लयजुर्वेद 34/6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ059-73)

वैदिक यज्ञ और महर्षि दयानन्द सरस्वती

डॉ0 बलवीर आचार्य
संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञ करने के लिए संकेत किया है। इन यज्ञों का वर्णन वेद की शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों में मिलता है। इस समय इस समस्त साहित्य का स्वल्प भाग ही उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र के अन्तर्गत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र के रूप में तीन प्रकार के सूत्र साहित्य का ग्रहण होता है। इस समस्त साहित्य में वर्णित यज्ञविधियों को महर्षि दयानन्द ने यथावत् स्वीकार करते हुए लिखा है-**अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्याश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् पुनस्तत् कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्च। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति**[1] अर्थात् इस वेद भाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्द और उनके अर्थ के साथ किया जायेगा। परन्तु कर्मकाण्ड में प्रयुक्त वेदमन्त्रों से जहाँ-जहाँ जो-जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त कर्म करने चाहिए, इस वेदभाष्य में उनका वर्णन नहीं किया जाएगा। क्योंकि इनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्र आदि में किया हुआ है। इसका पुनः वर्णन अनृषि ग्रन्थ के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष से युक्त माना जाएगा। इसलिए युक्ति से सिद्ध वेदादि प्रमाणों के अनुकूल मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन-उन ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञों का विनियोग ग्रहण करने योग्य है।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ब्राह्मणग्रन्थों, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रों में वर्णित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के विधान को स्वीकार करते हैं।

वैदिक साहित्य में यज्ञ व्यापक अर्थ को समाहित किया। हुए है। इसी कारण **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म,**[२] **स्वर्गो वै लोको यज्ञः**[3] कहकर इसकी महिमा को बताया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों के विवेचन से पूर्व 'यज्ञ' शब्द पर विचार करना उचित रहेगा-

---

1 द्र0-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषय।
2 श0ब्रा0।
3 कौषी0 ब्र0 14.1

यज्ञपरिभाषा

'यज्ञ' शब्द की निष्पत्ति यज् धातु से भाव में 'नङ्' प्रत्यय के संयोग से हुई है।[4] यज् धातु के तीन अर्थ हैं (क) देवपूजा (ख) संङ्गति करण (ग) दान।

(क) देवपूजा

देव शब्द अनेकार्थता का वाचक है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'देव' शब्द परमेश्वर, अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्व तथा विद्वान् परोपकारी पुरुषों का वाचक है। 'पूजा' का अर्थ है सत्कार यथायोग्य व्यवहार। इस प्रकार प्राकृतिक (जड़ पदार्थों) जड़ तथा चेतन देवों (विद्वान् परोपकारी पुरुषों) के साथ यथायोग्य व्यवहार करना देवपूजा है। इस सन्दर्भ में 'देवपूजा' शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। 1. परमेश्वर की पूजा उपासना। 2. अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा गुण संवर्धन अथवा इनका प्राणियों के कल्याण के लिए उपयोग। 3. विद्वान्-परोपकारी पुरुषों की पूजा-सेवा शुश्रूषा

(ख) सङ्गतिकरण

सङ्गति करण का तात्पर्य है-आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग, विद्वान् परोपकारी पुरुषों का सत्सङ्ग करना तथा विविध कार्यों की सिद्धि के लिए अग्न्यादि प्राकृतिक पदार्थों का संयोजन। इस प्रकार योगाभ्यास, सत्सङ्ग और शिल्पविज्ञान भी यज्ञ है।

(ग) दान

प्राणिमात्र के कल्याण के लिए किया गया किसी भी प्रकार का स्वार्थरहित समर्पण दान कहलाता है। 'दान' भी यज्ञ है। यज्ञ शब्द के अर्थ के विषय में महर्षि दयानन्द का भी यही मत है-**धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिक-पारलौकिकसुखसम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्या-प्रत्यक्षीकरणम् नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति** अर्थात् (हिन्दी अनुवाद भी महर्षि दयानन्द कृत ही है) धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द तीन प्रकार का होता है अर्थात् एक जो इस लोक और परलोक के सुख के लिए विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हैं उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानों का समागम अथवा शुभ गुण विद्या सुख धर्म और सत्य का नित्य दान करना।[5]

इस प्रकार धात्वर्थ के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। वैदिक संहिताओं में यज्ञ शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है। गीता में उल्लिखित द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ[6]

---

4 यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। पा. धा. पा. भ्वा. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। अष्टा0 3.3.9

5 द्र0 मा0 शुक्ल यजु0 सं0 द0 भा0, 102।

6 भगवद्गीता, 4.28-33।

आदि शब्द भी यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थों के वाचक हैं। संक्षिप्त रूप में यदि यज्ञ की परिभाषा निर्धारित करनी होतो कहा जा सकता है कि प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी समस्त शुभकार्य यज्ञ हैं'।

उपर्युक्त यज्ञ की परिभाषा ब्राह्मणग्रन्थों तथा कल्प साहित्य में वर्णित द्रव्ययज्ञ पर घटित नहीं होती है। द्रव्ययज्ञ की परिभाषा करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लेख है कि **'द्रव्यं देवतात्यागः'**[7] अर्थात् देवता को उद्दिष्ट करके किसी पदार्थ का त्याग करना 'यज्ञ' कहलाता है।

ऋग्वेदादि संहिताओं में आधिकांशतः सृष्टियज्ञों का वर्णन है। इन यज्ञों का उद्देश्य सृष्टि की विभिन्न सृजनोन्मुख क्रियाओं का ज्ञान कराना था। जिससे सूक्ष्मतम क्रियाओं से युक्त सृष्टि यज्ञ का ठीक से ज्ञान हो सके। बाद के साहित्य में द्रव्ययज्ञों का विवेचन विशेष रूप से किया गया।

द्रव्ययज्ञों का उद्देश्य युधिष्ठिर मीमांसक ने निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादित किया है-यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिए की गयी है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्र मण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उनके मानचित्रों की; तथा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गयी अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर हुई है। अत एव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिए विभिन्न छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल और सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न यज्ञों की कल्पना की गयी। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का नाम कल्प भी है-**'कल्पनात् कल्पः।'**[8]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्राह्मण साहित्य अथवा कल्प साहित्य में वर्णित यज्ञों का आविष्कार ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म क्रियाओं प्रक्रियाओं का ज्ञान कराने के लिए हुआ था। ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों प्रकार के सृष्टि तथा द्रव्ययज्ञों का वर्णन हुआ है। सृष्टियज्ञों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रतीकात्मकता के कारण दार्शनिक व जटिल प्रतीत होता है। प्रतीकों के माध्यम से सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड सृष्टि के रहस्य को ही अनावृत करता है।

---

7 कात्यायन श्रौतसूत्र, 1.2.2।

8 द्रष्टव्य श्रौतयज्ञमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ0 137, 138

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास

द्रव्ययज्ञों का सृजन त्रेता युग के शुरू में माना जाता है।[9] इससे पूर्व इन यज्ञों की उत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है। प्रारम्भ में यज्ञ बहुत ही सरल थे, उनकी विधि का सीधा सम्बन्ध सृष्टि की क्रियाओं से था। महाभारत में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञों को प्राचीन माना गया है।[10]

अग्निहोत्र का साक्षात्सम्बन्ध दिन और रात से था। दर्शपौर्णमास का सम्बन्ध कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष से था, चातुर्मास्य का सम्बन्ध ऋतुओं से था। इसके बाद विविध यज्ञों का सृजन किया गया। क्योंकि जन साधारण में यज्ञों के प्रति वर्धमान अभिरुचि के कारण याज्ञिक लोगों ने स्वार्थवश यज्ञों में बाह्य आडम्बरों की वृद्धि की। विविध नये यज्ञों की कल्पना की गयी। काम्य एवं नैमित्तिक यज्ञों के विकास का यही मूल प्रतीत होता है। वर्तमान काल में भी रामायण यज्ञ, गायत्री महायज्ञ, वेदपारायण यज्ञ जैसे अवैदिक यज्ञों का प्रचलन हो रहा है। यह भी इसी दुष्प्रवृत्ति का परिणाम है।

वैदिक साहित्य में वर्णित यज्ञ

वैदिक साहित्य में वर्णित यज्ञों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका अनुष्ठान एक दिन से लेकर सहस्रसंवत्सर पर्यन्त किया जाता था। सर्वप्रथम यज्ञों के श्रौत और स्मार्त दो भेद उपलब्ध होते हैं। संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञ श्रौतयज्ञ तथा गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञ स्मार्तयज्ञ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के यज्ञों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है-1. नित्य 2. नैमित्तिक और 3. काम्य।

१. नित्य यज्ञः- विना किसी व्यवधान के कर्त्तव्य कर्म के रूप में प्रतिदिन किये जाने वाले यज्ञ नित्ययज्ञ कहलाते हैं। जैसे-अग्निहोत्र यज्ञ।

२. नैमित्तिक यज्ञः-जो किसी निमित्त के उपस्थित होने पर किये जाते हैं।

३. काम्य यज्ञः-किसी कामना की पूर्ति के लिए किए जाने वाले यज्ञ काम्ययज्ञ कहलाते हैं। जैसे, यशःप्राप्ति, धनप्राप्ति आदि।

इन तीनों यज्ञों के पुनः तीन भेद किये जाते हैं-पाकयज्ञ, सोमयज्ञ और हविर्यज्ञ। इन तीनों के भी सात-सात भेद होते हैं। इस प्रकार 3X7=21 भेद होते हैं। इसका विवेचन गोपथ ब्राह्मण के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है-

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।

---

9 त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृतयुगे। महा0 शान्ति0 132-32 यथा त्रेतायुगे मुखे यज्ञस्यासीत्प्रवर्तनम्। वायुपुराण। 57.89 तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। मुण्ड0 1.2.1

10 दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः। चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः। महाशान्ति0 26.-20

सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः॥[11]

गोपथब्राह्मण में इन तीनों यज्ञों के सात-सात भेद निम्नलिखित रूप में बताये गये हैं-

पाकयज्ञ:-1. सांयहोम 2. प्रातःहोम 3. स्थालीपाक 4. बलिवैश्वदेव 5. पितृयज्ञ 6. अष्टका और 7. पशु।

हविर्यज्ञ:-1. अग्न्याधान 2. अग्निहोत्र 3. दर्श 4. पौर्णमास 5. नवसस्येष्टि 6. चातुर्मास्य और 7. पशुबन्ध।

सोमयज्ञ :-1. अग्निष्टोम 2. अत्यग्निष्टोम, 3. उक्थ्य[12] 4. षोडशी 5. वाजपेय 6. अतिरात्र और 7. अप्तोर्याम।

इन इक्कीस यज्ञों का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में एक जैसा नहीं है, इन यज्ञों के नाम भेद भी उपलब्ध होते हैं। इनमें अग्निहोत्र यज्ञ का वर्णन सबसे कम समय में सम्पादित किये जाने वाले यज्ञों में होता है। अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष में सम्पादित होता है। कुछ सत्रयज्ञ सहस्र वर्षों तक चलते थे। इन यज्ञों में कुछ यज्ञों का राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था, जिसका विवेचन ऐतरेय-ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण कात्यायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में किया गया है।

राजनीतिक यज्ञों के विवेचन से वेद कालीन राजनीति के सिद्धान्तों का पता चलता है। इन राजनीतिक यज्ञों का विवेचन निम्नलिखित है-

राजनीतिक यज्ञ

वैदिक काल में राजा चयन के बाद जब वह प्रथम बार आसन ग्रहण करता था तब विभिन्न स्थानों से जल लाकर उसमें विभिन्न यज्ञीय पदार्थ मिलाकर, पुरोहित समारोह पूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करके राजा को स्नान कराता था। इसी विधि का नाम राज्याभिषेक था अर्थात् राज्य के लिए स्नान। ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि प्रारम्भिक काल में राज्याभिषेक की विधि बहुत ही सरल और जटिल यज्ञीय विधिविधानों से रहित थी। परन्तु बाद के काल में राजाओं के अभिषेक की विधि जटिल से जटिलतर व जटिलतम होती गई, जिसके परिणाम स्वरूप आने वाले समय में समाज को इससे वितृष्णा होने लगी।

वर्तमान युग में इन विधियों का कोई नाम लेने वाला भी नहीं रहा। मात्रायें विधि पुस्तकों की ही शोभा बढ़ा रही हैं। इस जटिलता के पीछे यह कारण प्रतीत होता है कि समाज में प्रचलित इन यज्ञों के महत्त्व के कारण पुरोहित वर्ग अनेक नवीन पद्धतियों का समावेश इनकी विधियों में करता रहा। इसका उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित ऐन्द्र महाभिषेक है, जो अपने

---

11 गो0 पू0 5/25॥

12 सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः॥ अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमासस्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः॥ अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥ गो0 पू0 5/23

मूल रूप में बहुत ही सरल एवं आडम्बर रहित था।[13] उसके अनुकरण में पश्चाद्वर्ती राजाओं द्वारा किया जाने वाला राज्याभिषेक भी आडम्बर रहित एवं सरल विधि विधान युक्त था।[14] परन्तु उत्तरवर्ती कल्प साहित्य में राज्याभिषेक की विधियों का विवेचन जटिलताओं से युक्त हो गया। इसके साथ ही इन विधियों में कुछ ऐसे कृत्यों का समावेश भी बाद के व्याख्याकारों ने किया, जिसको वाममार्ग ही उचित मान सकता है, अन्य नहीं।[15] पुनरपि राज्याभिषेक की यह परम्परा महत्त्वहीन नहीं हो जाती। परवर्ती काल में वैदिक युग की इस परम्परा का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा और जैसे गंगोत्री से निकलने वाली निर्मल गंगा समुद्र में मिलने तक इतनी परिवर्तित और विकृत हो जाती है कि उसके रूप को पहचाना ही नहीं जा सकता, इसी प्रकार वैदिक परम्पराएँ भी इतनी परिवर्तित हो गयीं कि उनका मूल रूप सर्वथा तिरोहित सा हो गया और इस परम्परा के अनुसरण के आधार पर नई परम्पराओं ने जन्म ले लिया, फिर भी इतना तो निश्चित रूप से पता चलता है कि इन नयी परम्पराओं का मूल रूप वैदिक साहित्य में ही विद्यमान है। आरम्भिक काल में वैदिक राजा राज्याभिषेक के समय ईश्वर को स्मरण करके संक्षिप्त और सारगर्भित शपथ लेता था, जिसमें प्रजा का हित, राष्ट्र की रक्षा, धर्म का पालन और शत्रुओं के नाश का भाव व्यक्त होता था।[16] यदि इसकी तुलना हम वर्तमान सन्दर्भ में करें तो राष्ट्रों के नायक जिस शपथ को ग्रहण करते हैं, उनमें लगभग यही भाव होते हैं। वैदिक युग में संवैधानिक कर्त्तव्यों को ही धर्म कहा जाता था।[17] वर्तमान शासक भी संविधान की रक्षा का वचन देते हैं।

राज्याभिषेक की परम्परा कुछ अंशों में ब्राह्मणग्रन्थों के काल में और सर्वांश में कल्प साहित्य में यज्ञीय अनुष्ठानों से संयुक्त हो गई तथा राज्याभिषेक के समय विस्तृत यज्ञ किये जाने लगे। राज्याभिषेक के बाद अपने राज्य को बढ़ाने के लिए और दिग्विजय के लिए भी अश्वमेध यज्ञ करने की परम्परा शुरू हुई, जिसके माध्यम से राष्ट्र की समृद्धि, राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्ररक्षा के महत्त्वाकांक्षी अभियान चलाये जाते थे। इस अभियान में जो बाधक बनता था, उसको सशस्त्र सेनाएँ नष्ट कर देती थीं। चक्रवर्ती सम्राट् समय-समय पर अपने प्रभाव को अक्षुण बनाये रखने के लिए ऐसे यज्ञों का आयोजन करते रहते थे। अश्वमेध के अश्व को सर्वत्र घुमाया जाता था। जो उस अश्व को रोक लेता था तो यह माना जाता था कि यह अश्व के शासक राजा का प्रभाव नहीं मानता है। अश्व की रक्षक सेनाएँ उससे युद्ध करती थीं, उसको परास्त करके उससे

---

13 देखिए इसी प्रकरण में ऐन्द्रमहाभिषेक।

14 द्र0 ऐत0 ब्रा0 39 अध्याय

15 इस विषय के युक्तियुक्त विवेचन के लिए देखिए श्रौतयज्ञमीमांसा लेखक पं. युधिष्ठिर मीमांसक तथा पशुयज्ञमीमांसा लेखिका डॉ. श्रीमती कृष्णा आचार्य।

16 यां च रात्रिमजायेहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येरमिति।। ऐत0 ब्रा0 39.1

17 श्रेयोरूपं अत्यसृजत् धर्मम्। तदेतत् क्षत्त्रस्य क्षत्त्रम् यद्धर्मः तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयां समाशंसते धर्मेण। शत0 ब्रा0 14.1.2.26

कर ग्रहण करती थीं। यदि सेनाएँ अश्व को मुक्त कराने में असमर्थ रहती थीं, तो उस राजा का यज्ञ विफल हो जाता था और उसको पापी माना जाता था। उसको पुनः अश्वमेध यज्ञ करके अश्व को भेजना होता था। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता था तो अनुमान किया जा सकता है कि उसको राजपद से हटा दिया जाता होगा।

राजसूय यज्ञः-राजा के अभिषेक के समय किया जाता था। इस यज्ञ के माध्यम से राजा प्रमुख राजकर्मचारियों और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की अनुमति प्राप्त करता था। देश की विभिन्न नदियों, समुद्रों, तालाब और कुओं का जल एकत्रित करके स्नान करता था, जिसका भाव था कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र को समान महत्त्व देता है, छोटे बड़े, ऊँच-नीच में कोई भेद भाव नहीं रखता है।

वाजपेय यज्ञः-जब राजा सम्राट् पद को प्राप्त करके अभिषेक करता था तब इस यज्ञ का आयोजन किया जाता था। इस अवसर पर अश्वसेना को विशेष रूप से तैय्यार किया जाता था। अश्वों की 'आजिधावन' नामक वैदिक काल की सुप्रसिद्ध दौड़ होती थी।

इन प्रमुख यज्ञों के अतिरिक्त सर्वमेध, पुरुषमेध, गोसव, राट्, विघन आदि अनेक यज्ञों का अनुष्ठान राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त किया जाता था। राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ सोमयागों की श्रेणी में हैं। इन यज्ञों में सोम लता का रस मुख्य रूप से यज्ञीय द्रव्यों में सम्मिलित किया जाता है, इसी कारण इन्हें सोमयज्ञ कहा जाता है।[18]

अश्वमेध पर आधारित पुरुषमेध और सर्वमेध भी मुख्य यज्ञ हैं। इनका विवेचन तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण[19] में हुआ है। सोमयाग के अन्तर्गत कुछ एकाह, अहीन और काम्य इष्टियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनका अनुष्ठान राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता था। इन सभी यज्ञों का संक्षिप्त विवेचन विदर्शन रूप से यहाँ किया जा रहा है। विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की पुस्तक वेद कालीन राज्याभिषेक एवं 'रातनैतिक यज्ञ' देखिए।

ऐन्द्र महाभिषेक

राज्याभिषेक के प्रसंग में प्राचीन इतिहास देवताओं के राज्याभिषेक का मिलता है, इसी का अनुसरण करके परवर्ती राजाओं ने राज्याभिषेक की परम्परा प्रारम्भ की।

ऐतरेय-ब्राह्मण में उल्लेख है कि एक बार देवों में इस बात पर विवाद हो गया कि राज्यपद के लिए किसका राज्याभिषेक लिया जाये? तब उन्होंने इसके लिए योग्यता निर्धारक कुछ सिद्धान्त बनाये, उन सिद्धान्तों की कसौटी पर इन्द्र को 'योग्य' पाया गया, तब उन्होंने मिलकर कहा कि हमारे मध्य में इन्द्र अत्यन्त तेजस्वी अर्थात् शरीर के आठवीं धातु से युक्त है, अत्यन्त शारीरिक बल से युक्त है, शत्रु की पराजय करने में समर्थ है, अपने भक्तों के लिए अत्यन्त साधु पुरुष है। आरम्भ किये हुए कार्य को सफलतापूर्वक पार लगाने वाला है। इसलिए

18 देखिए इसी पुस्तक का सोम रस विवेचन
19 तैति० ब्रा० 3.4, शत० ब्रा० 13.6

हम इन्द्र का ही अभिषेक करें।[20] इस पर सब देवों ने अपनी सहमति व्यक्त की और इन्द्र के राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हुई।

सिंहासन

इन्द्र के लिए ऋचाओं से दिव्य सिंहासन बनाया गया। उस ऋचा रूप सिंहासन के दो आगे के पाये बृहत् और रथन्तर नामक साम के बनाये गये और दो पीछे के पाये वैरूप और वैराज नामक साम के बनाये गये। सिंहासन के पीठ का शिर टिकाने का भाग शक्वर और रैवत नामक साम के बनाये गये। उसकी दोनों भुजायें नौधस और कालेय नामक साम के बनाये गये। उसका ताना (लम्बाई में जाने वाला धागा) ऋचाओं का और उसका बाना साम का, उसके अतिकांश अर्थात् बुनाई के समय दिखाई देने वाले छिद्र यजुष् के बनाये गए। इस सिंहासन पर यश रूपी बिछौना बिछाया गया। इसका तकिया श्री अर्थात् समृद्धि का बनाया गया। सविता और बृहस्पति ने इस सिंहासन के अगले पाँवों को पकड़ा। वायु और पूषा देवों ने पिछले पावों को पकड़ा मित्र और वरुण देवों नें शीर्ष भाग को तथा अश्विनों ने दोनों बगल की भुजाओं को पकड़ा।

तस्मा एतामासन्दीं समभरन्नृचं नाम

तस्यै बृहच्च रथंतरं च....................स एतामासन्दीमारोहत् इति।[२१]

इस प्रकार आठ देवों ने, आठ स्थानों को सहारा दिया और आठ सामों से आगे पीछे के पैर आदि बनाये गए।

इन्द्र का सिंहासन पर आरोहण

इस सिंहासन पर आरोहण करते समय इन्द्र ने छः देवताओं, छः छन्दों, छः स्तोमों का स्मरण करके सिंहासन पर आरूढ़ होने की कामना की, जो निम्नलिखित है[22]-

1. हे सिंहसन। वसु देवता, तुम्हारे ऊपर गायत्री छन्द, त्रिवृत स्तोम और रथन्तर साम से आरोहण करें। इसके बाद मैं धर्मपूर्वक प्रजा के पालन के लिए आरोहण करता हूँ।

2. रुद्र देवगण, तुम पर त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम और बृहत् साम से आरोहण करें। इनके बाद मैं भोग समृद्धि के लिए आरोहण करता हूँ।

3. आदित्यगण, तुम्हारे ऊपर जगती छन्द, सप्तदश स्तोम और वैरूप साम के साथ आरोहण करें। इसके बाद मैं अपराधीनत्व के लिए आरोहण करता हूँ।

---

20 ते देवा अब्रुवन् स प्रजापतिका-अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति। तथेति। तद्वै तदिन्द्रमेव, इति। ऐतरेय ब्रा0 38.1

21 ऐत0 38.1;

22 ऐत0 ब्रा0 38

4. विश्वदेव, तुम पर अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम और वैराज साम के साथ आरोहण करें। उनके पश्चात् मैं अन्य राजाओं पर प्रभुसत्ता के लिए आरोहण करता हूँ।

5. साध्य और आप्त्य देवगण, तुम पर पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम और शाक्वर साम के साथ आरोहण करें। इनके बाद मैं देश पर आधिपत्य के लिए आरोहण करता हूँ।

6. मरुद्गण और अङ्गिरस, अतिछन्द नामक छन्द से त्रयस्त्रिंश स्तोम और रैवत साम के साथ आरोहण करें। उनके पश्चात् मैं मुक्ति प्राप्ति के लिए (प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए) महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता के लिए और चिरकाल तक इस लोक में निवास के लिए आरोहण करता हूँ।

देवताओं द्वारा इन्द्र की प्रशंसा

इन्द्र के सिंहासन पर बैठने के बाद देवताओं ने विचार किया कि इन्द्र की कीर्ति को चारों ओर फैलाया जाए, क्योंकि विना कीर्ति गाये इन्द्र पराक्रम करने के योग्य नहीं हो सकते, इसलिए हम इन्द्र के गुणों का कीर्तन करें।[23] भाव यह है कि राजा का यश जितना अधिक होगा, शत्रु उससे उतने ही अधिक भयभीत रहेंगे तथा प्रजा उसके शासन को सुचारु रूप से मानेगी। इससे राजा प्रभावशाली ढंग से शासन चलाने में समर्थ रहेगा। यही सोचकर देवों ने इन्द्र की प्रशंसा निम्नलिखित रूप से करके सर्वत्र फैलायी-

यह इन्द्र सम्राट् स्वरूप और साम्राज्य करने के योग्य है, यह भोज नामक शासन प्रणाली को चलाने वाला भोज है और भावी भोज का पिता है, यह स्वराज्य शासन प्रणाली के अध्यक्ष स्वराट् के समान है, वैराज्य नामक शासन प्रणाली के अध्यक्ष विराट् के समान है, राज्य शासन प्रणाली का अध्यक्ष और राजाओं का पालक है, परमेष्ठिस्वरूप अर्थात् ईश्वर के समान है, इस प्रकार की क्षत्रिय जाति लोक में उत्पन्न हुई है, यह क्षत्रिय पुरुष उत्पन्न हुआ है। प्राणिमात्र का अधिपति उत्पन्न हुआ है। प्रजाओं से कर लेने वाला उत्पन्न हुआ है, शत्रुओं के पुरों को नष्ट करने वाला उत्पन्न हुआ है, असुरों का घातक उत्पन्न हुआ है, वेदों का रक्षक उत्पन्न हुआ है, धर्म का रक्षक उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार देवों ने इन्द्र के गुणों की प्रशंसा की। इन गुणों के माध्यम से राजा के कर्त्तव्यों का भी निर्देश कर दिया गया कि उसको अपना शासन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही चलाना है।

प्रजापति द्वारा अभिमन्त्रण

इसके बाद सिंहासन पर बैठे हुए इन्द्र का निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रण किया गया कि व्रत धारण करने वाले सभी के अनिष्ट का निवारण करने वाले इन्द्र, साम्राज्य के लिए,

---

23 तमेतस्यामासन्धामासीनं विश्वे देवा अब्रुतन्नवा अनभ्युत्क्रुष्ट इन्द्रो वीर्यं कर्त्तुमर्हत्यभ्येनमुत्क्रोशामेति तथेति तं विश्वे देवा अभ्युद क्रोशन्निमं देवा अभ्युत्क्रोशत सम्राजं साम्राज्यं .... एत0 ब्रा0 38।

भोज्य के लिए, स्वाराज्य के लिए, वैराज्य के लिए, परलोक में प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए, राज्य के लिए, महान् ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता और चिरकाल तक इस लोक में निवास के लिए, शुभ संकल्प सहित इस सिंहासन पर विराजमान रहे।[24] परवर्ती काल में राज्याभिषेक के समय सिंहासन पर आरोहण के लिए इसी मन्त्र का प्रयोग किया गया।[25]

अभिषेक

सिंहासन पर बैठे हुए इन्द्र का अभिषेक प्रजापति ने किया। प्रजापति इन्द्र के सामने पश्चिम की ओर मुख करके खड़ा हो गया और उदुम्बर की पत्तेदार गीली शाखा में स्वर्ण की बनी हुई पवित्रा (छलनी) को बाँध कर, उनको जल में डुबो कर तीन ऋचा,[26] एक यजुष्[27] और व्याहतियों[28] का पाठ करके अभिषेक किया।

दिशा के अधिपतियों द्वारा इन्द्र का अभिषेक

इस प्रकार प्रजापति द्वारा अभिषेक सम्पन्न होने के बाद समस्त दिशाओं में विद्यमान देवों ने इन्द्र का अभिषेक किया।[29] पूर्व दिशा में आठ वसु देवों ने इकत्तीस दिनों में साम्राज्य पद के लिए इन्द्र का अभिषेक उपर्युक्त विधि और मन्त्रों से किया।

दक्षिण दिशा में रुद्र देवों ने 'भौज्य' के लिए, पश्चिम दिशा में आदित्यदेवों ने स्वाराज के लिए उत्तर दिशा में विश्वेदेवों ने 'वैराज्य' के लिए ध्रुव और प्रतिष्ठित मध्य दिशा में साध्य और आप्त्य देवों ने 'राज्य' के लिए, ऊर्ध्व दिशा में मरुतों और अङि्गरसों ने उपर्युक्त विधि से 31 दिनों में प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए, महान् ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता और चिरकाल तक इस लोक में वास के लिए इन्द्र का अभिषेक किया, इस प्रकार अभिषेक के बाद इन्द्र परम पद में अवस्थित होकर प्रजापति के समान हो गया।

---

24 ऐत0 ब्रा0 38.2 निषसाद् धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय, भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाऽधिपत्याय स्वावश्यायाऽऽतिष्ठाय, सुक्रतुरिति।। इति।।

25 शत0 ब्रा0 5.4.1.5, तैति0 ब्रा0 2.6.5.

26 (क) इमा आपः शिवतमा इमाः सर्वस्य भेषजीः। इमा राष्ट्रस्य वर्धनीरिमा राष्ट्रभृतो मृताः।। (ख) याभिरिन्द्रमभ्यषिञ्चत् प्रजापतिः सोमं राजानं वरुणं यमं मनुम्। ताभिरभिषिञ्चामि त्वामहं राज्ञां त्वमधिराजो भवेह। (ग) महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्। देवी जनित्र्यजीजनद् भद्राजनित्र्यजीजनत्। ऐत0 ब्रा0 37.3

27 देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषणो हस्ताभ्यामग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियोणाभिषिञ्चामि बलाय श्रियै यशसेऽन्नाद्याय। ऐत0 ब्रा0 37.3

28 भूभुर्वः स्वः। ऐत0 ब्रा0 38.2

29 अथैनं प्राच्यां दिशि वसवो देवाः............ साम्राज्य........ दक्षिणस्यां दिशि........ भौज्याय ......प्रतीच्यां दिशि ... .स्वाराज्याय ....उदीच्यां दिशि ....वैराज्याय ....ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि राज्याय .... ऐत ब्रा0 38.3.

अभिषेक के बाद इन्द्र का वर्चस्व

इस प्रकार अभिषिक्त इन्द्र बहुत अधिक ओजस्वी हो गया। उसने जीतने योग्य सभी संग्रामों को जीत लिया, सभी लोकों को जीत कर प्राप्त कर लिया, सभी में श्रेष्ठ होकर गुणातीत हो गया। इस लोक में साम्राज्य को, भोग समृद्धि को, स्वाराज्य को, वैराज्य को, प्रजापति के लोक को, राज्य को, महान् ऐश्वर्य को और आधिपत्य को प्राप्त करके प्रजापति रूप, स्वतन्त्र राजा तथा अन्य मनुष्यों के समान अल्पकाल में मरण रहित होकर सभी कामनाओं को प्राप्त करके अमर हो गया।[30]

ऐन्द्र महाभिषेक का निहितार्थ

इस इन्द्र के अभिषेक से निम्न भाव प्रकट होते हैं:-

(1) राष्ट्र की सुरक्षा, समृद्धि, शान्ति के लिए राजा का होना आवश्यक है।

(2) राजा में सामान्य जनों की अपेक्षा अतिशय गुण होने चाहिए, जिससे सब उसका प्रभाव व भय मानकर अनुशासित रहें।

(3) राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने में समर्थ और उनको हराकर परास्त करने वाला हो। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि इस समय सेनापति को ही राजा बनाया जाता था। क्योंकि इन्द्र देवों का सेनापति था। उसने ही युद्ध में असुरों को परास्त करके पुरन्दर, पुरभित् वृत्रहन् आदि विशेषण प्राप्त किए थे। इसी कारण देवों ने उसका राज्याभिषेक किया था।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस काल में सेनापति और राजा का पद एक ही होता था। परन्तु बाद में सेनापति और राजा का पद अलग-अलग होने लगा था। सेनापति राजा के मन्त्रिमण्डल का महत्त्वपूर्ण सदस्य बताया गया है,[31]

(4) राज्य अभिषेक के समय राजा को सबसे ऊँचा आसन दिया जाता था।

(5) राजा ईश्वरभक्त होता था, जो सिंहासन पर बैठते समय ईश्वर और दिव्य शक्तियों का स्मरण करता था।

(6) राजकर्मचारी अथवा राज के लोग राजा के यश को चारों दिशाओं में प्रचारित करते थे, जिससे उसका प्रभाव सब मानने लगें। राज्याभिषेक के बाद देश की समस्त प्रजा उसका अभिनन्दन करती थी, जो राज्याभिषेक का ही अङ्ग माना जाता था।

(7) अभिषिक्त राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने विरोधी समस्त शत्रुओं को जीतकर अपने साम्राज्य और प्रभाव का विस्तार करे।

(8) राजा प्रजा से कर लेता था।

---

30 स एतेन महाभिषेकेणाभिषिक्त इन्द्रः सर्वा जितीरजयत् सर्वाँल्लोकानविन्दत्सर्वेषाँ देवानां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतामगच्छत्-ऐत० ब्रा० 38/3

31 ब्राह्मणग्रन्थों के राजनैतिक सिद्धान्त मन्त्रिमण्डल नामक अध्याय-डॉ० बलबीर आचार्य

(9) राजा वेद की रक्षा करता था।

(10) इन्द्र का अभिषेक परवर्ती काल में सम्पन्न किए जाने वाले राज्याभिषेकों का प्रेरणास्रोत बना।

(11) राज्याभिषेक 31 दिनों में सम्पन्न किया जाता था।

राजाओं का अभिषेक

इन्द्र के इस अभिषेक से प्रेरणा लेकर परवर्ती काल में राजाओं ने अभिषेक कराना प्रारम्भ किया। ऐतरेय-ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो पुरोहित यह इच्छा करे कि-यह क्षत्रिय संग्रामों में विजयी हो जाए, सभी राजाओं में श्रेष्ठ हो जाए, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि समस्त शासन प्रणालियों को प्राप्त करके समस्त भूमि का एक मात्र स्वामी (सम्राट्) होकर अनन्त काल तक जीवित रहे, उसका इन्द्र के अभिषेक के समान अभिषेक कराये।[32]

राजा द्वारा शपथ ग्रहण

इस काल में पुरोहित अभिषेक कराते समय राजा से वचन लेता था कि- यदि अभिषेक के बाद शक्ति पर अधिकार प्राप्त करके तुम मेरे से द्रोह करोगे तो जिस रात्रि को तुम पैदा हुए हो, उससे लेकर मृत्यु तक जो कुछ भी तुम पुण्य करोगे उस सबके सहित मैं तुम्हारी आयु और पुत्र-पौत्र आदि को छीन लूँगा।[33] राजा को पुरोहित के सामने यह शपथ लेनी होती थी कि यदि मैने अभिषेक के बाद तुमसे द्रोह किया तो तुम मेरे जीवन पर्यन्त अर्जित किये हुए पुण्यों सहित मेरी आयु और परिवार को छीन लेना। इस प्रकार लौकिक राजाओं के अभिषेक की परम्परा शुरू हुई।

अभिषेक का स्वरूप

प्रारम्भिक युग में अभिषेक का स्वरूप सरल एवं जटिल यज्ञीय प्रक्रियाओं से रहित था। इस समय उस सम्पूर्ण याज्ञिक प्रक्रिया का अभाव था, जो परवर्ती काल में राजसूय वाजपेय, अश्वमेध यज्ञों के माध्यम से विकसित हुयी थी, जिसमें बाह्य आडम्बर बहुत अधिक था।

यज्ञ में भी वर्षों का समय लग जाता था। इस काल में राज्याभिषेक का वही स्वरूप था, जो इन्द्र के अभिषेक में वर्णित हुआ है। मात्र एक दो विधियों और अभिषेक की कुछ सामग्रियों में परिवर्तन का ही उल्लेख है।

---

32 स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियमयं सर्वाजितिजयेतायं सवाल्ँलोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परतां गच्छेत् साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सर्वायुषः आऽन्तादा परार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति तमेतेनैन्देण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत् इति। ऐत0 ब्रा0 39.1.

33 ऐत0 ब्रा0 39.1 यां च रात्रीमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि मे द्रुह्येयमिति।

अभिषेक की सामग्री

(क) निम्नलिखित चार वनस्पतियों के फल होते थे: बरगद (न्यग्रोध), गूलर (उदूम्बर), पीपल (अश्वत्थ) और पलाश (प्लक्ष)। ये चारों फल क्रमशः क्षत्रियत्व, समृद्धि, साम्राज्य, स्वाराज्य और वैराज्य के प्रतिनिधि माने गए हैं।[34]

(ख) निम्नलिखित चार प्रकार के अंकुर भी अभिषेक की सामग्री में लिए जाते थे। छोटे चावल के अंकुर, बड़े चावल के अंकुर, प्रियंगू (माल कंगनी के अंकुर) और जौ के अंकुर। ये चारों अंकुर क्रमशः क्षत्रियत्व, साम्राज्य, भौज्य और सेनापति के प्रतीकात्मक अर्थ के द्योतक हैं। जौ का अंकुर सेनापति के गुणों का प्रतिपादक है। कामना की गई है कि जौ के अँकुर से राजा में सेनापति के गुणों का समावेश होगा।[35] इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में राजा ही सेनापति के रूप में सेना का संचालन करता था।

(ग) सिंहासन

सिंहासन को 'आसन्दी' कहा जाता था। यह गूलर (उदूम्बर) की लकड़ी से बनाया जाता था।[36] इसके चार पाद (पाये) होते थे। जिनकी लम्बाई एक 'प्रादेश' होती थी।[37] सिंहासन के ऊपर तिरछी लकड़ी लगी हाती थी, इनकी लम्बाई एक अरत्नि लगभग 24 अंगुल होती थी।[38] इसे मूञ्ज की रस्सी से बनाकर उनपर व्याघ्रचर्म, कृष्णमृग चर्म, अथवा सुन्दर वस्त्र बिछाते थे।[39]

(घ) अन्य सामग्री

इसके अतिरिक्त उदुम्बर का चौकोरपात्र, चम्मच और एक शाखा, दही, मधु, घी, धूप में बरसने वाला पानी (यह पानी जमीन में गिरने से पहले ही लिया जाता था।)

राजा का सिंहासन पर आरोहण

लौकिक राजा भी इन्द्र के समान ही वसु आदि देवों से प्रार्थना करके सिंहासन पर आसीन होता था। इसका विवेचन इन्द्र के महाभिषेक में देखें।

---

34 ऐत० ब्रा० 39.2

35 सैनान्यं वा ऐतदोषधीनां यद्यवाः, यद्यवानां तोक्म सम्भरन्ति सैनान्यमेवास्मिस्तद्दधाति। ऐत ब्रा० 39.2

36 तैति० ब्रा० 1.2.6.5, शत० ब्रा० 5.1.6.22-23, 3.3.1.26-27, ता० 5.5, ऐत० ब्रा० 39.3

37 प्रादेश = अँगूठे और तर्जनी के बीच का स्थान संस्कृत हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे।

38 का० श्रौ० सू०-7.248

39 शत० 3.3.1.29, 5.4.1.3, तै० ब्रा० 1.26.5

राज्य के प्रमुखों द्वारा राजा की प्रशंसा:

जिस प्रकार इन्द्र की प्रशंसा देवों ने की थी, उसी प्रकार राजप्रमुख राजा की प्रशंसा करते थे। इनको राजकर्त्तार कहा गया है।[40] इस प्रशंसा में सभी सामान्य जन साथ देते थे और वे सभी गुण जो इन्द्र की प्रशंसा में कहे गये थे, राजा की प्रशंसा में भी कहे जाते हैं, लेकिन बाद के कुछ वर्णनों में परिवर्तन करते हुए कहा गया है कि

(क) यह शत्रुओं का नाश करने वाला है।

(ख) ब्राह्मणों का रक्षक है।

(ग) धर्म का रक्षक है। (यहाँ धर्म का अर्थ विधि/विधान है)। इनके स्थान पर इन्द्र को अभिषेक में असुर हन्ता और वेद का रक्षक बताया गया था।

पुरोहित द्वारा राजा का अभिमन्त्रण

पुरोहित (निषसाद धृतव्रतो) ....।[41] इस मन्त्र से राजा का अभिमन्त्रण उसी प्रकार करता है, जैसे इन्द्र का प्रजापति ने किया था।

अभिषेक

पुरोहित राजा के सामने खड़ा होकर पश्चिम की ओर मुख करके उदुम्बर की पत्ते सहित गीली शाखा को सोने की बनी पवित्र (छालनी) से लपेटकर **'इमा आपः शिवतमा'** इन तीन ऋचाओं से **'देवस्य त्वा सवितः'** इस यजुष् से **'भूर्भुवः स्वः'** इन तीन व्याहतियों से[42] राजा का अभिषेक ऊपर वर्णित सामग्री के द्वारा करता है। अभिषेक के बाद पुरोहित निम्न प्रकार प्रार्थना करता है:-

हे राजन्! पूर्व दिशा में वसु नामक देव इसी प्रकार तुम्हारा अभिषेक 31 दिनों में करें। दक्षिण दिशा में रुद्र नामक देव, पश्चिम दिशा में आदित्य नामक देव, उत्तर दिशा में विश्वे देवाः, ऊपर की दिशा में मरुत् और अंगिरस् देव मध्य की दिशा साध्य और आप्त्य नामक देव इन्हीं ऋचाओं, इसी यजुष् और इन्हीं व्याहतियों से राज्य के लिए ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपराधिनत्व और चिरकाल तक इस लोक में वास के लिए तुम्हारा अभिषेक करें।[43] इस प्रकार अभिषिक्त राजा दिव्य गुणों से युक्त होकर देवी अंश प्रजापति का सम्बन्धी हो जाता है।

---

40 ऐब0 ब्रा0 39.3-तमेतस्यामासन्द्यामासीनं राजकर्त्तारो ब्रयुर्नवा.................।

41 ऐत0 ब्रा0 31.4

42 इन मन्त्रों और व्याहतियों की व्याख्या इन्द्र के महाभिषेक में की जा चुकी है।

43 ऐत0 ब्रा0 39.5

अभिषेकोत्तर कर्म

अभिषेक के बाद राजा को अपने समस्त शत्रुओं को जीतकर अपने साम्राज्य और अपने प्रभाव को स्थापित करना होता था।[44]

दक्षिणा

अभिषेक के बाद राजा पुरोहित को स्वर्ण, एक हजार निष्क (स्वर्ण मुद्राएँ) भूमि, पशु आदि अपरिमित दान देता था।[45] इसके बाद पुरोहित महाराजा को सुरा का प्याला देता था और मन्त्रपूर्वक उसके पिलाता था। यहाँ विचारणीय है कि मन्त्र सोम विषयक पढ़ा गया है और अन्त में कहा गया है कि सुरा में प्रविष्ट सोम का पान ही राजा ने किया है, क्योंकि महाभिषेक इन्द्र के समान हुआ है, अत: वह सोमपान का ही अधिकारी है, सुरापान का नहीं।[46] इसके बाद अभिषेक विधि सम्पूर्ण हो जाती है।

महाभिषेक में प्रतिपादित तथ्य:

(क) महाभिषेक के बाद क्षत्रिय एकराट् -समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एक मात्र स्वामी हो जाता था।

(ख) इन्द्र के अभिषेक में जिन तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है, वे सब तथ्य इस अभिषेक में भी प्रतिपादित हुए हैं। इनके अतिरिक्त राजा ब्राह्मण को वचन देता था कि मैं तुम्हारे से कभी द्रोह नहीं करुँगा और श्रद्धा पूर्वक तुम्हारे विचार को सम्मान दूँगा। यदि कभी मैने तुम्हारी सम्मति का उल्लंघन किया अथवा तुम्हारा अपमान किया तो तुम मेरा सर्वस्व छीनकर मुझे नष्ट कर देना। इस प्रकार की प्रतिज्ञा इन्द्र ने प्रजापति के सामने नहीं की थी।

(ग) राजा को शत्रुओं का नाश करने के लिए सन्नद्ध रहना होता था।

(घ) राजा ही सेनापति के रूप में सेना का संचालक होता था।

(ङ) राजा का कर्त्तव्य था कि ब्राह्मण की सब प्रकार से रक्षा करे।

(च) यह अभिषेक 31 दिनों में सम्पन्न होता था।

---

44 ऐत0ब्रा0 39.5

45 ऐत ब्रा0 39.6

46 यो वाव सोमपीथं सुरायां प्रविष्टः .... न सुरा ऐत0 ब्रा0 39.6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ074-80)

वैदिक पञ्चकोश-एक विवेचन

डॉ0 कृष्णा आचार्य
संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

वैदिक युग में दो प्रकार का विज्ञान विकसित था, भौतिक और आध्यात्मिक। जहाँ भौतिक विज्ञान अपनी चरम सीमा पर विकास कर रहा था, उसके साथ ही आध्यात्मिक विज्ञान के सूक्ष्मतत्त्वों का विवेचन किया गया था। इसी भौतिक और आध्यात्मिक समन्वय के कारण भारत को विश्वगुरु कहा जाता था। यह अद्भुत खोज भी वैदिक ऋषियों ने ही की थी कि एक मनुष्य के पास पाँच प्रकार के शरीर होते हैं, जिनको समझे विना न तो वास्तविक भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है और नहीं मुक्ति। इन्हीं को पञ्चकोश नाम से उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया है। ये हैं-(1) अन्नमयकोश (2) प्राणमयकोश (3) मनोमयकोश (4) विज्ञानमयकोश (5) और आनन्दमयकोश।[1] इन पाँच कोशों का वर्णन निम्नलिखित है।

अन्नमयकोश

अन्नमयकोश से अभिप्राय स्थूल शरीर से है, जो अन्न से बनता है। पाँच भौतिक तत्वों से निर्मित होने के कारण इसे पञ्चभौतिक शरीर भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। अन्नमयकोश के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन वेदों में विशदरूप से वर्णित है। जीवात्मा शरीररूपी जंगल में निज विभुशक्ति के कारण खेलता है। ये सभी इन्द्रियाँ आत्मा की शोभा बढ़ाती हैं तथा इसके ज्ञान और कर्म में सहायक होती हैं।[2] ऋग्वेद में कहा गया है कि जो भोज्यपदार्थों के सौम्यरस से सभी इन्द्रियों को सात्त्विक बनाता है उसका शरीर और मन उन्हीं गुणों से युक्त होता है। अन्नमय कोश को सशक्त बनाने वाला तथा योगसाधना का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य परम तथा सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के आनन्द को प्राप्त कर सकता है।[3] योगसाधना रूपी तप से अन्नमय कोश सुदृढ़ हो जाता है तथा इसमें सब प्रकार की कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति आ जाती है।[4] तत्त्वज्ञान के लिये योग करना अत्यावश्यक है। योगसाधना करने से ऋतम्भरा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।[5] महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में योग चित्तवृत्तियों का निरोध

---

1 तैत्ति0 उप0 ब्रह्मानन्द वल्ली द्वितीय अनुवाक
2 यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश। वने क्रीळन्तमत्यविम्।। ऋ09/6/5
3 अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुतेश्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत। ऋ0 9/83/1
4 ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। अथर्व-11/5/4
5 ऋतम्भरा तत्रप्रज्ञा। योग 1/48

करना ही है।[6] अतः अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र में स्पष्ट किया है कि पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा वीर्यशक्ति से स्थूल शरीर का निर्माण होता है।[7] ये सब अन्न पर ही आश्रित हैं। अन्न खाने से शरीरावयव अन्नमय कहलाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगुवल्ली के प्रारम्भ में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म जानने का साधन बताया है—अन्नं ब्रह्मेति अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।[8] तात्पर्य है कि पञ्चमहाभूतों का श्रेष्ठतम अंश अन्न ही है। इसीलिए अन्न को सर्वौषध कहा है। क्योंकि औषधियों का सार अन्न में ही है। अन्न से निर्मित होने के कारण स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा जाता है।

प्राणमयकोश

प्राणशब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से अच् या 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसीलिए इसका अर्थ है-श्वास, आयु, जीवनशक्ति तथा जीवन का मूलतत्त्वादि। बृहदारण्यकोपनिषद् का वचन है कि **'प्राणौ वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते'** अर्थात् प्राणतत्त्व ही यजुः है, क्योंकि ये सभी भूतगण (प्राणिवर्ग) प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं। पञ्चभौतिक शरीर पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में प्राणतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। जब तक प्राण प्रतिष्ठित हैं, सबकी प्रतिष्ठा है। प्राणों के दश भेद हैं-पाँच प्रधान एवं पाँच गौण। (1) प्राण (2) अपान (3) व्यान (4) समान (5) उदान ये पाँच प्रधान प्राण हैं। (1) नाग (2) कूर्म (3) कृकल (4) देवदत्त और (5) धनञ्जय ये पाँच गौण प्राण हैं।

वेदों में प्राणों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में प्राण शब्द को विभक्तियों से युक्त करके नौ बार प्रयोग किया गया है।[9] यजुर्वेद में उनंचास बार इस का प्रयोग दिखाया है।[10] तथा सामवेद और अथर्ववेद में एक सौ उन्नीस बार इसका प्रयोग हुआ है।[11] ऋग्वेदीय ऋचा में प्रयुक्त 'रुद्राः' पद से एकादश प्राणों का उल्लेख किया गया है।[12]

---

6 योगश्चित्तवृत्तिर्निरोधः।। योगदर्शन।।

7 अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। या काश्च पृथिवींश्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली-द्वितीय-अनुवाक।

8 तैत्तिरीय भृगुवल्ली-अनुवाक 1/6

9 ऋग0 पद-पृ0 = 44/16

10 यजु0 पद-पृ0 = 67

11 साम0 पद-पृ0 = 64

12 आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा। ऋ0 3/8/8

प्राणोत्सर्ग के बाद सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ पञ्चभौतिक शरीर यहाँ तक कि मन, वाक् तथा सूक्ष्मशरीर का भी पतन हो जाता है।[13] छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका के माध्यम से प्राणों का महत्त्व बताया गया है। सभी इन्द्रियों में स्पर्धा हुयी कि हममें सब से श्रेष्ठ कौन है? परिणामस्वरूप क्रमशः एक-एक करके सभी इन्द्रियाँ शरीर से निकल गयीं, किन्तु शरीर अपना कार्य करता रहा, परन्तु जब प्राण शरीर छोड़कर बाहर जाने लगे तो सभी इन्द्रियों की शक्ति निष्क्रिय होने लगी तब सभी ने प्राणों की महत्ता को स्वीकार किया। इससे सिद्ध होता है कि सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियों की क्रियाशीलता प्राण पर आधारित है। प्राण के विना सभी इन्द्रियाँ निरर्थक हैं। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के आयुष्कारक होने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है।[14] सब कुछ प्राणाधीन है। प्राण ही देवार्पित द्रव्य देवों तक पहुँचाता है। पितरों की स्वधा प्राणाश्रित है। प्राण यजुः है क्योंकि सभी भूत प्राण में सम्यक् रीति से रहते हैं इसीलिए प्राण को राजा कहा गया है। प्राण ऊर्जा की ऐसी परम्परा है जिसमें निश्चेतना से चेताना और संक्रमण सम्पन्न किया जाता है। प्राण ऊर्जा का मध्यवर्ती वीर्य है जो कि जड़तत्त्व में अन्तर्निहित या निमज्जित हैं। वहाँ से अपनी निजी शक्ति द्वारा अन्तिम रूप से उन्मुक्त होकर अपनी सक्रियता की समस्त संभावना में पहुँच जाता है।

प्राणमयकोश के कार्य

प्राण का नाम	स्थूल शरीर में स्थान	प्रण का कार्य	वर्ण
1. प्राण	मुख से हृदय तक	भूख-प्यास लगाना, रुधिर को लाल बनाये रखना, रक्तसंचार	नील
2. समान	हृदय से नाभि तक	मस्तिष्क को पुष्ट करना आमाशय, यकृत् अग्न्याशय और लघु आन्त्र के रसों का स्राव	शुक्ल
3. अपान	नाभि से पैरों तक	कटि से तक अङ्गों को गति देना	पीत
4. उदान	कण्ठ-प्रदेश शीर्ष तक	शरीर को उठाये रखना से वमन को बाहर फेंकना	नील मिश्रित हरित
5. व्यान	सम्पूर्ण शरीर	स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाना रक्तसंचार एवं सभी उपप्राणों के कार्य में सहयोग देना।	आसमानी
6. देवदत्त	नसिका	छींक लाना	पीतबहुल

13 छान्दोग्योपनिषद् = 5/1/7

14 प्राणा वै अमृता तै0 आ0 5/9/10

7. कृकल	कण्ठ	क्षुधातृषा उत्पादक	धवल
8. कूर्म	नेत्रों केपलकों में	निमेष-उन्मेष भूख-प्यास	नारंगी
9. नाग	मुख	थ्हचकी लेना	नील मिश्रित हरित
10. धनञ्जय	समस्त शरीर	तत्त्वों सहित सूक्ष्मशरीर को गर्भ में पहुँचाना	आसमानी

मनोमय कोश

संस्कृत व्याकरण में 'मन' धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होती है। अत: मन ब्रह्म स्वरूप है। मन से ही सभी प्राणी जीवित रहते हैं, मन में ही विलीन हो जाते हैं।[15] मनुष्य पहले मन से सोचता है। फिर 'मन' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है-**स यो मनो ब्रह्मेत्युपासते यावन्मनसोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो मनोब्रह्मेत्युपासते।**[16]

ऋषि ने उत्तर दिया मन सबसे बड़ा है। क्योंकि मन संकल्प करता है। मन ही विचार करता है। मन उस संकल्प के बारे में बारम्बार मनन करता है, अत: मन की गति अति तीव्र है।

मनोमयकोश का निर्माण आकाशमण्डल में विद्यमान शक्ति के द्वारा हुआ है। उस शक्ति को मनस्तत्त्व से माना है। अत: मनस्तत्त्व की सम्पूर्ण शक्ति को ही मनोमयकोश कहा गया है। मन के साथ अहंकार वाक्, पाद्, पाणिपायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसके शरीर से ही सम्पादित होता है। लेकिन कार्य करने की प्रेरणा मन से ही मिलती है। इसलिए कहा गया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।"[17] वैसे मनुष्य का स्वभाव और व्यक्तित्व मन से ही होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि **'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय:।'** देवताओं का सहयोग लेकर आत्मा तक जो विषयों को प्रकाशित करता है उस मनस्तत्त्व को देवमन भी माना गया है। इसलिए कहा गया है **मन एव सर्वम्**[18] अत: मन का विश्लेषण गम्भीरता से किया जाता है। हमारे ऋषि मुनियों ने मन के स्वरूप को अच्छी प्रकार से जान लिया है क्योंकि सभी क्रियायें केवल मन की ही प्रेरणा से होती है। देवों का सहयोग लेकर आत्मा तक जो विषयों को प्रकाशित करता है उस मनस्तत्त्व को देवमन भी माना गया है। वैसे मनोमय कोश भी पुरुष के आकार का है। अत: मनोमय का सिर यजु: है तथा दक्षिण भाग ऋत् है और उत्तर भाग साम है धड़ योग है। सारांश है कि प्राणतन्तुओं के द्वारा इन्द्रियों को प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण कराने का कार्य इसी

---

15 तै0उप0 भृ0 चतुर्थ अनुवाक, मनो ब्रह्मेति व्याजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मन: प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

16 तैत्तिरी-उपनिषद् चतुर्थ अनुवाक (भृगुवल्ली)

17 मुण्डकोपनिषद् (मुक्तिकोपनिषद्)

18 गोपथ ब्राह्मण

मन का है। न्यायदर्शन के अनुसार **मन्यते बुध्यतेऽनेनेति तन्मनः** की व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान का आन्तरिक साधन मन ही है। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आते हैं उनके तर्क की कसौटी की परख इसी मन से होती है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रमुख साधन मन ही है। युक्ति-प्रमाणों से चिन्तन मनन करते हुए सर्वोच्च कोटि पर पहुँचना मन का ही कार्य है। आत्मा के लिए प्रयुक्त 'अहं' शब्द का अनुभव इसी मन के द्वारा ही होता है। इसी के भीतर प्राणमयकोश का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे मनोमय कोश ही कहते हैं। तर्क संग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार सुखादि की प्राप्ति में मुख्य साधन इन्द्रिय है। जिसे मन ही कहा जाता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि **आदित्यो ह वै प्राणः** पता चलता है कि यह प्राण सूक्ष्म होता हुआ भी सभी जगह व्याप्त है। वैशेषिक दर्शन ने मन को भी द्रव्य मान लिया है[19] अतः मन की गति शब्द से भी ज्यादा होती है। इस युग में वैज्ञानिक सर आलिवर लाज का कथन है कि–My doctrine is that life exists in Space. That mind is a higher development of that and I presume that spirit is a higher development still but they all exist in space.

उपनिषदों के अनुसार आकाश से सूक्ष्म तत्त्व प्राणतत्त्व है और उस प्राण से भी सूक्ष्म मनस्तत्त्व है जिसे मनोमय कोश कहा है। मन से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः मन को आत्मा के समान माना है। अतः सुखप्रदान करने वाला मन समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से मन आत्मा के समान है। मन ही तीनों कालों में वर्तमान, भूत, भविष्यत् को जानने में सक्षम है।

आचार्य ईश्वर कृष्ण ने मन को उभयेन्द्रिय माना है। बाह्यकरण तो वर्तमान काल के समान होता है, जब कि अन्तःकरण त्रिकाल विषयक होता है। मन से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। सभी जीवित रहते हैं और अन्त में मन में ही विलीन हो जाते है। भगवद्गीता के अनुसार मन को षष्ठ इन्द्रिय भी कहा है। तथा सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ भी कहा है।[20]

सांख्य योग में संकल्प-विकल्प को मन का विशेष धर्म माना है। क्योंकि मन ही संकल्पों के बारे में विचार करता है। मन के द्वारा कभी भी किसी भी वस्तु का संकल्प किया जाता है। वह संकल्प भावना विशेष में परिणत होकर क्रियारूप में प्राप्त होता है। अतः मनुष्य मन, वाणी, प्राण, चक्षु आदि से मनोनिग्रह की प्रार्थना करता है। अतः मन अतिसूक्ष्म है इसका विषय अत्यन्त जटिल है, जिसे निश्चित शब्दों में परिभाषित करना बड़ा दुष्कर कार्य है। मन के विषय में यजुर्वेद के मन्त्रों में वर्णन आता है। ये मन सोते जागते दूर-दूर तक जाता है। उसको शुभ संकल्पों से युक्त करने की प्रार्थना की गयी है। क्योंकि मन की एकाग्रता सभी सफलताओं तथा उन्नतियों की मूलमन्त्र है। महर्षि पतन्जलि ने मन की वृत्तियों के निरोध को ही योग की संज्ञा दी है। अतः मन के लिए शिवसंकल्प के मन्त्रों में शुभ संकल्प की प्रार्थना की गयी है। इसीलिए मानव शरीर को मन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।

---

19 वैशेषिकदर्शन। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मामनांसि द्रव्याणि।

20 इन्द्रियाणि पराण्याहुरिद्रियेभ्यः परं मन। मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परस्तु सः॥

शरीर में होने वाली सभी क्रियायें मन से ही प्रभावित होती है। आत्मा को ज्ञान की उपलब्धि मन के द्वारा ही होती है। मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होता। मन की विशेषता है कि पञ्च महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी स्थूल नहीं है। तर्क संग्रह के अनुसार **सुखदुःखानामुपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः**[21] अर्थात् सभी का साधन रूप मन ही है। यह हमारा मन हृदय देश में स्थित है।

विज्ञानमय कोश

मन का जो भाग मस्तिष्क में रहकर ही कार्य करता है। उस प्रज्ञान अथवा बुद्धि के लिये धी शब्द का प्रयोग अनेक विभक्तियों में भी किया गया है। ऋग्वेद में 332 बार विभक्तियों का प्रयोग किया गया है।[22] ऋग्वेद का एक मन्त्र कहता है कि मनुष्य समान होते हुये भी असमान होते हैं।[23] वैदिक संहिताओं में उन्नति और जगत् ऐश्वर्य को प्राप्त करने की बहुत सी प्रार्थनायें की गयी हैं। यथा **'यां मेधां देव सविता आ ददातु**[24] तथा **ओं मयि मेधां मयि प्रजाम्**[25] इन्ही मन्त्रें में परमात्मा का तेजोमय स्वरूप बृद्धि को उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरित करता है।

गायत्री के साथ ही मेधावी बनने की प्रार्थनायें संस्कारों में की गयी हैं। साधक बुद्धि की कामना देवगण तथा पितरों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मनुष्य मेधा प्राप्ति की इच्छा करता है। हे अग्ने! प्रजापति वरुण मुझे मेधा बुद्धि दीजिये। यथा- **यां मेधां देवगणाः** आदि विवेक ज्ञान को प्राप्त करना ही विज्ञानमय कोश है। मनुष्य को चाहिये कि विवेक ज्ञान के लिये बुद्धि पर मल विक्षेप आवरणों का जो पर्दा गिरा है, उसे हटाने का सफल प्रयास करे, विवेक ज्ञान परमात्मा साक्षात्कार में परम सहायक है।

मनोमयकोश की तरह विज्ञानमय कोश की शुद्धि करने में प्राणायाम बहुत ही सहायक है। सामवेद की कुछ ऋचाओं में कहा गया है कि मितभाषी रहते हुये प्राणायाम आदि क्रियायों द्वारा अज्ञानता को मनुष्य दूर करे।

प्राणायाम अभ्यासी की निश्चित रूप से बुद्धि विकसित, परिमार्जित, तथा कुशाग्र बनती है। क्योंकि वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए परमेश्वर ने ज्ञान रश्मियों को उद्बुद्ध किया है। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने प्राणायाम के विषय में कहा है कि प्राणों को वश में कर लिया जाये तो सारे-दुःख और क्लेश समाप्त हो जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने

---

21 तर्कसंग्रह।

22 ऋग्वेदपदानुक्रमणिका-द्रष्टव्यः।

23 अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ0 10/71/7

24 पार0 गृ0 = 2/4,5,6,7

25 आश्वलायन गृह्य सूत्र = 1/21/4

विज्ञानमयकोश की शुद्धता के लिये बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ प्राणायाम का विधान किया है। प्राणायाम से निश्चित रूप से विज्ञानमयकोश की शुद्धि होती है।

आनन्दमय कोश

दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व का विवेचन करते हुये आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा है। यतः ईश्वर आनन्दस्वरूप है। आत्मा विधूतपाप्मा होकर सांसारिक विषयों से उपरत होकर आनन्द स्वरूप का सान्निध्य करता है। तब उसे आनन्द की अनुभूति होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख है कि मनुष्य पुरुषार्थी हो, सुशिक्षित हो, धनधान्य से परिपूर्ण हो यह वह कामना करता है। यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाए अर्थात् पृथिवी पर सम्पूर्ण आधिपत्य मेरा ही हो। यह एक मनुष्य सुख है। सौ मानुषी आनन्द के बराबर गन्धर्वों का एक आनन्द है। आनन्द के विषय में' याज्ञवलक्य ऋषि ने राजा जनक को बतायी थी।[26]

आत्मा का यह आनन्दानुभव करना आनन्दमय कोश है। यह कोश हृदयस्थ है। हृदयदेश जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी ईश्वर से परिपूर्ण है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि जो आलस्य को त्याग कर धर्म से पुरुषार्थ करते हैं वे सम्पूर्ण इष्टसुख को प्राप्त होते हैं। पुरुषार्थी व्यक्ति ही आत्मिक बल प्राप्त कर सकता है। पुरुषार्थी व्यक्ति को ही ईश्वर अपनी कृपा का पात्र बनाता है। क्योंकि परमात्मा के स्वरूप को उसकी दया को और उसके आनन्द सागर के रस को केवल कर्मयोगी ही उपभोग करता है। तथा आनन्द के सागर में डुबकी लगाता है।

---

26 बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/33

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ081-84)

काम, क्रोध व लोभ के शमन में सहायक मन्त्र

ले0 मनोहर विद्यालंकार

हमें ऐसा ज्ञान व धन दो कि हम नरक के द्वारों से बचे रहें

तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाह सदने कंचिदत्रिणम्। मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥[1]

ऋषि:- सोभरि: काण्व:। देवता-अग्नि:। छन्द:-उष्णिक्।

हे (अग्ने) मानसिक मार्ग-दर्शन द्वारा, आगे बढ़ाने वाले प्रभो! मुझमें (तद्द्युम्नं आभर) ऐसा ज्ञान का प्रकाश तथा शुभ्र सम्पत्ति भर दो (यत्) जिसकी सहायता से मैं (जनस्य) मनुष्य के (मन्युम्) मनन को पृथक् कर देने वाले क्रोध को (दूढ्यम्) बुद्धि तथा कर्म को दूषित करने वाले लोभ को तथा (कंचिद् अत्रिणम्) सद्व्यवहार को खा जाने (समाप्त कर देने वाले, काम क्रोध, लोभ में से किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य शत्रु को (सदने) उसी के घर में अर्थात् प्रारम्भ होते ही (सासाह) उसका प्रयत्न पूर्वक पराभव कर सकूँ। अंग्रेजी मुहावरे (निप इन द बड) के अनुसार उत्पन्न होते ही उसका गला घोंट सकूँ।

निष्कर्ष-**अत्रिणम्**-अद भक्षणे; सद्गुणों और सत्कर्मों को नष्ट करने वालों में सबसे मुख्य काम वासना है। **'कामो हि महाशनो महापाप्मा'; 'कामो हि समुद्र:।'** कामवासना समुद्र की तरह अथाह होने से कभी तृप्त नहीं होती।

मन्युम्-मन ज्ञाने+यु अमिश्रणे; मन्यु=क्रोध मनुष्य के विवेक पर परदा डाल कर उसे अन्धा कर देता है। उसे कुछ नहीं सूझता, वह दूसरे को बिगाड़ने में अपना सर्वनाश तक कर लेता है। इसीलिए कहा है-**क्रोधो नाशयते सर्वम्।**

दूढ्यम-दु:धियम्: धी:-कर्मनाम[2], प्रज्ञानाम[3] बुद्धि और कर्म दोनों को दूषित कर देने वाला लोभ (लुभ विमोहने) सारी विचारधारा को विकृत करके मनुष्य को आचारहीन मूढ़ बना देता है। गीता में इन तीनों को नरक का द्वार बता कर, इन्हें छोड़ने की सलाह दी है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥[4]

उष्णिक्-इस मन्त्र का छन्द शब्द अपने अर्थ (ष्णा शौचे तथा स्निह स्नेहने) से बनने के कारण संकेत करता है कि साधक व्यक्ति को नरक के इन तीनों द्वारों से बचने के लिए सब

---

1 साम 113
2 नि. 2-1
3 नि. 3-9।
4 गीता 16.21

के साथ प्रीति करनी चाहिए अर्थात् (आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्) अपने को नापसन्द व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए। और यदि इनमें से किसी के चंगुल में फंस जाए तो उसे प्रायश्चित्त करके पुन: पवित्र होने का प्रयत्न करना चाहिए।

काम शरीर को सर्वाधिक हानि पहुँचाता है। क्रोध मन को बेचैन कर देता है। किन्तु लोभ मनुष्य की आत्मा को विकृत करने के कारण सब से बुरा है। अत एव यजुर्वेद के अन्तिम 40वें अध्याय अथवा ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही चेतावनी दी गई है-**मा गृधःकस्य स्विद् धनम्।**[5] हे मानव! लोभ के वशीभूत मत हो। यह धन किसी का सगा नहीं, किसी के साथ नहीं जाता है। इसका असली मालिक क: (सबको सुख देने वाला प्रजापति परमेश्वर) है।

प्रभु के मार्ग-दर्शन विना कोई यज्ञ सफल नहीं होता

इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।

असो हव्यवाळुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः।।[6]

ऋषिः- अग्निः। देवता-अग्निः। छन्दः-त्रिष्टुप्।

अर्थ-हे (अग्ने) सब को आगे बढ़ाने की कामना वाले प्रभो! आप (न:) हमारे (इमम्) इस (पञ्चयामम्) पाँच आयाम वाले (त्रिवृतम्) बाल्य यौवन तथा वार्धक्य के तीन सवनों में व्यतीत होने वाले (सप्ततन्तुम) रस, रक्त मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि, शुक्र से निरन्तर विस्तार को प्राप्त होने वाले (यज्ञं उप एहि) यज्ञ में सदा उपस्थित रहिये। (उत) और (हव्यवाट्) वाञ्छनीय तत्त्वों (भावनाओं और पदार्थों) को प्राप्त कराने वाले बनकर (न: पुरोगा अस:) हमारे मार्ग दर्शन बन जाइये। (ज्योक् एव) इतने दीर्घकाल तक उभय (दीर्घं तम: आशयिष्ठा:) घने अन्धकार में पड़े कहाँ सोये हुए थे- अब तक मेरी सुध क्यों नहीं ली?

मनन-हे प्रभो! आप तो सब को सत्प्रेरणा देकर सदा ही आगे बढ़ाना चाहते हैं। हम ही आप की प्रेरणा को अनसुना करते रहते हैं, सोये पड़े रहते हैं, अब जब सुध आई है तो आप को उलाहना दे रहे हैं। आप ने जन्म लेते ही हमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के आयाम वाले पाँच कोशों की गहराई वाला, तथा समय की दृष्टि से बाल्य, यौवन और वार्धक्य में विस्तृत होने वाला एवं रस, रक्त, मांस आदि सात धातुओं और सात चक्रों की सहायता से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाला शरीर हमें प्रदान किया हुआ है। इसको स्वस्थ, दीर्घायु और लोकोपकारी बनाने के उपाय भी सृष्टि के साथ ही बता दिये हैं। किन्तु हम ही उनकी उपेक्षा करते रहे हैं।

आज हमें कुछ बोध हुआ है, आज हम समझे हैं कि हमने अपना जीवन व्यर्थ के कार्यों में, अपने अधीनस्थ शरीर, मन और इन्द्रियों के बहकावे में आकर व्यर्थ ही गंवाया है।

---

5 यजु040.1

6 ऋक् 10-124-1

अपने कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा की है। अब तो आप ऐसी कृपा और मार्गदर्शन करो कि ठीक मार्ग पर चलता हुआ, अपने जीवन को यक्षरूप बनाकर, स्वयं सदाचारी सद्‌गृहस्थ, और देश का गौरव प्रदान करने वाला नागरिक बन सकूँ।

आधिदैविक अर्थ करते हुए-जीवन पक्ष के स्थान में यह जगत् सृष्टि यज्ञ होगा। अग्नि, आकाश, जल, वायु और भूमि, पाँच कोश होंगे। ग्रीष्म वर्षा और शरद् तीन ऋतुएँ काल की दृष्टि से तीन वर्तन होंगे। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्–ये सात लोक अथवा इन शब्दों से निर्दिष्ट सात भाव अथवा इन लोकों के सात अधिपति देव ही इस यज्ञ का विस्तार करने वाले सात तन्तु होंगे। (अग्निः, वायुः, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वेदेवाः)

आधिभौतिक दृष्टि से अर्थ करते हुए राष्ट्र का शासन ही राष्ट्रभृत् यज्ञ होगा। पञ्च कोशों के स्थान में पञ्चजनाः (निषाद, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण धर्म का पालन करने वाले पाँच प्रकार के मानव ही राष्ट्र के पाँच आयाम होंगे। त्रिवृत् अवस्था के स्थान में प्रजा के बने तीन विभाग अर्थात् शासन की व्यवस्था करने वाला शासक वर्ग, शासित होने वाली संपूर्ण प्रजा तथा इन दोनों को जोड़ने वाले कर्मचारी वर्ग ही तीन वर्तनियाँ होंगी। सप्त तन्तुओं से गृहीत रस, रक्त आदि सात धातुओं के बदले राष्ट्रभृत् यज्ञ में सात भावनाऐं- (1) अपने अस्तित्व को कायम रखने (2) सत् चिन्तन करने (3) हर हाल में सन्तुष्ट रहकर आनन्द प्राप्त करने (4) इस प्रकार महान् अर्थात् उदार बनकर (5) राष्ट्र के लिए कुछ न कुछ उत्पादन करने (6) तपस्या अर्थात् स्वार्थ त्याग कर निष्काम सेवा करते हुए (7) सनातन सत्य परमात्मा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति-ही राष्ट्र को विस्तृत, प्रख्यात, सात्त्विक तथा आदरणीय बनाने वाली ग्रहण की जायेंगी।

लगभग इसी मन्त्र के भाव और शब्दों को लेकर दशमण्डल का एक मन्त्र आया है–

मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहुकृच्छ्रा चरन्तम्।

अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।।[7]

ऋषिः सौचीकोऽग्निः। देवता-विश्वेदेवाः। छन्दः त्रिष्टुप्।

अर्थ-(देवाः) किसी भी प्रकार की दिव्यता की कामना करने वाले साधक, यह जानकर कि (विद्वान् अग्निः) सब को आगे बढ़ाने वाला सर्वज्ञ प्रभु परमात्मा ही (नः पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुं यज्ञं कल्पयाति) हमारे किसी भी पाँच आधारों पर स्थित होकर, सात प्रकार के साधनभूत पदार्थों या भावों से विस्तृत होने वाले, प्रारम्भ में मन्द-मन्द चलकर, यौवनावस्था में धूम-धाम मचाने वाले और अन्त में शनैः शनैः जीर्ण-शीर्ण होने वाले यज्ञ (परार्थ आयोजन) को प्रारम्भ करने, समर्थ और सफल करने तथा दुर्बल होकर समाप्त कर देने का सामर्थ्य प्रदान करता है-(हव्यवाहम्) आदेय पदार्थों और स्थितियों का अप वहन करने वाले (अपम्लुक्तम्) मध्य में किसी भी न्यूनता से मुक्त रखने वाले और अन्त में (बहुकृच्छ्रा चरन्तम्) धीरे धीरे

---

7 ऋक् 10-52-4

कठिनाइयों को उत्पन्न करके समाप्त कर देने वाले (मां दधिरे) मुझे ही अपने हृदय में धारण करते हैं।

निष्कर्ष-(1) प्रत्येक कर्म (आयोजन) प्रारम्भ में धीरे-धीरे बढ़ता है, कुछ काल बाद खूब विख्यात और लोकप्रिय हो जाता है, और फिर क्रमशः आपत्तियों और कठिनाइयों से प्रताडित होकर समाप्त हो जाता है। आयोजन चाहे व्यक्तिगत हो चाहे समष्टिगत, चाहे राष्ट्रगत -प्रत्येक आयोजन की ये तीन स्थितियाँ अवश्य होती हैं। इन तीनों स्थितियों में परमात्मा को ही हृदय में धारण करके आयोजन का प्रारम्भ, सफलता में आत्मगौरव, और अवनति में सन्तोष किया जाता है।

(2) प्रत्येक कार्य प्रभु को स्मरण करके प्रारम्भ करना चाहिये, प्रभुस्मरण से उत्साह बना रहता है। प्रत्येक कार्य की चरमोन्नति और लोकप्रियता में भी प्रभुस्मरण से उपरत नहीं होना चाहिये, इससे मनुष्य में अहंकार उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक आयोजन के शिथिल होते समय भी प्रभुस्मरण करने से निराशा नहीं होती।

अर्थपोषण=कल्पयाति=कृप अवल्कने=आयोजन की कल्पना तथा प्रारम्भ करना, कृपू सामर्थ्ये=आयोजन का उत्कर्ष-ख्याति और सफलता का समय, कृप दौर्बल्ये=आयोजन का धीरे-धीरे शिथिल होकर समाप्त हो जाना। रलयोरभेदः सिद्धान्त के अनुसार रूप हैं- कल्पयति, कल्पते, क्लपयति। हव्यवाहम्=हव्यम्=दानादानयोः' वहति। अपम्लुक्त=अप+म्लुचुगतौ अपगतम्=मुक्तम्, कृच्छा चरन्तम्=निऋति की ओर ले जाने वाले निर्ऋतिः=दुर्गतिः। पञ्चयामम्= पञ्च-आयाम-युक्तम्। त्रिवृतम्=तिसृषु स्थितिषु वर्तमानम्। सप्ततन्तुम्=सप्तभिः तन्तुभिः ततम्=सात धातु, सात पदार्थ, सात भाव, सात छन्द, सात लोक, सात प्राथमिकताऐं।

सप्ततन्तु-से सप्तपदः, सप्तसंसदः, सप्तबन्धवः, सप्तर्षयः, सप्तमातरम्, सप्तनामा, सप्तास्यः, सप्तजिह्वः का भी ग्रहण किया जा सकता है। **कल्पयति**-में काशकृत्स्न ने क्लृप् अवकल्पने' कल्पनायाम् मानी है। अतः कल्पयाति- के तीन अर्थों की कल्पना की गई है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ085-88)

वैदिक वाङ्मय में पशुतत्त्वचिन्तन

(अश्वतत्त्व के विशेष अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा
संस्कृत-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतीय सारस्वत-साधना का उद्गम-स्थल वेद है। 'वेद' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। यही कारण है कि ज्ञान-विज्ञान की किसी भी शाखा का निरूपण करते समय विद्वान् वेदों से ही उसका विकास प्रदर्शित करना आवश्यक समझते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दर्शन, विज्ञान, साहित्य आदि किसी क्षेत्र का आरम्भ सूत्र खोजते समय यदि गम्भीर रूप से विचार किया जाए तो कोई सन्देह नहीं कि वैदिक वाङ्मय ही समस्त ज्ञान का भण्डार है। भगवान् मनु ने **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** कहकर वेद को समस्त ज्ञान का मूल स्रोत माना है।

भारतीय साहित्य में जो स्थान वेदों को प्राप्त हुआ है, वह अन्य किसी साहित्य को नहीं। वेद में निष्ठा भारतीयों के केवल श्रद्धा का ही प्रतीक नहीं है, अपितु सम्यक् रूपेण ज्ञान के आदि स्रोत के लिये हमें वेद का आधार लेना पड़ता है।

समस्त शास्त्रों की वेद मूलकता के विषय में विचार करते हैं तो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला-शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि के उपलब्ध ग्रन्थों में अपने-अपने विषय की वेदमूलकता मुक्त-कंठ से घोषित की गई है। मनुस्मृति में मनु कहते हैं -

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।

वेदों का महत्त्व न केवल उनकी प्राचीनता तथा उनमें निहित ज्ञान-विज्ञान के कारण हैं, अपितु वेदों का अध्ययन अनेक नवीन शोधों एवं विज्ञान चर्चाओं को जन्म देता है। यही कारण है कि वेद का आधार लेते हुए अनेक शोधग्रन्थ लिखे गए हैं इसीलिए प्रस्तावित शोध का विषय भी वेदों को आधार बनाकर ही चयनित किया जाता है।

प्रस्तावित विषय पशुतत्त्व से सम्बद्ध है, जिसमें अश्व की विशिष्ट व्याख्या करना मुख्य उद्देश्य रहेगा। इसी सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'पशु' शब्द पर विचार किया जा रहा है -

अणुपरिच्छिन्न रूप सीमित शक्ति से युक्त होने वाला जीव ही 'पशु' है। वह न तो चार्वाक के समान देह रूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैन मतावलम्बियों के सामन अव्यापक है। 'पशु' अकर्ता भी नहीं है क्योंकि पाशों के दूरीकरण करने के अनन्तर

शिवत्व की प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। इसीलिए शैव सिद्धान्त पशु को कर्ता मानता है।

संसार के समग्र जीव पशु हैं। 'पशु' का अर्थ है-वह व्यक्ति जो पाशों के द्वारा जकड़ा गया हो-**'पाशनाच्च पशवः'** पाशुपतसूत्र में पशु की व्युत्पत्ति देते हुए बन्धन से पड़े हुए प्रत्येक तत्त्व को पशु कहा गया है, क्योंकि 'पाश' शब्द का अर्थ है-'बन्धन' वह बन्धन, जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व प्राप्त होता है। जीव सदा पाशों में जकड़ा हुआ है, अपने शुद्ध रूप से विहीन वह जगत् के प्रपञ्च में फंसा हुआ है, वस्तुतः जीव स्वतन्त्र है, परन्तु इन्हीं पाशों ने उसे परतन्त्र बना डाला है। जिस प्रकार लोक में गायों के गले की रस्सी को खोलकर उनका स्वामी ही उन्हें स्वतन्त्र बनाता है, ठीक इसी प्रकार पशुपति (शिव) की अनुकम्पा के विना यह जीव रूप 'पशु' अपने पाशों से कथमपि विमुक्त नहीं हो सकता है।

पाणिनि मुनि ने 'पशु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है **'पशु बन्धने। पाशयति...... ....।'** विभिन्न कोष ग्रन्थों में पशु शब्द केवल जानवर के लिये ही प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु मानव जाति के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग किया गया है। याज्ञवल्क्य मुनि ने पशु शब्द की व्युत्पत्ति में कहा है कि अनादिकाल से प्रवृत्त मल तथा आवरणों से युक्त होने के कारण अनेक योनियों में भ्रमणशील तथा अनन्त क्लेशों का भोजन होते हुए पाश रूप बन्धन युक्त प्रत्येक जीव तथा प्राणिमात्र पशु है।[1]

ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रतीक चिह्न मिलते हैं जिनमें मनुष्य जाति के लिए भी पशुओं की संज्ञायें दी गई हैं। यथा-काश्यप (कच्छपंकशीय) मात्स्यगण, अज-गण, गौतम (वृषभ), वत्स (बछड़े), शुनक (श्वान), कौशिक (अलूक) और माण्डुकेय (माण्डुक पुत्र) आदि गणों की चर्चायें हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि को देवों का पशु कहा गया है-**'अग्निर्हि देवानां पशुः'**।[2] इसी प्रकार कौषीतकि ब्राह्मण में सोम को भी पशु कहा गया है। इसी प्रकार वेदों में अन्यान्य स्थानों पर 'वपु' को पशु 'विश' को पशु और यजमान को भी पशु शब्द से सम्बोधित किया गया है, जो प्रतीक रूप से विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराते हैं। ऐतरेय, गोपथ, कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में 'पशु' शब्द के अनेक पर्याय मिलते हैं। यथा-'जागता वै पशवः' 'जागता पशवः' 'पशुर्वै मेघो, 'औषध्यात्मा वै पशुः', 'अग्निर्यो वाव सर्वे पशवः, स वो एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः, चतुष्पादा वै पशवः, पशवः पूषा, पशवः प्रगाथः, पशवो वै मरुतः, पशवो वै स्वरः बर्हितता, पशवः, मिथुनः वै पशवः, पशवः छन्दांसि' इत्यादि अंश विभिन्न ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं।

---

1 याज्ञवल्की-1/32/1 पशुः युं, अविशेषेण सर्व पश्यतीति। दृशिरौ प्रेक्षणे-अर्च्चिशिक्रम्यमि पंसीति। इति कः पश्यादेशच्च (अन्या व्युत्पत्तिर्यथा, पशयन्ति पश्यन्ति पार्श्वहस्ताभ्यां हिताहितम् इति भरतः जन्तु तस्य लक्षणम्।)

2 ऐ. ब्राह. 1/15

उपर्युक्त पर्यायों का निर्माण साध्य-साधन, कार्य-कारण, सादृश्य-परम्परा, आधार-आधेय, सम्बन्धों के आधार पर हुआ है, ऐसा ज्ञात होता है।

'पशु' शब्द के अर्थ को ठीक समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। यज्ञीय कर्मकाण्ड में जहाँ पशु का वर्णन आता है वहाँ पार्थिक पशु अर्थ करने में भूल हो सकती है। पशु का अध्ययन यज्ञोपकरणों के अंतर्गत किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित इन पर्यायों का विस्तार से वर्णन करना शोधकार्य में महत्त्वपूर्ण रहेगा। अध्ययन-सौकर्य के लिए हम पशु के पर्यायों को देवता, छन्द हवि क्रम से विभाजित करते हैं-कोष के अनुसार पशु का अर्थ है-जो सबको अविशेष रूप से देखे-**'सर्वं अविशेषेण पश्यतीति पशुः।'**[3]

अतः वैदिक वाङ्मय में विभिन्न स्थानों और अर्थों में प्रयुक्त हुए शब्द जो जानवर अथवा जन्तुमात्र का वाचक न होकर अनेकानेक प्रतीकों से युक्त है, जिसकी मीमांसा करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। प्रस्तावित शोध कार्य में इस लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक शब्द का सप्रमाण विवेचन करना महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहेगा।

प्रस्तावित शोध लेख में वेद में 'पशु' शब्द एवं तत्त्व का चिन्तन करते हुए वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त 'अश्व' तत्त्व पर गम्भीर चिन्तन किया जायेगा, जिससे अश्व के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो सके।

सामान्य रूप से पशु शब्द की मीमांसा करके गम्भीर चिन्तन की दृष्टि से विचार करते हुए देखते हैं कि वेद में 'अश्व' शब्द ही अनेक बाद प्रयुक्त हुआ है जो मात्र घोड़ा है, इस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैदिक अश्व के पंख हैं इसीलिए निघण्टु में अश्व के पर्यायों में श्येन, सुपर्ण, पतंग भी दिये गए हैं। वहाँ 'नर' शब्द भी अश्व का पर्याय है और नर ही वह ग्राम है, जिसमें अश्व के अतिरिक्त पुरुष, गौ और अज को 'ग्राम्या पशवः' रूप से कहा गया है।

पुरुष सूक्त में जब पुरुष से गौ, अश्व और अज नामक पशुओं की उत्पत्ति बताई जाती है तब भी कुछ इसी प्रकार विचित्र सी बात लगती है। एक अन्य दृष्टि से तैत्तिरीय संहिता में अश्व को मां के सम्बन्ध से और विभु को पिता के सम्बन्ध से प्रभु कहा गया है, जो हय, अत्य, नर, सप्ति, वाजी, वृषा, वैदिक अश्व मूलतः कोई ऐसा तत्त्व है, जिसके रूपान्तरों को ही अनेक नाम दिये गए हैं।

संर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्
वेदशब्देभ्यैवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में मनु ने कहा है कि समस्त लौकिक नाम और कर्म वैदिक शब्दों के आधार पर ही रखे गए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वेद यद्यपि

---

3 पद्मचन्द कोष, पृष्ठ संख्या 234
4 मनु/1/21

प्रधानत: अध्यात्मपरक हैं तथापि वैदिक अश्व की अधिकांश विशेषतायें जिस पशु में पाई जाती हैं, वे लोक में अश्व नामक जीव में उपलब्ध होती हैं ये विशेषतायें इस प्रकार की है-अश्व का तीन पैरों पर खड़ा होना, चार पैरों से दौड़ना, पीछे से पैर मारना इत्यादि। इन विशेषताओं को बताने के लिए वैदिक साहित्य में कुछ कथानक मिलते हैं, यथा -

सृष्टि के प्रारम्भ में अश्व की 'आप:' से उत्पत्ति हुई। शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन शाखा में अश्व की 'आप:' से उत्पत्ति बताई गई है। उल्लेख है कि अश्व आप: से उत्पन्न हुआ और 'असर्व' अर्थात् असम्पूर्ण अथवा अधूरा उत्पन्न हुआ है और 'असर्व' होने के कारण ही वह चारों पैरों से खड़ा नहीं होता है, जिसकी वैज्ञानिक व्याख्या अपेक्षित है। अनुसन्धान करने योग्य है।

'पशवो वै छन्दांसि' कहते हुए संहिता पशुओं ओर छन्दों का सम्बन्ध स्थापित करती है और अश्व को अनुष्टुप् के साथ गायत्री से सम्बन्ध होकर चार पैरों पर दौड़ने वाला बताती है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण अश्व द्वारा ही रथों का सम्पादन होना बताता है। इस प्रकार अश्व रथ के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वहन नहीं करते हैं।

पीछे के पैरों से मारने के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों ने अश्व होकर पैरों से मारा। अश्व होकर पैरों से मारना ही देवों का अश्वत्व है। पशुओं में दीप्तिमान् भी अश्व ही है। उसे ही सर्वाधिक ऐश्वर्यवान् कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में अश्व के श्रेष्ठ और आशुगामी होने के विषय में कहा गया है कि हे अश्व! तू अत्य है, इसी कारण सारे पशुओं का अतिक्रमण कर जाता है। लिखा है -

अत्योऽसि इत्याह। तस्मादश्व: सर्वान् पशून् अत्येति।
तस्मादश्वै: सर्वेषां पशूनां श्रेष्ठ्यं गच्छति।[5]

'आ ब्राह्मण ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसि' के प्रसंग में 'आशु: सप्ति:'[6] कहा गया है, इसी कारण सृष्टि के आदि में आशु अश्व का उत्पन्न होना बताया गया है तथा प्रयुक्त अश्व का दूर-दूर तक जाने में समर्थ होना और वीर्यवान् होना कहा गया है। वर्तमान में भी शक्तिशाली वस्तुओं के मापदण्ड के लिए 'हार्सपावर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो इसी बात को प्रमाणित करता है।

अश्व के श्रेष्ठ माने जाने की दृष्टि से ऋग्वेद में न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' कहते हुए अश्व से पूर्व गदर्भ को नहीं ले जाने की बात कही गई है जिससे सूचित होता है कि योग्य अथवा श्रेष्ठ के सामने अयोग्य अथवा अश्रेष्ठ को महत्त्व नहीं दिया जाता। अन्यत्र भी अनेक ब्राह्मणों और संहिताओं में इसी बात को अलग-अलग ढंग से कहा गया है।

वेदों में अश्व के भिन्न-भिन्न पर्यायों की भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से उत्पत्ति बताते हुए वर्णन किया गया है, जिनका तात्विक एवं वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है।

---

5 3/8/9
6 यजु0।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ089-94)

वैदिक इन्द्र के विभिन्नार्थ-दर्शन

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार,
रीडर श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान,
गु0का0वि0वि0 हरिद्वार)

वेदार्थावबोधन में वैदिक निघण्टुकोष तथा यास्कीय निरुक्त का अपूर्व योगदान है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय में ऐसे शब्द हैं जो वेदों में प्रधान देवता के रूप में आते हैं। यास्काचार्य ने इस अध्याय के पदों का अर्थानुसन्धान निरुक्त में कर दिया है। इनके द्वारा कृत अर्थान्वेषण को वेदभाष्यकारों ने ओर बढ़ाया है। निरुक्तकार यास्क ने 151 वैदिक देवताओं को पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थानीय इन तीन वर्गों में विभाजित किया तथा उनका भौतिक या अधिदैवत स्वरूप दर्शाया है। वेद के अधिकांश भाष्यकारों ने स्वमतभेद प्रकट करते हुए कतिपय ने इन्हें प्राकृतिक क्षेत्र में घटाकर इनके अग्नि, वायु, सूर्य, उषा, बादल आदि अर्थ, कतिपय ने शारीरिक क्षेत्र में घटाकर इनके जीवात्मा, प्राण, मन, बुद्धि, पञ्चकोष, मस्तिष्क, हृदय आदि अर्थ, कतिपय ने याज्ञिक अर्थ और कतिपय ने इन्हें एक ही परमात्मा के विभिन्न नामों के रूप में मानकर अर्थ स्वीकार किये हैं। विभिन्न देवों में इन्द्र वेदों का सर्वाधिक महत्त्वशाली देवता है। चारों वेदों की कुल मन्त्रसंख्या 20389 का लगभग चतुर्थांश इन्द्र की स्तुति से भरा पड़ा है। रसानुप्रदान, वृत्रवध तथा बल के समस्त कर्म इन्द्र के प्रमुख कार्य हैं-ऐसा निरुक्तकार का कथन है।[1] ब्राह्मणकार ने यज्ञ का देवता इन्द्र को माना है।[2] एक पौर्णमास यज्ञ के प्रकरण की कथा के अनुसार इन्द्र का प्रधान शत्रु वृत्र माना गया है।[3] अतः पौर्णमासयज्ञ को वार्तघ्न नाम से भी जाना जाता है।[4] ग्रन्थकारों ने सूर्य,[5] यजमान,[6] आहवनीय अग्नि,[7] वायु,[8] यज्ञ का नेता,[9] प्राण,[10] मन,[11]

---

1 द्रष्टव्य-निरु0 7,9
2 इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता । श0 ब्रा0 1,4,5,4
3 श0 ब्रा0 1,6,3,1-10
4 तद्वा एतदेव वार्त्तघ्नं यत् पौर्णमासम्।। श0 ब्रा0 1,6,4,13
5 तद्वा एष एवेन्द्रः य एष तपति। श0 ब्रा0 1,6,4,18
6 श0 ब्रा0 2,1,2,11
7 तद्वा एष एवेन्द्रो यदाहवनीयः। श0 ब्रा0 2,3,2,2
8 यो वै वायुः स इन्द्रः।। श0 ब्रा0 4,1,3,19
9 इन्द्रो यज्ञस्य नेता। श0 ब्रा0 4,1,2,1,15,16
10 स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः। श0 ब्रा0 6,1,1,2
11 यन्मनः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श0 ब्रा0 8,5,3,2

आदित्य,[12] वाग्बल,[13] संवत्सररूप प्रजापति,[14] विश्वकर्मा,[15] बल और बलपति,[16] ओज,[17] आकाश,[18] तथा सत्य[19] को इन्द्र माना है। निरुक्तकार के अनुसार अन्तरिक्षस्थानीय द्वितीय वर्ग के देवों का राजा वायु या इन्द्र को माना गया है।[20] इन्द्र पूरे वर्ग का एक प्रमुख देव है। महाभाग्य की दृष्टि से देखा जाये तो इन्द्र परमात्मा का भी एक नाम है।[21] यास्काचार्य ने इन्द्र पद का व्याख्यान करते हुए लिखा-**इन्द्र इरां इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, दृणातीति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्, इति विज्ञायते, इदं करणादित्याग्रायणः, इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः, इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्।।**[22]

निरुक्तकार ने ये 15 निर्वचन इन्द्र पद के किये हैं, जिनका क्रमशः अर्थ है विद्युत् जल को फाड़ती है। 'इराम्+दृ' विदारणे+अक्-इम् द्र-इन्द्र। इन्द्र का अशनि अर्थ भी है।[23] 'इरा' अन्न पद का वाचक है।[24] अतः आचार्य दुर्ग ने इन्द्र वर्षा से क्लेदित व्रीहि आदि अन्न को फोड़कर अंकुरित करने के कारण 'इरादार' होता हुआ परोक्षवृत्ति से इन्द्र कहलाता है' यह अर्थ दर्शाया है। इरा का 'इ' तथा 'दृ' विदारणे-धातु का 'द्र' है, इन दोनों के योग से इन्द्र' पद बनता है।[25]

विद्युत् जल को देती है, इराम्+दा+रक्[26]-इम् द्र-इन्द्र। वर्षा के द्वारा अन्न (इरा) प्रदान करने वाला इन्द्र है।[27] विद्युत् जल को धारण करती है। इराम्+धा+रक्।

---

12 अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ब्रा० 8,5,3,2
13 वागिन्द्रो बलम्। श० ब्रा० 12,7,2,6
14 यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेव इन्द्रः। तै० ब्रा० 1,2,2,5
15 श० ब्रा० 1,2,3,3
16 इन्द्रो बलं बलपतिः।। श० ब्रा० 2,5,8,4
17 ओजो वाः इन्द्रः। तै० ब्रा० 5,2,5,4
18 स यस्य आकाश इन्द्र एव सः।। जै० उ० 1,6,3,2
19 सत्यं हीन्द्रः।। कौ० ब्रा० 3,1
20 तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। निरु० 7,5
21 महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। निरु० 7,4
22 निरु० 10, 9
23 बृहदारण्यकोपनिषद् 3,9,6
24 निघ० 2,7
25 इराम् अन्नं व्रीह्यादि दृणाति विदारयति। इरा शब्दात् पूर्वपदं, दृणातेरुत्तरपदम्। वर्षक्लेदितमङ्कुरं बीजं भिनत्ति, तदिन्द्रकारितम्।।
26 उणादि० 2,28
27 यो वर्षद्वारेण इरामन्नं ददाति सोऽयम् इरादः इरादाता इन्द्रः। दुर्ग

चतुर्थ निर्वचन में चुरादिगणी 'दृ विदारणे' धातु से रूपसिद्धि सम्पन्न की गयी है। जो इरा को विदीर्ण करवाता है वह इन्द्र है। पाँचवे निर्वचन में धृञ् धारणे धातु है, जो इरा को धारण करवाता है वह इन्द्र है। विद्युत् जल की वृष्टि के लिये संचरण करती है और सूर्य चन्द्रमा को प्रदीप्त करने के लिये सुषुम्णा रश्मि से जाता है। यह इन्द्र के सोम, जल तथा चन्द्रमा अर्थ गृहीत किये गए हैं।[28] विद्युत् जल में रमण करती है और सूर्य चन्द्रमा में रमण करता है। एवं इन्द्र विद्युत् या सूर्य है। इन्दुरम्-इन्द्र।

सब प्राणियों को प्रकाश देने से विद्युत् इन्द्र है। इन्ध्+रक्, यहाँ कर्ता में प्रत्यय हुआ है। विद्वानों ने यहाँ प्राणियों को द्युतिमान् करने के कारण 'इन्धी दीप्तौ' धातु से इन्द्र पद व्युत्पन्न माना है।[29] विद्युत् वृष्टि को करती है अतः आग्रायणाचार्य के मत में 'इदंकर' से इन्द्र है। सब कुछ करने का सामर्थ्य रखने से भी इन्द्र इदंकर है।[30] वृष्टि प्रदान द्वारा इन्द्र सब जगत् को उत्पन्न करता है, अतः इदंकर इन्द्र हुआ।[31] जीवात्मा जगत् का द्रष्टा होने से इन्द्र है।[32] सब जगत् को देखने से भी इदंदर्शी' इन्द्र है।[33] ऐश्वर्यवान् होने से विद्युत्, परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सूर्य आदि इन्द्र कहे जा सकते हैं। इदि परमैश्वर्ये+रक्। विद्युत् वृत्त का विदारण करती है, ऐश्वर्यवान् होकर वह कार्य सम्पन्न करती है। शत्रुओं को विदीर्ण करने और भगाने के कारण ईश्वर इन्द्र हैं।[34] यज्ञकर्ताओं को विद्युत् ऐश्वर्यवान् होती हुई वृष्टि के द्वारा सत्कृत करती है, अतः वह इन्द्र है।

इस प्रकार निरुक्तकार ने अनेकानेक विद्वानों के मतों की स्थापना करते हुए इन्द्र के विभिन्न निर्वचन दर्शाये हैं। जिन निर्वचनों से अध्येता इन्द्र के सूर्य, परमेश्वर, ब्राह्मण, राजा, सेनापति आदि अनेक अर्थ गृहीत कर लेता है।

इन्द्र के विभिन्न कार्यों का वर्णन वेदों में आया है। इन्द्र वृष्टि तथा वृत्रवध करता है -

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्।[३५]

इन्द्र पैदा होते ही इतर देवों को अपने कर्म से परास्त करता है, उन्हें पकड़ लेता है उन्हें अतिक्रान्त कर देता है। आकाश और भूमि उससे डरकर थर्राने लगते हैं-

---

28 इन्दु शब्दात् पूर्वपदम् द्रवतेरुत्तरपदम्। इन्दुः सोमः। तं पातुमसौ द्रवति। द्रवतिर्गत्यर्थः। सोमपानार्थमसौ द्रवति, सोऽयम् इन्दुद्रवः इन्द्रः। दुर्ग।। गच्छति सोमं पातुमित्यर्थः। स्कन्द

29 भूतानि ह्यसौ अन्नोत्पत्या अधिदेवस्थो वाऽभ्यवहारयन् विभजमानश्च दीपयति द्युमिमन्ति करोति, सोऽयम् इन्धः इन्द्रः। दुर्ग। अतः इन्धनादिन्द्रः। स्कन्द

30 इदमसौ सर्वम् अकरोदिति, सोऽयं इदंकरः सन् इन्द्रः। दुर्ग

31 इदं कृत्स्नं जगत्, वृष्टिप्रदानद्वारेण करोतीति। स्कन्द

32 चन्द्रमणि विद्यालंकार तथा ब्रह्ममुनिकृतभाष्य

33 इदमसावद्राक्षीत्सर्वमिति। सोऽयम् इंददर्शी इन्द्रः। दुर्ग

34 ईश्वरश्चासौ द्रावयिता च शत्रूणाम, अथवा ईश्वरश्चासौ दारयिता च शत्रूणामितीन्द्रः। दुर्ग

35 ऋ0 5,32,1

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः।।[३६]

इन्द्र सर्वत्र वृत्र के वध के लिये प्रसिद्ध है। वेदों में भी उसके इस कर्म का अनेकत्र वर्णन है -

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।

वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।।[३७]

इन्द्र ने अहि=वृत्र को मारकर जल के स्रोतों को खोल दिया।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।।[३८]

इन्द्र द्वारा तीस सरोवरों के पान की चर्चा करते हुए इन्द्र सूर्य को माना गया है और तीस सरोवर शुक्लपक्ष के तीस अहोरात्रों में चन्द्रमा में व्याप्त 'सूर्य-रश्मियाँ' मानी गयी हैं।

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।

इन्द्रः सोमस्य काणुका।।[३९]

वेदों में इन्द्र और अगस्त्य के सम्वाद का भी वर्णन है।[40] इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी नारियों में सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी है, क्योंकि उसका पति इन्द्र कभी वृद्धावस्था से मरता नहीं है

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।

नह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्रः उत्तरः।।[४१]

कौषीतकि ब्राह्मण में इन्द्र को ब्रह्म माना गया है,[42] वह विश्वजित् है।[43] वह राजा, अधिराज, स्वराट् तथा आत्मा है।[44] अस्यवामीय सूक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार आत्मानन्द,[45] आचार्य सायण,[46] तथा अनेक स्थलों पर स्ववेदभाष्यान्तर्गत स्वामी दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ परमेश्वर

---

36 ऋ2,12,1
37 ऋ0 1,32,10
38 ऋ0 1,32,11
39 ऋ0 8,77,4
40 ऋ0 1,170,1
41 ऋ0 10,86,11
42 तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति।। कौ0 ब्रा0 6, 14
43 इन्द्रो विश्वजिदिन्द्रो हीदं सर्वं विश्वमजयत्।। कौ0 ब्रा0 24, 1
44 तै0 सं0 2,3,6,2
45 ऋ0 1,164,46
46 इदि परमैश्वर्ये इत्यस्य धातोरर्थानुगमात् इन्द्रः परमात्मा।

किया है।[47] वेद स्वयं इन्द्र को परमेश्वर नाम से ज्ञापित करता है।[48] ऐतरेयोपनिषद्कार भी इसी व्याख्यान को स्वीकृति देता है।[49]

वेदों में अनेक स्थलों पर इन्द्र को राजा नाम से जाना गया है।[50] अनेक आचार्यों ने भी इन्द्र को राजा नाम से सम्बोधित किया है, यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। स्वामी दयानन्द तो स्ववेदभाष्य में अनेकत्र इन्द्र का अर्थ राजा करते हैं जो कि उनकी विभिन्न व्याख्याओं से प्रदर्शित होता है।[51]

इन्द्र का अर्थ वेदों ने स्वयं विद्वान् किया है।[52] स्वामी दयानन्द ने भी इसी को आधार बनाकर इन्द्रदेवताक मन्त्रों का भाष्य रचते हुए उनका विद्वान् अर्थ किया है।[53] विद्वानों का महत्त्व, विद्या प्राप्ति के उपाय, विद्वानों के कर्तव्य, विद्वानों का सेवन-सत्कार, विद्वानों द्वारा शिल्प-विद्या की उन्नति, अध्यापकों के गुण तथा उनके कर्तव्य, इत्यादि अनेक विषयों पर स्ववेदभाष्य के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर व्याख्यान किया है।

स्वामी दयानन्द से पूर्व ब्राह्मणग्रन्थकारों, नैरुक्तों तथा अनेक आचार्यों द्वारा इन्द्र के जिन नामों का व्याख्यान हुआ उन सबका तथा स्व उपज्ञा से प्रसूयमान विविधार्थों को गृहीत करते हुए एवं अनेकत्र वेद से मन्त्रार्थ को दर्शाते हुए इन्द्र का इन्द्र सूर्य, विद्युत्, वायु, जीवात्मा तो स्वामी जी ने माना ही है, किन्तु कतिपय स्थलों पर इन्द्र का अर्थ गृहस्थधर्म से जोड़कर[54] तथा कहीं वैद्य रूप में[55] और कहीं कृषक[56] अर्थ में भी किया है। इन सबके अतिरिक्त इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य, मित्र, मेघ, यज्ञ, यज्ञपति, यजमान, रण, राज्य, पुरुषार्थी, योद्धा, शालाधिपति, प्राणी, वृद्ध, बल, योगजिज्ञासु, सोमरस, व्यवहार आदि अर्थ भी किये गए हैं।[57]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्र के विभिन्नार्थ स्वयं वेदमन्त्रों में आये हैं जिन्हें ब्राह्मणकारों, नैरुक्तों, आचार्यों तथा वेदभाष्यकारों ने दिखाया है। इन्हीं सब अर्थों का प्रदर्शन स्व-स्व ग्रन्थों में अनेक रूपो में सामवेद के प्रख्यात भाष्यकार वेदमार्तण्ड आचार्य रामनाथ वेदालंकार, मनुस्मृति के भाष्यकार डॉ0 सुरेन्द्र कुमार, वैदिक इन्द्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ

---

47 यजु0 31,5,9,12;

48 ऋ0 1,64,46; 10,114,5; 10,82,3; यजु0 32,1

49 एष ब्रह्मैष इन्द्रः।।3,1,3

50 ऋ0 1,32,15; 100,1; 174,1; 177,1; 2,14,11; 4,17,20; 4,19,2; 21,10;

51 द्रष्टव्य-ऋ0 1,52,8; 1,51,1; 1,63,7; 5,35,1; 6,46,11; 5,40;

52 ऋ0 2,15,7; 3,44,2; 4,30,17; 5,2,8; 10,32,6; 8,63,3;

53 ऋ0 1,83,2; 1,132,3; 1,165,14; 2,13,13; 3,30,21;

54 ऋ0 1,56,2

55 ऋ0 2,11,11

56 ऋ0 4, 57

57 द्रष्टव्य दयानन्द भाष्य-ऋ0 2,11,11; 1,173,9; यजु0 1,2,4; 1,4; ऋ0 2,36,1; यजु0 28,14; 7,38; 5,30; ऋ0 2,20,5; 2,20,7; 1,101,7; यजु0 21,35; 8,39; 9,4; ऋ0 1,176,6; यजु0 20,62; 33;

लेखिका डॉ0 सुकामा व्याकरणाचार्य, पं0 धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, डॉ0 सुधीर कुमार गुप्त, गंगाप्रसाद उपाध्याय, सुधा रस्तौगी, जयदत्त उप्रैती तथा श्री अरविन्द आदि अनेक विद्वानों ने किया है। इस प्रकार इन्द्र पद से अनेकार्थों का ग्रहण प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ095-100)

वेदों में यज्ञ

डॉ0 रमा दुबे
इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र
वाराणसी-221005

हिन्दू-संस्कृति के साथ यज्ञानुष्ठान का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। **'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण एवं दान के अर्थ में पठित 'यज्' धातु से 'नङ्' प्रत्यय लगाने पर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है।[1] यज्ञ तो वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है-ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।

इस मन्त्र में ऋषि मधुच्छन्दा गायत्री छन्द में अग्निदेव की स्तुति करते हैं-'मैं अग्निदेव की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञ के देवता, देवताओं के आह्वाता और श्रेष्ठतम रत्नों की खान हैं, वे हमें श्रेष्ठतम रत्नों को प्रदान करें।' इस मन्त्र में देवयज्ञ का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ऋषियों ने हिन्दू-जीवन में यज्ञविधान के द्वारा जिस दिव्य भावना की सुरसारिता प्रवाहित की, वह अविरल गति से सृष्टि के आदिकाल से आज तक बहती जा रही है और उसमें अवगाहन कर विश्व के असंख्यों पुण्यवान् दिव्य जीवन के भागी हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र में यज्ञ का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि यज्ञ का प्रसार आर्यजीवन में था तथा अग्निदेव यज्ञ के देव थे, यज्ञ में ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठान में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद-वेदत्रयी का युगपत् प्रयोग होता है। अत एव यज्ञ के साथ वेदों का नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है। तत्त्वत: देवता मन्त्रस्वरूप हैं अत एव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्नि की रचना कौन करेगा? अग्नि का आदि नहीं है, अन्त नहीं है। अत एव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्रों को कार्य रूप में देखकर **'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'** इस न्याय के अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। उत्तर है, कि मन्त्र कार्य नहीं है, वे नित्य हैं और वाणी के रूप में उनकी अभिव्यक्ति ऋषियों के अन्त:करण में होती है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है कि यज्ञ के द्वारा ऋषियों के अन्त:करण में प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूप को प्राप्त होते हैं।[2] यास्काचार्य कहते हैं-यज्ञों में तत्तद् वस्तु को अभिप्रेत करके ऋषियों को मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् ऋषियों के पुनीत अन्त:करण में देवस्वरूप मन्त्रों का दर्शन होता है। इसीलिए वेद को शब्दब्रह्म कहते हैं और इसे नित्य और सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। महर्षि जैमिनि के अनुसार- आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठान के लिए है; अत एव यज्ञभावना से

---

1 यज्ञयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (3/3/90 पाणिनीय सूत्र)
2 यज्ञेन वाच: पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋ0 10/71/3)

हीन जो विषय है, वे अनर्थ हैं, अधर्म ही हैं, जो धर्म के कञ्चुक में छिपे हुए भँवरजाल में फँसने के लिए मायाजाल बिछाये हुए हैं।[3] धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं- **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह धर्म है। अतः जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूप का ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है, जबकि आज आर्य सन्तान यज्ञ का नाम तक नहीं जानती।

मनुष्य को जीवन के सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञधर्म को अपनाना चाहिए। परमात्मा के निःश्वासभूत वेदों की मुख्य प्रवृत्ति यज्ञों के अनुष्ठान विधान में है। यज्ञों द्वारा समुद्भूत पर्जन्यवृष्टि आदि से संसार का पालन होता है। परमात्मा यज्ञ के सहारे ही विश्व का संरक्षण करते हैं। मानव और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टि के आदिकाल से ही चला आ रहा है। गीता में भी इसका उल्लेख है-प्रजापति ने-सृष्टि रचना के समय यज्ञ के साथ मानव जाति को उत्पन्न करके उनसे कहा-इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिए मनोवांछित फल देने वाला होगा। तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता तुम लोगों को यश-फल-प्रदान के द्वारा सन्तुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याणपद को प्राप्त करो।[4] पद्मपुराण में मानव की उत्पत्ति ही यज्ञकर्म के सम्पादन के लिए बतायी गयी है- हे महाभाग! ब्रह्माजी ने यज्ञ कर्मं के लिए ही यज्ञ के श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्य के रूप में मानव की रचना की।[5]

शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञ से इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि साधनयोग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यज्ञ भगवान् का यजन किया।[6] शतपथ ब्राह्मण[7] में यज्ञ को साक्षात् भगवान् का स्वरूप कहा है। यज्ञ के सम्बन्ध में शुक्लयजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न मत उपस्थित किए गए हैं कि यज्ञ[8] समस्त भुवनों का केन्द्र और वही पृथ्वी[9] को धारण किए हुए है। यज्ञ साक्षात भगवान् का स्वरूप ही है, जिसे विद्वान् लोग विष्णु[10] राम, कृष्ण, यज्ञपुरुष, प्रजापति, सविता, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामों से उच्चारित करते हैं। तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है, कि द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा

---

3 आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमेतदर्थानाम्। (जै0 सू0 1/2/1)

4 सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेनप्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (गीता 3/10-11)

5 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह। चातुर्वर्ण्यं महाभागयज्ञसाधनमुत्तमम्।। (पद्मपु0 सृष्टिखण्ड, 3/123)

6 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (शुक्लयजुर्वेद, 31/16)

7 अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम्, तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येनं प्रतिमामसृजत।। (शत0 11/1/8/3)

8 (क) अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (यजु0 23/11) (ख) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः (अथर्व0 9/10/14)

9 यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववे0)

10 एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ0 1/164/22)

ऋषिऋण से, यज्ञ के द्वारा देवऋण से और सन्तति के द्वारा पितृऋण से मुक्ति होती है।[11]' इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में यज्ञ को मानव का प्रधान धर्म कहा है। जो लोग यज्ञ के वास्तविक रहस्य और महत्त्व को समझकर यज्ञ के प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते वे नष्ट हो जाते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है-हे अर्जुन! यज्ञ न करने वाले को यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक) की तो बात ही क्या है।[12] अथर्ववेद भी कहता है-यज्ञहीन पुरुष का तेज नष्ट हो जाता है।[13]

कालिकापुराण के **'सर्वं यज्ञमयं जगत्'** के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् एवं उसके क्रिया कलाप यज्ञमय हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भगवतीश्रुति कहती है कि हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है, प्राण धूम है जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं, उसी अग्नि में देवगण अन्न का होम करते हैं, उस आहुति से रेतरूप शक्तिपुञ्ज उत्पन्न होता है.. .... इत्यादि।[14]

इस प्रकार जब सभी सांसारिक चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं, तब उन सभी यज्ञों का अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिए ताकि वे मानवमात्र के लिए कल्याणकारी बनें। इस संसार में प्राणिमात्र की यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ, किन्तु पुण्यपुञ्ज प्रभाव के विना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख विशेष की प्राप्ति नहीं कर सकता, यह शास्त्रों का कथन है। ईशावास्योपनिषद् कहती है-शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए जीव इस जगत् में शतायु होने की इच्छा करे। ऐसे किए जाने वाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक् अन्य दूसरा मार्ग ही नहीं है।[15] इसी संदर्भ में गीता[16] भी माता की तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्रों को उपदेश करती है। मुण्डको उपनिषद् में यज्ञ को संसार सागर से पार (मुक्ति) कराने वाली 'प्लव' अर्थात् नौका कहा है।[17]

द्रव्य, देवता और त्याग (द्रव्यदेवतात्यागः) ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं। वेदों में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान है, परन्तु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद भी बहुत होते हैं। जैसे सोमयाग

---

11 जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। (तै0सं0 3/10/5)

12 नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। (गीता, 4/31)

13 अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (अथर्ववे0 12/3/37)

14 पुरुषो वाव.................................. तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति। (छा0 उ0 5/7-8)

15 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

16 अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। (गीता 3/14)

17 प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (मुण्डक0 उ0 1/2/7)

के भेदों में अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। यजुर्वेद का पहला मन्त्र '**इषे त्वोर्जे त्वा**' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञ के पलाश-शाखा छेदन विधि में होता है।

दर्शपौर्णमासयज्ञ

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठित होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृतिरूप में होने के कारण इसी यज्ञ का पहले विधान हुआ है। दर्शपूर्णमास में अन्य किसी याग की विधि प्रयुक्त नहीं होती। शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में इसकी व्रतोपायन विधि का उल्लेख आता है। दर्शपूर्णमास यज्ञ में कुल छः याग होते हैं। दर्शपौर्णमास यज्ञ के द्वारा संस्कृति की रक्षा के साथ-साथ हम इहलोक एवं परलोक को उज्ज्वल बना सकते हैं। इस यज्ञ के माध्यम से स्वर्ग को प्राप्त एक याज्ञिक कहता है -

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य।।[18]

अर्थात् मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोक में आया, देवताओं को जान लिया। अब शत्रु मेरा कुछ नहीं कर सकते तथा अमरलोक को प्राप्त मेरा जरा भी कुछ नहीं कर सकती।

यज्ञस्थली अधिभौतिक लोक के मध्य एक आधिदैविक रूप के समान होती है। वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठान द्वारा इन्द्रादि देवगण प्रसन्न हो, स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो, वह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराण[19] में यज्ञ का लक्षण वर्णित है कि जिन कर्मविशेष से देवता, हवनीयद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा-इन पाँच उपादानों का संयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है। दर्शपूर्णमास के अतिरिक्त वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ और पारस्कर आदि सूत्रग्रन्थों में यज्ञ के अनेक भेद-प्रभेद बताये गए हैं, परन्तु मुख्य रूप से इनका समाहार हविर्यज्ञसंस्था, सोमयज्ञसंस्था और पाकयज्ञसंस्था के अन्तर्गत हो जाता है, पुनः एक-एक में सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं इनका उल्लेख भी संक्षेप में यहाँ अवश्य करणीय है।

हविर्यज्ञसंस्था

मुख्यतः हविर्यज्ञ सात प्रकार के कहे गए हैं।

---

18 ऋ0 8/48/3

19 देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा। ऋत्विजां दक्षिणानां व संयोगो योग उच्यते।। मत्स्य पु0 सभी वेदों-पुराणों ने यज्ञों के यथासम्भव सम्पादन पर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञों का फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी हो।

१. अग्नाधेय-इस यज्ञ में कई इष्टियाँ होती है और यह 13 रात्रियों तक चलता है। घृत तथा दुग्ध के द्वारा प्रतिदिन के किए जाने वाले हवन को 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसी का एक भेद पिण्ड पितृयज्ञ भी है। तीसरे हविर्यज्ञ के रूप में 'दर्शपौर्णमास' का उल्लेख है। चौथा भेद आग्रायण है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है। छठा हविर्यज्ञ निरूढपशुबन्ध है। यह प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में किया जाता है। हविर्यज्ञ का सातवां अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। इनका विस्तृत उल्लेख धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

सोमयज्ञसंस्था-यह आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। इसे कालावधि के आधार पर एकाह, अहीन और सम, इन तीन रूपों में देखा गया है। अग्नि में सोमलता के रस की आहुति देने के कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञसंस्था के मुख्य सात प्रकारों में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम की गणना होती है। इनके अन्य बहुत से उपभेद भी है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञ की 17 दीक्षाएँ होती हैं। विस्तारभय से इसका संक्षेप किया जा रहा है।

पाकयज्ञसंस्था

पाकयज्ञ के अन्तर्गत सप्तसंस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जो क्रमशः अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी के नाम से जानी जाती हैं। पाकयज्ञसंस्थाओं में पहला अष्टकाश्राद्ध है। यह श्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष ओर माघ इन तीन मासों की कृष्णाष्टमियों पर ही सम्पन्न होता है। इनमें पितरों का श्राद्ध करने का बहुत बड़ा माहात्म्य है।

पर्व-पर्व पर या पितरों की निधन-तिथि पर और महीने-महीने पर होने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इसी क्रम में और शेष याग भी महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में रुद्रप्रयाग, महारुद्रप्रयाग, अतिरुद्रप्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवतसप्ताह-यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं। ये यज्ञ सकाम भी किए जाते हैं और निष्काम भी। इन यज्ञों से परमपुरुष नारायण की ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा गया है-जिसके राज्य अथवा नगर में वर्णाश्रम-धर्मों का पालन करने वाले पुरुष-स्वधर्म-पालन के द्वारा भगवान् यज्ञ-पुरुष की आराधना करते हैं। हे महाभाग! भगवान् अपनी वेदशास्त्ररूपी आज्ञा का पालन वाले उस राजा से प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे ही सारे विश्व की आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षक हैं।[20] पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड[21] में स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है। इस प्रकार संसार का पालन-पोषण करने के कारण ही यज्ञ कल्याण के हेतु कहे गए हैं।[22]

---

20 यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः। इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः।। तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः। परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने।। (श्रीमद्भा0 4/14/18,19)

21 पद्मपु0 3/124

22 यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः। आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याण हेतवः।।

अतः यज्ञों का उद्देश्य केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठान से देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभी को अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वांगीण अभ्युदय भी हुआ है।

निष्कर्षतः अद्यतन भी हम देखते हैं कि अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति हो या वृष्टि का उद्देश्य हो, जहाँ तक कि कभी कभी भयंकर बीमारियों के प्रकोप से एवं प्रदूषण मुक्त्यर्थ भी यज्ञ का प्रयोग किया जाता है। शारीरिक, मानसिक शुद्धि के साथ यज्ञ से पर्यावरण भी स्वच्छ एवं लाभप्रद सिद्ध होता हुआ पाया गया है।

अस्तु, यज्ञीय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है। इससे भारत को एक विकसित एवं स्वस्थ राष्ट्र बनाया जा सकता है।

०

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0101-109)

उपनिषदों का एक भौगोलिक अध्ययन

डॉ0 विजेन्द्र कुमार तोमर
प्राचार्य,
कृषक, पी0 जी0 कॉलेज मवाना, मेरठ (उ0प्र0)।

यद्यपि उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक तत्त्वों-आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पुनर्जन्म, मृत्यु और मोक्ष आदि का दार्शनिक विवेचन करना है तथापि गौणरूप से प्रसंगवश कुछ भौगोलिक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। आकाश, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, सूर्य की गतियाँ-उत्तरायण, दक्षिणायन, दिन-रात, कृष्ण-शुक्ल पक्ष, पूर्णिमा-अमावस्या, चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण, मास, संवत्सर, **ऋतुएँ**-वर्षा, ग्रीष्म, शरद्, वसन्त, हेमन्त, शिशिर, नदी, पर्वत, समुद्र मेघ का बनना, तड़ित, वर्षा, दिशा-उपदिशाओं का ज्ञान, विविध वृक्षों, ओषधियों-वनस्पतियों एवं ग्रामीण तथा आरण्यक जीव-जन्तुओं के निवास एवं उनकी उत्पत्ति आदि विषय भौगोलिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त कराते हैं। इसके साथ ही ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध विभिन्न जनपदों एवं नगरों के नाम यथा-'कुरुदेश, पञ्चाल, महावृष, गन्धार, विदर्भ, कोसल, केकय, काशी, विदेह, मिथिला, सिन्धुप्रदेश, उशीनर, मद्र, मतस्य, ब्रह्मावर्त और भारतवर्ष तथा महेन्द्र, मलय, मेरु आदि पर्वत, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, केदार, आदि तीर्थों के वर्णन से तात्कालिक भौगोलिक अध्ययन की सामग्री उपलब्ध होती है। अब आगे क्रमानुसार इनका विवेचन किया जा रहा हैं

यह सभी जानते हैं कि सभी प्राणियों का आश्रय-स्थल पृथ्वी ही है। छान्दोग्योपनिषत्कार इस सत्य को जानकर पृथ्वी की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों अथवा पदार्थों का रस (सार) पृथ्वी है। पृथ्वी का रस जल, जल का रस औषधियाँ, औषधियों का रस पुरुष, पुरुष का रस वाक्, वाणी का रस साम और साम का रस उद्गीथ ओंकार है,[1] अतः ओंकारोपासना महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि सभी भौतिक पदार्थ आध्यात्मिक उन्नति के साधन हैं। आगे कहा गया है कि देवों ने ओंकार की उपासना की। असुरों ने उसे पापयुक्त करना चाहा। उसके निकट वे ऐसे ध्वस्त हुए, जैसे कठोर चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है।[2]

इस प्रकार यहाँ प्रसंगवश पृथ्वी, जल, रस, औषधियों, चट्टान और मिट्टी आदि भौगोलिक पदार्थों का वर्णन किया गया। एक स्थान पर 'कुरुदेश' में होने वाली ओलों की वृष्टि के कारण वहाँ की खेती के नष्ट होने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ओलों की वृष्टि से

---

1 छा0 उप0 1.2
2 वही, 1.7

कुरुक्षेत्र की खेती नष्ट हो गयी। उस समय 'इभ्य' ग्राम में 'चक्र' ऋषि के पुत्र 'उषस्ति' अपनी अल्पवयस्का पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में रहने लगे थे। एक दिन-'उषस्ति' ऋषि ने अत्यन्त घुने हुए उड़द (कुल्माष) खाने वाले एक महावत से भिक्षा मांगी। तब उसने कहा कि इन झूठे उड़द के अतिरिक्त मेरे पास और कोई अन्न नहीं है। इसी पात्र में उड़द रखे हैं। ऋषि उन्हें खाकर राजा के यज्ञ में गए।[3]

यहाँ 'कुरुक्षेत्र' में उत्पन्न होने वाले उड़द और ओलों की वृष्टि का भौगोलिक वर्णन किया गया। आज भी हरयाणा और यमुना से लगे पश्चिम उत्तर प्रदेश के जिलों-'सहारनपुर', मुजफ्फरनगर, मेरठ, गाजियाबाद, बुलन्दशहर, और अलीगढ़, आदि में पर्याप्त मात्रा में उड़द लगाये जाते हैं। उक्त दलहन के उगाये जाने और यहाँ उड़द की दाल आज भी पर्यापत मात्रा में खाये जाने से कुरुदेश की भौगोलिक सीमा की पुष्टि होती है।

इसी उपनिषद् में आगे घनीभूत होकर बरसने वाले मेघों, पूर्व व पश्चिम दिशा की ओर जाने वाले मेघों तथा समुद्र का वर्णन किया गया है।[4] यह बात सिद्ध है कि गर्मी बढ़ने से ऋतु-परिवर्तन होकर समुद्र से वाष्प उठकर वर्षा हो जाती है। अतः कहा गया कि पूर्व एवं पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका (वाष्प द्वारा) समुद्र से आगमन होता है और अन्त में वे उसी समुद्र में समाहित हो जाती है।[5]

पाँच ऋतुओं का वर्णन भी यहाँ किया गया है-**ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्।**[6] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि इष्टापूर्त से धूम को, धूम से रात को, रात से कृष्णपक्ष को और कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः मासों को प्राप्त करते हैं। वहाँ कर्मों के क्षय से अभ्ररूप को प्राप्त करते हैं। उससे मेघ होता है, मेघ से वृष्टि होती है, तब वे सभी इस लोक में धान, यव, औषधि, वनस्पति, उड़द और तिल आदि के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।[7]

इस प्रकार वर्षा द्वारा, यहाँ नाना धान्यों और औषधियों की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। यह सत्य है कि जल के विना जीवन नहीं है, उसी से अन्न बढ़ता है, उससे जीवों में वृद्धि होती है, अतः कहा गया है कि जब प्रचुर वर्षा होती है तो प्रसन्नता होती है कि बहुत अन्न उत्पन्न होगा। यह जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति

---

3 वही, 1.10.1-7
4 छा0 उप0 2.4.1
5 वही
6 10.1
7 वही,

श्वापद, कीट-पतंगों और पिपीलिका आदि स्तर के प्राणी हैं, ये सभी मूर्तिमान् जल रूप ही हैं, अत: जल की उपासना श्रेष्ठ है।[8]

इस प्रकार जल का जीवन के लिए विशेष महत्त्व है, यह सिद्ध हो जाता है। एक स्थान पर ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र आदि के स्थित होने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस अक्षर के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी, निमेष, मुहूर्त, दिवा-रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर आदि स्थित हैं। इसी के अनुशासन में विभिन्न नदियाँ पर्वतों से निकलकर पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं में बहती है।[9] उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि यह भली-भाँति जानते थे कि सभी भौगोलिक घटकों-सूर्य, चन्द्र, ऋतु, संवत्सर नदी, पर्वत की संरचना ब्रह्म के अधीन है।

वृक्षों पर फूलों का आना, बढ़ना व पककर गिरना ऋतुओं पर निर्भर है। उक्त सत्य को प्रतीक रूप में ग्रहण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आम, गूलर अथवा पीपल का फल वृक्ष से अलग होकर गिरने लगता है उसी प्रकार वृद्धावस्था में शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है।[10]

बृहदारण्यकोपनिषद् में अग्नि की उत्पत्ति और उससे सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में दिशाओं और अवान्तर दिशाओं (कौणिक दिशाओं) का नाम नामोल्लेख करते हुए कहा गया है कि पूर्व दिशा उस विराट् का शीर्ष भाग है, ईशान दिशा और आग्नेय दिशाएँ उसकी दोनों बाहें, पश्चिम दिशा उसकी पूँछ तथा वायव्य और नैऋर्त्य दिशाएँ उस विराट् की जंघाएँ हैं। उत्तर और दक्षिण दिशाओं को उसका पार्श्वभाग तथा द्युलोक को पृष्ठभाग कहते हैं। अन्तरिक्ष उसका उदर प्रदेश और पृथ्वी वक्षस्थल (हृदय) है।[11]

इस प्रकार यहाँ दसों दिशाओं का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सूर्य में स्वयं का प्रकाश विद्यमान है, वह स्वयं प्रकाशित है तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। ऋषि इस सत्य को जानते थे। अत: कहा गया है कि सूर्य अकेले ही ऊपर, नीचे तथा इधर-उधर की सभी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान रहता है।[12] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी दिशाओं की जानकारी दी गयी है।[13]

छान्दोग्योपनिषद् में उत्तरायण और दक्षिणायन का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया गया है कि शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छ: मासों को प्राप्त करते हैं। इसी उत्तरायण के छ: मासों

---

8 वही, 7.10.1
9 बृहदा0 3.8.9
10 वही, 4.3.3.6
11 वही 1.2.3
12 श्वेता 5.4
13 तैत्ति0 उप0 7.1

से संवत्सर को प्राप्त करते हैं।[14] जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि चन्द्रमा देवता इड़ा नामक नाडी में और सूर्य देवता पिङ्गला नाड़ी में संचरित होता है। पिङ्गला नाडी से इड़ा नाड़ी में जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, वह उत्तरायण कहलाता है। इसी प्रकार इड़ा से पिङ्गला में जो प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे दक्षिणायन के नाम से जाना जाता है। जब प्राण इड़ा और पिङगला की संधि में गमन करता है, तब अमावस्या होती है।[15] आगे कहा गया है कि जब प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है तो 'आद्यविषुव' नामक योग प्रकट होता है। जब प्राण वायु सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होता है, तब श्रेष्ठ तत्त्व का विचार करते हुए अन्तिम 'विषुव' योग कहा जाता है। सभी उच्छ्वास एवं नि:श्वास मास संक्रान्ति माने गये हैं। जब प्राण इड़ा नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के क्षेत्र में आ जाता है तब 'सूर्यग्रहण' का समय होता है।[16]

इस प्रकार देखा जा सकता है कि वैदिक ऋषियों को उत्तरायण व दक्षिणायन की संक्रान्ति, पूर्णिमा, अमावस्या, चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण का सम्यक् ज्ञान प्राप्त था।

परमेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। उसी की सहायता से जीव नानारूपों में उत्पन्न होते हैं। औषधि, वृक्ष, पर्वत उसी के द्वारा रचे गये हैं। महोपनिषद् में कहा गया है कि कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्म रूप धारण किये हुए हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में है। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में तो कोई जम्बीर (नींबू) कदम्ब, आम, ताड़ और तमाल के वृक्षों के रूप में है। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर और मेरु आदि पर्वतों के रूप में तो कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में विद्यमान है।[17]

इस प्रकार यहाँ भारत के औषधि-वृक्षों और पर्वत आदि भौगोलिक उपादानों का वर्णन किया गया। इससे तात्कालिक भारत की भौगोलिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। एक अन्य स्थान पर भी नदी, तट, पर्वत, खाई, गुफा और निर्झर आदि भौगोलिक दृश्यों का वर्णन किया गया है।[18] अन्यत्र आरुण्युपनिषद् में पलाश, बिल्व, अश्वत्थ, उदुम्बर वृक्षों के दण्ड और मुञ्ज की मेखला को धारण किये जाने का वर्णन किया गया है।[19] भारत में ये वृक्ष और तृण बहुलता से पाये जाते हैं। आश्रमोपनिषद् में उदुम्बर, बदर (बेर), नीवार और श्यामक (साँवा) का वर्णन किया गया है और कार्तिक पूर्णिमा पर पुराने फलों के त्याग तथा नवीन के ग्रहण का

---

14 छा0 उप0 5.10.1-2
15 जाबाल0 4.39-42
16 वही 4.43-47
17 महोप0 5.139-141
18 जाबालो0 6.3
19 आरुण्यु0 5

भी वर्णन किया गया है।[20] एक स्थल पर दस प्रकार के ग्रामीण धान्यों का उल्लेख किया गया है- व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु, (सांवा), प्रियङ्गु (कांगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (धान) और खलकुल (कुलथी)। इन सबको पीसकर मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती थी।[21]

इस प्रकार तात्कालिक जन नाना धान्यों से भलीभाँति परिचित थे और कई प्रकार से खानपान एवं यज्ञ आदि में इनका प्रयोग करते थे। ये लोग पृथ्वी से खनिज निकालने, शोधने, विभिन्न धातुओं को गलाने और टांके लगाने की कला भी जानते थे, यथा कहा गया है कि लवण से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से रांगे को, रांगे से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है।[22]

आगे भेड़, बकरी, गो, अश्व और पुरुष की समृद्धि का भी वर्णन किया गया है[23] जिससे सुखी समाज के दर्शन होते हैं।

नादबिन्दूपनिषद् में ओंकार की बारह मात्राओं के साथ प्राणों के विनियोग और प्रारब्ध फल की प्राप्ति के प्रसंग में भारतवर्ष को सौभाग्य की भूमि मानते हुए कहा गया है कि ओंकार की द्वादश कलाओं की प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है तो वह भारतवर्ष में सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है।[24] इस प्रकार यहाँ प्रसंगवश भारतवर्ष की भौगोलिक समृद्धि का वर्णन किया गया है क्योंकि यहाँ योग्य पदार्थों की प्रचुरता है।

उपनिषत्काल में नैमिषारण्य ज्ञान तप, यज्ञ और उपासना के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। यहाँ दल्भ ऋषि के पुत्र बक ने उद्गीथ की उपासना की थी।[25]

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में नैमिषारण्य को ऋषियों के नियम-संयम से पवित्र करने वाले तीर्थ के रूप में वर्णित किया है।[26] नैमिषारण्य संभवतः आधुनिक नीमसार है, जो सीतापुर में 32 किमी0 तथा लखनऊ से 72 किमी0 दूर उत्तर पश्चिम में स्थित है। यहाँ महर्षि व्यास और उसके शिष्यों द्वारा वेद-वेदांगों का प्रवचन एवं संग्रह महाभारत युद्ध के पश्चात् किया गया था।

---

20 आश्रम0 3

21 बृहदा0 6.3.13

22 छा0 उप0 4.17.7 तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपुं त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा।।

23 छा0 उप0 2.6.1

24 नादबि0 उप0 12 प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते। भारते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते।।

25 छा0 उप0 1.3.13 तेन तं ह बको दाल्भ्यः विदांचकर। स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव सह सोमेभ्यः कामानागायति।

26 नारदप0 1.2

भारतवर्ष में विद्यमान कुछ जनपदों एवं नगरों का उल्लेख भी उपनिषदों में किया गया है। उनका नीचे क्रमानुसार विवेचन किया जा रहा है–

कुरु-छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध कुरुदेश का वर्णन इसी पत्र में ऊपर किया जा चुका है, जहाँ उषस्ति ऋषि द्वारा भोजन के अभाव में उडद खाये जाने का वर्णन किया गया है। जाबालोपनिषद् में कुरुक्षेत्र और ब्रह्मसदन (ब्रह्मावर्त:) का वर्णन पवित्र मोक्ष प्रदान करने वाले स्थान के रूप में किया गया है।[27] दक्षिणामूर्त्युपनिषद् (1) में ब्रह्मावर्त देश में महभाण्डीर नाम के वट वृक्ष के नीचे शौनकादि महर्षियों के द्वारा दीर्घकाल तक चलने वाले सत्र का वर्णन किया गया है। कुरुक्षेत्र तो वर्तमान में हरियाणा का प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र जिला ही है। ब्रह्मसदन सरस्वती नदी के किनारे का ब्रह्मतीर्थ है, ऐसा वामनपुराण के अनुसार कहा गया है।[28] मनु ने सरस्वती एवं दृषद्वती इन दोनों नदियों के मध्य भाग को ब्रह्मावर्त कहा है।[29]

कालिदास के मेघदूत के अनुसार उनके काल तक कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त सम्भवत: एक ही माने जाते थे।[30] इससे स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त एक ही था। ब्रह्मा की वेदी के कारण कुरुक्षेत्र ब्रह्मर्षि देश कहलाता था।[31]

पञ्चाल-छान्दोग्योपनिषद् में पञ्चाल जनपद का वर्णन किया गया है। जहाँ कहा गया है कि पञ्चाल नरेश की सभा में एक बाद अरुणि पुत्र श्वेतकेतु आया।[32] बृहदारण्यकोपनिषद् में कुरु और पाञ्चाल जनपदों का उल्लेख प्राय: एक साथ ही आया है।[33] कौषीतकि ब्रह्मणोपनिषद् में गार्ग्यबालाकि के कुरुपञ्चाल जनपदों के ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ का वर्णन किया गया है।[34] 'कुरु' राज्य के पूर्व में 'पञ्चाल' तथा दक्षिण में 'मत्स्य' जनपद था। 'कुरुक्षेत्र' प्रदेश के अन्तर्गत थानेश्वर सोनीपत, अगोन, करनाल, पानीपत और यमुना दोआब से लेकर गंगा के किनारे के पूर्वी जनपद मेरठ आदि थे।[35] पञ्चाल जनपद में बरेली, बदायूँ, फर्रूखाबाद, रुहेलखण्ड, बिजनौर आदि आते हैं। इसके पूर्व में गोमती और दक्षिण में चम्बल नदी बहती थी।

काशी-बृहदारण्यकोपनिषद् में काशी नरेश 'अजातशत्रु' का 'दृप्तबालाकि' के साथ शास्त्रार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है।[36] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् से भी इसकी पुष्टि होती है।[37]

---

27 जाबालो0 1.1
28 वामनपुराण 28.40
29 सरस्वती दृषद्वत्यो: देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।। मनु0 2.7
30 मेघदूत पूर्व0 48 ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमान: क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथा:।।
31 वामन पु0 12.15
32 छा0 उप0 5.3.1
33 बृहदारण्यकोपनिषद् 6.2.1
34 कौषी0 उप0 4.1
35 ऐंशियेंट ज्योग्रैफी पृ0 360-कनिंघम
36 बृहदा0 2.1.1

एक अन्य परवर्ती उपनिषद् 'प्राणाग्निहोत्र' में 'काशी' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा कोई ब्राह्मण इस उपनिषद् को पढ़े तो एक ही जन्म में चित्त-शुद्धि करने वाले ज्ञान एवं मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[38]

'काशी' का समीपी जनपद 'कोसल' था। शतपथ-ब्राह्मण से पता चलता है कि हस्तिनापुर के राजा 'भरत' का राज्य 'काशी' तक विस्तृत था।[39]

कोसल-प्रश्नोपनिषद् में 'कोसल' देश के विद्वान् 'आश्वलायन' का 'पिप्पलाद' ऋषि से संवाद वर्णित है।[40] इसी उपनिषद् में कोसल देशवासी राजपुत्र 'हिरण्यनाभ' का संवाद भी वर्णित है।[41] एक अन्य उपनिषद् में उपकोसल कामलायन (कमल का वंशज) सत्यकाम जाबाल के आचार्यत्व में विद्याग्रहण करता हुआ वर्णित किया गया है।[42] प्रतीत होता है कि 'उपकोसल' 'कोसल' का समीपी स्थान रहा होगा। उत्तरकाल में 'कोसल' को सोलह महाजनपदों में मान्यता मिली थी।[43] इसके पश्चिम में 'कुरुपञ्चाल' और पूर्व में 'विदेह' था। विदेह से इसे 'सदानीरा' नदी पृथक् करती थी।[44]

विदेह-बृहदारण्यकोपनिषद् में 'विदेह' जनपद के राजा जनक और 'कुरुपञ्चाल' जनपदों के विद्वानों के साथ एकत्र होकर संवाद किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है।[45] परवर्ती महोपनिषद् में 'व्यास' के पुत्र 'शुकदेव' जी को उसके पिता समझाते हुए कहते हैं कि आत्मज्ञान की बातें 'मिथिलापुरी' में जाकर राजा जनक के पास सिखें। यहाँ 'मिथिलापुरी' का एक नामकरण 'विदेहनगरी' भी किया गया है।[46] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार विदेह 'माथव' ने पूर्वी भाग में आर्यसंस्कृति का प्रचार किया था।[47] वे मूलतः 'विदेह' के रहने वाले थे। 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' के अनुसार 'निमिसाप्य' राजा 'विदेह' का था।[48] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार कोसल और काशी राज्य इसे प्रभावित करते रहते थे।[49] सम्भवतया उक्त तीनों राज्यों की सीमाएँ खिसकती रहती होंगी। जो भी बलवान् राजा होता होगा वह दूसरे राज्य का भाग अपने अधीन करता रहा होगा।

---

37 कौषी0 उप0 4.1
38 प्राणानि0 23
39 श0 ब्रा0 13.5.4.21
40 प्रश्नो0 3.1
41 वही, 6.1
42 छा0 उप0 4.10.1
43 अंगुत्तरनिकाय 1.213, 4.252
44 कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया खण्ड पृ0 308
45 बृहदा0 3.1.1
46 महो0 2.19-20
47 शतपथ-ब्राह्मण 1.4.1.10
48 पञ्चविंश-ब्राह्मण 25.10.17
49 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.109.9

गन्धार-छान्दोग्योपनिषद् में गन्धार राज्य का उल्लेख किया गया है। वहाँ दिशाओं का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से प्रतीक रूप में कहा गया है कि यदि किसी पुरुष की आँखे बाँधकर गन्धार देश से अन्यत्र किसी निर्जन स्थान पर छोड दें तो दूसरे पुरुष की सहायता से वह पूछ-पूछकर एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए गन्धार देश में उसी प्रकार पहुँच जायेगा जैसे सदाचारी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म को पा लेता है।[50] यह राज्य सिन्धु नदी के तट के दोनों ओर स्थित था। तक्षशिला और पुष्करावती इसके दो नगर थे। वर्तमान में यह पश्चिमोत्तर पाकिस्तान और अफगानिस्तान के भूभाग में विद्यमान है।

केकय-छान्दोग्योपनिषद् में इस जनपद का उल्लेख किया गया है,[51] जहाँ कहा गया है कि केकय नरेश अश्वपति आत्मारूप वैश्वनार को जानते थे। सम्भवतया केकय राज्य गन्धार और व्यास नदी के मध्य में स्थित था।

मद्र-बृहदारण्यकोपनिषद्[52] में मद्र देश के रहने वाले पतञ्चल का उल्लेख किया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण[53] के अनुसार कुरु-पञ्चाल, वाश तथा उशीनर राज्य भारत के मध्य में निर्दिष्ट हैं। कौषीतकि उपनिषद्[54] में कुरुपञ्चाल मत्स्य और काशी एक साथ वर्णित किये गये हैं, जिनसे इनका समीप होना सिद्ध होता है तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का भी पता चलता है।

मत्स्य-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि गार्ग्यबालाकि मूलतः उशीनर प्रदेश के रहने वाले थे, किन्तु प्रसिद्ध वक्ता एवं अध्ययनशील होने के कारण वे मत्स्य, कुरु-पञ्चाल और काशी प्रदेश में भ्रमण करते रहते थे।[55]

उशीनर-ऊपर उशीनर राज्य का वर्णन आ ही चुका है।

विदर्भ-प्रश्नोपनिषद्[56] में विदर्भ देशवासी भार्गव का महर्षि पप्पलाद के साथ वार्तालाप वर्णित किया गया है इससे इस जनपद के पृथक् अस्तित्व का पता चलता है। मत्स्य और वायुपुराण के अनुसार यदुवंशियों ने इसे बसाया था।[57] प्रश्नोपनिषद्[58] में ही वैदर्भि कौण्डिन्य का नाम आया है। पश्चात् में कुण्डनपुर विदर्भ की राजधानी बन गयी थी।

---

50 छा0 उप0 6.14.1-2
51 छान्दोग्योपनिषद् 5.11.4
52 बृहदारण्यकोपनिषद् 7.1.1
53 ऐतरेय-ब्राह्मण 8.14
54 कौषीतकि उपनिषद् 4.1
55 बृहदा0 3.1.1
56 प्रश्नोपनिषद् 1.1
57 मत्स्य पुराण 43.10-29, 44.36 वायुपुराण 94.25, 95.35
58 प्रश्नोपनिषद् 2.1

महावृष-छान्दोग्योपनिषद्[59] में महावृष जनपद का वर्णन किया गया है। वहाँ रैक्व नाम के ऋषि रहते थे। उनके नाम पर वहाँ के सभी गाँव रैक्वपर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सिन्धुदेश-बृहदारण्यकोपनिषद्[60] में सिन्धु नामक देश का वर्णन किया गया है जहाँ कहा गया है कि जैसे सिन्धु देश का श्रेष्ठ अश्व पैर बाँधने से खूंटी को उखाड़ डालता है वैसे ही प्राण ने सभी इन्द्रियों को विचलित कर दिया है। आज भी सिन्धु प्रदेश के घोड़े श्रेष्ठ होते हैं। भौगोलिक जलवायु के कारण ऐसा होता है।

इस प्रकार उपनिषदों में कुरु, पञ्चाल, काशी, कोसल, विदेह, गन्धार, केकय, मद्र, मत्स्य, उशीनर, विदर्भ, महावृष और सिन्धु जनपदों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें से प्रमुखता से सभी भारत की सीमा में हैं। कुछ जनपद भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में हैं, जो पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान में चले गये हैं। ये भी पहले भारत देश के अन्तर्गत थे। अतः उक्त जनपदों का सारा वर्णन भारतीय है, जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य भारत के मूल निवासी थे। उनका चिन्तन एवं उनके ग्रन्थ सभी भारतीय एवं मौलिक हैं। इस प्रकार यहाँ राजनीतिक भूगोल की एक अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। अन्तिम पृष्ठ पर इसका एक मानचित्र भी दिया गया है।

जाबाल दर्शनोपनिषद्[61] में श्रीपर्वत तीर्थ का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि बाह्य तीर्थ की अपेक्षा आत्मतीर्थ (आत्मज्ञान) श्रेष्ठ है।

मैत्रेय्युपनिषद्[62] में मैत्रेय ऋषि के महादेव के निवास स्थान कैलास पर्वत पर जाकर परमतत्त्व के सम्बन्ध में संवाद किये जाने का वर्णन किया गया है। निश्चय ही कैलास पर्वत भारत का शीर्षभाल रहा है।

इस प्रकार उपनिषदों से कई प्रकार की भौगोलिक जानकारी उपलब्ध होती है। भारत की भौगोलिक जानकारी के लिये ये ग्रन्थ मूलस्रोत का कार्य करते हैं। यदि अन्य ब्राह्मण, आरण्यक, वेदांग, रामायण, महाभारत, पुराण और महाकाव्य आदि लौकिक संस्कृत-ग्रन्थों को साथ लेकर उक्त अध्ययन किया जाए तो उक्त भारतीय भौगोलिक ज्ञान के प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ऐतिहासिक रूप से भी इनका योगदान अप्रतिम सिद्ध होगा।

---

59 छान्दोग्योपनिषद् 4.2.4
60 बृहदारण्यकोपनिषद् 6.1.13
61 जाबाल दर्शनोपनिषद् 4.48.53
62 मैत्रेय्युपनिषद् 2.1

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0110-114)

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण

डॉ0 जगत नारायण त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक-संस्कृत
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय
देवेन्द्रनगर, पन्ना (म0 प्र0)

बंकिमचन्द चटर्जी के **'सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां'** में जिस पृथ्वी का चित्र अंकित है, उसमें पर्यावरण संरक्षण का समग्र जीवनदर्शन निहित है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपायों से भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग छोटे-बड़े उद्योगों में लगा हुआ है। परन्तु यदि खुली हवा में साँस न लिया जा सके, प्रकृतिप्रदत जल पिया न जा सके तथा पृथ्वी से उत्पन्न अन्न एवं फल खाया न जा सके तो विकास की सभी व्यवस्थायें अर्थहीन हो जायेंगी।

प्राचीन ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को समझकर ही वन उपवन लगाने की परम्परा आश्रम के साथ डाली थी। अग्नि, हवा, पर्जन्य, वरुण, सोम, सविता, पृथ्वी, वृक्ष इत्यादि सभी वैदिक ऋषियों के पूज्य रहे हैं। भारतीय दृष्टिकोण में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। प्राकृतिक शक्तियों की यह उपासना श्रद्धा संवलित कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी। भूमण्डलीय पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राकृतिक शक्तियों के सन्तुलन विषयक ऋषियों द्वारा की गई मंगल कामना द्रष्टव्य है -

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षथ्ठं शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः सर्वथ्ठं शान्तिः। शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[1]

पर्यावरण के प्रमुख घटक वृक्ष वनस्पतियों के संरक्षण के संदर्भ में प्राचीन दृष्टिकोण आज भी अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक है। ज्ञातव्य है कि कुछ वृक्षों में एक रस स्राव 'मेलाटोनिन' पाया जाता है।[2] यह हारमोन केले, पीपल और बरगद जैसे पेड़ों में सर्वाधिक परिणाम में पाया जाता है। शायद इसीलिए धार्मिक और आध्यात्मिक कृत्यों में इनका ज्यादा महत्त्व बताया गया है। ज्यादातर धर्मकृत्यों में केले के तने और पत्तियों के प्रयोग का विधान है। गीता में श्रीकृष्ण ने पेड़ों में स्वयं को पीपल बताया है। बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति बरगद के नीचे ही प्राप्त हुई थी। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि इस हारमोन की वजह से व्यक्ति को चिरयुवा बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष वनस्पतियों में चेतना की स्वीकृति, देवत्व

---

1 शुक्ल यजुर्वेदः

2 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका अक्टू0 1996 पृ0 17

की प्रतिष्ठा, पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पाप-पुण्य की अवधारणा आदि प्राचीन अवधारणायें पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

मत्स्यपुराण में पुत्रों से भी अधिक वृक्षों के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला निम्न कथन पर्यावरण की दृष्टि से अतिसार्थक है-

दशसकूपसमोवापी दशवापी समो ह्रदः।
दसह्रदसमः पुत्रो दसपुत्र समो द्रुमः।।

अर्थात् दसकूप के समान पुण्य एक वापी बनाने में, दस वापी का पुण्य एक तालाब बनवाने में, दस तालाबों का पुण्य एक पुत्र से, तथा दस पुत्र के समान पुण्य एक वृक्ष लगाने से होता है। कुपुत्र या धर्मविमुख पुत्र से अपयश की आशंका रहती है, लेकिन वृक्षरूपी पुत्र तो सदा कल्याणकारी होते हैं।

पुत्रैर्विना शुभफलं न भवेन्नराणाम्,
दुष्पुत्रकैरपि तथोभयलोकनाशः।
एतद्विचार्य सुधिया परिपाल्यवृक्षान्,
यत्नेन वेदविधिना परिकल्पनीया।।[3]

वृक्षों की पुत्ररूप से प्रतिष्ठा तथा इससे भी बढ़कर उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा का भाव प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है। वृक्षों की धर्मपुत्र या पुत्ररूप में मान्यता का उल्लेख अग्निपुराण में निम्न प्रकार से किया गया है-

तस्माद् सुबहवो वृक्षा रोप्या श्रेयोऽभिवाञ्छता।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च ते पुत्रा धर्मतः स्मृताः।।[4]

प्रायः समस्त संस्कृत साहित्य पर्यावरण संरक्षण के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से परिचित थे। महाभारत में तो वृक्षों को पुत्र के समान मनुष्यों को तारने वाला तथा यशप्रदान करने वाला बताया गया है -

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति पत्रतुतु।।"[5]

न केवल वृक्ष वनस्पतियाँ वरन् धार्मिक व्रत अनुष्ठान, त्यौहार, पूजा पद्धति इत्यादि सभी क्रियाओं में पर्यावरण संरक्षण की व्यापक भावना समाई हुई है। श्रीकृष्ण का गोवर्धन पूजा का संदेश पर्यावरण के प्रति इसी सजगता का निदर्शक है। पर्वत शिखर मेघों को रोककर वर्षा के कारक बनते हैं। राजस्थान की अरावली पर्वत श्रेणियों के आस-पास अच्छी वर्षा तथा शेष भाग

---

3 ब्रह्मवैवर्तपुराण।।

4 अग्निपु0।

5 महा0 अनुशासन पर्व 30

में तपता दहकता रेगिस्तान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कृषि का सफल होना पौधों पर निर्भर है। संस्कृत कवि कालिदास ने मेघदूत में मेघ की इसी महत्ता को समझकर ही उससे भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित किया है। यदि इसके मर्म को न समझकर इसके स्वरूप धूम, ज्योति, जल और हवा को प्रदूषित होने से नहीं बचाया गया तो उसकी तेजाबी वर्षा जल को तेजाब में बदल देगी। जो मानव ही नहीं बल्कि समूची प्रकृति के विनाश का कारण सिद्ध होगी।

पर्यावरण की शुद्धता का रहस्य भी हमारे त्यौहारों में छिपा है। निदर्शन के लिए होली त्यौहार शीतकाल का संचित कफ वसन्त की गरमी पाकर पिघलता है। उसके सब कीटाणु शरीर में फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफरोग के लिये आयुर्वेद और लोक में प्रसिद्ध है। विशेषकर बालकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग इस मौसम में होते हैं। घरों में शीतकाल मे पूर्ण गरमी न पहुँचने के कारण कई प्रकार के कीटाणु अपना स्थान बना लेते हैं, जो कई प्रकार की हानि करते हैं। शरीर में उत्साह लाना, कूदना, अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाज से गाना आदि सभी काम कफ के निवर्तक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानों से कफ रोगों की निवृत्ति में किसी को सन्देह नहीं। इस अवसर पर हास्यरस प्रधान गान और यथेच्छभाषण स्वभावत: उच्चस्वर से बोले जाने के कारण कफ हटजाने से फेफड़े साफ हो जाते हैं।

आज का मानव पूर्णतया भौतिकता में निमग्न है। स्वार्थ के वशीभूत मानव अपने परिवेश के प्रति संवेदना शून्य हो गया है। पर्यावरण संरक्षण की प्राचीन महत्ताओं को अज्ञानतावश या आधुनिकतावाद के कारण न समझकर विनाश के दलदल में फंसता चला जा रहा है। वनों की अन्धाधुन्ध कटाई से पर्यावरण सन्तुलन का आधार डगमगा रहा है। सबके मूल में एक संकट है- जनसंख्या वृद्धि। आज हम जहाँ रह रहे हैं, उसके साधन सीमित हैं। आबादी बढ़ने के साथ-अन्न उत्पादन भी बढ़ना चाहिए। आवास के लिए भूमि भी चाहिए। खाद्यान्न उत्पादन नई-नई वैज्ञानिक विधियों द्वारा बढ़ाया जा रहा है। इससे तात्कालिक राहत तो जरूर मिल रही है। लेकिन इन रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग उपभोक्ता और मिट्टी की उर्वरता दोनों के लिये गम्भीर परिणाम की चेतावनी है। दूसरी मुख्य समस्या आवास की है। जमीन का दो तिहाई भाग जल से भरा है। एक तिहाई हिस्से में पर्वत, वन सभी सम्मिलित हैं। यदि आवास योग्य भूभाग में ही आबादी को रखा जाए तो यह एक छोटे से बाडे में अनेक पशुओं को रखने जैसी स्थिति हो जायेगी। ऐसे वातावरण में सभी के लिए शुद्ध हवा, प्रकाश एवं जल की कल्पना निरर्थक है। ऐसे में विकल्प बचता है वनों को काटा जाए, पहाडों को समतल बनाया जाए। इससे प्रकृति और पर्यावरण दोनों प्रभावित होंगे। जंगल कटेंगे तो वर्षा घटेगी, आबादी बढ़ेगी तो उद्योग बढ़ेंगे। उद्योग बढ़ेंगे तो प्रदूषण बढ़ेगा और पर्यावरण अस्वास्थ्यकर बनता चला जायेगा। विश्वजनसांख्यिकी रिपोर्ट के अनुसार दुनियाँ की कुल आबादी आज से 9 हजार साल पूर्व मात्र 45 लाख थी। सन् 1501 में यह 44 करोड, 1630 में 52 करोड 1855 में 98 करोड, 1950 में 210 करोड, 1975 में 1400 करोड तथा 1996 में 620

करोड़ हो गई।[6] इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि पर्यावरण प्रदूषण का सबसे प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विलासिता के लिये किए जा रहे आविष्कारों से भी पर्यावरण का खतरा मंडरा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण का गंभीर स्रोत परमाणु अस्त्रों के परीक्षण निर्माण और दुर्घटना से जुड़ा है।

आधुनिक विकास की जो भी रीति या नीति रही है। इसके द्वारा भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है, परन्तु मानवता का अपेक्षित विकास नहीं हुआ। प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राचीन ऋषि आश्रमों में जहाँ विवाह पुत्रजन्मोत्सव आदि शान्तिमय वातावरण में संपन्न होते थे वहीं आज छोटे-छोटे कार्यों में भी लाउडस्पीकरों की भयावह ध्वनि लोगों के सुनने की शक्ति में ह्रास पैदा कर रही है। स्वस्थ पर्यावरण में पलने के कारण ही दुष्यन्त पुत्र भरत में सिंह शिशु के साथ खेलने की क्षमता रही है। यज्ञाग्नि में डाली गई विधिवत् आहुतियों से वर्षा होती है। जिससे शस्यश्यामला धरती परिकल्पित है। किन्तु आज बढ़ते उद्योगों के कारण वायु प्रदूषण का गंभीर खतरा बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विकास के लिये किये जा रहे सम्पूर्ण प्रयास पूर्णतया व्यर्थ हैं। अपितु आवश्यकता है वर्तमान विचारधाराओं तथा प्राचीन तथ्यपूर्ण मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने की। जरूरत औद्योगिक विकास और भौतिक उन्नति को अवरूद्ध करने की नहीं, अपितु इसके मूल में प्रवहमान पाश्चात्त्य एकांगी विचारधारा में परिवर्तन की है। इसके लाभ और हानि को समझते हुये इस उन्मुक्त हाथी के ऊपर अंकुश रखा जाए। भौतिक प्रगति के इस बाघ को यदि खुला छोड़ा गया तो यह किसी को छोड़ने वाला नहीं है। इस टेक्नालॉजी और बौद्धिक विकास, आर्थिक विकास के पीछे आध्यात्मिकता का अंकुश उसी प्रकार रखा जाए जिस प्रकार पागल हाथी के सूंड़ के ऊपर एक अंकुश रखा जाता है। आध्यात्मिक का अभिप्राय केवल धार्मिक अनुष्ठानों से नहीं है, बल्कि महानता से है इंसानियत से है तथा कर्तव्यपरायणता से है, जिसके विकास से परमाणु अस्त्रों की विभीषिका तथा भीषण रक्तपातादि जनित प्रदूषणों से सहज मुक्त हुआ जा सकेगा। पर्यावरण प्रदूषण का कारण बने इन अस्त्र-शस्त्रों के निर्माणादि पर जो धन-बल लग रहा है, उसे राष्ट्र के अन्यत्र विकास में लगाया जा सकेगा। बड़े-बड़े उद्योगों से उत्पादन तो बढ़ता है, किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाली घातक विषाक्तता उत्पादन की अपेक्षा अधिक मँहगी पड़ती है। प्रदूषण वृद्धि रोकने के लिए बड़े उद्योगों का कुटीर उद्योंगों में परिवर्तन किया जाए। जिससे उत्पादन में कमी तो हो सकती है, किन्तु दूरगामी परिणामों की दृष्टि से देखा जाए तो बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रदूषण में कमी अवश्य होगी। आवश्यकताओं को कम करके काम चलाया जा सकता है, किन्तु उद्योगों के प्रदूषण की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले प्राकृतिक विक्षोभों को सहन करना असह्य है। पर्यावरण के परिशोधन के लिए प्राचीन ऋषि चिन्तन को जनसामान्य के चिन्तन में उतारा जा

---

6 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, दिस0 1996 पृ0 33

सके तो पर्यावरण की शुद्धता के साथ-साथ कर्तव्य की निकृष्टता तथा चिन्तन की भ्रष्टता का परिष्कार संभाव्य है। प्राचीन चिन्तन की सार्थकता और उद्देश्य को समझ लेने पर शायद हम पर्यावरण को बचा पायेंगे और मानव जीवन को सुरक्षित कर सकेंगे।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0115-120)

जैन चिन्तन में कर्मफलभोग

(इसिभासिमयाइं सुत्ताइं के विशेष सन्दर्भ में)

डा0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार
संस्कृत-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

भारतीय दर्शन में कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म और मुक्ति की विशद चर्चा है। जैन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। इसिभासियाइं सुत्ताइं (ऋषिभाषितानि सूत्राणि)' कृति में अर्हतर्षि प्रोक्त सूत्र हैं। इन सूत्रों में बड़ी रोचक शैली में जैन परम्पराओं, मान्यताओं, अवधारणाओं का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ का सम्पादन तथा अनुवाद पं. मुनि श्री मनोहरमुनि जी महाराज ने किया है। इस अद्भुत ग्रन्थरत्न की संस्कृत टीका तथा हिन्दी गुजराती अनुवाद मूल प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण में परम सहायक है। पैंतालीस अध्ययनों में विभक्त इस ग्रन्थ में जैन आचार संहिता का सुन्दर विधान है। तुलनात्मक समीक्षा द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि कर्म सम्बन्धी विवेचना में इसका कुछ साम्य वैदिक दर्शन से तथा कुछ साम्य गीता से भी है।

ध्यातव्य है कि जैन विचारणा में वैदिक दर्शन की भाँति जन्म का आधार कर्म ही स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शन में जीवात्मा को कार्य करने में स्वतन्त्र तथा फलभोग में परतन्त्र माना गया है। क्योंकि जो परमेश्वर कर्म करता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता। इसलिए जीव अपने कर्म में स्वतन्त्र है।[1] परमेश्वर की प्रेरणा से ही जीव कर्म करे तो फलव्यवस्था की व्याख्या सम्भव नहीं है। कर्म के अनन्तर उसका फल अवश्यंभावी है। फल भोग में परतन्त्रता गीताकार को भी मान्य है।[2]

जैन सम्प्रदाय में कर्म ही परलोक या पुनर्भव का आधार है। कर्मानुगामी आत्मा जिस दुःख से भीत होकर पलायन करता है, अज्ञानवश पुनः उसी दुःख को ग्रहण करता है, जैसे कि युद्ध से भागती हुई सेना पुनः शत्रु के घेरे में फंस जाती है -

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति किच्चा दिन्ना व वाहिणी।।[3]

सांख्य में जिस दुःखापघातक हेतु विषयक जिज्ञासा का उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने किया था, वही जिज्ञासा जैन परम्परा में भी दिखाई देती है, किन्तु जैनदर्शन अपनी बात घुमा फिरा कर

---

1 द्र. सत्यार्थ-प्रकाश (समुल्लास-7): दयानन्द सरस्वती
2 श्रीमद्भगवदगीता-2.47 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषू कदाचन।
3 इसिमांसियाइं सुत्ताइं-अनु मनोहरमुनि जी महाराज, सुधर्माज्ञान मन्दिर कान्दावाडी, मुम्बई 1963, (अध्याय-2.1)

नहीं कहता, वहाँ कर्म करने वाला आत्मा है, इसलिए आत्मा ही दु:ख भोगता है। तभी तो समस्त आत्माएँ दु:ख की उपशान्ति खोज रही हैं। वह दु:खमुक्ति तो चाहता है, पर उसके कारण को नहीं छोड़ पाता। मानो उसने नागरबेल की जगह भूल से नागफनी का पान खा लिया है। वस्तुत: अशान्ति का मूल है आरम्भ। सुख के लिए वह आरम्भ करता है, किन्तु आरम्भ ही अशान्ति की जड़ है। किन्तु यदि आत्मा के परिभ्रमण के मूल हेतु कर्म हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि कर्म पहले माना जाए या आत्मा। यदि आत्मा पहले था तो उस कर्मरहित आत्मा ने कर्म क्यों ग्रहण किये, और यदि कर्म पहले थे तो दूर पड़े ये कर्म आत्मा से क्यों और कैसे चिपक गए? इस प्रश्न का उत्तर प्राय: सभी प्रस्थानों के आचार्य टटोलते रहे और इस सृष्टिगत जन्मपरम्परा को अनादि परम्परा माना। जैन प्रस्थान के आचार्य भी इस प्रश्न से विमुख नहीं हुए और समाधान खोजने का प्रयास किया है। सब जानते हैं कि बीज में विराट् वृक्ष समाया हुआ है। अनुकूल वातावरण में बीज एक दिन विशाल वृक्ष बनता है, जिसमें असंख्य बीज छिपे रहते हैं। कर्म भी बीजवत् है। अल्परूप में आए हुए कर्म अपने में अनन्त संसार लिए आते हैं और तब मात्रा आरम्भ होती है, भाव कर्म से द्रव्य कर्म की। भाव कर्म से प्रेरित हो आत्मा द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। विपाकरूप में उदित ये कर्म किसी निमित्त को ही सब कुछ मान बैठते हैं और कर्म दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुए भी अनादि के सहयात्री हैं। इस प्रकार बीज से अंकुर फूटता है और अंकुरों में से बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की सम्पदा बढ़ती है। इस अनादि संसार में कर्म बीजवत् है। मोह मोहित चित्तवाले के लिए उन बीजों से कर्मसन्तति आगे बढ़ती है –

बीया अंकुरणिप्फत्ती अंकुरातो पुणो बीयं।
बीए संवुज्झज्जमाणम्मि अंकुरस्सेव संपदा॥
बीयभूताणि कम्माणि संसारम्मि अणादिए।
मोहमोहितचित्तस्स ततो कम्माण सन्तति॥[4]

वैदिक दर्शन में आत्मा का अपना स्वरूप शुद्ध और पवित्र माना गया है। जैन आचार्य भी मानते हैं कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है, किन्तु फिर वह निम्न और तिर्यग् गति क्यों करता है। इसका उत्तर यही है कि तुंबे का स्वभाव जल में तैरना है, पर यदि उसे धागों से बान्धकर मिट्टी का लेप कर पानी में डाला जाये तो वह डूब जायेगा। स्पष्ट है कि तुंबे के डूबने में वह लेप कारण है। इसी प्रकार इस दु:ख रूप संसार में आत्मा के डूबे रहने का कारण भी लेप है। इसलिए ममत्त को समस्त लेपों से उपरत होना चाहिए। **भविदव्वं खलु भो सव्वलेवोवरत्तेण।**[5] कर्म और कषाय ही लेप हैं राग द्वेष से अभिभूत आत्मा सूक्ष्म या स्थूल हिंसा कर बैठता है और पापकर्म में लिप्त हो जाता है–

---

4 वही-2.4-5
5 वही- (अध्ययन-3) पृ0-1

सुहुमेय बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ।

रागदोसाभिभतूप्पा लिप्पते पावकम्मुणा।।[6]

इस प्रकार रागद्वेष पहली वृत्ति है, जो आत्मा को कर्म में लिप्त करती है। दूसरी वृत्ति परिग्रह है। असत्य, चोरी, कामवासना, क्रोध भी लेप हैं।

जैन दर्शन में पुनर्भव की स्पष्ट अवधारणा है। इन लेपों से आवेष्टित आत्मा निम्न और तिर्यग् गति करता है। अज्ञान के कारण ही आत्मा दुःख रूप संसार में डूबा रहता है। **दुक्खमूलं च संसारे अण्णाणेण समज्जितं।**[7]

जैन दर्शन में आचार का विशेष महत्त्व है। मनुष्य अपने फल भोग का उत्तरदायी स्वयं है। प्राणी के शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के बीज हैं। कर्म का अनुबन्ध भवपरम्परा में परिभ्रमण कराता है। आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध होकर परलोक-गमन करता है। आर्त्त आत्मा स्वकर्म से सिक्त सिंचित जन्म और मृत्यु की परम्परा में फंसता है-

गच्छंति कम्मेहिं सेऽणुबद्धे पुणरवि आयाति से सयं कडेणं।

जम्ममरणाइ अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्म सित्ते।।[8]

जन्म और मृत्यु की परम्परा कर्म और कर्मफल के अस्तित्व को सूचित करती है। जब तक जन्म है तब तक कर्म है। कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है। **जाव जाव जम्मं ताव ताव कम्मं, कम्मुणा खलु भो पया सिया।**[9] जैनदर्शन मानव को स्वावलम्बन का संदेश देता है। भिखारी बनकर क्यों किसी के सामने हाथ फैलाना। पुण्य कोष भरा होगा तो मिलेगा ही। जैन कर्मवाद का यह सिद्धान्त है कि जिस विषफल से तू भागना चाहता है, उसके बीज एक दिन तेरी आत्मा ने बोये थे। किसी दूसरे पर दोष कैसा? देहधारी आत्मा को पुण्य पाप के आदान-प्रदान ग्रहण और परिभोग में योग्य वस्तुओं की परम्परा प्राप्त होती है, वह स्वकृत पुण्य और पाप के फलस्वरूप ही है-

पुण्णपावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिणं।

सन्तई-भोग-पाउग्गं पुण्णं पावं समं कडं।।[10]

जिन निमित्तों को पाकर आत्मा कर्म ग्रहण करता है, वे पाँच है-मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, प्रमाद, कषाय और योग। यहाँ योग का अर्थ है चंचलता। उमा स्वाति ने इन्हें बन्ध हेतु माना है-**मिथ्यादर्शनाविरतप्रमादकषाययोगबन्धहेतवः।**[11]

---

6 वही-3.1

7 वही-2.8

8 वही-2.3

9 वही-9, पृ० 31

10 वही-9.3

11 तत्त्वार्थसूत्र-8.1

विश्ववैचित्र्य की व्याख्या दो स्तरों पर की जाती है-प्राकृतिक दूसरी प्राणिजन्य। सांख्य की भाषा में इसे जड़ जगत् और चेतन जगत् कह सकते हैं। इस जड़ (प्राकृतिक) जगत् में सूर्य दिन में क्यों निकलता है? पूर्व में ही उदित क्यों होता है। इतने तारे आकाश में क्यों इन प्रश्नों का समाधान तर्क के पास नहीं, वह स्वभावगत है, पर प्राणिजन्य (चेतन जगत्) वैचित्र्य का समाधान मनुष्य करना चाहता है। एक मोटा क्यों है, दूसरा पतला क्यों? कोई लम्बा कोई नाटा , कोई धनवान्, कोई फटेहाल क्यों, एक ही बीमारी में डॉक्टर द्वारा एक जैसी दवा दिये जाने पर एक रोगी स्वस्थ हो जाता है दूसरा मर जाता है या रोग बढ़ जाता है। इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर स्वभाव के पास नहीं, बल्कि कर्मवाद क़े पास है। जिस व्यक्ति ने दूसरे को रुलाया है, पीड़ित किया है, वह तज्जन्य कर्मों को एकत्र करता है, फिर जब तक वे कर्म रहते हैं कोई दवा इजेंक्शन दे दिये जाएँ उसे स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। यही है कर्म का प्रतिबन्धकत्व। महाभारतकार का यह श्लोक यहाँ उद्धरणीय है-

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।

ततो जयंति सपत्नान् समूलं तु विनश्यति।।[१२]

जैन यथार्थवादी दर्शन है। वह जीवन की सच्चाई को माया या मिथ्या नाम देकर मुंह मोड़ना नहीं चाहता। वह यथार्थ में जीता है। इसलिए मानता है कि यह विराट् विश्व सत्य है-**अधा सच्चं इणं सव्वं**।[13] यह विश्व भला स्वप्न कैसे हो सकता है! अनदेखी या अनसुनी वस्तु का स्वप्न कभी नहीं आता। यह माया भी कोई तत्त्व है या नहीं। यदि तत्त्व नहीं तो दिखायी क्यों देती है और तत्त्व है तो फिर माया। (अवास्तव कल्पना) कैसी? यह वदतोव्याघात क्यों? अतः इस विश्वव्यवस्था को सत्य मानना पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि यह विचित्रता क्यों? समाधान यह है कि जो कर्म यहाँ किये जाते हैं, आत्मा उन्हें परलोक में अवश्य भोगता है। जिन वृक्षों को मूल सिंचित किया गया है, उसका फल शाखाओं पर दिखाई देता है-

इध जं कीरते कम्मं तं परतोवभुज्जई।

मूलसेकेसु रुक्खेसु फलं साहासु दिस्सति।।[१४]

खेत में जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल आता है। इसी प्रकार जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है। प्याज खाकर इलायची की डकार नहीं ली जा सकती। किये कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। कर्म हमारे जीवन के निर्माता हैं, पर कर्म के निर्माता हम हैं। कोई हमारा धन, आरोग्य, स्वास्थ्य मित्र भले ही छीन सकता हो, पर हमारे कर्म तो हमारी मृत्यु के बाद भी पीछा करेंगे। पचाने वाले को एक दिन पकना पड़ेगा। दूसरे की निंदा पर मुस्कुराने वाले को एक दिन निन्दित होना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी कर्म निरर्थक नहीं जाता-

---

12 मनुस्मृति-4.174

13 इसि मासियाइं सुत्ताइं-30 पृ0 181

14 वही-30.1

णत्थि कम्मं णिरत्थकं।[15] भगवान् महावीर मानते हैं कि सुन्दर कर्मों का प्रतिफल सुन्दर और बुरे कर्मों का प्रतिफल सदैव असुन्दर ही होगा- **सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति।** बात केवल परलोक की नहीं है। इस जीवन में भी भद्र कार्यों को दुनिया भद्र मानती है और मधुर रूप में स्वीकारती है तथा कड़ुवे को कड़ुआ और कठोर को कठोर ही कहा जाता है। इसलिए जैसा कर्म वैसा फल यही जैन दर्शन की स्थापना है-**जारिसं किज्जते कम्मं तारिसं भुज्जते फलं।।**[16]

कोई भी आत्मा कषाय अथवा हिंसा करके अबाध सुख प्राप्त नहीं कर सकता। **णेव इमा पया कयाइ अव्वावाह सुहमेसिया कसं कसाविता।**[१७]

अब प्रश्न यह शेष रहता है कि क्या कर्मफल से मुक्ति सम्भव है? इसका स्पष्ट उत्तर है–नहीं। स्थान विशेष के भ्रमण से पाप पुण्य और पुण्य पाप नहीं हो सकते। बीमार आदमी स्वर्णमहल में रहे या पाषाण किले में। उसे शान्ति तभी मिलेगी जब वह रोगमुक्त होगा। यह तो निर्विवाद है कि-**जरिसं वुप्पते बीयं तारिसं भुज्जए फलं।**[18]

इस संदर्भ में यह भी सिद्धान्त है कि जीव स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है, परकृत कर्मों का नहीं-**अत्तकडा जीवा नो परकडा किच्चा किच्चा वेदेति।**[19] इस दर्शन दिशा के पीछे जैनदर्शन व्यावहारिक समीक्षा भी करता है। वस्तुत: जैनदर्शन मनुष्य को स्वावलम्बन का संदेश देता है।

इस प्रकार जैन दर्शन पारलौकिक ही नहीं व्यावहारिक दर्शन भी है। इहलोक और परलोक में अपूर्व समन्वय यहाँ दिखायी देता है। कर्मवाद का यह जैनसम्मत सिद्धान्त मानव को आन्तराभिमुख बनाता है जो कुछ बनता बिगड़ता है, उसके उत्तरदायी हम स्वयं हैं, दूसरे पर रोष और दोष क्यों आरोपित करें। स्वयं के उत्थान के लिये स्वयं ही जिम्मेवार होना पड़ेगा। दूसरा तो निमित्त मात्र है। कर्मवाद का रहस्य इसी में है कि हे मानव! सब कुछ तेरे हाथ में है। भाग्यवाद का निर्बल सहारा लेकर व्यक्ति कब तक पलायन करता रहेगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि जैनदर्शन में इस जगत् को शाश्वत नित्य माना गया है-लोए ण कताई णासी, ण कताई ण भवति ण कताई ण भविस्सति भविं च भवति य भविस्सति य धुवे सासए, अक्खए, अव्वए अविट्ढिए णिच्चे कयातिणासी जावणिच्चा एवामेव लोके विण कयाति णासी जावणिच्चे।[20] अत: इस अव्यय, अक्षय लोक से तर कर ही दु:ख मुक्ति संभव है।

---

15 वही-30.5
16 वही-30.3
17 वही-अध्ययन-31पृ0 187
18 वही-30.2
19 वही, अध्ययन-31, पृ0 191
20 वही, पृ0 191

कर्मविरति की पद्धति भी जैनदर्शन में प्रतिपादित है। विस्तारभयात् उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है।

जैनदर्शन का कर्म और कर्मफल सिद्धान्त बौद्धिक व्यायाम नहीं है, वरन् दार्शानिक धरातल पर इसकी तुलना मुख्यत: वैदिक दर्शन से की जा सकती है और व्यावहारिक धरातल पर यह जीवन की एक सुन्दर कला है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0121-124)

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग

डॉ0 (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता
विभागाध्यक्ष (संस्कृत)
कानपुर विद्यामन्दिर महिला महाविद्यालय
कानपुर
कु0 दीप्ति श्रीवास्तव
शोध-छात्रा (संस्कृत)

अनादिकाल से जीव अज्ञानवश संसार-सागर में पड़ा है। जन्म-मरण रूप में न जाने कितनी बार वह निमज्जन कर चुका है और जब तक मुक्त नहीं हो पाता, तब तक सदैव निमज्जन ही करता रहता है। ऐसे जीव को कृपावश परमात्मा की प्राप्ति करा देना ही श्रीमद्भगवदगीता का प्रधान सन्देश है। गीता में जीवन जीने की कला का निरूपण है, वह परमार्थ के प्रयोग के व्यवहार में अद्भुत कला है। इस कला में प्रवीण मानव मनोजय के साथ-साथ कर्म तथा धर्म पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन एवं मनन करने वाले मानव को कर्म का बन्धन और धर्म की आसक्ति कदापि बाँध ही नहीं सकती है, वह अपने शरीर, मन और बुद्धि के समन्वित एवं हितकर सन्तुलन से अपने लिए 'निष्काम कर्मयोग' एवं 'अनन्य भक्तियोग' से मार्ग प्रशस्त करता है। उन पर निर्णयपूर्वक एवं निःशंक चलते हुए तथा जीवन के संघर्षों का सामना करते हुए भय और मृत्यु को परास्त करता है। अतः समस्त शास्त्रों का साररूप एक शास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता ही है, जिसका अद्भुत गान देवकीनन्दन कृष्ण ने किया है-

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्यं देवस्य सेवा।।"[1]

श्रीमद्भगवद्गीता का उत्कृष्ट एवं अनामनय पद की प्राप्ति कराने वाला अकाट्य ज्ञान न केवल भारतीय दार्शनिकों एवं विचारकों को प्रभावित करता है, अपितु पाश्चात्त्य दर्शनिकों को भी आकृष्ट करता है, वे भी गीता के ज्ञान-प्रकाश की किरण-पुंज को प्राप्त करने हेतु इसका अध्ययन एवं मनन करते हैं। जर्मन के विद्वान् 'मैक्समूलर' का मत है कि मृत्युरूपी अन्धकार पर विजय प्राप्त करने के लिए और प्रकाशस्वरूप आत्मा को जानने के लिए गीता-ज्ञान का आत्मबल अपरिहार्य है-

---

1 स्कन्दपुराणा-भगवद्गीता महात्म्य

"If I am asked what is the preparation for death. I shall certainly point towards the philosophy of the Gita." [2]

श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र है। शास्त्र का अर्थ होता है किसी विषय का व्यवस्थित अध्ययन। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म का नहीं बल्कि 'योग' का व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। अतः गीता का मुख्य उपदेश 'योग' है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'मिलना' अथवा संयोग अथवा तादात्म्य। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार कर्मों में कौशल (पूर्णता) ही योग है।[3] योग का अर्थ समझाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि **'युक्त आहार, विहार, कर्मों से युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्न और युक्त जागरण वाले के लिए योग दुःख का नाशक होता है।'** एक अन्य स्थान पर योग को 'समत्व' कहा गया है। यहाँ पर युक्त अथवा समत्व का अर्थ सन्तुलित नहीं है। 'युक्त' तथा 'समत्व' से तात्पर्य है कि 'जागृत', स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्था में खाते-पीते और कर्म करते सभी क्रियाओं में हाथी, कुत्ते और ब्राह्मण तथा चाण्डाल आदि सभी जीवों में ईश्वर दिखाई पड़ना अर्थात् सभी अवस्थाओं में ईश्वर से तादात्म्य रहना।' इस प्रकार योग का अर्थ दैवी शक्ति से अविच्छिन्न तादात्म्य रखना है। इसी से गीता के परम श्रेय भगवद्-प्राप्ति और लोकसंग्रह की एक ही साथ सिद्धि हो सकती है। लोकसंग्रह भगवद्-प्राप्ति का ही एक पक्ष है और भगवद्प्राप्ति के बाद लोक में भगवान् के कार्य का सफल यन्त्र बनना ही मानव की सबसे ऊँची अवस्था है। भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राणी के उद्धार एवं उसकी अपनी श्रेय प्राप्ति के लिए प्रमुख तीन मार्गों का उपदेश दिया है, वे मार्ग है-कर्मयोग 2. ज्ञानयोग 3. भक्तियोग।

ये तीनों योग आपस में स्वतन्त्र होकर भी सम्बद्ध है और परस्पर प्राप्ति हेतु एक दूसरे का सहयोग करते है। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म में किसी को मुख्य नहीं ठहराया है बल्कि निष्काम कर्मयोग' के नाम से एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है जिसमें ज्ञान भक्ति, और कर्म, बुद्धि भावना और संकल्प ही चरम सीमा परिणति है। यह निष्काम कर्मयोग ही गीता का मुख्य उपदेश है।

फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धि से कर्म करने का नाम 'कर्मयोग' है। अर्थात् फलासक्ति का त्याग करके ममत्वरहित होकर शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि हेतु कर्म करना ही कर्मयोग है इसी को 'समत्वयोग' भी कहा गया है। सांसारिक कामनाओं से रहित होकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्य को पूरी निष्ठा के साथ पालन करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। निष्काम कर्मयोग में सर्वाधिक बाधक तत्त्व 'राग-द्वेष' इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में अनुकूलता का भाव होने पर 'राग' और प्रतिकूलता का भाव होने पर 'द्वेष' उत्पन्न हो जाता है। राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होने पर उस कार्य में प्रवृति या निवृति नहीं होनी चाहिए। अपितु कार्य में प्रवृति या निवृति तो

---

2 श्रीमद्भगवद्गीता डॉ. विश्वम्बर नाथ द्विवेदी पृ0 32

3 श्रीमद्भगद्गीता, 2/48

शास्त्रानुसार ही होनी चाहिए। शास्त्र के अनुसार चलने से अपनी रुचि और अरुचि की मुख्यता नहीं रहती इस प्रकार किया जाने वाला कर्म सकाम न होकर निष्काम कहलाता है।

निष्कामभावपूर्वक संसार की सेवा करना ही राग-द्वेष को मिटाने का उपाय है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से लेकर अहंभाव तक जो कुछ भी है, इसे संसार की सेवा में लगा देना चाहिए। राग-द्वेष से सर्वथा रहित मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो जाता है। इस प्रकार कर्म को यज्ञ समझकर करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं-

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥[4]

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि अपने सभी कर्मों को मुझमें त्यागकर अपनी चेतना को आत्मा में स्थित करके इच्छा और अहंकार से शून्य होकर निरुद्वेगपूर्वक युद्ध-कर्तव्य को करो।[5]

यहाँ पर निष्काम का अर्थ वैयक्तिक कामना से नहीं, बल्कि विश्वात्मा (जो कि हमारी आत्मा का ही उच्च पक्ष है) की कामना से कर्म करना, भगवद्कर्म के सफल यन्त्र बनना है। कर्म का अर्थ अपने-अपने वर्ण-धर्मानुसार अथवा स्वभाव और शक्ति के अनुसार देव, गुरु और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य करना है। गीता ने वर्णाश्रम धर्म को जन्म से नहीं, बल्कि स्वभाव के आधार पर माना है। श्रम-विभाग को गीता ने दैवी स्वीकृति प्रदान की है। इसका अर्थ किसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था न होकर समाज का सुचारु रूप से संचालन था, क्योंकि वर्ण-धर्म का पालन जन्मसिद्ध अधिकार समझकर नहीं बल्कि भगवान् का आदेश समझकर उसकी दी हुई शक्तियों को उसी के काम के लिए उपयोग करने के लिये है।

योग का अर्थ ईश्वर से तादात्म्य है और यही गीता का परमश्रेय है। गीता में योगी को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। 'स्थितप्रज्ञ' का अर्थ है-'दैवी-प्रज्ञा में स्थित'। इस प्रकार गीता में दैवी-प्रज्ञा में स्थित एक ऐसे योगमय जीवन का उपदेश दिया है जिसमें कि अन्य समस्त धर्मों को छोड़कर दैवी आदेश का यन्त्र बनकर जीवन बिताना ही एक मात्र धर्म बन जाता है। ईश्वर-साक्षात्कार से ही आत्मा के स्वरूप का भी ज्ञान होता है, क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही रूप है। इस आत्मा को केवल आभ्यन्तर ही नहीं बल्कि बाह्य जगत् में भी अनुभव करना है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य सभी में परमात्मा के ही दर्शन करता है। ईश्वर आत्मा एवं भौतिक पदार्थों का नियामक है, वह सृष्टि का कर्ता पालक और संहारक है। वह अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापी है, आत्मा ईश्वरीय कार्यों का यन्त्र मात्र है।

आत्मा और जगत् दोनों को ही ईश्वर का अंश मानने के कारण गीता में 'लोक सेवा' का भी उतना ही महत्त्व है, जितना कि आत्म-साक्षात्कार का। समाजसेवा मानव को परमेश्वर

---

4 श्रीमद्भगद्गीता, 3/10
5 श्रीमद्भगद्गीता 3/10

की ओर ले जाती है। अत: कर्तव्य केवल कर्तव्य के हेतु नहीं बल्कि लोक-संग्रह के लिये किया जाना चाहिए। गीता में कर्म-संन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ माना गया है, यह कर्म निष्काम कर्म है। इस निष्काम कर्म का अर्थ नितान्त प्रेरणाहीन होकर कार्य करना नहीं है। निष्काम कर्म की प्रेरक ईश्वरार्पण बुद्धि है। मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है। फल का नहीं। कर्म-फल को हेतु नहीं बनाना चाहिए, न ही अकर्म में आसक्ति होनी चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मां कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।[6]

गीता ने कर्मवाद और संन्यासवाद का समन्वय किया है, इसमें आत्मसंयम पर बहुत बल दिया गया है। काम और क्रोध ये दोनों ही मानव के भयंकर शत्रु हैं, कर्म और संन्यास के समन्वय से अभ्यास और वैराग्य की भावना से इनको जीता जा सकता है। ज्ञान को काम-भावना आवृत्त किये रहती है, क्रोध से मोह और मोह से स्मृतिनाश एवं स्मृतिनाश से बुद्धि एवं सर्वस्व नष्ट हो जाता है। आत्मा द्वारा इन दोनों को जीता जा सकता है। क्योंकि बुद्धि और मन आत्मा के यन्त्र मात्र हैं। इस प्रकार आत्मसंयम से कर्मों का नाश होगा। परन्तु कर्म भी समाज एवं व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस विरोधाभास का हल है- 'निष्काम कर्म' अथवा 'अनासक्त कर्म' इससे कर्मों का फल, बन्धन का कारण नहीं होता।

---

6 श्रीमद्भगद्गीता, 2/47

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0125-128)

महाभारत का वनपर्व-आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में

डॉ. श्रीमती निरूपा सिंह
रीडर संस्कृत-विभाग
तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

संस्कृत साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि के पश्चात् महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं। इनके द्वारा लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। रामायण और महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्यरूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार प्रस्तावित हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाभारत वह धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है-

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।।[1]

जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली अत्यधिक रूखी प्रतीत होती है।[2]

अर्थनीति राजनीति तथा अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया गया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्त्वज्ञान के विश्वकोष हैं।

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[3]

अर्थशास्त्र राजनीति तथा अध्यात्मशास्त्र के लिए ही महाभारत प्रकाश स्तम्भ नहीं है। आधुनिक युग की ज्वलन्त स्त्री हिंसा, भ्रूणहत्या, जनसंख्या विस्फोट का समाधान भी वनपर्व में प्राप्त होता है। वनपर्व कौरवों के द्वारा द्यूतक्रीड़ा में पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात्

---

1 महाभारत, आदि-2 श्लोक-83
2 महाभारत, आदि-2 श्लोक-84 श्रुत्वेदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यत्र रोचते। पुंस्कोकिलं गिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव।।[2]
3 महाभारत

पाण्डवों के वनवास की अवधि में विभिन्न तीर्थों का वर्णन कर, विभिन्न वनस्पतियों का चित्रण कर व्यास ने पर्यावरण प्रदूषण से रहित भारत का चित्रण किया है।

आधुनिक भारत में स्त्री पुरुषों के प्रतिशत में अत्यधिक अन्तर चिन्ता का विषय माना जा रहा है। जिसका प्रमुख कारण कन्या भ्रूणहत्या को स्वीकार कर योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। महाभारत में कन्या जन्म को अभिशाप नहीं माना गया है, अपितु वनपर्व में कन्याश्रम तीर्थ का वर्णन प्राप्त होता है जो कन्या के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान्।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नुपवासपरायणः।
लभेत् कन्याशतं दिव्यं ब्रह्मलोकं च गच्छति।।[4]

पुलस्य ऋषि का कथन है कि नियत ब्रह्मचारी तथा उपावास परायण होकर पुरुष कन्यातीर्थ में जाकर तीन व्रत करे। ऐसा करने से सौ दिव्य कन्यायें ओर ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल में कन्या जन्म अभिशाप नहीं था एवं कन्या जन्म के लिए लोग तीर्थ यात्रा करते थे। भ्रूणहत्या करने वाले को पापी माना जाता था और राजगृह तीर्थ में जाकर यक्षिणी को नैवेद्य लगाकर भोजन करने से भ्रूणहत्या से लगे पाप से मुक्त होने का विधान बतलाया गया है।

ततो राजगृह गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप।
अस्पृश्य तपोदेषु काक्षीवानिव मोदते।।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्त प्राश्नीत पुरुषः शुचि
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते भ्रूणहत्यया।।"[5]

(हे नराधिप! तीर्थ सेवी पुरुष राजगृह तीर्थ को जाए, वहाँ तीर्थों का स्पर्श करने से पुरुष को काक्षीवान् के समान आनन्द प्राप्त होता है। वहाँ पवित्र पुरुष यक्षिणी को नैवेद्य लगाकर भोजन करे तो यक्षिणी के प्रसाद से पुरुष भ्रूणहत्या से छूट जाता है।)

नलोपाख्यान में स्त्री को दुःख में पड़े पति के लिये भेषज कहा गया है-

न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद्ब्रवीमि ते।।[6]

(मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि वैद्यों के मत में सब दुःखों में स्त्री के समान औषध और कुछ नहीं है।)

नल का कथन भी इस उक्ति का समर्थन करता है-

---

4 महाभारत, वनपर्व अ-81 श्लोक-165
5 महाभारत, वनपर्व अ-82 श्लोक-89-90
6 महाभारत, वनपर्व अ -58 श्लोक-27

नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम्।'

महाभारत में अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा का जन्म तत्कालीन कोशिकीय विज्ञान की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति करता है। अभीप्सित गुणों वाली कोशिकाओं का गर्भ में प्रत्यारोपण कर अगस्त्य ऋषि ने अपनी पत्नी लोपामुद्रा का जन्म कराया था। विवरण इस प्रकार है-

अगस्त्य मुनि ने पुत्रोत्पत्ति के विषय में विचार करने के पश्चात् विचार किया कि किस स्त्री से विवाह करूँ? उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने के निमित्त कोई स्त्री अपने समान न पाई। उन्होंने जिस-जिस प्राणी का जो-जो अंग उत्तम था, उन भागों को लेकर उन्हीं-उन्हीं भागों से एक उत्तम स्त्री रची।

ततः प्रसवसन्तानं चिन्तयन् भगवानृषिः।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत्सदृशीं स्त्रियम्॥
स तस्य-तस्य सत्त्वस्य तत् तदंगमनुत्तमम्।
संभृत्य तत्समैरंगैर्निममे स्त्रियमुत्तमाम्॥[7]

उसको रचकर महातपस्वी अगस्त्य मुनि ने उस स्त्री को सन्तान प्राप्ति की इच्छा से तप करते हुए विदर्भराज को अपने निमित्त दे दिया-

स तां विदर्भराजाय पुत्रकामाय ताम्यते।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः॥[8]

वह बिजली के समान सुन्दर शरीर वाली और उत्तम मुख वाली राजा के घर में उत्पन्न हुई तेजस्वी शरीर को धारण करके वहाँ बढ़ने लगी।

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत् शुभानना॥[9]

इस प्रकार परखनली शिशु के रूप में मुनि अगस्त्य ने लोपामुद्रा का जन्म कराया जो अभीप्सित गुणयुक्त कोशिकाओं के न्यसेचन के साथ किया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में विज्ञान का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है।

जनसंख्या वृद्धि हमारे देश की ज्वलन्त समस्या है, किन्तु महाभारत काल के विद्वान् दम्पति हजार दुष्ट पुत्रों की अपेक्षा एक महात्मा विद्वान् पुत्र को जन्म देना श्रेयस्कर मानते थे, जो नियोजित परिवार की अवधारणा को पुष्ट करता है। अगस्त्य ऋषि लोपामुद्रा से बोले-

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसंमितम्।

---

7 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-16,17
8 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-18
9 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-19

दश वा शततुल्यास्युरेको वापि सहस्रवत्॥[१०]

तुम्हारे हजार पुत्र हों, या दस के समान सौ हों या फिर सौ के समान दस हों अथवा हजार के समान एक ही हों।

लोपामुद्रा का उत्तर है-

सहस्रसम्मितः पुत्र एको मेऽस्तु तपोधन।
एको हि बहुभिः श्रेयान्विद्वान्साधुरसाधुभिः॥[११]

मुझसे हजार पुत्र के समान एक पुत्र उत्पन्न हो, क्योंकि हजार दुष्ट पुत्रों से एक महात्मा विद्वान् पुत्र अच्छा होता है।

इस प्रकार महाभारत का वनपर्व पर्यावरण प्रदूषण, स्त्रीहिंसा, भ्रूणहत्या, जनसंख्या विस्फोट इत्यादि समस्याओं के समाधान में ज्ञान की ज्योति जलाते हुए आधुनिक कोशिकीय विज्ञान के प्रेरणा स्रोत के रूप में स्थापित है।

---

10 महाभारत, वनपर्व अ -97 श्लोक-19
11 महाभारत, वनपर्व अ -97 श्लोक-20

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0129-133)

कालिदास और वैदिक व्यवस्था

डॉ. वेद प्रकाश उपाध्याय
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

महाकवि कालिदास के महाकाव्यों और नाटकों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने मनु को अपना आदर्श बनाया था, जो वैदिक व्यवस्था के पोषक थे। रघुवंश में कहा गया है-

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वत्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।।[1]

मानवधर्मशास्त्र की व्यवस्था या लीक से कालिदास के आदर्श राजा की प्रजा ठीक उसी प्रकार नहीं हटती जैसे रथ। अब प्रश्न उठता है कि यदि वर्तमान मनुस्मृति को कालिदास का आदर्श स्वीकार किया जाये तो अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। आधुनिक विद्वानों विशेषतः पाण्डुरंग वामनकाणे आदि ने मनुस्मृति को बहुत प्राचीन नहीं माना है और यह सिद्ध किया है कि मनु के नाम पर यह बाद में लिखी गयी हैं। वास्तव में मानवधर्मशास्त्र जो वर्तमान मनुस्मृति से भिन्न था, अत्यन्त प्राचीन था, जिसके प्रणेता मनु का उल्लेख ऐतरेय-ब्राह्मण में किया गया है-**मनुर्वै पुत्रेभ्यो दायं व्यभजते।** ऐतरेयब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है जो लौकिक संस्कृत साहित्य के श्रौतग्रन्थों से पर्याप्त प्राचीन हैं। आज मानवश्रौतसूत्र तो उपलब्ध हैं और उसी शाखा का मानवधर्मसूत्र अपने मूलस्वरूप में अब उपलब्ध नहीं होता है। इतना तो निर्विवाद है कि मनु के द्वारा निर्धारित किया गया मार्ग श्रुतिमूलक रहा है और जिन स्थलों पर वेदों से वैपरीत्य परिलक्षित होता है, वे स्थल उपेक्षणीय हैं।

कालिदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार मानव धर्मशास्त्र को माना है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था ऋग्वेदसंहिता के दशम मण्डल के नब्बे संख्या के सूक्त में दृष्टिगत होती है। ऋग्वेद में कहा गया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।[2]

वर्णो वृणोतेः इस निर्वचन के आधार पर वर्णशब्द वरण करना अर्थ वाली वृ धातु से निष्पन्न होता है। समाजरूपी पुरुष के अस्तित्व के लिए चारों ही वर्ण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि

---

1 रघु1.17
2 ऋ0 10/90/12

एक भी वर्ण का कार्य अवरुद्ध हो जाए तो समाज की गाड़ी का चलना दुष्कर हो जायेगा। जिस प्रकार समाज को मार्गदर्शन देने के लिए ब्राह्मणवर्ण अपेक्षित है, उसी प्रकार समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय वर्ण का होना आवश्यक है। कालिदास के शब्दों में जो क्षत् से रक्षा करता है वह क्षत्रिय है।[3] वैश्य का सम्बन्ध समाज के भरण-पोषण के निमित्त अर्थव्यवहार से है तथा शूद्रवर्ण का सम्बन्ध समाज की सेवा से है। शूद्र को ऋग्वेद में चरणस्थानीय माना गया है। यदि समाजरूपी शरीर शूद्ररूपी चरणों से रहित हो जाए तो समाज सकल न रहकर विकल हो जायेगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में कालिदास सीता की उक्ति को प्रस्तुत करते हैं जो परित्यक्ता सीता द्वारा लक्ष्मण के माध्यम से राम के प्रति प्रेषित की जाती है। सीता कहती है कि यद्यपि वर्णों और आश्रमों का पालन करना राजाओं का धर्म है और मुझे आपने त्याग दिया है, किन्तु सामान्य तपस्विनी होने के कारण मैं भी आपकी प्रजा हूँ, अतः मेरी भी रक्षा सामान्य प्रजा की भाँति तो आप करते ही रहेंगे। क्या ही सुन्दर उक्ति है-

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।।[4]

वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राजा राम अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिए बाध्य हैं, चाहे वह परित्यक्ता सीता भी क्यों न हो। इस परम्परा के अनुपालन में नियामक हेतु हैं। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था और तत्पोषिणी मानवधर्मशास्त्रीय व्यवस्था इसी कारण से महाकवि कालिदास ने रघु को वर्णाश्रम व्यवस्था का संरक्षक गुरु कहा है। रघुवंश के पञ्चमसर्गगत **'वर्णाश्रमाणां गुरवे'** इस श्लोकांश से इसकी पुष्टि होती है। केवल रघु ने ही नहीं अपितु रघुवंशी राजाओं ने भी वर्णों और आश्रमों में विभाजित मनुष्य जीवन को एक आदर्श जीवन स्वीकार किया। वर्णाश्रम व्यवस्था में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि मानी गयी है। डॉ. शंकर दत्त ओझा ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि वैदिक काल से चली आती हुई वर्णाश्रम व्यवस्था को कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में सुप्रतिष्ठित किया है।[5] बाद में भारवि, भट्टि, माघ और श्रीहर्ष आदि ने कालिदास का अनुकरण करके वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन अपनी-अपनी कृतियों में किया।

वर्णाश्रम में वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्था ये दो व्यवस्थायें हैं। चार वर्णों की भाँति आश्रम भी चार हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

---

3 क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघु 2.53)

4 रघु0 14.67

5 संस्कृत को रघुवंश की देन-डॉ0 शंकरदत्त ओझा, पृ0 382 प्रकाशक राजस्थान प्रकाशन मण्डल, पान दरीबा, लखनऊ 1984

ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास करने वाले विद्याध्येताओं का रघुवंशी राजाओं द्वारा बड़ा ध्यान रखा जाता था। कालिदास का यह आदर्श रहा है कि गुरुकुल में रहकर विद्याध्यन करने वाले ब्रह्मचर्याश्रम का व्रत धारण करने वाले तपस्वियों की सर्वथा राजा परिचर्या एवं उनकी देखरेख की जाए। रघुवंश के पञ्चमसर्ग के अनुसार आदर्श राजा का स्वरूप उस समय दृष्टिगत होता है जब महाराज रघु वरतन्तु के शिष्य कौत्स से उनके आश्रम के विषय में प्रश्न करते हैं। कौत्स उत्तर देता है-

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।।[6]

अर्थात् हे राजन् हमारी हर प्रकार से कुशलता समझें क्योंकि आपके राजा या स्वामी रूप में होते हुए हम प्रजाओं का अकल्याण कहाँ। क्या सूर्य के प्रकाशित रहने की स्थिति में अन्धकार लोगों की दृष्टि में आवरण डालने में समर्थ हो सकता है।

गृहस्थ आश्रम को कालिदास ने सभी आश्रमों में समर्थ माना है। इस आश्रम में प्रवेश के लिए गुरु से सम्यक् रूप से आज्ञा प्राप्त करके ब्रह्मचर्याश्रम व्रतधारी शिष्य उद्यत होता है जैसा कि कहा गया है–

अपि प्रसन्नेन महार्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतोगृहाय।
कालो ह्ययं संक्रममितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।।[7]

गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है, क्योंकि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम में आश्रय पाते हैं। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का चित्रण करने के प्रसंग में विद्याभ्यास का सम्बन्ध शैशव से, विषयोगभोगों का सम्बन्ध यौवन से मुनिवृत्ति का सम्बन्ध वृद्धावस्था से तथा तनु परित्याग या संसार परित्याग का सम्बन्ध योग या संन्यास से माना है। जहाँ शैशव अर्थात बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्याश्रम अभीष्ट है, वहीं ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याभ्यास को पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश भी इष्ट है। रघुवंशी राजाओं द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याभ्यास करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था तथा गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम तभी स्वीकार किया जाता था, जब कि वे अपने युवा पुत्र पर राज्यभार आरोपित कर देते थे। रघुवंशी राजाओं द्वारा गृहस्थ आश्रम की स्वीकृति केवल विषय भोगों के लिए ही नहीं होती थी अपितु ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की दृष्टि से गृहस्थाश्रम में उनके द्वारा प्रवेश किया जाता है। प्रजा में गृहमेधिनाम् कालिदास का आदर्श है। यहाँ पर प्रजा शब्द सन्तति के लिये प्रयुक्त हुआ है। रघुवंश में कालिदास ने यह स्पष्ट उद्घोषित किया है-

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।

---

6 रघु 5.13
7 रघु 5/10

संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।[8]

अर्थात् पितृ ऋण से उन्मुक्ति व्यक्ति को इस लोक तथा परलोक में सुखदायक होती है। ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण इन तीन ऋणों से छुटकारा प्राप्त करके ही व्यक्ति को मोक्ष में मन लगाना चाहिए। जो व्यक्ति इन ऋणों से मुक्त हुए विना ही मोक्ष में मन लगाता है, उसका अध:पतन होता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।।

उपर्युक्त आदर्श को ध्यान में रखकर ही कालिदास ने गृहस्थाश्रम के महत्त्व का प्रतिपादन **सर्वोपकारक्षममाश्रमम्** कहकर किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित श्रौतयागादि कर्म सतमान्यरूप से यजमान पत्नी की सहायता से किए जाते हैं। श्रौतयागों में हविर्याग और सोमयाग आते हैं। जिनमें इष्टि अवश्यमेव सम्पन्न की जाती है, जिसमें इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि के तन्त्र का आश्रय लिया जाता है। दर्शपूर्णमासेष्टि में पत्नीसन्नहन नामक एक कृत्य भी किया जाता है, जिसके लिए यागाधिकारी यजमान का गृहस्थ होना आवश्यक है। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम की अनिवार्यता को कालिदास ने वेदमूलकता के कारण स्वीकार किया है, जो स्मृतियों से भी समर्थित है।

गृहस्थाश्रमपालक रघु के पास जब वरतन्तु शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते हैं और उन्हें यह प्रतीत हो जाता है कि विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व समर्पित कर देने वाले रघु के पास अब कुछ भी शेष नहीं बचा, तो वह निराश होने लगते हैं, किन्तु रघु उन्हें खाली हाथ वापस नहीं भेजते और धनद कुबेर से यथेष्ट धनराशि प्राप्त करके कौत्स को देते हैं। यह है कालिदास की आस्था गृहस्थ आश्रम पर जिसके द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थित एक विद्याभ्यासी को यथेष्ट सम्पत्ति दान में दी गयी।

गृहस्थाश्रम की अवधि पार करते ही कालिदास के आदर्श राजा अपनी रानी समेत आरण्यकवृत्ति का आश्रय ग्रहण कर लेते थे। किन्तु इससे पहले वे अपना राज्यभार अपने समर्थ युवा पुत्र को सौंप देते थे, जैसा की कालिदास की इस उक्ति से स्पष्ट है।

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।[9]

---

8 रघु. 1.69
9 रघु. 3.70

कालिदास और वैदिक व्यवस्था

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कालिदास वैदिक वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था के समर्थक रहे हैं। उनका श्रुतिज्ञान विलक्षण था। उनके आदर्श पात्र श्रुति के विधि और निषेध से सम्यग् अवगत तो थे ही, किन्तु विधि का पालन करते थे और निषेध को वर्जित करते थे। वे आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि अग्नियों में श्रौतयागो को सम्पन्न करते थे। कालिदास की प्रतिभा से उद्बोधित होने के लिए केवल साहित्य का ही नहीं, अपितु वेदों-वेदाङ्गो तथा दर्शनों का अनुशीलन भी आवश्यक है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0134-139)

कालिदास का प्रकृतिदर्शन

कु0 पुष्पा
शोधछात्रा, संस्कृत-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, श्रीगंगानगर (राज.)

संस्कृत वाङ्मय और प्रकृति का आदिकाल से ही अटूट सम्बन्ध रहा है। प्रकृति चित्रण के विना हर रचना अधूरी है। वाल्मीकि, माघ, भारवि, बाणभट्ट का प्रकृति चित्रण अलौकिक है। इसी शृंखला में कालिदास का प्रकृति वर्णन सबसे अधिक पृथक् है। क्योंकि कालिदास प्रकृति के कवि हैं। भारतीय काव्य-परम्परा में उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं प्रकृति के प्रति प्रेम अद्वितीय है। अतः प्रकृति के कुशल चितेरे होने के साथ-साथ वे बाह्य प्रकृति के भी मर्मज्ञ हैं। उसके साथ उनके हृदय का पूर्ण तादात्म्य हुआ है। यह सत्य है कि उनसे पूर्व आदिकवि ने प्रकृति के शुद्ध एवं सहज स्वरूप का यथेष्ट अंकन किया है, किन्तु कालिदास की भाँति वे अपने आपको उसकी मनोहारिता में पूर्णतः लीन नहीं कर बैठे हैं। उनके प्रकृति चित्रण में प्रकृति का यथार्थ रूप सुरक्षित है, उनके विस्तृत वर्णनों में सौन्दर्य व्यञ्जना भी है, किन्तु कालिदास की प्रकृति अपेक्षया अधिक अलंकृत है। साथ ही वैदिक कवि का सा प्रकृति के प्रति सहज उल्लास एवं वाल्मीकि की सी हार्दिकता एवं सहजता भी उनमें प्राप्य है। वाल्मीकि की भाँति कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति-वर्णन को स्थान दिया है। उनका प्रकृति चित्रण सूक्ष्मपर्यवेक्षण एवं स्वानुभूति पर आधारित है। उनकी बाह्य-दृश्योद्घाटिनी अद्भुत क्षमता कतिपय प्राकृतिक दृश्यों एवं उपकरणों के चित्रण तक ही सीमित नहीं रही है, अपितु प्रकृति के नाना रूपों के साथ-साथ उनके हृदय के रागात्मक सम्बन्ध की पूर्ण व्यञ्जना कराने वाली है। कालिदास ने अपनी कृतियों में प्राकृतिक दृश्यों का जैसा मूल्यांकन किया है, वह सत्य का प्रमाण है कि कवि की दृष्टि से प्रकृति काव्य रचना का साधन मात्र न होकर स्वयं साध्य भी है। प्रेयसी प्रकृति की प्रत्येक भावभंगिमा पर कवि ने अपना हृदय न्यौछावर किया है, भले ही वह उसका सौम्य एवं आकर्षक स्वरूप रहा हो अथवा उद्वेगकारी भीषण रूप, किन्तु इतना अवश्य है कि प्रकृति का प्रशान्त एवं सुकुमार रूप कवि को अधिक प्रिय रहा है।

मानव जीवन में प्रकृति के बहुमूल्य योग को कवि ने भली प्रकार माना व पहचाना है। उसकी दृष्टि में मानव जीवन और प्रकृति एक दूसरे के पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे का अपूर्ण भासित होना सर्वथा स्वाभाविक है। कालिदास ने अपने ही ढंग से प्रकृति को मानव संवेदना का भागी बनाया है। उनकी प्रकृति मनुष्य सत्ता से खंडित करके नहीं देखी जा सकती। उनके आधुनिक समीक्षक इस सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत हैं कि प्रकृति को काव्य का प्राणतत्त्व होना चाहिए और इस दृष्टि से कालिदास मुख्यतः प्रकृति के कवि हैं। इसलिए न केवल अपने काव्यों में, अपितु अपने नाटकों में भी कवि ने मानव और प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की अत्यन्त

सुन्दर व्यञ्जना की है। उनकी कृतियों में आये हुए प्रकृति-चित्रण का अनुशीलन स्पष्ट कर देता है कि उन्होंने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था। उनकी सबसे प्रारम्भिक कृति 'ऋतुसंहार' में सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षण के आधार पर विभिन्न ऋतुओं की स्वाभाविक प्राकृतिक विशेषताओं का सुन्दर अंकन हुआ है। उनके सभी काव्य यों तो प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं, किन्तु प्रस्तुत कृति प्रकृति-चित्रण के निमित्त ही रची गयी है। यद्यपि लक्षणग्रन्थों के अनुसार परवर्ती महाकाव्यों एवं नाटकों में भी यथास्थान ऋतु वर्णन आवश्यक माना गया है, परन्तु सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में केवल ऋतु वर्णन के लिए लिखा गया काव्य 'ऋतुसंहार' ही है। प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध भारत सदृश अयनवृत्तीय देश में जन्म ग्रहण करने वाले इस कवि की समस्त वृत्तियाँ आरम्भ से ही प्रकृति निरीक्षण में लग गयी थीं और प्रकृति के प्रति उसके मन में एक श्रद्धामय एवं स्वाभाविक प्रेम वर्तमान है। 'ऋतुसंहार' का कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर कामनियों के प्रति वह अधिक अनुराग रखता है, अतः प्रकृति कुछ गौण हो गयी है और अपनी वेश-भूषा, प्रसाधन एवं मनोविकार लेकर रमणी प्रधान हो गयी है, तथापि प्रकृति के प्रति कवि की सहानुभूति एवं प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की उसकी अद्भुत क्षमता भी दर्शनीय है। कवि का प्रकृति के प्रति आकर्षण बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक नहीं, अपितु भावात्मक है और इसीलिए एक प्रेमी-दम्पति की ऋतु-विशेष में बदलती हुई भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में उसने प्रत्येक ऋतु की सहज शोभा का निरूपण कर दिया है और बताया है कि मनुष्य की सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भावनाओं पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ता है। यद्यपि सम्पूर्ण काव्य उद्दीपन की भावना से ओत-प्रोत है, तथापि उसमें अनेक ऐसे स्थल हैं जिन्हें प्रकृति के शुद्ध स्वरूप के यथातथ्य अंकन कह सकते हैं। प्रत्येक ऋतु के सुरम्य एवं अरम्य सभी पक्षों का कवि ने अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

'कुमारसंभवम्' में कवि ने दैवी विभूतियों एवं प्राकृतिक विभूतियों में साम्य स्थापित किया है। इस काव्य की घटनास्थली हिमालय है और प्रथम सर्ग में ही कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य के केन्द्र हिमालय की महिमा का गान किया है। इस काव्य में प्रकृति के भव्य स्वरूप के चित्रण के साथ-साथ उसने वन, पर्वत, नदी, उपत्यका, दिवस, रात्रि ऋतु इत्यादि को लेकर प्रकृति के चिरन्तन एवं चिर नूतन सौन्दर्य का सूक्ष्म निरूपण किया है। प्रकृति के प्रति कवि का उल्लास ज्यों का त्यों हुआ है।

किन्तु प्रकृति और मानव के तादात्म्य का सुन्दर निदर्शन कवि का 'मेघदूत' हैं। प्रकृति और मानव के इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को कालिदास ने सदैव आवश्यक एवं सुखद माना है, इसीलिए पूर्वमेघ में प्रिया-विरहदग्ध यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य के सान्निध्य में अपने विधुर हृदय को आश्वासन देता है और 'उत्तरमेघ' में प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत और भावी मिलन के स्वप्न देखता है। पूर्वमेघ में बाह्य-प्रकृति का अत्यन्त विशद चित्रण किया गया है किन्तु उसमें मानवीय भावनाओं का छायातप भी घुला है। 'उत्तरमेघ' ने मानव हृदय का मार्मिक चित्रण है, किन्तु वह प्रकृति सौन्दर्य से परिवेष्टित ही है। इस काव्य में कवि ने प्रकृति और प्रेम दोनों की महिमा का स्तवन किया है और यह निर्णय कर सकना कठिन है कि किसकी

व्यञ्जना अधिक सुन्दर है। उत्तर भारत की प्राकृतिक सुषमा का इसमें अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रकृति और प्रेम के काव्य के रूप में इस कृति का अत्यधिक महत्त्व है।

रघुवंश में भी कवि ने मानव और प्रकृति के इस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा हैं। इस काव्य में कवि ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं राज्य से भी प्रकृति की घनिष्ठता का चित्रण किया है तथा भौतिक सभ्यता के प्रतीक नगर एवं प्राकृतिक जीवन के प्रतीक तपोवन के पारस्परिक सहयोग से उत्पन्न होने वाले कल्याणप्रद परिणामों का उल्लेख करते हुए यह भी दिखाया है कि प्रकृति से वियुक्त मानव जीवन की समाप्ति किस प्रकार आध्यात्मिक ह्रास, सामाजिक दुर्दशा एवं राजनीतिक अवनति में हुआ करती है। प्रस्तुत काव्य कवि की सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं प्रकृति-चित्रण की क्षमता का उदाहरण है। 'मेघदूत' में उत्तर भारत की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करने के उपरान्त कवि ने प्रस्तुत काव्य में दक्षिण भारत की प्रकृति के वन, नदी पर्वतों आदि का सजीव अंकन किया है। तेरहवें सर्ग में किया गया गंगा और यमुना के संगम का वर्णन आलंकारिक प्रकृति-चित्रण का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

काव्यों की ही भाँति अपने नाटकों में भी कवि ने मानव जीवन में प्रकृति का सम्मिश्रित वर्णन किया है। उनके 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'विक्रमोर्वशीय' में प्राकृतिक शोभा का एवं प्रणय-भावना में प्रकृति के योग का सुन्दर निरूपण हुआ है। 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में वर्षा का भावशील वातावरण राजा पुरुरवा की मनःस्थिति से अनुरंजित है। किन्तु कवि की प्रकृति-चित्रण विषयक सर्वोच्च प्रतिभा का दर्शन उनकी प्रौढ़तम कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में होता है। इस नाटक में आद्योपान्त मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए भी कवि ने सर्वत्र प्रकृति और मनुष्य के मधुर सम्बन्ध की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। स्वयं शकुन्तला प्रकृति कन्या है। उसका चरित्र धर्मारण्य की प्रशान्त छाया में माधवीलता के साथ विकसित होकर पशु पक्षियों के अकृत्रिम सौहार्द से आकृष्ट हुआ है। आश्रम के पशु-पक्षी उसके आत्मीय हैं, वृक्ष और लताओं से उसका सहोदरों का सा स्नेह है और इसी कारण इनमें भी शकुन्तला के प्रति उतना ही अनुराग है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी प्रकार के मानवीय आरोप के विना ही प्रकृति को प्रकृति रखकर भी उसे सजीव, प्रत्यक्ष, व्यापक एवं मनुष्य की अन्तरंग बनाकर नाटक के कार्य और व्यापार में प्रधान एवं आवश्यक स्थान दिया गया है। प्रथम अंक में ही नगर के कृत्रिम तपोवन के शान्त स्वाभाविक वातावरण की तुलना की गयी है। कथा का आरम्भ भी कण्व के तपोवन में हुआ है और अन्त भी मारीच के तपोवन में और इस प्रकार बाह्य प्रकृति यहाँ से वहाँ तक नाटक कथा की पृष्ठभूमि में रही है। प्रकृति के मार्मिक संदेश का सुन्दर उद्घाटन इस कृति में हुआ है।

इस प्रकार उनकी सभी कृतियाँ प्रकृतिमयी हैं। साथ ही प्रकृति चित्रण के विविध स्वरूपों का समावेश कवि ने अपनी कृतियों में किया है। उन्होंने चाहे प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण किया हो अथवा उद्दीपन रूप में सर्वत्र उनका प्रकृष्ट प्रकृति प्रेम स्पष्टतः उद्भासित होता रहा है। प्रकृति के शुद्ध स्वरूप का चित्रण करते हुए चुने हुए उल्लेखों से प्रत्येक चित्र को पूर्ण कर देने में कालिदास सिद्धहस्त हैं। प्रकृति स्थितियों की सहज एवं संश्लिष्ट योजना से प्रत्येक

चित्र अपनी पूर्णता में गोचर हो उठता है। प्रकृति वर्णन करते समय अनावश्यक विस्तार का उन्होंने स्र्वत्र परिहार किया है और इसी संयम के कारण उनकी कृतियों में प्रकृति का विलक्षण एवं अनिवर्चनीय सौन्दर्य झलक उठा है। उदाहरणस्वरूप 'विक्रमोर्वशीय' में मध्याह्न के समय विविध जन्तुओं की चेष्टाओं का विवरण प्रस्तुत है-

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी,
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीः कारण्डवः सेवते।
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥[1]

'गर्मी से तप्त मूयर वृक्ष के शीतल छांव तले विश्रामार्थ बैठ रहा है। यह भ्रमर कर्णिकार की कली का मुख बेधकर उसमें छिपने जा रहा है। यह कारण्डव उष्ण जल को त्यागकर तट पर खिली कमलिनी की छाया में जा बैठा है और क्रीड़ाभवन में पिंजर-स्थित यह शुक जल की याचना कर रहा है।'

विविध जीवों की मध्याह्नताप जन्य अवस्था एवं चेष्टाओं का विवरण प्रस्तुत कर कवि ने सूर्यताप की प्रखरता भलीभाँति व्यंजित कर दी है। बाह्यप्रकृति की सुषमा का सहृदय निरीक्षण करने के साथ-साथ कवि ने मनुष्य की अन्तःप्रकृति पर पड़ने वाले बाह्यप्रकृति के प्रभाव का भी अत्यन्त सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। किसी अन्य आलम्बन के प्रति उद्बुद्ध हुई आश्रय की भावस्थिति को उत्तेजित करने में प्रकृति जो योग देती है, उसके कवि ने ऋतुओं आदि के उद्दीपन रूप का चित्रण करके अत्यन्त कुशलता से अंकित कर दिया है। एकरूपा प्रकृति ही आश्रय के मन की क्षण प्रतिक्षण परिवर्तमान मनःस्थिति के साथ साथ कहीं प्रिय और कहीं दुःखद प्रतीत होने लगती है। विरह-विधुर पुरुरवा को मेघों के कारण रमणीय दिवस असह्य प्रतीत होने लगता है-

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः॥[2]

'एक ओर तो उस प्रियतमा से बिछुड़ने का असह्य दुःख और दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन जो धूप न होने के कारण सुरम्य लग रहा है, एक साथ ही आ आ गए हैं।'

भावावेश में जड़-चेतन का भेद भूलकर वह प्रकृति के विभिन्न अंगों से प्रश्नोत्तर करने लगता है। प्रकृति उसकी भावस्थिति के अनुरूप ही आचरण करती प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रकृति को उद्दीपक रूप से चित्रित करके कवि ने अन्तःप्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्यञ्जना सुचारु रूप से कर दी है। प्रकृति को कवि ने मूक एवं निष्प्राण नहीं माना है। प्रकृति में उसने

---

1 कालिदास, विक्रमोर्वशीय, 2.22
2 कालिदास, विक्रमोर्वशीय, 4.3

मानवीय आकृति एवं मानवोचित सुख, दुख संवेदना आदि की भावना एवं तदनुरूप आचरण को प्रत्यक्ष किया है। उन्हें पशु-पक्षी तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते दृष्टिगोचर हुए ही हैं, जड़-प्रकृति भी मानव का अनुकरण करती प्रतीत हुई है। उन्होंने प्रकृति को प्रधानत: प्रेमी की दृष्टि से देखा है और प्रकृति को प्रेयसी का स्थान देकर उसमें कामिनियों के से हाव-भाव का प्रत्यक्षीकरण किया है। इसलिए मधुश्री यदि मुग्धा नायिका है तो मलयपवन दक्षिण नायक। प्रणय भावना के अतिरिक्त संवेदना, उत्कण्ठा, शोक आदि विभिन्न भावनाओं का प्रत्यक्षीकरण कवि ने प्रकृति में किया है। आश्रम में विदा होती हुई शकुन्तला को आश्रम एवं उसके वासियों को छोड़ते हुए जैसा दु:ख होता है, आश्रम की जड़ अथवा चेतन प्रकृति का दु:ख भी उससे कम नहीं है, तभी तो-

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चतणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ।।[3]

'हरिणियों ने कुशा के ग्रास मुख से निकाल दिये हैं, मयूरों ने नृत्य करना बंद कर दिया और गिरते हुए पीले पत्तों वाली लताएँ मानों अश्रु-मोचन कर रही हैं।'

इस प्रकार कालिदास के काव्य में प्रकृति निरपेक्ष पृष्ठभूमि अथवा उद्दीपन रूप से ही आयोजित नहीं हुई है, अपितु पात्र रूप से उसमें सक्रिय भाग लेने वाली भी है।

अपनी कृतियों के काव्य सौन्दर्य को और अधिक देदीप्यमान करने के लिए कवि ने उसके निस्सीम भण्डार से अमूल्य रत्न चुनकर उनकी अप्रस्तुत रूप से योजना की है। उनके प्रकृति-चित्र वर्ण्य को उद्भासित करते हुए अपने सौन्दर्य से भी हमें प्रभावित कर देते हैं। कवि की दृष्टि से दृश्य प्रकृति में जो सौन्दर्य व्याप्त है, मानव-सौन्दर्य उसी का अंग है। इसलिए प्रकृति से आदर्श स्थितियों का चयन कर कवि ने उसको अपनी सौन्दर्यानुभूति की व्यञ्जना का साधन बनाया है। मानवीय सौन्दर्य में से अपेक्षाकृत कौन सा अधिक सुन्दर है। इसका निर्णय कर सकना कठिन है। पार्वती की रूप-शोभा का निम्न चित्रण इसका प्रमाण है-

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।।[4]

'स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई और बाल सूर्य के सदृश अरुण वस्त्र धारण किये वह (पार्वती) पर्याप्त फलों के गुच्छों से झुकी चलती फिरती लता जैसी प्रतीत होती थी।'

---

3 कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल, 4.11 बाबूराम त्रिपाठी, आयुर्वेद संस्कृत भंडार
4 कालिदास, कुभार सम्भव 3.54

कवि ने प्रकृति को मानव जीवन की शोधिका भी माना है। उनकी सूक्तियों का एक महत्त्वपूर्ण अंश प्रकृति सम्बन्धी तथ्यों का ही है। प्रकृति का परपरिग्रह-पराङ्गमुखता का यह आदर्श कितना सुन्दर है-

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥[5]

'चन्द्र केवल कुमुदिनियों को खिलाता है और सूर्य केवल कमलों को। संयमी जनों की वृत्ति परस्त्री के स्पर्श से विमुख रहने वाली होती है।'

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति और उसके रमणीय दृश्यों के प्रति कालिदास का स्नेह एवं सहानुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ है। उनकी दृष्टि में मनुष्यत्व की पूर्णता मनुष्य के प्रकृति प्रेम में ही निहित है। साथ ही उन्हें विदित था कि मानव जीवन से सम्बद्ध होकर प्रकृति की कविता सजीव एवं स्पन्दनशील हो उठती है, जहाँ उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य-समुज्ज्वल पक्षों का रूपयोजनात्मक चित्रण किया है, वहाँ उन्होंने प्रकृति को मानवीय भावनाओं में योग देते हुए और मनुष्य के प्रति संवेदना से युक्त भी वर्णित किया है। उनकी प्रकृति मनुष्य की भाँति सचेतन एवं भावनाशील है। प्रकृति-सौन्दर्य एवं मानव-सौन्दर्य दोनों को उन्होंने एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हुए चित्रित किया है। प्रकृति के सूक्ष्म एवं विशद सभी पक्षों का चित्रण करने वाले कवि ने अपने प्रकृति चित्रण में प्रबन्ध काव्यों की सी रेखा चित्र शैली एवं रूप योजनात्मक संश्लिष्ट शैली दोनों का ही प्रयोग किया है, किन्तु उनकी रेखाचित्र शैली केवल दृश्य सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख मात्र नहीं करती। उनके इस चित्रण में कलात्मकता होते हुए भी प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य अक्षुण्ण रहा है। विविध ऋतुओं, प्रहरों, आकाश, वन, नदी, पर्वत पशु-पक्षी आदि प्रकृति के विविध जड़ एवं चेतन अंगों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि की सहृदयता सर्वत्र उपस्थित रही है और कल्पना की क्लिष्टता ने कहीं भी उनके प्रकृति चित्रण की स्वाभाविकता में व्याघात नहीं पहुँचाया है। प्रकृति के सम्पर्क में भाव-विभोर हो जाने वाले कवि ने स्वयं को उसके निस्सीम साम्राज्य में स्वच्छन्द छोड़कर उससे अनेक हृदयग्राही चित्रों का संकलन किया है। अतः उनके काव्य में मानवीय सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से उद्भासित हुआ है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य मानवीय सौन्दर्य से। प्रकृति और मानव के अनादि सम्बन्ध की जैसी विशद व्याख्या कवि ने अपने काव्य में की है, अन्यत्र दुर्लभ है।

---

5 कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल, 5.28

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0140-143)

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्

डॉ0 भारतेन्दु पाण्डेयः
वरिष्ठ प्रवक्ता,
संस्कृत-विभागे,
मेरठस्थ-नानकचन्द-आंग्ल-संस्कृतमहाविद्यालये

वेदव्याकरणादौ अप्रतिहतपाण्डित्यानां प्रणीतपरष्षष्टिविविधविषयकग्रन्थानां पद्मश्रीप्रभृतिभिर्बहुभिरुपाधिभिर्विभूषितानां विद्वद्वराणां डॉ0 कपिलदेवद्विवेदिनाम् आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्येतन्नाम्नी कृतिः गतखिस्तवर्षशतकस्य चतुर्नवतितमेऽब्दे वाराणसीजनपदान्तर्गतज्ञानपुरस्थविश्वभारत्यनुसन्धानपरिषदः प्रकाशमागच्छत्।

कृतिरेषा महर्षेः कपिलस्य मुमुक्षूणां ऋषीणं च संवादमाध्यमेन अग्रेसरति। तनुरेतदीया सर्गाणां विंशत्या आबद्धा वर्तते। तत्र प्रथमसर्गे योगस्वरूपमस्ति विशदं निरूपितम्।[1] द्वितीय तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसर्गेषु प्रस्तूयमानान्नमयकोशप्रकरणे विज्ञानसम्मतं स्थूलशरीरवर्णनम्, हृदयस्य क्रियाकलापः, श्वासोच्छ्वासकेन्द्राणि, यकृदादिवर्णनम्, ग्रन्थीनां कार्यविधिः, लघु बृहच्च मस्तिष्कम्, इडापिंगलासुषुम्णानां वर्णनम्, चक्राणां कुण्डलिनीजागरणप्रभृतीनां च वर्णनानि सुष्ठु प्रत्यपाद्यन्त।[2] सूर्गयोः षष्ठसप्तमयोः प्राणमयकोशवर्णनप्रसंगे प्राणानामुपप्रणानां च क्रियाकलापादि दर्शितम्।[3] अष्टमतः त्रयोदशं यावत् षट्सर्गेषु मनोमयकोशनिरूपणे अन्तःकरणचतुष्टयम्, मनोबुद्ध्यहंकाराः, प्रत्याहारधारणाध्यानादिविधिः प्रकाशदर्शनादिकं च विशदीकृतम्[4] विज्ञानमयकोशनिरूपकेषु चतुर्दश, पञ्चदशषोडसु सर्गेषु ऋतम्भराप्रज्ञायाः अतीन्द्रियज्ञानस्य च प्राप्तिः सूक्ष्मकारणशरीरदर्शनादिकं चेत्यादिविषयाः विवेचिताः।[5] परवर्तिषु चतुर्षु सर्गेषु आनन्दमयकोशप्रतिपादने चित्तादीनां साक्षात्करणम्, जीवनमुक्तिः अपवर्गसाधनादयश्च विशेषतो वर्णिताः।[6]

---

1 द्रष्टव्यम् आत्मविज्ञानम् पृष्ठसंख्या 1-5
2 तदेव पृव सं0 8-48
3 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 54-63
4 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 66-123
5 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 127-153
6 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 155-192

पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम् निश्चयेनात्र न शक्यते शंकितुं यदयम् अध्यात्मविज्ञानस्यास्ति कश्चन स्वाभिमतदार्शनिकसिद्धान्तवर्णनपरो ग्रन्थ:, परं सहैव अयं यथोक्ततया कोऽपि महाकाव्यात्मकप्रबन्धो अप्यस्ति इत्यत्र विप्रतिपद्यते चेत:। यतोहि...........

महाकाव्यरूपप्रबन्धविशेषस्य स्वरूपादि-भामह-दण्डि-रुद्रट-हेमचन्द्र-विश्वनाथ-प्रभृतिभिराचार्यै: विशदमस्ति निरूपितम्।[7] समेषामेवैतेषां मतेषु सामस्त्येन समालोड्यमानेषु यन्नवनीतं निष्कृष्टं भवति, तत् संक्षेपत: इत्थं प्रस्तोतुं शक्यते ....

कस्याऽपि ग्रन्थस्य वाग्रचनाया वा महाकाव्यत्वविधायकानि तत्त्वानि अंगानि वा द्विविधानि भवेयु: ......

(१) आभ्यन्तराणि जीवितभूतानि वा तत्त्वानि

महाकाव्ये एतेषां प्राधान्येन स्वरूपविधायिन्येव काऽपि स्थितिर्विद्यते। तानि मुख्यतस्त्रीणि भवन्ति ....

(१) कथा-चतुर्वर्गफलमयी,[8] सर्वनाटकसन्धिसगुम्फिता,[9] इतिहासात् कविकल्पनातो वा प्राप्तप्रसवा[10] कथा स्यात्।

(२) नायक:-देव: संदृश: क्षत्रिय: अनेके वा एकसत्कुलसम्भवा भूपाला: फलाधिकारितया तत्र नायकपदमर्हन्ति।[11]

(३) रस:-शृंगारवीरशान्तानाम् अन्यतमो रसस्तत्र अंगी स्यात्। अंगत्वं तु सर्वेषामेव रसानां सम्भवति।[12]

बाह्यभूतानि संघटनारूपशरीरमात्रनिष्ठानि तत्त्वानि-उक्तादतिरिक्तानि अन्यान्यपि अनेकानि तत्त्वानि आचार्यै: महाकाव्योपादेयतया उपदिष्टानि-नमस्क्रियादिभिरारम्भ:,[13] भिन्नान्त्यवृत्तसर्गबन्धता[14]

---

7 (क) काव्यालंकार: (भामह:)। 1/19-23 (ख) काव्यादर्श: 1/14-22 (ग) काव्यालंकार: (रुद्रट:) 16/7-29 (घ) काव्यानुशासनम् (हेमचन्द्र:) 8/6 सूत्र वृत्तिश्च (ड.) साहित्यदर्पण: 6/315325

8 (क) चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।' -काव्यालंकार: (भामह:) 1/20 (ख)चतुर्वर्गफलायत्तम्। --काव्यादर्श: 1/15 चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।' -- सहित्यदर्पण: 6/18

9 (क) पञ्चभि: सन्धिभिर्युक्तम्' -- काव्यालंकार: (भामह:) 1/20 (ख)............सर्वेनाटकसन्धय:।।' -- साहित्यदर्पण 6/317)

10 10.(क)इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।' --काव्यदर्श: 1/15 (ख)इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।' -- साहित्यदर्पण:' 3/18

11 11.(क)चतुरोदात्तनायकम्' प्रसिद्ध नायक चरितम्' काव्यानुशासनम् (हैमम्) 8/6 वृत्ति: (ख).................. तत्रैको नायक: सर:। सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित:।। एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा।' -- साहित्यदर्पण: 6/35, 316

12 12.शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते। अङ्गानि सर्वेऽपि रसा: ....।। साहित्यदर्पण: 6/317

13 (क) आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।' --- काव्यादर्श: 1/14 (ख)आदौ नमस्ग्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।' --- साहित्यदर्पण: 6/319

प्रतिपाद्याधृतानि सर्गस्य ग्रन्थस्य[15] च नामानि चेत्यादीनि तत्रत्यकलेवरमात्रसंघटकानि। ग्रन्थे उपरिष्टादेव एतेषां समावेशो भवति न अभ्यन्तरत:। वस्तुत इमानि तत्त्वानि महाकाव्यशरीरस्याऽपि प्रायो नितान्तम् उपरिवर्ति औपचारिककर्मकाण्डमेव निर्वर्तयन्ति, तस्य (शरीरस्य) वास्तवं स्वरूपं तु कथाया: सन्धिसन्ध्यंगादिभिरेव विन्यस्यते।

अधुना द्रष्टव्यं भवति यत् समीक्ष्यमाणे ग्रन्थविशेषे उक्तेषु महाकाव्यांगेषु मध्ये किं किमस्ति विद्यामानम्?

यदि भवेत् प्रश्न: प्रथमविधानां तत्त्वानां तत्रोपस्थितिविषयक:, तर्हि स्पष्टत: कथनीयमेव यत्-न किमपि कथातत्त्वम्, न कोऽप्युक्तविधो नायको न च अंगी अंगभूतो वा कश्चन रस एव तत्र आत्मविज्ञाननामके ग्रन्थे दर्शनायापि उपलभ्यते। परम्, अपरविधानि यानि तत्त्वानि भवन्ति नमस्क्रियया ग्रन्थारम्भ:, प्रतिपाद्यमाधृत्य ग्रन्थस्य सर्गस्य च नामकरणम् अभीष्टछन्दोनियममयसर्गबन्धता चेतीमानि, तानि तु अस्मिन् ग्रन्थेऽवश्यं मिलन्ति।[16]

पृष्ठभूमावस्यां विचारमामन्त्रयतेऽयं प्रश्नो यद् उक्तविधेऽङ्गवैकल्येऽपि किमयं ग्रन्थो महाकाव्यमिति संज्ञया व्यपदेष्टुं व्यवहर्तुं वा युज्यते?

यद्यपि काव्यादर्शकृता आचार्येण दण्डिना-न्यूनमप्यत्र यै: कैश्चिदगै: काव्यं न दुष्यन्ति"[17] इति प्रतिपादितमस्ति। परम् कथादिभिराराधारभूतैरंगै: न्यूनायै रचनायै नेयं व्यवस्था:, यत: स्वयम् अस्या एव कारिकाया: यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विद:[18] इतिरूपम् उत्तरार्द्धम् उक्तस्य अंगन्यूनत्वसिद्धान्तस्य सीमानमपि निर्दिशति। तथा च स्पष्टमेव, सकलाऽपि अत्रत्या तद्विदाराधनसम्पत्ति: कथानायकरसरूपैव विधत्ते यतो न केवलं सर्गबन्धता ग्रन्थादिनामकरणं चेत्यादि बहिर्भूतं कलेवरमेव जनान् रंजयितुमलम्, प्रत्युत, कथादिरूपं आभ्यन्तरं वास्तवं वा तत्त्वं यद् भवति तत् सकलविधिपुरस्सरं सहृदयान् तान् पर्यन्ततो रससरसि निमज्जयति। तथा च केवलं तदवलम्ब्यैव सर्गादिसंगुम्फनेऽपि किमप्युपादेयत्वमायाति। अत: (तद्विदाराधनसमर्थेषु) कथादिषु सत्सु महाकाव्यत्वं न हीयते, परम् एतेषामेवाभावे क्वचित् आत्मविज्ञानम् इत्येतादृशस्थलेषु महाकाव्यत्वस्य कल्पना स्वप्नेऽपि नैव शक्या कर्तुम्।

---

14 (क) भिन्नं सर्गान्तवृत्तं च ....।' सरस्वतीकण्ठाभरणम् 5/129 (ख) एकवृतमयै: पधैरवसानेऽन्यवृत्तकै: --- साहित्यदपर्ण: 6/320

15 कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।। नामास्य सर्गोपादेकथया सर्गनाम तु।' --- साहित्यदर्पण: 6/324-325

16 (क) मंगलाचरणारर्थ द्रष्टव्यम् आत्मविज्ञानम्' 1/1, 2 (ख) ग्रन्थस्य आत्मविज्ञानाम् इति नाम ग्रन्थे विवेचितस्य आत्मतत्त्वस्याधारेणैवेति स्पष्टमेव। एवमेव तत्तत्सर्गाणामपि नामानि तत्र विवेचिततत्त्वाधृतान्येव, यथा प्राणमयकोशाख्य: सप्तम: सर्ग:' तथा मनोमयकोशात्मक: त्रयोदश: सर्ग: इति। भिन्नसर्गान्तवृत्तार्थं द्रष्टव्यानि प्रत्येकं सर्गस्य अन्तिमपद्यानि।

17 काव्यादर्श: 1/20

18 स एव।

पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्

अत्र यदि कश्चिद् ब्रूयाद् यदयं ग्रन्थः महाकाव्यभिन्न एव कश्चन प्रबन्धो भवेत्, तर्हि इदमपि न सम्भवति; यतोहि आचार्यो ध्वनिकृत्सदृशः प्रबन्धमात्रस्यैव कृते कथाशरीरस्य रसस्य च आवश्यकीं स्थितिं प्रतिपादयति।[19] तावेव चात्र न भवतः। इत्थम्, अयं कश्चन अन्यविधोऽपि प्रबन्धात्मकः काव्यभेदो न सिद्ध्यति।

वस्तुतः अधिकमौलिकी स्थितिस्तु इयमस्ति यत् क्वचित् काव्यभेदसम्बन्धिनः प्रश्नास्तदोपस्थातुं शक्नुवन्ति यदा तत्र काव्यसामान्यं तु निर्णितं भवेत् किन्तु तदेव तत्त्वतो नावातिष्ठतेऽत्र।

अस्यां स्थितौ प्रस्तुतस्य ग्रन्थस्य कृते महाकाव्यम् इत्यभिधा ग्रन्थकर्तुः मानसे कुतः समागतेति प्रश्ने विचार्यमाणे इदं प्रतीतिविषयीभवति यद् अस्य ग्रन्थस्य पूर्णतया पद्यमयत्वादेव सम्भवतो लेखकोऽस्य 'आत्मविज्ञानम्' इत्यनेन वास्तवेन शीर्षकेण सहैव महाकाव्यम् इत्यस्यातिरिक्तस्य पदस्याप्यारोपणाय प्रेरितोऽभवत्:, यत्तु नितान्ततो असमीचीनमेव यतः पद्यमयत्वामात्रेणैव यदि कश्चन ग्रन्थः काव्यग्रन्थो भवितुमर्हेत्, तदा कारिकाभिर्निबद्धानि संस्कृतस्य सर्वाणि एव शास्त्राणि काव्यान्येव भवेयुः। वस्तुतः इयन्तु काव्यत्वस्य भयावहा अतिव्याप्तिर्भविष्यति।

अन्ततो निर्गलिततया वक्तुं शक्यते यदयम् अध्यात्मविज्ञानावबोधक एव कश्चन ग्रन्थोऽस्ति, काव्यत्वेन महाकाव्यत्वेन वा अस्य दूरतोऽपि कोऽपि सम्बन्धो नैव सम्भवति।

---

19 विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रक्षितस्य वा। उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः।।
--- ध्वन्यालोकः 3/10,।।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0144-156)

डॉ० रामकिरण शर्मा के उपन्यासों में आदर्शवाद

डॉ0 मंजुल गुप्ता
रीडर संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, रोहतक।

डॉ. रामकरण शर्मा आधुनिक संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों में से एक हैं। उनकी गणना मूर्धन्य साहित्यकारों में की जाती है। संस्कृत में रचित उनके दो उपन्यास हैं सीमा और रयीशः। उनके दोनों ही उपन्यासों में आदर्शवाद अपने विविध रूपों और आयामों में उपलब्ध होता है। आदर्श के इन सभी रूपों में प्रमुखतम आदर्श लोककल्याण का है, चाहे सामाजिक हो या वैयक्तिक, राजनीतिक हो या वैज्ञानिक, सब में लोककल्याण को ही प्रमुखतया ध्यान में रखा गया है। इनके उपन्यासों में उपलब्ध आदर्शों को हम निम्न वर्गों में रखकर देख सकते हैं।

लोक कल्याण का आदर्शः-

सीमा में लोककल्याण का आदर्श स्थान स्थान पर उपस्थित किया गया है। पृ0 11, 12, 23, 28, 82, 83, 84, 85, 86, 89, 98, 99, 100, 110, 113, 117, 120, 126, 127, 129, 132, 133, 134, 135, 142 पर देखा जा सकता है। किं बहुना, लोककल्याण का आदर्श उपन्यास में आद्यन्त विद्यमान है। यथा कुमार के प्रवचन के प्रभाव में **सुसंस्कृतं किमपि निर्मलं वपुर्दधुस्तत्र चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः कुमारप्रवचनहरचरणन्यासगङ्गावगाहनविगत-कल्मषा।ः। अवर्धत काचिदभिनवा सेवाभावना परितः। असेवत राजा प्रजाः स्वकीयाः सन्ततीरिव। यथास्थानं यथाशक्ति यथाप्रतिभमसेवन्त राज्यं सर्वाऽपि प्रजाः। अवर्धन्त सर्वा विद्या सर्वभावेन। अवर्धन्त सर्वाः कलाः। .... वनिता अपि स्वयं रक्षिताः स्वयंवराः स्वतन्त्रा विद्याविनयसम्पन्ना मातृशक्तयो निजकुले राष्ट्रकुले च शक्तिं, निष्ठां कलानुरागं निर्मलवृत्तींश्च रामणीयकं सुरुचिं चावर्धयन्। अवर्धन्त प्रजाकुलसम्पदाः। अवर्धत राजकोषः अक्षयमजयमभवत्तद्राष्ट्रम्। विद्याविनयशक्तिर्भूतिमतीव सर्वत्र बभौ, ददौ, दधौ च सर्वमनवद्यं सत्यं शिवं सुन्दरम्।'**[1] इन पंक्तियों में लोककल्याण के आदर्श के साथ साथ सामाजिक और राष्ट्रिय तथा राजनीतिक आदर्श भी अभिव्यञ्जित हुआ है। समाज में, राष्ट्र में स्त्रियाँ स्वयंवरा हों, वृद्ध अच्छे संस्कारों के प्रवर्तक हों, बच्चे हंसते हुए निर्मल वस्त्र धारण किये हों और युवा नूतन उत्साह से युक्त हों।

अपने दुष्कर्मों का निश्छल वर्णन सभी वैयक्तिक और सामाजिक आधियों का परम औषध है और इस प्रकार की स्वीकारोक्ति समस्त राष्ट्र की शक्ति और दाम्भिक धर्मध्वजों से

---

1 सीमा, पृ0 11, 12

आच्छादित सत्यनिष्ठा की परम जय के लिए होती है।[2] प्रज्ञापराध सब वैषम्यों का मूल है। मल अपना भी और दूसरे मलों का भी संस्कारक होता है, **अत एव विकारा भवन्ति शमनीयाः संस्कार्याश्च सामरसेन परमशिवेन परस्परामिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तिना न तु समुच्छेद्याः समूलम्।'**[3] धातु, मल और क्रियाओं में समता हो। इन पंक्तियों में सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्श भी प्रस्तुत है। लोककल्याण का आदर्श है कि मित्रामित्र से समान अभय हो। समरसता का आश्रय लिए लक्ष्मी चंचल न हो, असीम जिज्ञासा के आश्रय वाली लोककल्याण को ही लक्ष्य रखकर ज्ञान प्रधाना सरस्वती वितण्डा न करें। **'निखिलमपि शिवं सत्यं सुन्दरं निसर्गस्य स्वयं तत्र परिनृत्यति, परिनर्त्तयति च सर्वान्। न तत्र लौहकनबन्धनदासता कस्यापि कुत्रचित्। विसर्पन्तीव तथापि तत्र प्रत्येकं लोकस्य चरणयोरहमहमिकयेव सर्वा अपि समृद्धयः शान्तयश्च। किमस्ति तदाध्यात्मिककाधिभौतिकं वा सुखमुत्तमोत्तमं यत्तत्र नास्ति।'**[4]

रयीशः में भी लोककल्याण का आदर्श विभिन्न पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ भी आद्यान्त यही आदर्श सर्वत्र व्याप्त है। मुनीन्द्र तथा सुधाकर मिश्र के माध्यम से ही कवि ने अपना आदर्श प्रस्तुत किया है तथा मुनीन्द्र के शब्दों में-**'जनपदकल्याणार्थमेव किमपि मे रहसि निवेदनीयम्।' तथा च लोकाराधानमेव ही परमो धर्मः स्नातकानामस्माकम्'**।[5] तथा मुनीन्द्र के विषय में इस उक्ति में- **'तव तु द्वे एवारध्ये। गुरुकुलं लोककुलञ्च'**।[6] इस उपन्यास में भी ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय के आदर्श को प्रस्तुत किया है, यथा सुधाकर मिश्र के व्यक्तित्व वर्णन में- **'अवलोक्यत च कोऽपि वृद्धस्तेजस्वी पुरुषतरुमूलमध्यासीनो मूर्तिमानिव ब्रह्मक्षत्रमहिम्नोः समन्वयस्य।'**[7] **अकुतोभय एष विहरति जनपदाज्जनपदे सर्वभूतहिते रतः।'**[8] सुधाकर मिश्र आततायियों के लिए भी क्षमा याचना करता है क्योंकि उनका हृदय परिवर्तन हो गया है। सुधाकर मिश्र द्वारा आततायियों के लिए क्षमायाचना में और सीमा में लोकबन्धु द्वारा क्षमायाचना में गाँधीजी का आदर्शवाद भी उपस्थित किया गया है।

अहिंसा का आदर्श :

दूसरा प्रमुख आदर्श कवि ने अहिंसा का प्रस्तुत किया है। कवि गान्धीवाद विचारधारा के पोषक हैं और उन्होंने अपने दोनों उपन्यासों में स्थान-स्थान पर अहिंसा और हृदय परिवर्तन पर बल दिया है। सीमा में अहिंसा का आदर्श पृ0 42, 45, 84, 114, 124 आदि पर अभिव्यक्त हुआ है तथा महर्षि गालव के विषय में यह कथन-**'सर्वेऽप्यत्र सुहृदस्तस्य**

---

2 वही0 पृ0 98
3 वही, पृ0 99 100
4 वही, पृ0 110
5 रयीश, पृ0 2
6 वही, पृ0 17
7 वही, पृ07
8 वही, पृ09

महर्षेश्चराचराः प्राणवन्तः। नात्र हिनस्ति कोऽपि कञ्चन।'[९] **यथा च अहिंसयैव स चिकीर्षति सर्वेषां सर्वमनुशासनम्'**[१०] लोकबन्धु अहिंसाव्रत का आदर्श है। जो आततायी उसको मारने वाले थे, उनके लिए भी वह राजगुरु से जीवन याचना करता है-**'अहिंसाव्रतं मामुद्दिश्य प्राणदण्डैर्दण्ड्यन्ते ते कौरुरराजप्रासादवास्तव्या इति नाहमिदमयशः कदापि शक्ष्यामि सोढुम्।'**[११] **पशुमपि न जिंघासति यस्य देशस्य जनपद ईदृशः सम्पन्न आध्यात्मिकाधिभौतिक- सुखसम्पद्भिः कः कथं कल्पत्यप्याक्रान्तुमीदृशं देशम्? कोऽपि विजिगीषुः सद्य स्वयमेव विजितो भविष्यतीति निश्चयो मे।'**[१२] तथा **'नैकोऽपि हतो योद्धाऽत्रत्यस्तत्रत्यो वा। ग्रामीणा सुरक्षाव्यवस्था अहिंसात्मका सुधाकरमिश्रकल्पिता रहस्यात्मिकाऽत्रायत समस्तमपि राष्ट्रं महतः सङ्कटात्।'**[१३] में भी अहिंसा सुरक्षाव्यवस्था का गौरव स्पष्ट है। सुधाकर मिश्र की प्रशंसा में भी यही बात प्रकट है-**'निहत्य भावना हिस्राः सर्वाः प्रतिष्ठिापितमत्रभवता साम्राज्यमक्षय्यमजय्यमहिंसायाः सर्वत्र वसुधातले। शक्तिरहिंसाया गरीयसी हिंसाशक्तेः। शक्तिः सौहार्दस्य गरीयसी शात्रवशक्तेरिति नूनमद्यात्रभवता प्रमाणीकृतं विलक्षणयाऽनया प्रतिक्रियया।'**[१४] वैज्ञानिक शिरोमणि के कथन से भी यही बात प्रकट है-**'न वयं जिंघासामः पिपीलिकामप्येकां भवद्देशस्य जिंघासामो वयं हिंसावृत्तीरेव भवदीया आत्मपरघातिनाः।'**[१५]

इसके अतिरिक्त दोनों ही उपन्यासों में अहिंसा और करुणा से हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। सीमा में गालव के प्रभाव से मनोहर का, दुर्गाधिपति का, लोकबन्धु के प्रभाव से कौबेर षडयन्त्रकारियों का और रयीशः में सुधाकर के कारण वृकोदर, उसके पुत्रों और षडयन्त्रकारियों का हृदय-परिवर्तन होता है।

राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श :-

कवि ने अपने उपन्यासों में राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श को भी उपस्थित किया है। सीमा में पृ० 11, 12, 23, 33, 36, 37, 45, 70, 78, 86, 93, 94, 102-104, 121, 123-125, 129, 133, 139, 140 आदि पर जगह-जगह राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श प्रस्तुत किए हैं। त्रिभुजात्मक पञ्च देशों के समन्वय रूप मनोहर राष्ट्र की कल्पना भी राष्ट्रिय आदर्श की ही देन है। आदर्श राज्य में कोई अबल या अबला नहीं होनी चाहिए।[16] राजा लोकबन्धु के राज्य

---

9 सी पृ0 42
10 सीमा पृ0 45
11 वही पृ0 93
12 वही पृ0 57
13 वही पृ0 58
14 वही पृ0 59
15 वही पृ0 64
16 सी0 पृ0 33

का वर्णन करते हुए आदर्श राज्य की ओर ही संकेत किया है-'**राजा लोकबन्धुर्नाम्ना मनसा वाचा कर्मणा च तथैवाभवत्। उपदेशक एव स महर्षेरनुभावात् सर्वमसाधयत् कल्याणाय निखिलराजप्रजाकुलस्य।**'[17] तथा-'**एकमेवासीद् राज्यसञ्चालनसूत्रं तस्य राज्ञः। तदासीत् सर्वकल्याणविधानं सर्वभावेन। न तस्यासीत् कश्चित् स्वकीयः। कश्चिद्वा परकीयः। .... योग इव राज्यसञ्चालनेऽपि जयन्ति मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः सुखदुःखपुण्यापुण्य-संस्कारिका महाशक्तयः।**'[१८] लोकभ्युदय और निःश्रेयस में राजाओं का अहंकार परम शत्रु होता हैं अतः वह निरहङ्कार, निरहंवाद था, उसने एक का ही वध किया और वह था, '**तदासीदहंवादाश्रितोऽहङ्कारः स्वकीयो वैयक्तिकः। तत्स्थाने व्यराजन्त तस्मिन् गुरुभक्तिर्निष्ठा, राष्ट्रभक्तिर्निष्ठा समाजभक्तिर्निष्ठाश्च।**'[19]

ऐन्द्र देश के वर्णन में राज्य की भौतिक समृद्धि के आदर्श को उपस्थित किया है। जहाँ भौतिक अभाव का ही अभाव हो वहाँ कोई किसलिए किसको मारेगा, दाम्भिकता, असत्यता या तस्करी का आश्रय लेगा, वहाँ कोई किसी रमणी से दुर्व्यवहार नहीं करता, मार्ग, सरिताएँ मलों से मलिन नहीं होते, न ही विकारक धुएं, धूल मच्छर, मक्खी या शारीरिक रोग होते हैं। किन्तु आततइयों के वध को छोडकर कभी भी सौरविज्ञान का प्रयोग हिंसा या युद्ध के लिए नहीं होता।[20] राष्ट्रीय आदर्श की आवश्यकता है कि लोकबन्धु और लोकपाल जैसे लोग समस्त त्रिभुज राष्ट्र का सांस्कारिक साम्राज्य का सञ्चालन करें, उन जैसों की शक्ति का अपव्यय दैनन्दिन राज्यसञ्चालन में न हो।[21] त्रिभुज राष्ट्र का प्रत्येक वर्ष प्रत्येक राजसिंहासन बदल दिया जाए। राज्य सञ्चालन पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी कर सकती हैं-'**पुरुष एव राज्यं सञ्चालयेदिति नास्ति नियमः।**'[२२] इसमें कवि ने स्त्री पुरुष की समता का आदर्श भी उपस्थित किया है। त्रिभुज राष्ट्र की कल्पना राजनैतिक आदर्श है जिसमें तीनों ही राज्य स्वतन्त्र, परस्पराश्रित, स्वतः परिपूर्ण बढ़ें और समस्त राष्ट्र की अध्यक्षता सौर विज्ञानाचार्य करें। अपने अपने कर्म में लगे राजदम्पती राष्ट्र की सेवा करें, राष्ट्र से विभक्त हुए भी प्रेमभाव से बन्धे रहें।[23] राजनैतिक आदर्श यह भी है-'**न वस्तु सर्वं भवति समक्षं सर्वेषां प्रकाश्यम्।**' दण्ड और अनुग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं-'**नास्ति कोऽपि तादृगनुग्रहो न भवेद्यत्र दण्डः। तथैव दण्डेऽपि**

---

17 वही,पृ0 36
18 वही, पृ0 37
19 वही, पृ0 37,38
20 वही, पृ0 77,78
21 वही, पृ0 102
22 वही, पृ0 103
23 वही, पृ0 105

सर्वत्रावलोकयितुं शक्यते परमानुग्रहोऽपि।[२४] राज्य में सीमा का अतिक्रमण न हो, अपवाद नियम न हों।[25]

जनपदाध्यक्ष भी गुणवृत्तिविभक्त अपना व्यवसाय न भूले। करेंसी नोटों की बढ़ती संख्या नियन्त्रित की जाए, सुरक्षित स्वर्ण बैंक की स्थापना हो। सब जनपदों के जागरूक होने पर, सर्वप्रभुत्व सम्पन्न होने, वैज्ञानिक शालाओं के सावधान होने पर देश के किसी भी कोने का अलक्ष्मी कैसे स्पर्श कर सकती है, या आक्रमण, असुरक्षा का भय कैसे हो सकता है? आदर्श राष्ट्र में आवास की विषमता नहीं होती, सभी जनपद अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक मानते हैं, न दातृत्व का अभिमान है, न लेने की लघिमा, न उपकारक उपकार्य का भेद होता है। किसी भी प्रकार जनपदाध्यक्षता, प्रधानता या अनुशास्तृता किसी का भी शाश्वतिक व्यवसाय न हो, क्योंकि इस प्रकार के औपाधिक व्यवसायों के शाश्वतीकरण से परिवार, कुल, समाज, समत्वबुद्धि, विश्वसनीयता, सत्य सत्व शक्ति, राष्ट्र, विश्व नष्ट हो जाते हैं।[26] जनपद की वाञ्छा ही प्रधान हो। देश की समस्या न घर में लायी जाए न घर की कार्यालय में ले जायी जाए।[27] संवैधानिक आदर्श इन शब्दों से भी प्रकट होता है-**'संविधानं कस्यापि देशस्य न मृत्पात्रवत् सदा भवति परिवर्त्तनीयम्।'**[२८] केवल प्रधान पद के लिए ही क्यों वय: निर्धारित हो। वय: सीमाविषयक नियम वैषम्याक्रान्त हैं। आदर्श संविधान में कोई भी 75 वर्ष से ऊपर का प्रधान न हो। सभी पदों के लिए एक ही व्यवस्था हो। स्वयं व्यवस्थापित सुरक्षा में केन्द्र सुरक्षाधिकारी, गृहविभाग प्रमुख के पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। राष्ट्रशक्ति सुसंकृत, परस्पर प्रगाढ़ सम्बद्ध, श्रद्धा, विश्वास, स्नेह से सिक्त परिवारशक्तियों, समाजशक्तियों से सम्यक् बढ़े। न परिवार विभक्त हों, न महिला पुरुषों से, न बहिनें भाइयों से, न तरुण वृद्धों से विभक्त हों। **सर्वे सम्भूय, यथौचित्यं स्वं स्वयं नियोगमनुतिष्ठन्ति, पुष्णन्ति च परिवारमपि, समाजमपि, राष्ट्रमपि।'**[२९] ऐसे में न जाति-वर्ग भेद, न दुरतिहास, न क्षुद्रस्वार्थ उत्पन्न होते हैं। यथा साम्य नियम सब कुछ भोगते हैं; जिससे सब ओर सौमनस्य सौहार्द बढ़ता है।[30] आदर्श राष्ट्र में क्रिया ही केवल उत्तर हो, मिथ्याश्वासन या संदेश न हों। इस प्रकार राजनैतिक, राष्ट्रिय और संवैधानिक आदर्श उपस्थित किया गया है।

---

24 वही, पृ0 102
25 वही, पृ0 118
26 वही, पृ0 102-107
27 वही, पृ0 94
28 वही, पृ0 100
29 वही, पृ0 101
30 वही, पृ0 102

सामाजिक आदर्श

डॉ0 रामकरण शर्मा ने दोनों उपन्यासों में सामाजिक आदर्श को भी लिया है। यथा सीमा में कवि का मानना है कि प्रकृति या जन्म से कोई चोर नहीं होता, मिथ्या अभियोग लगाकर जब दीन को जेल में डाल दिया जाता है तो वह चोर हो जाता है। करुणा से चोर का हृदय भी परिवर्तित हो जाता है।[31] कवि का मत है-**'प्रायेण दुर्बला भवन्त्यपराधिणः। बहि सबलत्वं तेषामावरणमन्तर्दौबलस्य।'**[३२] समाज में अतिथि सत्कार भी करणीय है, अभ्यागत की अवमानना होने पर प्रायश्चित भी आचरणीय है।[33] पराग्वर्ती लोकव्यवहार में सर्वत्र सीमाएँ प्रकृति परतन्त्र हैं।[34] प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम ही होता है।[35] प्रणय बन्धान के निश्छल सीमान्त में सभी सीमाएँ प्रकृत्या तिरोहित हो जाती हैं। ब्रह्म और राजकुल के प्रणयाधारित सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं है,[36] किन्तु विवाह सधर्मा ही हों, परिणय में गोत्रगत और भूगोलगत दूरी हो। संकर परिहरणीय है, सङ्कर होने पर सङ्गम मध्यमार्ग में ही रुक जायेंगे-**'परिणयो नाम सङ्गमः सहजश्चित्तयोर्द्वयोरकृत्रिमस्तत्सहकृत एकीभावश्च। अनेकयोरेकतायाः प्रत्येकं चानेकताया उदय उभयोश्च समीकारात्मकः स्वीकारः परिणयसंस्कारः संस्कारकोत्तमः संस्काराणाम्।'**[३७] परिणय का आदर्श है। ब्रह्म, क्षत्र, विज्ञान नामक तीनों शक्तियाँ इस प्रकार के सङ्गमों से उपकृत, संस्कृत बढ़ेंगी। जिस किसी विधि से जिस किसी के साथ सम्बन्ध गुणों के उत्कर्ष के लिए, कल्याण के लिए नहीं होगा। सीमा रखने पर सभी विद्या, गुण और उनके प्रयोग बढ़ेंगे। हठाद् आरोपित विद्या या व्यक्ति नये नये मदों, ईर्ष्या और विकारों को जन्म देगा। गुण कर्म विभाग ही धर्मों का अवच्छेदक हो, नियतिकृत गुण विषमता है किन्तु सब एक दूसरे के गुणों का आदर करेंगे।[38]

रयीशः में भी सामाजिक आदर्श इसी रूप में उपस्थित हुए हैं। वहाँ भी इसी बात की पुष्टि है कि **'अन्तर्ममहादुर्बला एव भवन्ति शस्त्रैकशक्तयो आततायिनः।'**[३९] ममतामय मातृहृदय निर्मम पुरुषों में भी ममता का सञ्चार करता है। सामूहिक उत्सवों में सभी मिलकर मांगलिक गीत गायें। चाहे कन्या कितनी ही सद्वृत्त हो किन्तु कुलकलङ्क, राष्ट्र और समाज के कुल कलङ्क पिता की पुत्री और भाइयों की बहिन होने पर निन्दा मिलती है।[40] स्वस्थ वृत्त का

---

31 वही, पृ0 2-5
32 वही, पृ0 6
33 वही, पृ0 8
34 वही, पृ0 10
35 वही, पृ0 10
36 वही, पृ0 10
37 वही, पृ0 131
38 वही, पृ0 133-137
39 रयीश पृ0 13
40 वही, पृ0 31

अनुसरण करते हुए सतत साम्यावस्था वाले कभी धातुवैषम्य से युक्त नहीं होते। यहाँ भी परस्पराश्रित स्वतन्त्रता और समता का आदर्श उपस्थित किया है।[41] समाज में सभी व्यवसाय जागरूक हों, न श्री की उपेक्षा हो न सरस्वती की, न व्यवसाय की न स्वास्थ्य की, न समाज की न नियति के सहज वैविध्य की।[42] आदर्श सामाजिक व्यवस्था में विदेशियों के भाषाविभाजन या कुलविभाजन शास्त्रीय-सभी प्रयोग असफल हो जाते हैं।[43] वायुमण्डल दुर्धूम से रहित हो, आधुनिक यान भी धुएँ के विकार से रहित, नाक कान को सुख देने वाले, दूर जाने वाले हों, इनके साथ ही पशुओं से चालित सुविकसित सुगम यान हों। बकरे बकरियां आदि भी बच्चों के सहचर हों। युवक युवतियाँ उपाधि के इच्छुक न हों, बच्चे खेलकूद में ही पढ़ें और सीखें। सब आधि, व्याधि, अभावों का उत्तर केवल क्रिया है। आधुनिक और प्राचीन चिकित्सा विज्ञान का समन्वय हो, किसी विद्वान् का परिवार भूखा, वस्त्रहीन, आवास हीन न हो।[44] किसी का ज्ञान अभाव में कागजो में ही नष्ट न हो जाए। समाज में यन्त्रों का प्रयोग हो किन्तु जीवन ही यान्त्रिक न हो जाए। समाज आत्महीन या आत्मसंगीतहीन न हो।[45]

वैज्ञानिक आदर्श

दोनों ही उपन्यासों में वैज्ञानिक आदर्श को भी प्रस्तुत किया है। सीमा में सौरविज्ञानाचार्य के द्वारा और रयीशः में चर्मेश्वर मन्दिर के वैज्ञानिकों द्वारा। सीमा में ऐन्द्र देश की भौतिक सम्पन्नता में सौरविज्ञान का आदर्श उपस्थित किया है, जहाँ सौरशक्ति के प्रभाव से न धूलि, न मच्छर, सभी काल की ऋतुएँ उपलब्ध, शरीरों में कोई रोग नहीं, कोई मल सरिता या मार्ग को मलिन नहीं करते, कोई धूम विकार नहीं।[46] सौर-विज्ञान की महिमा से कुछ भी अचल चल करना संभव, अगले दिन याद किए या करे जाने वाला यथाकाल हो जाता है। किन्तु सौर शक्ति संकलन विज्ञान के महर्षि का एक ही आग्रह कि **'आततायिवधवर्जं न कदापि भवेत् कदापि हिंसार्थं युद्धार्थं वाऽस्य शास्त्रस्य प्रयोग इति।'**[४७]

इसी प्रकार रयीशः में सुमनःपुर के वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित चमेश्वर मन्दिर चर्मविज्ञान के नये-नये चमत्कार प्रकट करता है। पशुओं के चर्म उनकी आयु के अवसान पर ही परमाधुनिक शैली से संगृहीत किये जाते हैं, चर्मव्यवसाय केन्द्रों में भी कोई दुर्गन्ध नहीं है। बकरे भी किसी उपाय से सुगन्धित कर दिए जाते हैं। वैज्ञानिक कल्पनाऐं भी सात्त्विक हों, फैक्ट्रियाँ भी सौरशक्ति से संचालित हों। वायुमण्डल प्रदूषक दुर्धूम न फैंके, आधुनिक यान भी धूम रहित

---

41 वही, पृ0 63, 65
42 वही, पृ0 73, 74
43 वही, पृ0 45
44 वही, पृ0 90-93
45 वही, पृ0 97
46 सीमा, पृ0 77, 78
47 वही, पृ0 78

हों।[48] सुमनःपुर के कुछ वैज्ञानिक भूमि की उर्वरता नव नव निसर्गज आविष्कारों से बढ़ाते हैं। सब क्षेत्र यथासमय गङ्गा का जल पीयें, इसलिए कुछ धूमरहित निष्कलुष यन्त्रों का निर्माण करते हैं तो कुछ वस्त्रों के मल, कुछ शरीरों के, कुछ वचनों के, कुछ मन के और कुछ गलियों के मल धोते हैं।[49] वैज्ञानिक आविष्कारों में यहाँ भी अभेद्यतालिका और गोपनीयता है क्योंकि, **अनधिकारिहस्तगत अविष्कारो भवति स्वघातक उन्मत्तहस्तगतः कृपाण इवेति................।**[50] सभी सत्य सदा प्रकाश्य नहीं होता। वैज्ञानिक दूरनियन्त्रक सुरक्षाविधि सबके सामने प्रयोग करते हैं किन्तु उनके निर्माण का कुलपरम्परागत गोपनीय पाण्डुलिपियों से प्राप्त किया गया रहस्य किसी को नहीं पता क्योंकि दुरभिनिवेश निरङ्कुश शासक इस सुरक्षाविधि का दुरुपयोग कर सकते हैं। तब तो प्रकृति का करुणाभिनिवेश ही नष्ट हो जायेगा और यह विज्ञान का प्रसार प्रकृति का महान् विश्वासघातक होगा, इसलिए पाण्डुलिपियों का प्रकाशन उचित नहीं।[51] वैज्ञानिक प्रयोगविधि दूसरों के ध्वंस, परिसर के प्रदूषण के लिए न हो। **'शक्तिः सौरी, शक्तिर्मलानां मानुषाणां पाशवादीनामन्यदीनां च संस्कृतानां तथा प्रयुन्यतां यथा सम्यगाराध्येत (न तु प्रकोप्येत) निसर्गः न वा प्रदूष्येरन् क्षितिजलपावकगगनसमीराः।"**[52]

आर्थिक आदर्श

डॉ0 रामकरण शर्मा ने अपने उपन्यासों में आर्थिक आदर्श को भी लिया है। कवि का मानना है कि **'हरणं यथाऽपराधस्तथैवाऽऽहरणमपीति"**[53] पूर्व चोर को कोई ऐसी जीविका वृत्ति दी जाए जिससे वह अपना और अपने परिवार का भरणपोषण कर सके और सुखपूर्वक रह सके।[54] आर्थिक आदर्श ऐन्द्र राज्य में जहाँ मणिकाञ्चननिर्मित अभ्रंलिह प्रासाद हैं, पशु भी दूध पीते हैं, भौतिक अभाव का भी अभाव है तो तस्करी, दाम्भिकता या असत्य आचारता का आश्रय क्यों लिया जायेगा।[55] सीमा की अपेक्षा रयीशः में लेखक ने आर्थिक आदर्श को अधिक विशद रूप में लिया है। सम्पत्ति ही परमापदाओं का स्थान है।[56] देश के नेता वैदेशिकों को बुलाते हैं और मिलकर राष्ट्रिय सम्पत्ति लूटते हैं। आततायियों से छीनकर सभी धन सीलकर राजकोष में रखा जाए। आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि जनपदवासी अपने उत्पन्न फलों का भोग

---

48 रयीश, पृ0 74-76
49 वही, पृ0 56
50 वही, पृ0 56
51 वही, पृ0 65, 78
52 वही, पृ0 56
53 सीमा, पृ0 5
54 सी0 पृ0 5-6
55 वही, पृ0 77-79
56 रयीश, पृ0 2

करें, शेष अवशिष्ट ही बचे।[57] भूमि पर सबका समान अधिकार हो। सुवर्ण बैंक के रूप में आर्थिक आदर्श प्रस्तुत किया है। सुवर्ण बैंक की स्थापना हो, जिसमें सुवर्ण निचय बढ़ाया जाता है, करेंसी नोटों की व्यक्त या अव्यक्त स्फीति नहीं होती। आवश्यकतानुसार वैसी मुद्राएँ सञ्चित भी की जाती हैं। जो भी बैंक में सुवर्ण राशि सञ्चित होती है, उसमें सभी समान रूप से अधिकार रखते हैं, विशिष्ट अवसरों पर आभूषण लेकर पहिने जाते हैं, किन्तु लौटाने होते हैं। विशिष्ट अतिथियों के लिए सबकी सम्मति से जो उपहार दिया जाता है वह अनिवर्त्तनीय होता है।'[58] प्रति व्यक्ति प्रतिमास दश सहस्रात्मक मुद्राराशि उपार्जनीय, उससे अधिक सुवर्ण रूप में होकर सुवर्ण बैंक में जमा हो, शिशु भी जन्म से ही वेतन प्राप्त करे। जनपदाध्यक्ष की सञ्चित सम्पत्ति जनपद की ही हो।[59]

शिक्षा का आदर्श

दोनों ही उपन्यासों में शिक्षा का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है। सीमा में कवि के अनुसार प्रकृति स्वयं सब कुछ सिखा देती है-'अहर्निशं प्रवर्त्तमाना व्यापका हि भवन्त्युपदेशाः प्रकृतेः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रतायाः सीम्नि सम्मानितायामौचित्यबोधोऽपि निसर्गजः स्वयमेव वर्धते।'[६०] गुरुओं की सूत्रशैली शिष्यों में सन्देहपूर्वक अनेक जिज्ञासा उत्पन्न करती है और जिज्ञासु की उर्वर चित्तभूमि में ज्ञान बीज प्रोहित होते हैं।[61] विद्या अविद्या का भी क्षेत्र विशाल है, कौन विद्वान् है कौन अविद्वान्, निर्णय करना सम्भव नहीं है। प्रज्ञापराध सब वैषम्यों का मूल है।[62] विद्या का आदर्श इन शब्दों में उपस्थित किया है-'विद्योत्तमः साशेषगुरुकुलः सञ्चस्कार शुद्धीस्त्रिविधाः प्रतिव्यक्तिः, प्रतिगेहम्, मानसीर्वाचिकीः शारीरीश्च। न कश्चिदकृतविद्यः न कोऽपि निरक्षरोऽवर्त्तत निसमन्वयदर्शनो निःसमधातुमलक्रियश्च तस्मिन् मनोहरराष्ट्रे। भद्रश्रवसो भद्रवाचो भद्रदर्शनो भद्रङ्कराः सर्वे भद्रमानसाः सर्वतो भद्रं किमपि रचयामासुः सर्वे समस्तेऽपि मनोहरे सद्विद्यासंस्कृते।'[६३]

सीमा की अपेक्षा रयीशः में शिक्षा का आदर्श अधिक स्पष्ट और विस्तार से प्रकट किया है। सुमनःपुर के माध्यम से शिक्षा का आदर्श प्रस्तुत किया है तथा 5 वर्ष से अधिक आयु का कोई भी निरक्षर न हो, प्रायः 50 वर्ष से ऊपर की प्रबुद्ध गृहस्वामिनियों का समूह शिशुओं का शिक्षण करे और रात दिन शिशुओं के वाणी, मन और शरीर के संस्कार के लिए श्रमशीला हों। प्रारम्भ में शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो और माताएँ ही शिक्षिका हों, उसके बाद 5वीं या

---

57 वही, पृ0 20
58 वही, पृ0 24
59 वही, पृ0 85
60 सीमा पृ0 15
61 वही, पृ0 18
62 वही, पृ0 99
63 वही, पृ0 137

छठी में एक विदेशी भाषा भी कम्प्यूटर खिलौने के माध्यम से सिखायी जाए, जिससे कोई बोझ अनुभव नहीं होता। शिशु गधों की तरह पुस्तकों का भार न ढोयें। खेल में ही वे भाषाविज्ञान, साहित्य, गणितादि जानें और निसर्गज शैली में जिज्ञासा भी करें। माताएँ बचपन से ही ललित शैली में ज्ञान की पिपासा तथा सत्यासत्य विवेचना सामर्थ्य सुपरिचित भाषा के माध्यम से उत्पन्न करें।

सुपरिचित भाषा सबकी मातृभाषा होती है अत: उसके शिक्षण में बहुत काल या श्रम नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार अवकाश प्राप्त उद्भट वैज्ञानिक, भारतीय और अभारतीय, शिष्यों में वैज्ञानिक जिज्ञासा उत्पन्न करें तथा प्रयोगों और प्रयोगों के निश्चित ज्ञान के लिये प्रेरित करें। कोई भी निरगल व्याख्यान व्याख्यानशाला में प्रस्तुत न हो। आचार्य प्रश्नोत्तर प्रक्रिया से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करते हुए पलभर के लिए भी विश्राम न लें।[64] इस प्रकार नैसर्गिक व्याख्या स्वत: चालित रहे कि बचपन से लेकर वार्धक्य तक उत्तरोत्तर जिज्ञासाएँ बढ़ें। बच्चों में अभ्यास के साथ ही बोध की प्रस्तुति की प्रश्नोत्थापन की भी अप्रतिम शक्ति विकसित हो। युवा भी सुव्यवस्थापित पुस्तकालय और सुसंस्कृत प्रयोगशाला में समय बितायें। विदेशी विश्वविद्यालयों से भी विद्वान् आकर पुस्तकालय और प्रयोगशाला का प्रयोग करें। युवक-युवतियों की शिक्षा केवल उपाधिमात्र के लिए न हों, वे जिज्ञासा करें और तज्ज्ञों से विज्ञान प्राप्त करें, पुन: पुन: जिज्ञासा करें और पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला से समाधान प्राप्त करें और इस प्रकार नूतनातिनूतन ज्ञान विज्ञान के आविष्कार से आलोकित अन्त:करण वाले उन-उन अभिनव चमत्कारों का प्रयोग करें और करवायें। वृद्धावस्था में यद्यपि शिक्षकता सुगम है, शिष्यता नहीं तो भी शिष्यता का अभिनन्दन हो, प्राचीन के साथ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का भी आदर हो। विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त होने वाली शिक्षा शैली कृत्रिम हैं, अभ्यास की शैली कृत्रिम है, बच्चे जो पढ़ते हैं, भूल जाते हैं, कुछ विरले ही शिशु अनुशासनहीन हो जाते हैं। संस्कार प्रयोग रहित इस शिक्षा से कोई लाभ नहीं। इसका एक ही समाधान और आदर्श है- **'निरुपाधिकसहजज्ञानविज्ञान-प्रसार'**। हजारों महिलायें हैं जो शिशुओं को सहज शैली से पढ़ा सकती हैं, इसी प्रकार प्रत्येक ग्राम में पुस्तकालय और प्रयोगशालाएँ इस प्रकार की स्थापित हों, जिससे युवाओं की स्वाध्याय में, स्वाधीत प्रयोगों में रुचि बढ़े और सर्जनात्मक प्रतिभा बढ़े।[65] साथ ही किसी भी विद्वान् का ज्ञान अभाव में नष्ट न हो। गुणी की अवमानना न हो।

आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श

कवि ने अपने उपन्यासों में आध्यात्मिक, नैतिक आदर्श को भी लिया है और वैयक्तिक को भी। यह आदर्श सीमा में महर्षि गालव, लोकबन्धु, लोकपाल, सौरविज्ञानाचार्य तथा रयीश: में सुधाकरमिश्र, परशुराम मिश्र, राम और लक्ष्मण मिश्र तथा मुनीन्द्र के रूप में प्रकट हुआ है।

---

64 र0 पृ0 48

65 वही, पृ0 96, 97

आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण महर्षि गालव चोर के हृदय को, लोकबन्धु षड्यन्त्रकारियों के, लोकपाल मदनिका के, सुधाकर मिश्र वृकोदर, उसके पुत्रों और आततायियों के हृदय परिवर्तन करने में सक्षम हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष में ईश्वर की सत्ता में विश्वास होता है-**'विश्वम्भरो हि बिभर्ति सर्वान्, त्वामपि मामपि, सर्वानपि।'**[६६] आध्यात्मिक व्यक्ति किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता-**'नास्ति स मित्रममित्रं वा। कृपालुरेव स केवलं पुरुषविशेषः कश्चन।'**[६७] उसमें सब कुछ **'सर्वं निश्छलं सत्यं शिवं सुन्दरम्'** होता है।[68] आध्यात्मिक उत्कर्ष इन शब्दों में प्रकट हुआ है-**'नूनं मामतिशेषे त्वं निरभिमानः क्रान्तप्रज्ञः समुज्झितस्वः सिद्धलोकसेवः।'**[६९] सर्वात्मा विश्वविश्वात्मक ब्रह्म को अर्पित, स्व, अस्व के भेद से रहित, सम्पूर्ण वेदितव्य का ज्ञाता परन्तु स्वार्थ से अपरिचित, त्रिविध दुःख के आत्यन्तिक तापनिवृत्तिमूलक सकल ज्ञान विज्ञान का जानकार, सार्वभौमसाम्राज्य महाशक्तिशाली भी कुलक्रमागत विनय की परम सीमा को प्राप्त, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव होते हुए भी मानव के सहज स्वभाव का समादर करने वाला, सहजानुराग का समादर करते हुए भी चारित्रिकी, पारमार्थिकी, मौलिकी, राजनीतिकी धार्मिकी नीति को धारण करते हुए, शान्तिमयी, लोहे-सोने के बन्धन से मुक्त, युद्ध हिंसा को लुप्त करने वाली कथा युक्त, सामरस्य पर आश्रित, समस्त कुल संजीवनी स्वतन्त्रता को दिखाते हुए, कुमार ने स्वेच्छाचरितात्मक, उचितानुचितसंगमन के विवेक को भूलने वाली विधि को ही मानो धो डाला।[70] अपने अहंकार का नाश करना ही वैयक्तिक आदर्श है।[71] कर्तृत्व का अभिमान न हो, किसी से कोई अपेक्षा न करते हुए अपने कर्तव्य का ही ध्यान हो। द्वेषबुद्धि से अपरिचित, जन्म, कर्म और निसर्गतः शत्रुभावना से अपरिचित, सर्वदा प्रसन्न, निर्विकार, निर्दम्भ, निसर्गनन्दन, सहजानुराग सरल, सर्वात्मना सर्वहितसांधनभावना युक्त होना परम आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श है, जो लोकबन्धु में लक्षित होता है। **सर्वेषु यस्य आत्मा विलसति यस्मिंश्च विलसन्ति सर्वेषामात्मनः स महात्मा महाशक्तिः महाविनयविजयजयमालः कथं केन कुत्र जेतुं शक्यते।'**[७२]

रयीशः में भी इसी आदर्श को उपस्थित किया है यथा-**'निर्वेदनिःसङ्गनिस्पृहनिर्मम-करुणोद्रेकापास्तसमस्तस्वार्थधिषणः परमहंसायतेऽधुना जनपदाध्यक्षः।'**[७३] निसर्ग सरल, महामनस होना आध्यात्मिक आदर्श। सुधाकर मिश्र के द्वारा वैयक्तिक और आध्यात्मिक दोनों ही आदर्श उपस्थित किये हैं-**'मनसा वपुषा चायमहरहः सम्पदुपास्ते दैवींस्तथैव चोपासते वचसा**

---

66 सी0 पृ0 5
67 वही, पृ0 5
68 वही, पृ0 7
69 वही, पृ0 14
70 वही, पृ0 30
71 वही, पृ0 36
72 वही, पृ0 39
73 र0 पृ0 5

देववाणीम्। अकुतोभय एष विहरति जनपदाज्जनपदे सर्वभूतहिते रतः।'[७४] **नूनं बिभर्त्ति गरिमाणं सत्यस्य सुधाकर मिश्र! किन्तु विनयलघिमाऽपि तदीयः सर्वान् विस्मापयति। सेवते पशून्, सेवते शिशून्, प्रेरयति तरुणान्, शृणोति वृद्धान्, बोधयति वैज्ञानिकान्, सुरक्षति जनपदं स्वयमेव। तस्य नास्ति कश्चिदायः। अत एषोऽस्ति रयीशः। ऋते रसालास्वादनस्पर्धावसरात् स मितं पिबति, मितं भुङ्क्ते, मितं ब्रूते, मितं स्वपिति च।'**[७५] इस प्रकार यह वैयक्तिक और आध्यात्मिक आदर्श की चरम सीमा है। सुधाकर मिश्र में आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श प्रतिफलित हैं-**'अप्ययं देव ! कोऽपि मनुष्यवर्ष्मा? अथवाऽतिशेते देवमप्येषः?....... न दधते स्वाम्यं कपर्दिकाया अप्येष रयीश आर्यः। सर्वमस्य सार्वजनीनम्। नास्ति कोऽपि स्वार्थस्तदीयः।'** अलौकिक प्रायश्चित सभी अपराधों, पापों की कीचड़ को धो देता है।[76] कुलपति का कथन-**'मनोवाग्वपुर्मलानि प्रक्षालितानि सम्यगस्माभिः। किन्तु प्रक्षालकमपि भवति प्रक्षाल्यमन्ते'**[७७] भी आध्यात्मिक आदर्श को उपस्थित करता है। विद्या विनय और विनय पात्रता को उत्पन्न करती है। सुधाकर मिश्र के इन शब्दों में-**'सत्यमहं ब्रवीमि न केवलमहं न भजे कर्तत्वाभिमानं, वस्तुतो नैवाहमस्मि कर्ता विधाता वा कस्यचित् संविधानस्य वा तत्तज्जनपदसमृद्धीनां वा। द्रष्टाऽहमुदासीनो नूनं वर्ते, प्रसीदामि तां चावलोक्य कृत्स्नमिमं विकासक्रमं सात्त्विकं सर्वेषाम्'**[७८] भी कवि का आध्यात्मिक आदर्श स्पष्ट है कि पुरुष द्रष्टा, उदासीन हो। सर्वभूतहितरता उदासीनता ही परमशक्ति है। गुणवत्ता भी प्रयोजन के लिए हो। इस प्रकार कवि ने आध्यात्मिक और वैयक्तिक भारतीय संस्कृति के आदर्श को प्रस्तुत किया है।

डॉ0 रामकरण शर्मा ने सीमा में कुलमाता के रूप में और रयीशः में सुशीला के रूप में जननी के आदर्श को भी उपस्थित किया है यथा-**'यः कश्चिद् या काचिद् वा स्निह्यति तनुजे भवत्यसौ प्रकृत्या स्नेहभाजनं जनन्याः।'**[७९] **कुलमाता तु यथा लोकसमुदाचारं सिन्दूरैः पुष्पैः फलैः प्रसादैः सौगन्धिकैर्वनदेव्युपानीतैः प्रसादयन्ती समभिनन्दन्ती सर्वान् निखिलस्य स्वामिनी विश्वस्नेहस्य विश्वममताया विश्वकल्याणस्य च रराज दिव्यमातृतेजोमूर्त्तिर्जयन्तीव सर्वान् परमवात्सल्येन।'**[८०] माता का आदर्श-**'शिशुरेव पालनीयः सर्वभावेन। अयमेव महाव्रतभूतस्तवेदानीम्। अलं व्रतान्तरैः।........ किन्तु यावच्छक्यं मातरः स्वयं पुष्णन्तु शिशूनिति महानयमिभलाषः प्रकृतेस्त्वयापि पूरणीय एव।'**[८१] रयीशः में माता का आदर्श

---

74 वही, पृ0 9
75 वही, पृ0 74
76 वही, पृ0 44
77 वही, पृ0 53
78 वही, पृ0 105
79 सी0 पृ0 17
80 वही, पृ0 101
81 वही, पृ0 108

सुशीला के शब्दों में-'**कथङ्कारं जानीयास्त्वं मातृहृदयम्। प्रकृत्यैव ममतान्धं भवति तत्।**'[82] तथा जनपदाध्यक्षा के शब्दों से-'**न सुलभा जनन्यो लोके भवादृशः। धन्यास्ति भवती यथा समस्तमपि कुलं मानवजननीनां वर्त्तमानानामतीतानां भविष्यन्तीनां च कृतार्थतां नीतम्। अहमहमिकयेव विश्वस्यापित विश्वस्य जनन्य इमं पुत्रीयन्तितमाम्।**'[83] प्रकट होता है।

इस प्रकार डॉ0 रामकरण शर्मा ने अपने दोनों ही उपन्यासों में भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रेरित, विविध आदर्श उपस्थित किये हैं। इनके दोनों उपन्यासों में एक से ही आदर्श उपस्थित किये गए हैं, किन्तु सभी आदर्शों के मूल में लोक कल्याण, परस्पराश्रित स्वतन्त्रता, समरसता का आदर्श ही अनुस्यूत है। लोकमङ्गल सूत्र है, जिसमें सभी आदर्श गुँथे हुए हैं।

---

82 रयीश, पृ0 17

83 वही, पृ0 18

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0157-164)

राजशेखर और साहित्यिक आदान-प्रदान

डॉ0 किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत-विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय,
नैनीताल (उत्तरांचल)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए वह लेन-देन के सिद्धान्त से बच नहीं सकता। वह अपने पूर्वजों एवं समकालीन व्यक्तियों से, परम्पराओं, आदर्शों, शिक्षाओं एवं बहुत-सी भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करता है तथा अपने समकालीन व्यक्तियों एवं वंशजों को बहुत कुछ दे भी जाता है। समाज का सदस्य होने के कारण कवि भी इस लेन-देन के व्यवहार से अछूता नहीं रह सकता। हम देखते हैं कि महाकवि भास, महाकवि कालिदास, महाकवि भारवि, महाकवि माघ, महाकवि कुमारदास, महाकवि बाणभट्ट आदि ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन रचनाकारों से कथानक, भाषाशैली आदि को बड़ी सुन्दरता से ग्रहण किया है तथा समकालीन रचनाकारों एवं परवर्ती रचनाकारों को अपनी भाषाशैली से प्रभावित भी किया है। यद्यपि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि अपने पूर्ववर्ती अथवा समवर्ती कवियों से भाषाशैली, शब्द, अर्थ आदि का आहरण करना चोरी है --

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति।।[1]

तथा पण्डितराज जगन्नाथ तो इस साहित्यिक आदान-प्रदान की अपेक्षा सर्वथा मौलिकता के ही पक्षपाती हैं --

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।[2]

किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो महत्ता मौलिक कृति की है, वही महत्ता उस पुरातन कृति की है, जिसे महाकवि, अपने सामर्थ्य से, सुवर्ण को नित नये सुन्दर डिजाइन में ढालने वाले स्वर्णकार की भाँति, सर्वथा नवीन एवं मनोहारी रूप प्रदान कर देता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब कोई कवि किसी अन्य कवि की कृति से प्रभावित होकर लिखे तो ऐसा लिखे कि पढ़ने-सुनने वाला वाह-वाह कर उठे। हाँ, किसी ओर कवि की रचना को अथ से इति तक पूरी की पूरी अविकल रूप से अपनी कहना तो निस्सन्देह चोरी है और जघन्य कृत्य

1 विक्रमांकदेवचरित,
2 पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्र0 आ0

की भी श्रेणी में आता है। किन्तु रामायण की कथा पर आधारित प्रतिमानाटकम्, रघुवंश, जानकीहरण, महावीरचरितम्, उत्तररामचरितम् आदि तथा महाभारत के कथानक पर आधारित मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, नलचम्पू, नैषधीयचरितम् आदि सुन्दर कृतियों को कौन सहृदय विज्ञ व्यक्ति साहित्यिक चोरी के अन्तर्गत रखने का दुस्साहस कर सकता है।

कवि एवं काव्यशास्त्रीय आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यमीमांसा[3] में इस प्रकार के आदान प्रदान को 'हरण' संज्ञा से सम्बोधित किया है और बड़े विस्तार से इस ग्रन्थ के एकादश, द्वादश एवं त्रयोदश अध्याय में शब्दहरण एवं अर्थ हरण को भेद-प्रभेद एवं उदाहरणों से समझाया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि कवि अपने समय में उपलब्ध रचनाओं से इस प्रकार 'हरण' करे कि अनुचित न लगे, एतदर्थ उन्होंने हरण के दो प्रकार बताए हैं-त्याज्य एवं अनुग्राह्य। अर्थात् समाज में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की ग्रहण करने योग्य बातों को ही ग्रहण करता है, ताकि उसके व्यक्तित्व में निखार आये, न कि उसका व्यक्तित्व दूसरे की प्रतिछाया लगे। इसी प्रकार कवि के लिए भी दूसरे कवि की रचनाओं की सभी बातें लेने लायक नहीं होतीं तथा ग्रहण की गई बातों में उसे नवीनता लानी ही होती है। यद्यपि कोई कवि कितने प्रकार का आदान करता है, इसकी कोई सीमा नहीं है, तथापि कुछ समालोचकों ने अपनी समीक्षाशील लेखनी द्वारा बताया है कि कवि कथानक, शब्द, विषय, शैली, छन्द, दृश्य, वस्तु (पदार्थ) का आहरण मुख्य रूप से करता है।[4]

जहाँ तक प्रस्तुत शोधलेख के सन्दर्भ में राजशेखर का मत देखें तो उन्होंने आदान अर्थात् हरण के मुख्य रूप से दो भेद माने हैं-शब्द का आदान तथा अर्थ का आदान अब संक्षेप में इनका समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत है -

शब्द का आदान

जब कवि दूसरे कवि की रचनाओं से शब्दों अथवा शब्दों के समूहरूप सम्पूर्ण वाक्य का आदान करते हैं तो इसको शब्दहरण या शब्दादान कहते हैं। राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में इसके पाँच प्रकार माने हैं-पद, पाद, अर्थ, वृत्त एवं प्रबन्ध।[5] शब्दादान के ये भेद सोदाहरण प्रस्तुत हैं -

(क) पदहरण-जहाँ पर कवि पूर्वरचना से एक या दो पद आहृत करता है, उसे पदहरण कहते हैं। यथा -

हलमपारपयोनिधिविस्तृतं प्रहरता हलिना समरांगणे।

---

3 शेधलेख में डॉ0 गंगासागर राय द्वारा व्याख्यात, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित काव्यमीमांसा (पृ0 सं0) का अवलम्ब लिया गया है।

4 गद्यकाव्यसमीक्षा, डा0 हरिनारायण दीक्षित, पृ0 सं0 156।

5 शब्दहरणमेव तावत्पंचधा पदतः, पादतः अर्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

निजयशच शशांक कलामलं निरवधीरितमाकुलमासुरम्।।[6]

दलयता विशिखैर्बलमुन्मदं निरवधीरितमाकुलमासुरम्।

दशसु दिक्षु च तेन यशः सितं निरवधी रितमाकुलमासुरम्।।[7]

यहाँ पर यमक के माध्यम से प्रथम श्लोक के श्लिष्ट पद का दूसरे श्लोक में आदान बड़ी सुन्दरता से हुआ है। आकुल के दो अर्थ हैं-व्याकुल तथा कुलाचलपर्यन्त। इसी प्रकार आसुरम् का एक अर्थ है-राक्षस, दूसरा है देवलोक पर्यन्त।

(ख) पादहरण

जहाँ पर कवि की रचना में पूर्ववर्ती कवि के श्लोक का पूरा-पूरा चरण आहृत हो जाता है, उसे पादहरण कहते हैं। यथा -

(१) इत्युक्तवानुक्ति विशेषरम्यं, मनः समाधाय जयोपपत्तौ।

उदारेचता गिरिमित्युदारां, द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः।।[8]

एवं

(१) इत्युक्तवानुक्ति विशेषरम्यं, रामानुजन्मा विररामममानी।

संक्षिप्तमाप्तावसरं च वाक्यं सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणाम्।।

पादहरण के विषय में राजशेखर की यह भी मान्यता है कि ऐसे पाद का हरण तो ठीक है जो प्रसिद्ध हो किन्तु ऐसे पाद का हरण ठीक नहीं जिससे अपनी प्रतिभा कलंकित हो।

(ग) अर्थहरण -

आधे श्लोक का आदान 'अर्धहरण' कहलाता है। यथा -

(१) पादस्ते नरवर! दक्षिणे समुद्रे पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।

आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः।।

(२) पादस्ते नरवर। दक्षिणे समुद्रे पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।

इत्थं ते विधृतपदद्वयस्य राजन् आश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना।।

यहाँ पर प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का द्वितीय श्लोक में उसी तरह हरण कर लिया गया है।

---

6 काव्यमीमांसा, एकादश अध्याय।

7 वही, एकादश अध्याय।

8 भारवि, किरातार्जुनीय, 3/10

(घ) वृत्तहरण

शब्दहरण के भेदों को गिनाते समय तो राजशेखर ने वृत्तहरण को चतुर्थ स्थान पर रखा है, किन्तु उसका विश्लेषण उन्होंने क्यों नहीं किया, यह बात समझ में नहीं आती।

(ङ्) प्रबन्धहरण

प्रबन्धहरण का तात्पर्य है किसी दूसरे कवि की रचना को अपना बता देना। किन्तु राजशेखर का मानना है कि किसी के प्रबन्धकाव्य या मुक्तक काव्य का पूर्णरूपेण हरण करके अपना बताना तो दोषपूर्ण है, चोरी है और किसी भी तरह मान्य साहित्यिक आदान की कोटि में नहीं रखा जा सकता तथा इस प्रकार की हरकत करने वाला व्यक्ति कवि कदापि नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं, काव्यमीमांसाकार के मत में किसी कवि की कृति को धन देकर खरीदना भी दोषपूर्ण है।[9]

अर्थ का आदान

महाकवि अपने अतिरिक्त अन्य कवियों से 'अर्थ' का भी आदान किया करते हैं। अर्थ का यह आदान अर्थ के तीन प्रकारों के अनुरूप ही तीन प्रकार का है-1. अन्ययोनि (दूसरे के द्वारा उत्पादित), 2. निह्नुतयोनि (जिसकी उत्पत्ति छिपी हो), 3. अयोनि (जो कवि द्वारा स्वयं उद्भावित किया गया हो)। इनमें से अन्ययोनि के दो भेद हैं-प्रतिबिम्बकल्प और आलोकप्रख्य; निह्नुतयोनि के भी दो प्रकार हैं-तुल्यदेहितुल्य एवं परपुरप्रवेशसदृश। अयोनि नामक अर्थ एक ही प्रकार का है।[10]

अन्ययोनि अर्थ के भेदोपभेदों का परिचय एवं उनका आदान

(क) अन्ययोनि का प्रथम भेद है प्रतिबिम्बकल्प। राजशेखर मतानुसार जब कवि पूर्व कवि के काव्य का सम्पूर्ण अर्थ ले ले और वाक्यसंरचना में अन्तर कर दे और इस प्रकार दोनों वाक्यों में तात्त्विक भेद की प्रतीति न हो तो ऐसे अर्थहरण को प्रतिबिम्बकल्प कहते हैं -

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥११

उदाहरणार्थ-

(क) ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
(१) जयन्ति चन्द्रामृताम्बुकणसेक सुखयप्ररूढै-

---

9 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 156-157

10 वही, पृ0 सं0 161

11 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 (16)

यैरंकुरैरिव विराजति कालकूटः॥

(ख) जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः।
गलद्गंगाम्बुसंसिक्तकालकूटांकुरा इव॥

यहाँ पर प्रथम पद्य का सम्पूर्ण अर्थ दूसरे पद्य में ग्रहण कर लिया गया है।

प्रतिबिम्बकल्प के आठ उपभेद भी राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार से एकादश अध्याय में प्रस्तुत किये हैं और इन उपभेदों के नाम हैं-**व्यस्तक, खण्ड, तैलबिन्दु, नटनेपथ्य, छन्दोविनिमय, हेतुव्यत्यय, संक्रान्त, सम्पुट**। राजशेखर ने काव्य की ओर प्रवृत्त होने वाले मनीषियों को सचेत भी कर दिया है कि अन्ययोनि नामक अर्थ का प्रतिबिम्बकल्प नामक आहरण कवि के कवित्व को तिरस्कृत करने वाला है। अत एव इससे सर्वथा बचना चाहिए-

सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्पः परिहरणीयः[१२]

(ख) अन्ययोनि का दूसरा भेद है-**आलेख्यप्रख्य**। राजशेखर के मतानुसार पूर्व कवि की रचना में नये कवि द्वारा कुछ संस्कार कर दिए जाने पर जब वही रचना प्राचीन रचना से भिन्न प्रतीत होती है तो अर्थ को जानने वाले लोग उसे आलेख्यप्रख्य काव्य कहते हैं-

कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥[१३]

उपर्युक्त (प्रतिबिम्बकल्प से सम्बद्ध) उदाहरणों में बदलाव करके आलेख्यप्रख्य नामक आहरण का भेद बन सकता है यथा-

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः।
गलद्गंगाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दांकुरा इव॥

आलेख्यप्रख्य के भी आठ उपभेद हैं-**१. समक्रम, २. विभूषण-मोष, ३. व्युत्क्रम, ४.विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नट-नेपथ्य, ७. एक-परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति**। आचार्य राजशेखर ने अन्ययोनि के इस आलेख्यप्रख्य नामक आहरण के प्रकार को कवियों के लिए ग्राह्य माना है।[14]

निह्नुतयोनि के भेदोपभेदों का परिचय एवं उनका आदान

(क) निह्नुतयोनि का प्रथम भेद है-**तत्तुल्यदेहिवत्** अर्थात् जिस काव्य में विषय का भेद होने पर अत्यन्त सादृश्य के कारण दूसरे काव्य से अभेद की प्रतीति हो, उसे तत्तुल्यदेहिवत् नामक आदान कहा जाता है-

---

12 काव्यमीमांसा, पृ० सं० 172
13 काव्यमीमांसा, पृ० सं० 161
14 काव्यमीमांसा, त्रयोदशोऽध्याय)

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यवत्।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि।।

उदाहरणार्थ-

(क) अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।
अमीषां निर्माणं किमपि तदभूद्दसुधकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम्।।[१५]

(ख) प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
महुरूपकरणत्वावर्धिताः पूजिताश्च।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः।।[१६]

इन दोनों उदाहरणों में विषय वैभिन्न्य के बावजूद उनके प्रस्तुतीकरण की प्रणाली के कारण साम्य की प्रतीति हो रही है।

आचार्य राजशेखर ने तत्तुल्यदेहिवत् नामक आदान के जिन आठ प्रकारों की चर्चा की है, वे इस प्रकार हैं-**विषयपरिवर्त, द्वन्द्वविच्छित्ति, रत्नमाला, संख्योल्लेख, चूलिका, विधानापहार, मणिक्यपुंज, कन्द**। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत से सहमत होते हुए इस मार्ग को भी कवि के लिए अनुकरणीय बताया है।[17]

(ख) निह्नुतयोनि का दूसरा भेद है–परपुरप्रवेशसदृश। जहाँ काव्यों के मूल में तो साम्य हो, किन्तु प्रबन्धरचना सर्वथा भिन्न हो, उसे परपुरप्रवेशसदृश कहा जाता है और इस प्रकार का आहरण सत्कवियों के लिए ग्रहण करने योग्य है-

मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत्पुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्।।[१८]

उदाहरणार्थ -

(क) यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्बरं प्रावृषि
स्फूर्जद्ग र्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम्।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणनभयस्पष्टप्रयौदाश्रुभिः

---

15 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय
16 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।
17 काव्यमीमांसा, त्रयोदश अ0)
18 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 163

किंचित्कुंचितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः॥[१९]

(ख) आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं
यात्राभंगविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत्।
हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथंचन ततः कर्णावसन्तीकृतम॥[२०]

इन दोनों उदाहरणों में युद्ध रोक देने वाले वर्षाकाल के आने के कारण राजा की शत्रुवनिताओं ने अपना सौभाग्य समझा, क्योंकि अब उनके पति उनके समीप ही रहेंगे- यह मूल एक ही है, किन्तु प्रस्तुतीकरण का ढंग भिन्न-भिन्न है।

आचार्य राजशेखर ने इस भेद के भी आठ उपभेदों की चर्चा अपनी काव्यमीमांसा में की है। ये उपभेद हैं-हुड्डयुद्ध, **प्रतिकंचुक, वस्तुसंचार, धातुवाद, सत्कार, जीवजीवक, भावमुद्रा, तद्विरोधी।**

अयोनि अर्थ एवं उसके भेद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अयोनि अर्थ कविप्रतिभाजन्सय अर्थ है। राजशेखर ने उसके तीन प्रकार बतायें-**लौकिक, अलौकिक, लौकिकलौकिक।** इनमें से अलौकिक अर्थ वाला उदाहरण प्रस्तुत है-

देवी पुत्रमसूत नृत्यतो गजाः किं तिष्ठेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृंगिरिटावुदाहुतगिरा चामुण्डयालिंगिते।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिर्घनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्यांकनिपातर्जजरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः॥[२१]

राजशेखर सम्मत शब्दहरण एवं अर्थहरण से सम्बद्ध उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना में अर्थ के भी अनेक प्रकार हमने देखे।

राजशेखरसम्मत के प्रमुख भेद

राजशेखर ने तो पाँच प्रकार के अर्थों के आधार पर भ्रामक, चुम्बक, कर्णक और द्रावक नामक चार सौकिक कवि तथा अयोनि अर्थ का प्रकट करने वाले कवि को चिन्तामणि की संज्ञा दे दी है। उनका मानना है कि जिस कवि ने विचार करते ही, एकमात्र रसाप्लावित,

---

19 काव्यमीमांसा, द्वादशोऽध्याय।
20 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।
21 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

विचत्र अर्थ वाली, विद्वानों एवं पुरातन कवियों द्वारा पहले कभी न देखी गई कृति अभिव्यक्ति हो जाती है, वही चिन्तामणि कवि है।[22]

आचार्य राजशेखर ने माना है कि कवियों और व्यापारियों का काम विना लिए नहीं चल सकता, किन्तु जो अपनी इस चोरी, इस हरण को छिपा सकता है, वही आनन्द का अनुभव कर सकता है और प्रशंसा का पात्र बन सकता है। कुछ कवि मौलिक अर्थ के उत्पादक होते हैं, कुछ पुराने अर्थ में परिवर्तन कर देते हैं, कुछ पुराने अर्थ को अपने अर्थ से आच्छादन करने वाले होते हैं तथा कुछ अनेक प्रकार से काव्यार्थों को दूसरों से ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु जो प्राचीन शब्दार्थोक्तियों में कुछ नवीनता देखते हैं और स्वयं (अपनी प्रतिभा से) भी कुछ नया लिखते हैं, वे ही महाकवि होते हैं–

(क) नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरः वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्।।
(ख) उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तकः।
अच्छादकस्तथा धान्यस्तथा संवर्गको परः।
(ग) शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम्।
उल्लिखेत्किंचन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः।।।[२३]

इस प्रकार अपने ग्रन्थ के इन तीन अध्यायों में राजशेखर ने शब्दहरण एवं अर्थहरण के विषय में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, किस प्रकार शब्द एवं अर्थ का आदान करना चाहिए, इसका भी सदुपदेश काव्यमार्गोन्मुख व्यक्ति को दे दिया है। प्रस्तुत लेख को संक्षिप्त करने की दृष्टि से शब्दहरण के अन्य भी उपभेदों और अर्थहरण के बत्तीस मार्गों के लक्षण, उदाहरण प्रस्तुत नहीं हो पाये हैं। अस्तु, राजशेखर का काव्य का आदान प्रकार ही काव्य का प्रदान बन सकता है, इसमें संशय नहीं है। हाँ, लेन-देन की प्रतिभा होनी चाहिए। आनन्दवर्धन ने कहा भी है–

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्ति प्रतिभाविशेषम्।।[२४]

---

22 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।
23 काव्यमीमांसा, एक एकादश अध्याय
24 ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0165-173)

शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ

डॉ0 वीना बिश्नोई शर्मा
प्रवक्ता-संस्कृत-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

संस्कृत वाङ्मय का मूल वेद अपौरुषेय व ब्रह्मा द्वारा उद्भूत वाणी है। जिनमें ज्ञान-विज्ञान व समस्त मानव कल्याणोपयोगी तत्त्वों के साथ ही कामसूत्र की चौंसठ कलाओं का वर्णन मिलता है। भरतमुनि के अनुसार लोकानुरंजन के लिए इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने पंचम नाट्यवेद की रचना की। जिस प्रकार वेद समस्त विद्याओं के भण्डार हैं और स्वयं ईश्वर के निःश्वास से प्रसूत हैं, ठीक उसी प्रकार नाट्यवेद भी ब्रह्मा ने समस्त वेदों के सार रूपा में अवतरित किया है।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[1]

यह लोक के लिए समस्त शिक्षाओं की निधि है-**प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः**, व्यास की उद्घोषणा का यही स्वारस्य है। चारों वेदों में संगीत, गायन, वादन, नृत्य आदि कलाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित पाठ्य के अन्तर्गत उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। जैमिनि के अनुसार गीति का ही अपर नाम साम है-**गीतिषु सामाख्या।** छान्दोग्य उपनिषद् में स्वर नाम का स्वरूप बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में साम शब्द की व्याख्या-**'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्'** की गई है अर्थात् सा=ऋचा, अम=स्वर, अर्थात् ऋचाओं का सस्वर गायन। सामवेद के स्वरों की व्याप्ति स्वरत्रय तक सीमित न रहकर गान्धार, धैवत आदि तक बढ़ जाती है, जिसका संगीत से सम्बन्ध है। नाट्य में यही संगीत तत्त्व सामवेद से लिया गया है। उपवेदों में संगीत के समुचित प्रयोग के लिए गन्धर्ववेद का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिए इसका सम्बन्ध भी नाट्यवेद से है।

नाट्यशास्त्र में वर्णन मिलता है कि जब भरतमुनि अपने सौ पुत्रों सहित सात्वती, आरभटी व भारती वृत्ति का अभ्यास कर अभिनय हेतु ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हुए तो ब्रह्मा ने उनसे कहा कि कैशिकी वृत्ति को भी सम्मिलित कर लो, क्योंकि कैशिकी वृत्ति में सुन्दर नेपथ्य की विचित्रता, स्त्रियों की एवं नाच-गान की प्रधानता के साथ-साथ काम के उपभोगों से जनित

---

1 भरतमुनि, नाट्यशास्त्र।

उपचारों की उपस्थिति रहती है। नाट्य प्रयोग में इन वृत्तियों के असाधारण प्रयोग की कल्पना कर भरतमुनि ने उन्हें नाट्यमाता की संज्ञा दी है-**नाट्य मातरः**।

श्रृंगार प्रधान नाट्यों में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है। ब्रह्मा ने भगवान् नीलकण्ठ के नृत्य के समय कैशिकी वृत्ति देखने की बात की है-

नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका।
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः॥[2]

इसमें नृत्य, नेपथ्य, संगीत व रस आादि का समावेश है। श्रीहर्ष द्वारा रचित रत्नावली समस्त नाट्य लक्षणों से परिपूर्ण एकश्रृंगार प्रधान नाटिका है। यहाँ तक कि दशरूपककार धनंजय ने अपने ग्रन्थ में नाट्य लक्षणों के उदाहरण के रूपं में रत्नावली नाटिका के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं।

कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में से गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकारी, चित्रयोग, नेपथ्य प्रयोग, कर्णपत्रभंग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, ऐन्द्रजालयोग, वीणाडमरुकवाद्य, शुकसारिका प्रलाप, मानसी काव्यक्रिया, छलितयोग आदि का सम्यक् वर्णन मिलता है।

रत्नावली नाटिका में कामशास्त्र की अंगभूत चौंसठ कलाओं में से अनेक कलाओं का वर्णन मिलता है। तत्कालीन समाज में मदनमहोत्सव का प्रचलन मिलता है। इसमें वेश्याओं को भी नृत्य हेतु बुलाया जाता था। उस समय स्त्रियाँ गायन, वादन और नृत्य कला के प्रति पर्याप्त अभिरुचि रखती थीं।

उत्सवों में समाज के समक्ष अनेक कलाओं का प्रदर्शन किया करतीं थीं, उस समय की स्त्रियों को चित्रकला में भी अभिरुचि थी। श्रृंगार सज्जा और केशपाश में अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करके उन्हे विविध प्रकार से सजाया जाता था। बालों में चमेली पुष्प लगाने की प्रथा थी, पैरों में लाक्षारस, हाथों में कंगन और कानों में कर्णफूल तथा गले में रत्नमाला आदि हारों को स्त्रियाँ धारण करती थीं। उस समय दासियाँ भी नृत्य गायन एवं वादन कला में निपुण हुआ करतीं थीं।

गीत, वाद्य व नृत्य

श्रीहर्ष कृत रत्नावली नाटिका में प्रारम्भ में ही गीत-नृत्य-वाद्य का वर्णन मिलता है। वसन्त उत्सव पर उपस्थित समस्त राजाओं द्वारा रत्नावली नाटिका देखने की इच्छा प्रकट करने पर सूत्रधार रत्नावली के मंच पर अभिनय हेतु प्रथम अंक में संगीत के प्रबन्ध के लिए पत्नी को बुलाता है।[3]

---

2 भरतमुनि, नाट्यशास्त्र।

3 रत्नावली नाटिका पृ0 8 अंक 1 तद् यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय संगीतकमनुतिष्ठामि।

इसी प्रकार यौगन्धरायण मदनमहोत्सव पर बजने वाले मृदंग व नगाड़ों से ही नगरवासियों के आनन्द का अनुमान लगा लेते है-

अये यथायमभिहन्यमानमृदुमृदंगानुगतसंगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरी ध्वनिस्तथा तर्कयामि यदेनं मदनमहमहीयांसं पुरजनप्रमोदवलोकयितुं प्रासादाभिमुख प्रस्थितो देव इति।[4]

राजा उदयन और उनका परम मित्र वसन्तक महल की छत से मदनमहोत्सव देख रहे हैं। तब वसन्तक मस्त होकर नाचते गाते नगरवासियों और चर्चरीगीतों की ध्वनियों की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करता है-**प्रेक्षस्व! तावदेतस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीतशृंगकजल-प्रहारनृत्यनागरजनजनितकौतुहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरी शब्दमुखररथ्यामुख-शोभिनः प्रकीर्णपटवासपुंजपिंजरीकृतदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य।**[5]

आगे वह मदनमहोत्सव में मदनलीला का अभिनय करती हुई चेटियों द्वारा गाये जाने वाले द्विपदीखण्ड व नृत्य करती हुई मदनिका को दिखाता है-

भो वयस्य! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व। एषा खलु आम्रलतिका सहेत एवागच्छति, ततः प्रविशतो मदनलीलां नाट्यन्त्यौ द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ।[6]

राजा द्वारा मदनमहोत्सव में मस्त होकर नृत्य करती हुई स्त्रियों के खुले केशपाश बिखरे पुष्प प्रसाधनों तीव्र स्वर करते नूपुरों व कम्पित हारों के माध्यम से नगरवासियों के उल्लास का चित्रण कराया गया है।[7]

सांध्यकालीन गीतों का वर्णन भी मिलता है। राजा सूर्यास्त वर्णन प्रसंग में गणिकाओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों को सुनकर रानी वासवदत्ता से कहते हैं-**श्रुत्वा ते परिवारवनितागीतानि भृंगांगना लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः संजातलज्जा इव।**[8]

गन्धयुक्ति, भूषणयोजन

रत्नावली नाटिका मे मदनमहोत्सव पर मस्त होकर उत्सव मनाते हुए नगरवासियों के माध्यम से गन्धयुक्ति व भूषणयोजन दोनों कलाओं का वर्णन मिलता है। नृत्य करती स्त्रियों की अस्त-व्यस्त अवस्था के चित्रण में उनकीशृंगार सज्जा, गन्ध, पुष्प व आभूषण धारण करने का वर्णन मिलता है।

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः,

---

4 रत्नावली नाटिका पृ0 12 अंक 1
5 रत्नावली नाटिका पृ0 14 अंक 1
6 रत्नावली नाटिका पृ0 18 अंक 1
7 रत्नावली नाटिका श्लोक 16 अंक 1
8 रत्नावली नाटिका पृ0 25 अंक 1

क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभंगानपेक्षम्।।[9]

इसी प्रकार उत्सव का वर्णन करते हुए राजा कहते हैं कि केसर के चूर्ण से पीले दिन को उषा काल में परिणत कर देने वाले, फेंके गये सुगन्धित चूर्ण की राशियों से, स्वर्ण के आभूषणों की कान्तियों से और भार से शिरों को झुका देने वाले अशोक पुष्पों के शिरोभूषणों से यह कौशम्बी नगरी, जिसने नागरिकों के वेष के बहाने मानो कुबेर को जीत लिया है और जिसके निवासी जन मानो स्वर्ण के रस से लिप्त हैं। सारी नगरी पीली ही पीली दीखती है और उठती हुई आभूषणों की प्रभा से पाताल लोक का स्मरण करा रही है-

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्।।

अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे दृष्टो मनागमणिविभूषणरश्मिजालैः।
पातालमुद्यतफणाकृति शृंगकोऽयं मामद्य संस्मरतीह भुजंगलोकः।।[10]

इस नाटिका का नामकरण ही रत्नावली नामक रत्नाभूषण धारण से हुआ है। सागरिका रत्नावली धारण करने से ही रत्नावली नाम से वर्णित है। अन्त में जब उसका प्रेम रानी वासवदत्ता पर प्रकट हो जाता है तो वह जीवन से निराश होकर रत्नावली उतारकर किसी ब्राह्मण को दान में देने के लिए सुसंगता के हाथ में सौंपती है।[11] विदूषक भी रानी से प्राप्त कर्णाभूषण व कंगन राजा को दिखाता है।[12]

नेपथ्य-प्रयोग

इस नाटिका में रत्नावली के वसन्त उत्सव पर मंचन के समय नेपथ्य प्रयोग मिलता है। सूत्रधार अभिनय हेतु स्वयं वेषविन्यास धारण करने की बात करता है-

तद् यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि।।[13]

इसके पश्चात् अपने घर जाकर नटी को भी कहता है कि समस्त राजागण रत्नावली नाटिका देखने को उत्सुक हैं, इसलिए वेषविन्यास कर लीजिए-

---

9 रत्नावली नाटिका पृ0 10 अंक 1
10 रत्नावली नाटिका श्लोक11,12 अंक 1
11 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ06अंक 1
12 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 8अंक 1
13 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 01 अंक1

सूत्रधारः-रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयम् राजलोकः, तद् गृह्यतां नेपथ्यम्।[14]

इसी प्रकार सूत्रधार अपने छोटे भाई को यौगन्धरायण का वेष धारण कर आते हुए देखकर कहता है कि हम भी वेष विन्यास कर लें-**आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जीभवावः।**[१५]

तीसरे अंक में सागरिका द्वारा वासवदत्ता व सुसंगता द्वारा कांचनमाला का वेष धारण करने का वर्णन है।[16]

तण्डुल-कुसुम-बलिविकार

रत्नावली में इस कला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें मंगलावरण के अनन्तर पार्वती द्वारा शिव की पूजा हेतु कुसुमांजलि समर्पित करने का वर्णन मिलता है। शिव के आराधन में पैरों के अग्रभाग पर खड़ी पार्वती शिव के लालसा पूर्ण नेत्रों द्वारा देखे जाने पर लज्जावश शिव के सिर पर डालने के लिए चाही गई पुष्पांजलि शिव व पार्वती के बीच में बिखरी हुई सभासदों की रक्षा करे। प्रथम अंक में कामदेव की पूजा हेतु पुष्प चुनने का वर्णन मिलता है। सागरिका कहती है कि भगवान् कामदेव की पूजा का समय हो गया तब तक पूजा के लिए फूल चुनती हूँ-**तद्यावदिह पूजा समयो भवति तावदहम् भगवन्तमनंगमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि।**

इसके पश्चात् राजा को ही कामदेव समझकर पुष्पों से पूजा करने का उपक्रम करती है-**तदहमप्येभिः कुसुमैरिह स्थितैव भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये।**[१७]

महारानी वासवदत्ता भी राजा व कामदेव की पूजा के लिए पूजा सामग्री में पुष्प व अंगराग माँगती हैं-**तेन ह्युपनय मे कुसुमानि विलेपनं च।**[18]

चित्रकारी

इस नाटिका में चित्रकला का भी सुन्दर उदाहरण मिलता है। उस समय राजकन्याएँ ही नहीं, अपितु दास-दासियाँ भी चित्रकला में निपुण दिखाई गई हैं। कामदेव की पूजा में राजा को देखकर सागरिका मोहित हो जाती है तथा राजा का स्मरण करते हुए दर्शनार्थ उनका चित्र बनाती है। सुसंगता द्वारा उसे रंग व कूची लिए कदलीगृह में जाते व चित्र बनाते हुए देखने का वर्णन मिलता है-**सखि, दृष्टा मया ते प्रियसखी सागरिका गृहीतसमुद्ग कचित्रफलकवर्तिका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती।**[१९]

---

14 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 90अंक3
15 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक।अंक।
16 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ0 32 अंक।
17 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 36 अंक।
18 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 34 अंक 1
19 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 42 अंक 2

कदलीगृह में सागरिका सबसे छिपाकर अपने प्रिय राजा को देखने का अन्य कोई उपाय न जानकर चित्र बनाकर ही उनके दर्शन करना चाहती है। वह कहती है-

तद्यावदिह कोऽपि नागच्छति तावदालेख्य समर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथा समीहितं करिष्यामि। यद्यपि मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपायो नास्तीति यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्ये।[20]

सुसंगता कदली गृह में सागरिका को मग्न होकर चित्र बनाते हुए देखकर सोचती है कि यह इतने अनुराग से किसका चित्र बना रही है जो कि मुझे भी नहीं देखती।[21] वह जब पास में जाकर राजा का सुन्दर चित्र बना देखती है तो उसकी चित्रकारी की प्रशंसा करती है तथा कूची उठाकर साथ में सागरिका का चित्र भी बना देती है-

अहो ते निपुणत्वम्! किं पुनः शून्यकमेवैतच्चित्रं प्रतिभाति। तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्ये।[२०] वर्तिका गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकामालिखति।

इस प्रकार सुसंगता व सागरिका दोनों की चित्रकला की निपुणता दृष्टिगोचर होती है।

सारिकाप्रलाप व मानसी काव्यक्रिया

इस नाटिका में सारिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, उसी के कथन से कथावस्तु आगे बढ़ती है, क्योंकि यही राजा व सागरिका का प्रणय कराने का माध्यम है। रानी वासवदत्ता द्वारा सागरिका को सौंपी गई सारिका का वर्णन है, जो बुद्धिमती व बातचीत को सुनकर उसी प्रकार कथन करने वाली है। सागरिका अपनी सखी सुसंगता पर राजा से किए गए अपने प्रेम को प्रकट कर देती है, लेकिन लज्जावश यह बात गुप्त रखने को कहती है। कदलीगृह में उन दोनों के अतिरिक्त सारिका भी है। इसलिए सुसंगता डरती है कि कहीं सारिका यह रहस्य न प्रकट कर दे-

एतया पुनर्मेधाविनी सारिकामात्रकारणेन भवितव्यम्।
कदाप्येषास्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्य पुरतो मन्त्रयिष्यते।[22]

इतने में ही वानर सारिका का पिंजरा खोल देता है और सारिका उड़ जाती है व मौलसरी के पेड़ पर बैठकर बोलने लगती है। उद्यान में राजा और विदूषक घूम रहे हैं। विदूषक सारिका के स्वर के सुनकर डर जाता है, लेकिन राजा उसके स्वर का अनुमान लगाते हुए कहते है कि यह वचन स्पष्ट अक्षरों वाला व स्त्रियों जैसा तथा धीमा होने से मैं समझता हूँ कि सारिका बोल रही है-

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः।

---

20 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 44 अंक 2
21 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 46 अंक 2
22 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 48 अंक 2

अल्पांगत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका।।[23]

इसी प्रकार राजा सारिका के कथन का मन में अर्थ समझकर विदूषक को बताते हैं कि मित्र किसी ने प्रेमवश हृदय में प्रियजन का चित्र बनाकर सखी के सामने कामदेव के बहाने से छिपाया, तब उसने भी रहस्य ताड़कर चतुरता से वहाँ रति के बहाने उसका भी चित्र बना दिया।[२४]

राजा और विदूषक दोनों दसकी बातें सुनते हैं विदूषक सारिका को चतुर्वेदी ब्राह्मण के समान ऋचाएँ पढ़ने वाली विदुषी बताता है-**भो वयस्य, एषा खलु सारिका दास्या दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।**[25]

आगे सारिका कहती है-

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं तु वरमेकम्।।[26]

राजा सारिका के कहे अस्पष्ट कथन को मानसी काव्यक्रिया कला से अनुमान लगाकर कहते हैं कि दुष्परिहार काम पीड़ा को धारण करने वाली सुन्दरी द्वारा सखियों के सामने जो वचन कहा जाता है, बालक तोते तथा मैना द्वारा पुनः दोहराया जाता है-

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।
तद्भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति।।[27]

इस प्रकार रत्नावली में सारिका प्रलाप व स्पष्ट अक्षरों को मिलाकर श्लोक बनाने की मानसी काव्यकला का वर्णन मिलता है।

छलितयोग

रत्नावली नाटिका में हमें छल करने व रूप बदलने का भी वर्णन मिलता है। राजा के सागरिका के प्रेम में काम संताप से संतप्त होने पर उनका मित्र विदूषक सागरिका से उनके मिलनरूपी उपाय की योजना सेविका के साथ बनाता है, यही रहस्य कांचनमाला मदनिका को बताती है कि सुसंगता ने आज विदूषक से कहा है कि चित्रपट की घटना से शंकित हुई महारानी ने सागरिका की रखवाली के लिए सौंपते हुए जो वस्त्र प्रसाद के रूप में मुझे दिये थे, उन्हीं से स्वामिनी का वेष धारण करने वाली सागरिका को लेकर और स्वयं मैं महारानी की

---

23 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक6 अंक 2
24 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ060 अंक2 वयस्य एवं तर्कयामि! कथापि हृदयवल्लभोऽनुरागादालिख्य कामव्यपदेशेन सखीपुरतोऽपह्नुतः। तत्सख्यापि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि रतिव्यपदेशेन तत्रैवाऽऽलिखितेति।
25 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक पृ062 अंक2
26 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक 7 अंक2
27 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक 8 अंक2

दासी रानी कांचनमाला का वेष धारणकर रात्रि के प्रथम प्रहर में यहाँ आऊँगी। तुम भी यहां चित्रशाला के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करोगे और तब माधवी लता मण्डप में सागरिका के साथ राजा का मिलन होगा।[28] आगे सागरिका महारानी वासवदत्ता का छल से वेष बनाकर राजा से मिलने जाते हुए छल से बनाये गये देवी के वेष में किसी ने मुझे देख तो नहीं लिया-"**दिष्ट्या नाहमनेन विरचितेन देवीवेषेणाप्यस्याः चित्रशालायाः निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि।**"[२९]

चित्रयोग

रत्नावली नाटिका में तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग भी दिखाया गया है। श्रीपर्वत से आये खण्डदास नाम के महात्मा द्वारा मन्त्रयोग बल से बिना ऋतु के ही नवमालिका के पुष्पों से घिरा हुआ दिखायेंगे। यह जानकर निपुणिका आश्चर्यचकित हो जाती है तथा यह वृत्तान्त महारानी को बताने जाते हुए मार्ग में अपने विस्मय का कारण सुसंगता को सुनाती है।[28] तत्पश्चात् नवमालिका को पुष्पगुच्छों से भरा हुआ पाकर आश्चर्यचकित विदूषक यह वृत्तान्त राजा को सुनाकर बधाई देना चाहता है-

'ही ही भो आश्चर्यम्! साधु, रे श्री खण्डदास धार्मिक साधु येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपोहसन्तीव लक्ष्यते देवी परिगृहीता माधवीलताम्।'[30]

राजा भी योगबल के प्रभाव से पुष्पों से पल्लवित नवमालिका को देखकर आश्चर्य में पड़े विदूषक को प्राचीन प्रसंगों के माध्यम से मन्त्र, मणि व औषधियों के अविचिन्त्य प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि युद्ध में भगवान् विष्णु के कण्ठ में पड़ी कौस्तुभ मणि को देखकर उनके शत्रु भाग गए, मन्त्र के प्रभाव से शक्तिहीन हुए सर्प पाताल में रहते हैं, राम-रावण युद्ध में मेघनाद की शक्ति से आहत हुए लक्ष्मण व वीर वानर योद्धागण गुणों की निधान महौषधि की गन्ध का पान करके पुनः जीवित हो गये थे। अतः मन्त्र व योग का प्रभाव अवश्य है।[३१]

ऐन्द्रजालिक

रत्नावली के चतुर्थ अंक में इन्द्रजाल प्रयोग दिखाया गयाा है। उज्जयिनी से आये सर्वसिद्धि नाम के ऐन्द्रजालिक को वासवदत्ता कांचनमाला के साथ भेजती है।

एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धिर्नामैन्द्रजालिकः आगतः। तत्प्रेक्षतामेव आर्यपुत्रः इति।[३२]

---

28 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ0 90 अंक3

29 रत्नावली नाटिका पृ0118अंक3

30 रत्नावली नाटिका पृ042 अंक अंक2

31 रत्नावली नाटिका पृ054 अंक अंक2 कण्ठे श्री पुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणिं शत्रुभिः। नष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजंगा हताः।। पूर्व लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादहताः। पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविताः।।

32 रत्नावली नाटिका श्लोक ५अंक2

वह इन्द्रजालिक राजा से निवेदन करता है कि मैं जल में अग्नि, मध्याह्न रात्रि आदि सभी असम्भव वस्तुएँ इन्द्रजाल से दिखा सकता हूँ। आप हृदय में जो भी विचारेंगें उसे मैं मन्त्रों के प्रभाव से दिखा दूँगा।[३३] ऐन्द्रजालिक राजा के समक्ष मोरपंखी घुमाकर इन्द्रजाल के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु महेश व नृत्य करती हुई अप्सराएँ दिखाता है। सब आश्चर्यचकित हो जाते हैं।[34]

इसी के साथ ऐन्द्रजालिक राजा को मायाजाल से अन्तःपुर में लगी हुई आग व उसमें जलती हुई सागरिका को दिखाता है। राजा भयभीत होकर आग में कूदकर सागरिका को बचाते हैं और इतने में ही आग लुप्त हो जाती है व सब कुछ यथास्थान नजर आता है। तब राजा आश्चर्य से पूछते हैं कि यह बुद्धिभ्रम है या कोई इन्द्रजाल-**'स्वप्नेर्मतिर्भ्रमति किंन्विदमिन्द्रजालम्।'**[३५] इस पर विदूषक कहता है-**भो मा संदेहं कुरु इन्द्रजालमेवेदम्।**[36]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष की रत्नावली नाटिका में कामशास्त्र की अंगभूत चौसठ कलाओं में से उपरोक्त कलाओं का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है।

---

33 रत्नावली नाटिका श्लोकपृ0 144 अंक4 'किं धरण्यां मृगांकं आकाशे महीधरो जले ज्वलनः, मध्याह्ने प्रदोषो दर्शयतां देह्याज्ञाप्तिम्। मम प्रतिज्ञैषा यद्यद हृदयेनेहसे संद्रष्टुम्, तत्तद्दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण।।'

34 रत्नावली नाटिका श्लोक8,9अंक4

35 रत्नावली नाटिका श्लोक 10 ,11अंक4

36 रत्नावली नाटिका श्लोक19 अंक अंक4

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0174-186)

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य के कवि पन्त

डॉ0 सत्य प्रकाश शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महा0
लोहाघाट, चम्पावत (उत्तरांचल)

आज के काव्य के मूल्यांकन की समाजशास्त्रीय, व्यावहारिक, रूपवादी, रसशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, संरचनात्मक, तुलनात्मक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय सदृश अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के आधार पर समीक्षा का आग्रह बहुत पुराना नहीं है। धर्मनीति, दर्शन, अध्यात्म एवं लोकमंगल जैसे तत्त्व ही काव्य की समीक्षा में प्रधान रहे हैं। सच पूछा जाए तो सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा शुद्ध कलावादी दृष्टि है। यद्यपि डॉ0 शिवकुमार मिश्र सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा को साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता का बोध देने में असमर्थ मानते हैं।[1] परन्तु सत्य यह है कि साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता का बोध कराने में कोई भी समीक्षा पद्धति सहायक नहीं होगी। एकांगिता तो सभी आलोचना-पद्धतियों में मिलेगी। मानव की सहज प्रवृत्ति सौन्दर्य की ओर उन्मुख होना है और यदि सौन्दर्य शास्त्रीय पद्धति काव्य में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करने में समर्थ होती है तो निश्चित रूप से यह पद्धति बौद्धिक पिछड़ेपन का लक्षण नहीं मानी जा सकती है, जैसा कि विघटनशील साहित्यिक मान-मूल्यों के इस युग में माना जा रहा है। आज यह देखने में आ रहा है कि समीक्षक पहले से ही कुछ प्रतिमान निर्धारित कर लेता है और फिर उन्हीं के आधार पर कृति का मूल्यांकन करता है। ऐसे में वह अपनी रुचि एवं संस्कारों को ही कृति पर आरोपित करता है। अतः उसका दृष्टिकोण तटस्थ नहीं होता और वह काव्य में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित नहीं कर सकता है। अत एव समीक्षक की दृष्टि कृति-केन्द्रित होनी चाहिए।

सौन्दर्यशास्त्र क्या है? मानवीय एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण की काव्य में सौन्दर्यशास्त्र व्यवस्था करता है अथवा काव्य में अन्तर्निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाला शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र कहलाता है? वस्तुतः कवि संवेदना और समानुभूति तक पहुँचे विना कविता का मर्म उद्घाटित नहीं किया जा सकता है। अस्तु, जो समीक्षा-पद्धति आलोचक एवं सहृदय को वहाँ तक पहुँचाये, वही श्रेष्ठ एवं युगानुकुल होगी। कहना न होगा क भारतीय सौन्दर्यशास्त्र संवेदना के इस प्रस्थान-बिन्दु तक पहुँचाने में पूर्ण समर्थ है। हाँ आज सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आयातित पाश्चात्य 'एस्थेटिक्स' को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। लोग कल्पना, बिम्ब एवं प्रतीक को ही सौन्दर्य का साधन मान रहे हैं। परन्तु हमें ऐसे सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

---

1 राम की शक्तिपूजा की व्यावहारिक समीक्षा सं0 डॉ0 सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ0 88

है, जो हिन्दी की अपनी भाषिक संस्कृति और हिन्दी कविता के निजी जातीय चरित्र के आधार पर निर्मित हो। डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित ने ऐसे ही व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यभाषा, शैलीविज्ञान, संरचनावाद, अभिव्यञ्जनावाद, रससिद्धान्त प्रभृति समूचे भारोपीय काव्यशास्त्र के सन्निवेश की वकालत की है।[2]

सौन्दर्यशास्त्र कला में निहित आनन्दतत्त्व को विवेचित करता है, उसमें सौन्दर्य का शास्त्रीय विवेचन होता है। कला का प्रमुख उद्देश्य आनन्दोपलब्धि है तथा कलागत इस आनन्द की दो श्रेणियाँ हैं-बाह्य एवं आन्तर। इस आनन्दोपलब्धि के तीन उपादान हैं-मानव-जगत्, प्रकृति-जगत एवं कला। सौन्दर्यशास्त्र द्वारा इन तीनों उपादानों में निहित सौन्दर्यानुभूति बुद्धिगम्य बनती है। निस्सन्देह सौन्दर्यशास्त्र प्रकृति एवं शिल्प के विविध उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है। परन्तु उसकी परिधि में मात्र ललित कलायें ही आती हैं। सौन्दर्यशास्त्र बाह्य जगत् की प्रकृति का अध्ययन सीधे न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का अध्ययन करता है। इसीलिए डॉ0 राजवंश सहाय हीरा ने सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य आनन्द का उद्घाटन बताया है तथा उसे शुद्ध कलात्मक लालित्य की संज्ञा दी है।[3] डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा का विचार है-'आनन्द हमारे एक विशेष अनुभव का नाम है। यह वस्तु के सौन्दर्य-चिन्तन से उत्पन्न होता है।'[4]

वस्तुतः काव्य सौन्दर्य की उत्पत्ति कवि के उस हृदय से हुई है जो सामाजिक आन्दोलन से उत्थित भाववेग और कल्पना को धारण करने वाला है। महाकवि तुलसीदास के निम्नलिखित रूपक से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी-

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जैं बरसइ बर बारि विचारू। होंहि कवित मुकुतामनि चारू।।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरितबर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल डर, सोभाअति अनुराग।।[5]

तात्पर्य यह है कि कविता का रूप विन्यास आन्तरिक सौन्दर्यभावना का परिणाम होता है। आचार्य शुक्ल की सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यता भी ऐसी ही है-'**कई रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति ही सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक**

---

2 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश पृ0 977
3 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ0-977
4 साहित्यिक निबन्ध-सं0-डॉ0 त्रिभुवन सिंह पृ0-749
5 रामचरितमानस-1/10/4-6/1.11

होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी।"[6] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी समष्टि चित्त में अनुकुल भावान्दोलन पैदा करने वाले तत्त्व को सौन्दर्य की संज्ञा देते हैं। महाकवि जयशंकर प्रसाद भी सौन्दर्य के साथ हृदय के योग को सामाजिक आदर्श के लिए आवश्यक बताते हैं। उनका विचार है-'**जो कुछ सुन्दर और कल्याणमय है, उसके साथ यदि हृदय की समीपता बढ़ाते रहें तो संसार सत्य और पवित्रता की ओर अग्रसर होगा ही।**'[8] उन्होंने चेतना के उज्ज्वल वरदान को ही सौन्दर्य माना है।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।[९]

सौन्दर्य को नव संस्कार एवं चुनौती के रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ0 रमनरतन भटनागर कहते हैं-'सौन्दर्य वह है जो हमें अभिभूत कर ले, जो हमें एकदम परास्त कर दुस्साहसी बना दे। परन्तु यह पराजय बुरी नहीं लगती क्योंकि वह हमारी आँखे खोल देती है और हमें नई दृष्टि देती है।"[10] सौन्दर्य की ऐसी अनाविल सृष्टि छायावादी काव्य में हुई है, इसीलिए डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ छायावाद को 'एस्थेटिक प्रयोगशाला' की संज्ञा देते हैं। डॉ0 नगेन्द्र का कहना है-'प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है, उसके पृथक्-पृथक् अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते-सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।"[11] उन्होंने छायावादी सौन्दर्य का आत्ममुग्ध समर्थन किया है-'जिस कविता ने नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत्समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, जिसने उसकी वस्तुमात्र को अपनाने वाली दृष्टि पर धार रख उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव-बीचियों को पकड़ सके, जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रुहास और नवीन विनम्र कटाक्ष प्रदान किए, जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया।"[12]

---

6 चिन्तामणि-भाग-1, पृ0-164-65
7 कालिदास की लालित्य योजना, पृ0-98
8 तितली प10-256
9 कामायनी, पृ0
10 मिथक और स्वरूप, आमुख में
11 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ0 102
12 विचार और अनुभूति, पृ0 60

डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित ने पञ्च ज्ञानेन्द्रिय बाधा अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को छायावाद के सौन्दर्यशास्त्र के मुख्य सोपान बताये हैं।[13] पन्तजी का काव्य आद्यन्त सौन्दर्य-स्नात है, इसीलिए पन्तजी सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष के प्रति पर्युत्सुक हैं, जिसका एक आकलन प्रस्तुत है–

रूपविन्यास

रूप मुख्यतः चाक्षुष् है जो एक ऐन्द्रिय अनुभूति है। डॉ0 रामानन्द तिवारी ने उसे वस्तुओं में सन्निहित बताया है जिसका ग्रहण चक्षुओं के माध्यम से होता है।[14] सौन्दर्यशास्त्र में आंगिक रूप-सौन्दर्य को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। पन्तजी ने रूप को तो जीवन के सत्य रूप में ग्रहण किया है–

मुझे रूप ही भाता।
प्राण रूप ही मेरे डर में मधुर भाव भर जाता।
मुझे लुभाता रूप-रंग रेखा का यह संसार।
प्राण रूप का सत्य रूप के भीतर नहीं समाता।[१५]

पन्तजी सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं। उनका विचार है- कलाकार क़े पास हृदय का यौवन चाहिए जिसे धरती पर उडेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है।[16] तितली शीर्षक कविता में इसी धारणा को उन्होंने प्रकट किया है–

चित्रिणी! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य-सृजन?
वह स्वर्ग दिया उर के भीतर-
क्या कहती यही, सुमन चेतन?[१७]

पन्त जी के काव्य में आंगिक-सौन्दर्य नित-नूतन रुचि-बोध से संवलित रहा है। उसमें परम्पराबद्धता एवं गतानुगतिका नहीं है। उन्होंने रूप-विन्यास एवं अंगों के आकार-प्रकार पर विशेष ध्यान दिया है। मार्क्सवाद से प्रभावित हो जाने के कारण कवि की ग्राम्या का सौन्दर्य-चित्रण भिन्न है। उन्होंने सौकुमार्य की अपेक्षा परिपुष्ट अंगों का रूपांकन किया है। वह नैसर्गिक संस्कारों को चालित है तथा जीवन-रण में आने वाले संघर्षों से शिक्षित है–

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,

---

13 छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र, पृ0-66
14 विचार और अनुभूति, पृ0-60
15 युगवाणी, पृ0-82
16 गद्यपथ, पृ0 204
17 वही, पृ0-55

नित कर्मनिष्ठ, अंगों की हृदयपुष्ट सुन्दर,

श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,

वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर।[१८]

पन्त जी ने नारी का सौन्दर्यांकन अति सहजरूप में किया है। इन्होंने अप्सरा के सौन्दर्य-चित्रण को तो प्रतिष्ठित किया ही है, साथ ही ग्राम की भोली-भाली कर्मठ स्त्री का सहज रूपांकन भी किया है। फलतः सूक्ष्मता एवं स्थूलता-दोनों ही उनके नारी-चित्रण में विद्यमान हैं। सौन्दर्य-गर्वित ग्राम-युवती अपने यौवन पर प्रफुल्लित ही नहीं है, अपितु इठला रही है। वह अपनी दृष्टि नमित कर उरोजों के युग-घट देख शरमाती है, आह्लादित होती है। मानव-शरीर के अन्यान्य अंगों में वक्ष और उरोज को पन्तजी ने तन्मयता के साथ रूपायित किया है। पन्तजी ने कंचुपट्ट में कसमसाते हुए स्तनों को आकार बद्ध कर रीतिकालीन कवियों को भी परास्त-सा कर दिया है–

खींचती उबहनी वह बरबस

चोली से उभर-उभर कसमस

खिंचते संग युग रस भरे कलश।[१९]

स्तन-वर्णन की यह मांसलता निराला में भी विद्यमान है–

प्रिय कर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गई चोली।[२]

पन्त जी ने शरीर के विभिन्न अवयवों का रूपांकन करते हुए कुछ विशिष्ट सौन्दर्य-प्रतिमान स्थापित किए हैं। इन्होंने शरीर की वक्रता को रमणीय माना है।

प्रकृतिसौदर्य

क्रोचे ने प्रकृति-सौन्दर्य को सर्जना का मूल स्रोत बताया है।[20] छायावादियों में पन्त का काव्य मुख्यतः प्रकृति-सौन्दर्य का काव्य है। उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा ही प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। 'पर्यालोचनं' में वे लिखते हैं-**'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है मैं घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।'**[21] एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं-मेरा

---

18 पंत ग्रन्थावली, भाग-2 (ग्राम्या), पृ0-135

19 गीतिका, पृ0-41

20 सौन्दर्यशास्त्र के मूलतत्त्व, पृ0-99

21 पंत ग्रन्थावली, भाग-6, पृ0-263

भाव-प्रवण हृदय बचपन से ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है, वह सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक रहा हो या सामाजिक मानसिक हो या आध्यात्मिक।'[22]

पन्तजी का प्रकृति-दर्शन अनुभूति का विषय है। उनके काव्य में प्रकृति के अनेकानेक रूपों का चित्रण हुआ है, यथा-पार्वत्य प्रकृति चन्द्र-ज्योत्स्ना, उषा काल, सूर्योदय, नक्षत्र, सन्ध्याकाल, सूर्यास्त, नैश प्रकृति (निशीथ), ऋतु सौन्दर्य, वानस्पतिक सौन्दर्य, पशु-पक्षियों का सौन्दर्य आदि। कवि ने हिमालय का बहुविध रूपांकन किया है। 'उच्छवास' में कवि ने हिमालय की प्रकृति के पल-पल परिवर्तित स्वरूप का चित्रण किया है। पर्वत का गौरव-गान गाते निर्झर, तरुवर, भूधर आदि का ऐन्द्रिजालिक चित्रण पन्त के पार्वत्य प्रकृति की विशिष्टता है-

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।[२३]

कवि गुलाब को हृदय-सा बताता है तथा उसमें अपना भोला बचपन देखता है। काँटों में वास होने पर भी उसकी आँखों में हास विद्यमान रहता है। इस प्रकार वह सुन्दरता, सरलता एवं सजगता का सन्देश देता रहता है-

कँटीली जटिल डाल में वास,
अधर आँखों में हास,
झूलना झोंको के अनुकूल,
हृदय में दिव्य विकास,
सजग कवि से गुलाब के फूल,
तुम्हीं सा हो मेरा जीवन।[२४]

पन्तजी ऋतु-सौन्दर्य के प्रति भी बहुत सचेष्ट हैं। वे ऋतु को प्रकृति की भाव-भंगि बताते हैं।[25] कवि ने बासन्ती प्रकृति में कुसुमों के विकास का बड़ा ही मुग्धकारी चित्रण किया है। वसन्त की सुन्दरता को कवि ने **'वसुधा का यौवन भार'** एवं स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह कहा है। पावस, ग्रीष्म, शिशिर आदि ऋतुऐं भी कवि के काव्य में रमणीयता के साथ चित्रित हैं। छायावादी कविता में प्राय: प्रकृति पर नारी के रूप एवं क्रिया-व्यापारों का आरोप किया गया है। यही कारण है कि उनमें मानवीकरण के अवलम्ब से प्राकृतिक सौन्दर्य का ऐसा मूर्त

---

22 वही, पृ0-311
23 वही-भाग, पृ0-180
24 पन्तग्रन्थावली भाग-6, पृ0-277
25 किरणवीणा, पृ0-194

चित्रण मिलता है जिसके साथ सौन्दर्य में विस्मय एवं जिज्ञासा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। कहना न होगा, यह भाव सर्वाधिक पन्तजी में ही है–

कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप
सुनहला फैला केश-कलाप
मधुर मन्थर मृदु मौन।[२६]

कवि ने प्रकृति को वासक सज्जा नायिका की तरह सुसज्जित कर उपस्थित करने का प्रयास अधिक किया है। कहीं-कहीं प्रकृति-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त सभी उपमानों को नारी की कोमलता से सम्पृक्त कर दिया है। जिस प्रकार मुग्धा नायिका अपने अर्द्ध अवगुण्ठित मुख को दिखा अपने प्रिय को आकृष्ट करती है, वैसे ही कवि ने गंगा को चित्रित किया है–

लहरों के घूंघट से झुक-झुक दशमी का मुख शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता मुग्धा-सा रुक-रुक।[२७]

कवि पन्त ने नारी रूप को प्राकृतिक सौन्दर्य का मूल आधार स्वीकार किया है। **'भावी पत्नी के प्रति'**[5] मधुस्मिति[6] मधुवन' शीर्षक कविताओं में वे यही लिखते हैं कि नारी का रूप-लावण्य ही विच्छुरित होकर प्रकृति-सौन्दर्य के रूप में चारों ओर फैल गया है। इस नारी रूप एवं प्रकृति-सौन्दर्य के मिश्रण का एक कल्याणकारी पक्ष यह है कि इस सौन्दर्यांकन में रीतिकालीन मांसलता का सहज परिहार तो हो ही गया है, साथ ही उसकी अनुभवगम्य रसनीयता बढ़ गई है, क्योंकि नारी के रूप-व्यापारों के साथ मनुष्य का साहचर्य बहुत ही घना होता है।

रस सौन्दर्य

भारतीय काव्यशास्त्र में रस की परिकल्पना मूलतः सौन्दर्यपरक है। सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी रसानुभूति को स्वयं में सौन्दर्यमूलक सिद्ध किया है। डॉ0 सूर्य प्रसाद दीक्षित का मानना है-**'वस्तुतः छायावादी रस सौन्दर्य को अनुभूति, कल्पना, बिम्ब आदि के माध्यम से व्याख्यायित किया जा सकता है और उसे काव्यसौन्दर्य अथवा भावसौष्ठव के रूप में स्थापित किया जा सकता है।'**[28] इस मान्यता को दृष्टिपथ में रखकर यदि पन्त-काव्य का अध्ययन किया जाए तो वह बड़ा विलक्षण प्रतीत होता है। वे कोमलकान्त कल्पनाओं के कवि हैं। उनकी रसचेतना प्रायः नारीरूपा प्रकृति में अधिक केन्द्रित रही है। यही कारण है कि उन्होंने

---

26 युगान्त, पृ0-51
27 पन्तग्रन्थावली-भाग-1 (गुंजन), पृ0-275
28 छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र, पृ0-187

प्रकृति का मनाविकरण करते हुए सांगरूपकों की सृष्टि की है, उनकी कल्पना में अनुभूति का समावेश है, जिससे उसमें संवेदनशीलता है। इसीलिए पाठक को उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में असुविधा नहीं होती है। पन्तजी के काव्य में प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य कल्पना का पारस-स्पर्श पाकर परोक्ष सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

कहीं-कहीं कवि की कल्पनायें बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पडी हैं, क्योंकि वे बौद्धिकता प्रसूत ऊहात्मक कल्पनायें नहीं हैं। इसमें रागात्मकता विद्यमान है। 'सोनजुही' कविता में, कवि सोनजुही को देखकर अनेकानेक सौन्दर्यानुभूतियों से आप्लावित हो उठता है। वह कभी आँगन के बाड़े पर चढ़कर कुहनी टेक मुस्कराती है, तो कभी चौकड़ी भरती हुई हिरनी लगती है। कभी कृश पिण्डली पर धरे, कुहनों को मोड़े मुग्धा नायिका लगती है। कवि उसके फूलों के गुच्छों में गोल उभरे अंगों की कल्पना करता है, पल्लव-पुष्पों को झालदार गरारा कहता है। कुल मिलाकर सोनजुही का पर्यवेक्षण मन में सौन्दर्यानुभूति तथा रससिक्त करता है। पन्तजी के काव्य में ऐसी कल्पनायें अनेकानेक हैं।

गन्ध सौन्दर्य

गन्ध एक सूक्ष्म ऐन्द्रिय बोध है। पन्तजी के काव्य में यह गन्धजनित सौन्दर्य यथेष्ट परिणाम में उपलब्ध है। कवि के काव्य में अनंग गन्ध के माध्यम से ही अपना प्रभाव व्यक्त कर रहा है–

फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गन्ध मुग्ध हो अन्ध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार।[२९]

कवि मधुप-कुमारि से कुसुम के चुने कटोरों द्वारा मधुपान कराने का आग्रह करता है।[30] कहीं अनिल समोद सौरभ का मृदु कच-जाल सूंघने का कार्य करता है–

खोल·सौरभ का मृदु कच जाल
सूंघता होगा अनिल समोद।[३१]

तो कहीं नायिका की सारी सित छोर हृदय को गन्ध से विभोर कर रहा है–

उड़ता है जब प्राण।
तुम्हारी सारी का सित छोर,

---

29 पन्तग्रन्थावली भाग-भाग-(पल्लव), पृ0-192
30 वही (मधुकरी), पृ0-191
31 वही (गुंजन), पृ0-251

सौ बसन्त, सौ मलय

हृदय को करते गन्ध-विभोर।[32]

पन्तजी का काव्य वास्तव में सौन्दर्य-सौरभ स्नान है।

स्पर्श सौन्दर्य

कवि का ऐन्द्रिय-बोध अति सघन है। इन्होंने स्पर्श-बोध द्वारा सौन्दर्य-सुकुमारता को प्रश्रय दिया है। विना स्पर्श के तो शृंगार पूर्ण नहीं होता है और यह स्पर्श पन्तजी के काव्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। बसन्त वसुधा को स्पर्श से ही पुलकित करता है–

नव बसन्त के सरस स्पर्श से

पुलकित वसुधा बारम्बार

सिहर उठी स्मित शस्यावलि में

विकसित चिर यौवन के भार।[33]

कवि स्पर्श-सुख के क्षणों को मधुर बताता है। वह सुख उसे आनन्दातिरेक के भाव से भर रहा है। वह कल्पना करता है–

सुमुखि, वह मधु क्षण। वह मधु बार।

धरोगी कर में कर सुकुमार।

निखिल जब नर-नारी संसार

मिलेगा नव सुख से नव बार,

अधर-उर-से उर-अधर समान

पुलक से पुलक प्राण से प्राण

कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान।

प्रिये प्राणों की प्राण।[34]

पन्तजी यौवन की कविता करें और स्पर्श-चित्रण से पीछे हो जायें, ऐसा सम्भव नहीं है। कारण, स्पर्श की उद्दाम लालसा अनियन्त्रित हो उठती है–

न रोके रुकते चपल नयन,

मीन तिरते, उड़ते खंजन,

अधर से मिलते मधुर अधर

---

32 पल्लाविनी, पृ0 246

33 पन्तग्रन्थावली, भाग-पृ0-248

34 वही, पृ0-234

मुग्ध कलि अलि करते चुम्बन

बाँध यदि भरती आलिंगन

लताओं से लिपटे तरुगन।[३५]

कविपन्त के स्पर्श-सौन्दर्य में सुकुमारता एवं माधुर्य है। यही कारण है कि उन्होंने सौकुमार सूचक अंगों एवं पदार्थों का ही वरण किया है। जहाँ निराला जी के स्पर्श-बोध में उत्साह, आलिंगन में कठोरता है, वहीं पन्तजी में सुकुमारता है। निस्सन्देह स्पर्श-सौन्दर्य की दृष्टि से पन्तजी का काव्य अपनी अलग पहचान रखता है।

ध्वनिसौन्दर्य

पन्तजी अपने काव्य में ध्वनिसौन्दर्य के प्रति सचेष्ट रहे हैं। पल्लव की भूमिका में वे लिखते हैं-'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर नं समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो।'[36]

पन्तजी के काव्य में कोमल एवं कठोर दोनों प्रकार की ध्वनियाँ अंकित हैं, परन्तु इनकी प्रकृति कोमल ध्वनियों के निरूपण की ही रही है। कवि स्वरों को पहचानने में अत्यन्त पटु हैं। पावस की रात्रि में निर्झर, बादल, बूँदे, दादुर, झींगुर तथा पपीहों की भिन्न-भिन्न स्वरों की अनुकृति प्रस्तुत है-

पपीहों की वह पीन पुकार,

निर्झरों की भीनी झर-झर

झींगुरों की झीनी झनकार

बिन्दुओं की छनती छनकार

घनों की गुरु गम्भीर घहर

दादुरों के वे दुहरे स्वर।[३७]

बादलों की जल-तरंग-ध्वनि को कवि ने अत्यन्त रमणीयता से प्रतिध्वनित किया है। इस प्रकार के चित्रण में अद्भुत संगीतात्मकता आ गई है। सावन की वर्षा का एक चित्र प्रस्तुत है-

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,

---

35 वही, पृ0-234
36 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-160
37 वही, पृ0-186

छम छम छम गिरती बूंदें तरुओं से छन के।

चम चम बिजली चमक रही रे उर में घन के,

थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।[३८]

कवि का रचना-संसार अनेक ध्वनियों से आपूर्ण है। खग-कूजन, भ्रमर-गुंजार, कोकिल की काकली, पत्तों का मर्मर, नूपुर-ध्वनि आदि अनेकानेक ध्वनियों के आयोजन से कवि ने काव्य को सौन्दर्य से पूर्ण किया है। ढोल एवं मंजीर की चित्ताकर्षक ध्वनियाँ इस प्रकार हैं-

बज रहा ढोल धाधिन, धातिन,

औ हुडुक घुटुकता ढिम ढिम ढिम,

मंजीर खनकते खिन खिन खिन

मद मस्त रजक, होली का दिन।[३९]

निष्कर्षत: पन्त जी का ध्वनिसौन्दर्य विलक्षण है। इनके काव्य के लालित्य का आधार नाद-व्यञ्जना भी है।

भाषा-सौन्दर्य

पन्त जी कविता के लिए चित्रभाषा की वकालत करते हैं। वे लिखते हैं-'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, इसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े। जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युतधारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।' कवि के उपर्युक्त विचार स्वत: ही कविता पर पूर्णत: फलीभूत होते हैं। भाषा की उक्त विशेषता पन्तजी द्वारा शब्द-चयन से आई है। शब्द और अर्थ में ऐक्य, चित्रोपमता, एवं व्यञ्जकता लाने के लिए कवि ने सर्वत्र ही सफल प्रयत्न किया है। इन्होंने शब्दों की सामग्री को नानारूपों में सजाकर कविता में रूप-सम्बन्धी भंगिमा लाई है। पन्तजी के काव्य में मार्मिक सौन्दर्य का आधार शब्दों के नवीन एवं उचित विन्यास में है। संस्कृत के गुंजायमान शब्दों का प्रयोग करने पर भी जो सौन्दर्य द्विवेदीयुगीन कवि नहीं उत्पन्न कर सके, वह मोहकता पन्त के काव्य में सहज रूप से आ गई है। उदाहरणार्थ-

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि

जगी सुरभि, डोले मधुबाल

स्पन्दन, कम्पन औ नवजीवन

---

38 पन्तग्रन्थावली, भाग-2, पृ0-317

39 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-160

सीखा जग ने अपनाना।[४०]

जो कवि शब्दों की भाव-व्यञ्जकता को जितना अधिक समझ पाता है, भाषा-सौन्दर्य उसकी कविता में उतना ही अधिक आकर्षक रूप में विद्यमान होता है।

पन्तजी की कविताओं में भर्ती के शब्द नहीं हैं। कम से कम शब्दों द्वारा अधिक से अधिक भावाभिव्यञ्जना उनकी विशेषता रही है। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने कहा भी है-**'खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (एक्सप्रेशन) शिथिल पड़ जाता है और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। 'है' को तो जहाँ तक हो सके, निकाल ही देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है।'**[41] नौकाविहार' कविता की प्रथम पंक्ति में कवि ने किसी क्रिया-पद का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी सनातन प्रिय आकाश द्वारा अपनी प्रेयसी धरा को एकटक अनवरत निहारने के व्यापार को अति कुशलता से प्रकट कर दिया है-

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनन्त नीरव भूतल।[४२]

बिम्बों एवं प्रतीकों के अवलम्ब से कवि ने भाषा को समृद्ध बना कर उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति को प्रौढ़ बनाया है। कवि की भाषा का प्रसंगगर्भत्व भी उसकी प्रौढ़ता का परिचायक है। पाठक को सहज ढंग से आकर्षित करने की सामर्थ्य उसकी भाषा में है-

पर्वत-से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत-वन, पल में, साकार-
काल चक्र-से-चढ़ते-गिरते
पल में जलधर फिर जलधार।[४३]

पन्तजी की भाषा भावानुरूपिणी है। इस सम्बन्ध में डॉ0 नगेन्द्र का विचार उपयुक्त है-'हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसकी कलात्मक संकेत पर नाचती है। करुण, शृंगार में यदि उसका उन्मन गुंजन सुनाई पड़ता है, तो वीर और भयानक में वह अग्नि कण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है-हाँ, कभी कोई नहीं रहा।'[44]

---

40 पन्तग्रन्थावली, भाग-1 पृ0 175
41 वही, पृ0-274
42 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-215
43 वही
44 सुमित्रानन्दनपंत, पृ0-665

निष्कर्ष रूप में यहाँ कहा जा सकता है कि पन्तजी का काव्यसौन्दर्य की दृष्टि समृद्ध है। मानव एवं प्रकृति दोनों का सौन्दर्यांकन आकर्षक एवं आह्लादक है। भाव-मार्दवता, कोमल-कान्त-कल्पना, आदि से अन्त तक काव्योपम भाषा की संरचना एवं विषय-विविधता की दृष्टि से पन्तजी का काव्य निस्सन्देह अति श्रेष्ठ है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0187-191)

मानसिक स्वास्थ्य का सुधार एवं उन्नति

डॉ0 विजयलक्ष्मी
प्रवक्ता संस्कृत-विभाग
सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर।

संसार में प्राणिमात्र की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि वह स्वस्थ रहे, सुखी रहे, सम्पन्न रहे, विश्व के समस्त ऐश्वर्य उसे प्राप्त हों। इन समस्त वैभवों की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है हमारा मन सुमन हो। आज विश्व में धन-धान्य सम्पादन संवर्धन की होड़ लगी है। इसकी प्राप्ति के लिए नाना उपाय ढूंढे जा रहे हैं। नित नई योजनाओं की सृष्टि हो रही है, लेकिन मानवों के विकृत मनों के शोध की कोई व्यवस्था हमारे पास नहीं है। यह तो निर्विवादित सत्य है कि सब बिगाड़ों का मूल भी मन है। तथा तमाम सुधारों का भी यही हेतु है, यही कारण है अखिल जगत् की सर्वविध उन्नतियों का। सिद्ध हुआ कि यह मन स्वस्थ होना चाहिए। मानसिक स्वास्थ्य ही शरीर स्वास्थ्य का आधार है, जहाँ अस्वस्थ शरीर व्यक्ति विशेष को प्रभावित करता है, वहीं अस्वस्थ या विकृत मन समाज के व्यापक वर्ग की विकृति का कारण है। वैदिक साधना का तो लक्ष्य ही मनुष्य को विविध तापों से छुडाना है।[1] **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** के अनुसार मनस्तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अत एव बारम्बार गायत्रीजप का विधान है, तत्पश्चात् सन्ध्या के मार्जन मन्त्रों में सर्वत्र सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है जैसे-**भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः, स्वः पुनातु कण्ठे** आदि-आदि। अर्थात् शिर नेत्र आदि में कोई वस्तु है जिसके पवित्र होने के लिए सप्तमी विभक्ति है, वह वस्तु मन ही है।[2] यही नहीं रात्रिकालीन मन्त्रों में **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** का प्रयोग छः बार हुआ है।[3] मनीषियों ने मनस्तत्त्व को आधार बनाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया है, इस सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्द जी विदेह लिखते हैं-मानव जीवन की तीन प्रमुख शाखाएं हैं-**मस्तिष्क, हृदय और शरीर**। पाश्चात्त्यों ने मस्तिष्क और शरीर का भेद तो कुछ पा लिया है, लेकिन हृदय का कुछ नहीं। सुविधा यह है कि मस्तिष्क और शरीर की खोज कुछ सीमा तक प्रयोगशाला में की जा सकती है और कठिनाई यह है कि हृदय की खोज में प्रयोगशाला लेशमात्र भी सहायक नहीं हो सकती है, क्योंकि हृदय की खोज केवल हृदय में प्रविष्ट या प्रतिष्ठित होकर की जा सकती है। मन भी हृत्प्रतिष्ठित ही है।[4] इसीलिए हम कोई भी संकल्प करते समय हृदय पर हाथ रखकर

---

1 सांख्यदर्शन प्रथम अध्याय प्रथमपाद सूत्र। त्रिविधदुःखात्यन्तं निवृत्तिरत्यन्तपुरः।
2 सन्ध्यापद्धति मीमांसा पृ0 98। आचार्य विश्वश्रवा।
3 यजुर्वेद 34.1 से 34.6 तक।
4 शिवसंकल्प पृ0 1 से 2

संकल्प करते हैं। समस्त वैदिक वाङ्मय में मनस्तत्त्व की मान्यता अनेकरूपों में है, ऋग्वेद में विविध विभक्तियों द्वारा मनस् शब्द का प्रयोग 238 बार, यजुर्वेद में 82, सामवेद में 21 तथा अथर्ववेद में 164 बार हुआ है।[5] यही स्वस्थ मन असाध्य को भी साधने की शक्ति रखता है तथा वही अस्वस्थ हो जाने पर कृतप्रयास को भस्मसात् कर डालता है। मन जितना शुद्ध होगा, संकल्प भी इतने ही परिष्कृत होंगे, अगर मन मलिन हुआ तो कार्य भी कल्याणकर न होंगे। वास्तविकता यही है कि हमारे जीवन की प्रत्येक गति और चेष्टा मन के द्वारा ही होती है **'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** मन के निर्देश के विना न कोई कार्य किया जाता है, न किया जा सकता है, आत्मा के जीवन व्यापार का कर्ता धर्ता यह मन ही है। अथर्ववेद में कहा गया है-पापी मन होने से सब प्रकार के शारीरिक, इन्द्रिय सम्बन्धी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं, इसलिए मन से पापी संकल्प सर्वप्रथम दूर करने चाहिए, मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर होते हैं। पापी विचार मन में उत्पन्न होते हैं, मनुष्य के मन को वश में करते हैं, सुख देने के लोभ में फंसाते हैं, अतः इनसे बचना चाहिए ऐसा करने से ही प्रगति मार्ग की अनुकूलता हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मन को स्वस्थ करके ही उन्नति का सच्चा मार्ग खुल सकता है।[6] सुखी रहने के उपाय बताते हुए कहा गया है-'मनुष्य का मन शुद्ध हो और शुद्धता से अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखों को दूर करे। मानव की उन्नति उसमें स्वस्थ मन की वृद्धि होने से ही हो सकती है। बस आवश्यंकता है शुभ संकल्पों की। अशुभ संकल्प तो राक्षस बनकर मनुष्य के पीछे पड़ जाते हैं और उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।'[7]

जिस प्रकार धूमरहित, शुष्क, स्वच्छ, स्वस्थ और सुगन्धित लकडियाँ ही अग्निहोत्र की समिधाऐं होती हैं, वैसे ही निर्विकार, निर्दोष, शुद्ध और प्रशस्त मन ही मानसिक स्वास्थ्य की समिधा है, मलिन, सदोष, अपावन, अप्रशस्त मन उन्नति का हेतु नहीं है। इसीलिए यजुर्वेद का वह विचार यहाँ प्रासंगिक है, जिसमें कहा गया है कि जब मैं अपनी मनःशक्ति को समृद्ध कर लूँगा तभी मेरा जीवन जीवन बनेगा, तभी मैं पूर्ण पुरुष कहलाऊँगा[8]। आज के इस तथाकथित प्रगतिशील युग में मन की स्वस्थता अस्वस्थता का विशेष महत्त्व है। क्योंकि यहाँ है ही साम्राज्य बुद्धि का, बुद्धि तभी शुद्ध होगी जब मन शुद्ध होगा। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं-काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं।[9] मन को चन्द्रमा माना गया है।[10] शान्त, सुन्दर, आह्लादक । यही रूप है स्वस्थ मन का ऐसा मन निश्चय ही उन्नत होगा। यह 'मन' शब्द जितना छोटा है उससे कई गुना व्यापक और शक्तिशाली है। जब

---

5 वेदों में योग विद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती पृ0 121।।
6 अथर्ववेद सूक्त 26, काण्ड 6, मन्त्र 1,2,3। सातवलेकर भाष्य।
7 अथर्ववेद सूक्त 25, काण्ड 6, मन्त्र 1,2,3। सातवलेकर भाष्य।
8 यजुर्वेद 36/1, वैदिक पृ0 पृ0 31, आहार-विहार।।
9 वेदों में योगविद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती पृ0 125।
10 ऋग्वेद 10/90/131

यह अशुद्ध होता है तब दृष्टि, श्रुति, घ्राण, रसना तथा स्पर्श रूपी पञ्चहवियाँ भी अपावन और अशुद्ध रहती हैं। इनकी अपवित्रता से बुद्धि और चित्तवृत्तियाँ भी मलिन और अस्वस्थ हो जाती हैं। इस प्रकार विश्व में दु:ख और अवनति की अभिवृद्धि होती है। यदि हमारी वृत्तियाँ सकारात्मक सोच की धनी हों, कलुषित न हों, इनका चिन्तन विशाल हो तो उन्नति के सारे मार्ग स्वत: ही अनावृत हो जाएंगे, लेकिन हम इतनी सीधी सरल बात को नहीं अपना रहे हैं अत: अस्वस्थ हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् कार्टर लिखते हैं-अगर माता पिता आदेश देने की बजाय बच्चों को उनके विचारों और मन को नियन्त्रण करने का तरीका सिखा सकें तो वे अपने बच्चों को सन्मार्ग पर चलाने, उन्हें सफल और आदर्श मानव बनाने में बड़ी आसानी से सफल हो सकते हैं, अगर उन्हें यह सिखा दिया जाए कि किस तरह अपने में श्रेष्ठ विचारों को स्थान दें और बुरे विचारों का परित्याग करें तो उन्हें आदेश देने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।[11]

विचारकों का मानना है कि मानव मन के विकास की कोई सीमा नहीं है। प्रोफेसर जेम्स विलियम्स के अनुसार-प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ऐसी शक्तियाँ छिपी रहती हैं जिन्हें न तो कोई देख सकता है और न उसकी कल्पना कर सकता है। अगर कोई ऐसे साधन का आविष्कार हो जाए, जिसके माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों का फोटो खींचा जा सके तो मनुष्य अपनी ही शक्तियों को देखकर आश्चर्यचकित रह जाएगा।[12] विदेह जी भी कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकाशलोकों का प्रकाश एक सेकिण्ड में एक लाख छायासी हजार मील की गति से निरन्तर गति करता है, उसी प्रकार मानव के मनोलोक के संकल्प की रश्मियाँ एक सैकिण्ड में इक्यासी लाख मील रफ्तार से जागृति तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में निरन्तर भावतरंगों के रूप में की गति करती हैं।[13] यह विशाल वेगवान् मन शुद्ध और स्वस्थ रहे कैसे? जब अर्जुन जैसा महारथी कह रहा है कि भगवन् यह तो वायु के सामन प्रबल है, आप कहते हैं कि इसे वश में करो, क्या करूँ उपाय बताइए।[14] **'यत्रापायस्तत्रोपायोऽपि सम्भवति**, श्रीकृष्ण ने कहा-सच है कि यह बहुत वेगवान् है, लेकिन कौन्तेय अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे साधा जा सकता है।[15] योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि अभ्यास और वौराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध सम्भव है।[16] अभ्यास का अभिप्राय यहाँ योगाभ्यास से है। यह योग जब से 'योगा' हुआ है, तबसे इसका महत्त्व पर्याप्त बढ़ा है, चाहे एक्टर हो या क्रिकेटर, उद्योगी हो या सामान्यजन कोई इससे अपरिचित नहीं है, लेकिन यह 'योगा' पातञ्जल योग की प्रथम सीढ़ी का भी स्पर्श नहीं कर पाया है, आवश्यकता इसके सही प्रस्तुतिकरण की। जिस प्रकार पक्षी

---

11 स्वेट मार्डन-आगे बढ़ो पृ0 127।
12 स्वेट मार्डन-आगे बढ़ो पृ0 47।
13 शिवसंकल्प पृ0 6।
14 गीता 6/34।
15 गीता 6/35।
16 योगदर्शन 11/12।

पंखों के सहारे आकाश में उन्नत होता जाता है तथैव अभ्यास और वैराग्य रूपी पंखों से मानव भी मनोविकारों को दूर कर उन्नति को प्राप्त करता है। मन के स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक तत्त्व आहारशुद्धि भी है। क्योंकि **'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः।**[17] भोजन ही हमारे मन और बुद्धि का निर्माण करता है। राम-भरत के पावन भातृप्रेम की जगह औरंगजेबी कृति का बढ़ना अनुचित आहार का फल है। भोजन मनुष्य में बल-वीर्य की शुद्धि के लिए है, लेकिन वही हमारे नाश का कारण बन रहा है, डॉक्टरों की भारी भीड़ में भी वही ढाक के तीन पात वाली कहावत चरितार्थ है, वह इसलिए कि हम साधन और साध्य की पवित्रता की बात विस्मृत कर बैठे। भीष्म पितामह का कथन हम सबके लिए प्रेरणास्रोत होना चाहिए। शरशैय्या पर पड़े हुए वे कहते हैं-आज मैं धर्मोपदेश कर सकता हूँ, क्योंकि दुर्योधन के अशुद्ध अन्न से निर्मित रक्त कण अर्जुन के तीरों से अब निःशेष हो चुके हैं। धार्मिक मर्यादाएँ हों या दैनिक जीवन, मन के स्वास्थ्य की चर्चा हो शारीरिक स्वास्थ्य की सर्वत्र उचित आहार का परामर्श है। उचित आहार की चर्चा तो सब करते हैं, लेकिन उसके उपार्जन में भी शुचिता का ध्यान रखा जाए, इस तथ्य से सभी अपरिचित नजर आते हैं, दोनों की शुद्धि ही आहारशुद्धि की श्रेणी में आएगी। भगवान् कृष्ण गीता में इस ओर भी संकेत करते हैं।[18] आज का युग प्रगतिशील विकासशील और वैज्ञानिक उन्नतिं से ओत-प्रोत है, प्रत्येक देश, प्रत्येक व्यक्ति विकास की इस दौड़ में निरन्तर दौड़ रहा है, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखना अतीव दुष्कर प्रतीत हो रहा है, मनोवैज्ञानिकों व सलाहकारों की पूरी फौज खड़ी हुई है, लेकिन हमारी अवस्था **'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'** वाली हो रही है। प्रयास प्रसन्नता का है, मिल रहा है अवसाद, घोषणा विश्वशान्ति की, दिखाई दे रही है अशान्ति। स्वेट मार्डन का विचार है-**'लगातार इस तरह के (अवसाद, चिन्ता के) वातावरण में जीवन गुजारने से अधिक हानिकर अन्य कोई बात नहीं, जो विकास को अवरुद्ध कर सके और शक्ति का शोषण कर सके। मानसिक रसायन द्वारा ही इसकी जाड़ काटी जा सकती है, यह मानसिक रसायन एक धार्मिक प्रक्रिया है जो उसी प्रकार वैज्ञानिक है जैसे गणित के सिद्धान्त।**[19]

मानसिक स्वास्थ्य एवं उन्नति के लिए आवश्यक है कि हम अपने मन में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि कुत्सित भावों को जड़ें न जमाने दें, क्योंकि हमारे मानसिक विचारों का प्रभाव भी प्रतिपक्षी पर पड़ता है, व्यक्ति का मन जिस रंग में रंगा होता है मनुष्य के अन्दर में वैसा ही प्रकाश बाहर प्रतिक्षिप्त होता है, वह समस्त संसार को उसी रूप में देखता है। एक अंग्रेजी विचारक का कथन है-Every bit of hatred that goes of the heart of man, comes back to him in full force and nothing can stop it and every impulse of life comes back to him."[20] इसीलिए वेद भगवान् हमें

---

17 छान्दोग्य उपनिषद 7/26/2।

18 गीता। युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

19 आगे बढ़ो-विचारों की भटकन।

20 श्रुति सौरभ-पं0 शिवकुमार शास्त्री पृ0 17।

मधुरता का उपदेश देते हैं-वाणी से मैं मीठा बोलूँ। यही नहीं समस्त सृष्टि में माधुर्य है, अतः हम भी परस्पर मधुरता का व्यवहार करें।[21] मधुरता के साथ यदि आत्मनिरीक्षण और ईश्वरोपासना को भी संयुक्त कर लिया जाए तो उन्नति का मार्ग सुमार्ग बन सकता है। आत्मनिरीक्षण वह साधन है, जो हृदय को शुद्ध और स्वच्छ करता है, यही वह यन्त्र है जिसके द्वारा पञ्चहवियाँ परिमार्जित होंगी। व्यस्त दिनचर्या में यदि कोई त्रुटि रह गई है तो आत्मनिरीक्षण उसे संशोधित करेगा। विकास का नवपथ सुझाएगा, उन्नति का पथ उन्नत करेगा। ईशोपासना के अनेक उद्देश्य में मन की शुद्धि भी एक प्रमुख उद्देश्य है। विचार कीजिए यदि प्रतिदिन के अशुद्ध पात्रों में ही कोई व्यक्ति भोजन करेगा तो रोगी हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार नित्य अनेक योजनाएँ बनाने, विचार करने और कर्म के फलस्वरूप मानव के मनरूपी पात्र में अनेक दुर्गुणों की अशुद्धि जम जाती है, इसे दूर करना अनिवार्य है, अन्यथा इससे मन बुद्धि दोनों अस्वस्थ हो जाएँगे, मनरूपी पात्र की अशुद्धि को दूर करने का एकमात्र उपाय ईश्वरोपासना है। जब हमारा मन शुद्ध हो जाता है, हमारी बुद्धि पवित्र और स्थिर हो जाती है तब हम अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।[22] ईश्वरोपासना का फल महर्षि दयानन्द के शब्दों में-**'जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं, इसका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा, क्या यह छोटी बात है।**[23] ईशोपासना से मन और बुद्धि निर्मल होंगे, बुद्धि निर्मल होने पर हम अनीप्सित कार्यों से बच सकेंगे। मन मानव शरीर का प्रधान अंग है मन के आदेश व इच्छाओं का पालन सारी इन्द्रियाँ करती हैं, इसीलिए आवश्यक है कि इसमें आत्माविश्वास भरा जाए, आत्मविश्वास ही कर्ता और कर्म को जोड़कर सेतु का काम करता है, उन्नति रूपी कर्म को करते समय आत्मविश्वास मनस्तत्त्व को उत्कृष्टता से प्रेरित करता है। अनावश्यक विचारों से अपने को बचाते हुए उत्साह, उल्लास, दृढ़ता व प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्य कर्म को करें, शेष ईश्वर पर छोड़ दें तो देखिए हमें कितनी मानसिक सन्तुष्टि मिलती है, मस्तिष्क का कितना बोझ उतर जाता है, अगर विश्वास न हो तो सोचिए मेरी इस मगजपच्ची से फल भी प्राप्ति में कोई न्यूनता अधिकता आई क्या? यदि नहीं तो इस कोयले की दलाली में हाथ काले करने से क्या लाभ? यह तो मूर्खता है।[24] यह अभ्यास हमें मानसिक स्वस्थता प्रदान करेगा तथा हमारी उन्नति का संवाहक बनेगा, क्योंकि **'असिद्धार्था निवर्तन्ते न हि धीराः कृतोद्यमाः'**। उपनिषद् भी कह रही है-**यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः।**

---

21 ऋग्वेद 1/90/6। ऋ0 1/90/7-8।।
22 ईश्वरोपासना-क्यों ओर कैसे। डॉ0 वेदप्रकाश। ईश्वरोपासना क्यों-प्रकरण।
23 सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास।
24 विस्तार के लिए देखिए-श्रुतिसौरभ-पृ0 120।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0192-195)

नारी-मानव-निर्माण

डॉ. मृदुल जोशी
प्रवक्ता हिन्दी-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही जगत् का निर्माण हुआ है। प्रकृति शक्ति है और पुरुष शक्तिमान्। **शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्यां विवर्जितः** के अनुसार शक्ति के विना शक्तिमान् का अस्तित्व नहीं है और शक्तिमान् के विना शक्ति के लिए स्थान नहीं है। इसलिये संसार के लिए दोनों की समान उपादेयता है, लेकिन सृजन की शक्ति तो ईश्वर ने प्रकृति स्वरूपा नारी को ही दी है। विश्व की उत्पादिका और पोषिका नारी शक्ति को प्राचीन भारतीय संस्कृति समुचित आदर देती रही है। **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः'** का उद्घोष इस बात का प्रमाण है। सृष्टि प्रपञ्च की मूल-स्रोतस्विनी के रूप को ही सम्मान देने के लिए ही तो दुर्गा सप्तशती में कह दिया गया है–

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः।
विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु।
त्वैयेकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

इस सृष्टि का अर्द्धांश नारी है। नारी माता के रूप में सन्तान उत्पन्न करती है, उसका पालन पोषण करती है तथा उसके प्रति जीवन भर अपार एवं निःस्वार्थ प्रेम धारण करती है। गृहिणी के रूप में नारी सखा है, मन्त्रणी है, घर की व्यवस्थापिका है तथा धर्म की साधिका है। वह पितृकुल और पतिकुल दोनों को आनन्द देने वाली है। वह प्रेम दया धैर्य, परिश्रम एवं स्वार्थ त्याग की प्रतिमा है तथा समस्त पुरुष वर्ग उससे शक्ति, उत्साह एवं प्रत्येक कार्य में सहायता प्राप्त करता है। इसलिए नारी चाहे पत्नी रूप में हो या माता के रूप में वह समाज के समूचे घटक मानव के निर्माण की मूल धुरी है, उसका महत्त्व अनिर्वचनीय है। इसलिये अथर्ववेद में कहा गया है-**मात्रा भवतु संमनाः।**[1] माता की महिमा के विषय में श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं नीति ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा गया है। भगवती श्रुति उपदेश देती है-**मातृदेवो भव**[2] अर्थात् इष्टदेव समझकर माता की सेवा करनी चाहिए। स्मृति का वचन है-**उपाध्यायान्दशाचार्य**

---

1 अथर्ववेद 3/30/2
2 तैत्ति0 1/11

आचार्याणां शतं पिता, सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।'[3] अभिप्राय है एक आचार्य गौरव में दस उपाध्यायों से बढ़कर है। एक पिता सौ आचार्यों से श्रेष्ठ है एवं एक माता एक सहस्र पिताओं से श्रेष्ठ है। माता के प्रति श्रद्धाप्रपूरित ये उद्गार क्यों? उत्तर- सरल-सीधा सा गर्भधारण। **'पोषाद्धि ततो माता गरीयसी'** और **'मात्रा समं नास्ति शरीर पोषणम्'** इसका कारण यही है कि अहैतुक स्नेह करने वाली माता ही एक ऐसी है जिसका प्रेम सन्तान पर जन्म से लेकर शैशव, बाल्य, यौवन एवं प्रौढ़ावस्था तक एकसा बना रहता है। यह तो है बालक के शरीर-रक्षण व पोषण का विषय। एक माँ अपने संस्कार बालक को देकर अपनी समूची विद्या, समस्त गुण, सम्पूर्ण कार्य कौशल बालक के जीवननिर्माण हेतु समर्पित करती है। उसे साधारण मनुष्य से महामानव बनने की विकसनशील प्रक्रिया में माँ का योगदान रहता है। उसका प्रतिपल, प्रतिक्षण मानव के गढ़न में साधनारत रहता है। सृष्टि के प्रारंभ से आज तक मातृमण्डल की महत्ता लोक और वेद में प्रत्यक्ष है। स्नेहमयी माता की सबसे बड़ी अभिलाषा यही रहती है कि मेरी सन्तति चिरायु, नीरोगी, बलवान्, बुद्धिमान्, धनी, धार्मिक और सर्वगुण सम्पन्न बने। भारतीय संस्कृति सदा से ही भौतिक समृद्धि के अतिरिक्त आध्यात्मिक-अनुसन्धान की वृत्ति की पोषिका रही है। अतीत में अनेक ऐसी जननियाँ हुई हैं, जिन्होंने अपनी सन्तानों को महामानव बनाया है। महारानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को ज्ञान और सदाचार की ऐसी शिक्षा दी थी कि उसके प्रभाव से वे अपने जीवन में सदा यशस्वी और परोपकारी बनकर मोक्ष के अधिकारी हुए। माता देवहूति ने विद्वान् कपिल को जन्म दिया, जिन्होंने सांख्यदर्शन का प्रणयन कर संसार को कैवल्य का मार्ग सुझाया। माता अरुन्धती जगत् की ललनाओं को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देकर अमर हो गयीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के उन्तालीस और चालीस संख्या वाले सूक्तों की द्रष्टी साध्वी घोषा ने स्त्री जगत् के निमित्त अश्वनी कुमारों से दया, दाक्षिण्य, धन-धान्य, विद्या, बुद्धि, आरोग्य आदि गुणों से युक्त पति को प्रदान करने की प्रार्थना की है। उसी मण्डल के पिचासी संख्या वाले सूक्त की ऋषिका सूर्या ने स्त्रियों के सौभाग्यकामना की अभ्यर्थना श्री भगवान् से की है।

तेजस्विनी विदुला ने तेजोहीन और भीरु संजय नामक अपने पुत्र को ओजस्वी भाषण द्वारा उत्साहपूर्ण उपदेश देकर उसके कातर हृदय में साहस कर संचार किया था। इसी के परिणाम स्वरूप वह सिन्धुराज को पराजित कर विजयी बन प्रत्यावर्तित हुआ। माता कुन्ती ने पाण्डवों को धर्म में दृढ़ रहने और क्षात्र-धर्म और प्रजापालन करने का उपदेश और आशीर्वाद प्रदान किया था। माता कौशल्या, जो कि मर्यादा पुरुष राम की जननी थीं, राम को सदैव धर्माचरण की शिक्षा देती दिखायी देती हैं। राम के वनगमन के समय भावी वियोग जनित दुःख से व्याकुल होते हुए भी धर्म का विचार करते हुए वन जाने की आज्ञा और आशीर्वाद दिया।

न शक्यते वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम,

---

3 मनुस्मृति।

शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च,
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥[4]

वे तो मात्र यह कह सकीं प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म के पालन में प्रवृत्त हुआ है, वही धर्म तेरी रक्षा करेगा। जहाँ माताएँ इतनी निःस्पृहा, धैर्यधारिणी और युक्तायुक्त की विवेचिकाएँ होंगी, वहीं सच्चे अर्थों में मानव का निर्माण हो पायेगा।

मरीचि, अत्रि अंगिरा, व्यास, वसिष्ठ, भारद्वाज, नारद, पराशर, भीष्म, शंकराचार्य, ध्रुव, प्रह्लाद आदि मानवों को गढ़ने में इनकी माताओं का ही शत प्रतिशत योगदान रहा है। क्या रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महामना मदनमोहन मालवीय, महात्मा गान्धी, सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णनन्, राजेन्द्र प्रसाद, लालबहादुर शास्त्री जी सदृश अनेकानेक महान् हस्तियाँ उस शिखर पर आरूढ़ हो पातीं, यदि उनकी माताओं ने उनेक जीवन में सुसंस्कारों की सुदृढ़ नींव नहीं डाली होती, क्योंकि माँ अपने संरक्षण, अपने सान्निध्य में बच्चे को जिस रूप में चाहे वैसा बना सकने की अद्भुत क्षमता रखती है। माता की स्नेहमयी क्रोड, उसका शासन ही प्रत्येक बच्चे का प्रथम विद्यालय है और इसी विद्यालय में पड़ी आस्था की नींव सबसे गहरी होती है। यहाँ से निकला मनुष्य एक आदर्श समाज का निर्माण करता है। हमारे पुराणों में माता मदालसा का उल्लेख मिलता है। जो इतनी आत्मोन्नत थीं कि उन्होंने अपने समान तीन पुत्रों को मुक्तिमार्ग की दीक्षा दी। ये तीनों सन्तान विरक्त होकर वन चली गयीं, अन्ततः पति की याचना करने पर कि मेरा उत्तराधिकारी कौन बनेगा, उन्होंने चौथे पुत्र को जन्म दिया, उसे लौकिक व पारलौकिक दोनों धर्मों की शिक्षा-दीक्षा दी, जिसके परिणामस्वरूप एक न्यायप्रिय, कर्मठ, निष्ठावान् उत्तराधिकारी का निर्माण हुआ। नारी का महत्त्व असिन्दग्ध है, नारीसृजन और उसका महत्त्व असंदिग्ध है। नारी सृजन और निर्माण दोनों में सहायिका है। एक विचारणीय तथ्य यह है कि जब उसका दायित्व इतना महत्त्वपूर्ण है तो नारी को स्वनिर्माण हेतु भी जागरूक होना होगा। उसे स्वयं शिक्षिका, स्वयं सिद्धा बनना होगा। उसके आन्तरिक भौतिक गुणों का आधान, आत्मनिरीक्षण और संयमन के कठिन परीक्षण से गुजरना होगा। आज नारी की भौतिक उपलब्धि तो असीमित है। वह वैदिक-पौराणिक युग के ही समान समाज के कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही है। वह कुशल वक्ता तार्किक बुद्धिजीवी, शिक्षिका, शासिका, निर्मात्री, विधिविज्ञा, विदुषी तो है ही, साथ ही उन्नत भौतिकी, तकनीकी, यांत्रिकी उपलब्धियों का भी उसे पूर्ण श्रेय जाता है, लेकिन अपने अतीत के समान अन्तः की यात्रा का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। धैर्य, क्षमा, दया, करुणा, भावकुता तो स्त्री के प्रकृतिजन्य गुण हैं ही, ये आज भी विद्यमान हैं, लेकिन सत्य, ईमानदारी, निष्ठा, तपश्चर्या, दृढ़ता सदृश आन्तरिक गुणों का ही यदि उसमें से लोप हो जाए तो समाज की परीणति भी ह्रासोन्मुख ही होगी। यहाँ एक आख्यान देना चाहूँगी।

---

4 वाल्मीकि रामायण।

बृहदारण्यक की एक आख्यायिका अवधान योग्य है। संन्यास लेने के इच्छुक याज्ञवल्क्य अपनी भौतिक सम्पति का बँटवारा दोनों पत्नियों के मध्य कर देना चाहते थे, लेकिन मैत्रेयी वास्तविक सम्पति की अधिकारिणी बनना चाहती है और वह यह आमन्त्रण ठुकरा देती है।

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि॥

यह है एक विदुषी की विरक्ति एवं जिज्ञासा का जीता-जागता उदाहरण। यही जिज्ञासु प्रवृत्ति उसे आत्मस्वरूप के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। यहाँ नारी का ब्रह्मविद् स्वरूप भी दृष्टिगत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही जनक की भरी सभा में गार्गी-याज्ञवल्क्य, संवाद दृष्टिगत होता है। और उसमें ब्रह्मविद् गार्गी याज्ञवल्क्य की परीक्षक बनी है और उससे अनेक प्रश्न करती है। उनके उत्तर से सन्तुष्ट हो उन्हें ब्रह्मवेत्ता स्वीकारती है। यहाँ गार्गी ने अपने को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाया है कि वह सत्य की परीक्षक बन सके। स्त्री यदि वास्तविक सत्य की इन ऊँचाइयों तक पहुँच जाए या इस लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टारत हो तो संसार का कोई भी प्रलोभन उसे सत्य, न्याय, धर्म, निष्ठा के मार्ग से विरत नहीं कर सकता। कोई भी आकर्षण उसे लुभा नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह सदा न्यायप्रिय और कर्तव्यनिष्ठ बनी रहेगी और अपनी सम्पति को भी नैतिक मूल्यों का दृढ़ाधार प्रदान करेगी। परिणामस्वरूप सदाचारी, निष्ठावान् मनुष्यों का सृजन होगा और सत्यनिष्ठ समाज का निर्माण।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0196-203)

प्राचीन भारत में सती-प्रथा

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आजकल भारत में सती होना अपराध है, किन्तु प्राचीन तथा मध्यकालीन समाज में यह एक धार्मिक कार्य माना जाता था। लेकिन विधवाओं का अपने मृतपति के साथ जीवित जल जाना केवल भारत में ही प्रचलित नहीं था, अपितु विश्व के अनेक प्राचीन देशों में भी इस प्रथा का प्रचलन था। तीसरी सहस्राब्दी ई0पू0 में यूरेशिया में स्त्रियों को पुरुषों के साथ गाड़ने के पुरातात्त्विक साक्ष्य मिले हैं।[1] हेरोडोटस के अनुसार पांचवी शताब्दी ई0पू0 में मध्य एशिया के अन्तर्गत सिथियनों में विधवाओं को जलाने की प्रथा का प्रचलन था।[2] इसी प्रकार मिस्र के समाज में मातृक आधिकारिक परम्पराओं के बावजूद राजाओं के साथ उनकी पत्नियों, दास-दासियों एवं सुख-सुविधा की अन्य वस्तुओं को दफना दिया जाता था ताकि परलोक में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े।[3] इसके अतिरिक्त यह प्रथा प्राचीन यूनान, रोम तथा स्लाव आदि देशों में भी प्रचलित थी,[4] किन्तु वहाँ इसका प्रचलन बहुधा राजघरानों एवं भद्र लोगों तक ही सीमित था।

सती का शाब्दिक अर्थ है 'अमर' या 'सत्य' पर दृढ़ रहने वाली स्त्री। इस प्रकार यह शब्द पति-पत्नी के बीच अटूट एवं अविच्छेद सम्बन्ध को व्यक्त करता है। लेकिन प्राचीन भारतीय साहित्य में इसके लिए 'सहमरण' (साथ मरना), 'सहगमन' (साथ जाना), 'अन्वारोहण' (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना) तथा 'अनुमरण' (यदि पति विदेश में मरा हो तो मृत्यु का समाचार सुनकर उसके पीछे मरना) आदि शब्द मिलते हैं। इन शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि मरने तक पति-पत्नी के सम्बन्ध अविच्छिन्न बने रहते थे और उसके बाद परलोक और जन्म-जन्मान्तर में भी अटूट बने रहे थे। इस प्रकार यह प्रथा मृत पति के प्रति उसकी विधवा स्त्री के अनुपम त्याग और बलिदान को व्यक्त करती है।

---

1. आर0एस0 शर्मा, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, पृ0 88,
2. एस0सी0 सरकार, सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 82,
3. आर0एस0 शर्मा, पूर्वोक्त, पृ0 88,
4. श्चैडर, प्रिहिस्टारिक एण्टीक्वीटिज ऑफ दि आर्यन पीपल, पृ0 391, वेस्टमार्क, आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ मॉरल आइडियाजि, पृ0 472-76,

प्राचीन भारत में सती-प्रथा

भारत में इस प्रथा का प्रारम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में मतभेद है। वैदिक काल में इस प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद[5] के एक अंश के आधार पर वैदिक काल में सती-प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है।[6] जिसके अनुसार विधवा स्त्री अपने मृतपति के शव के साथ कुछ क्षणों के लिए लेटती है। तत्पश्चात् उसे सम्बोधित करते हुए कहा जाता है कि हे नारी! उठो और पुनः जीव लोक में पुनः लौट जाओ। तुम एक मृतपुरुष के साथ लेटी हो। पाणिग्रहण करने वाले पुरुष के साथ तुमने अपना पत्नीत्व सम्यक् रूप से व्यतीत किया है। इसी प्रकार का एक मन्त्र अथर्ववेद में भी मिलता है,[7] जहाँ विधवा स्त्री का अपने पति के शव के साथ चिता पर आरोहण करने का उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् उससे चिता पर से उतर जाने को कहा जाता है और उसके सुखी जीवन के लिए प्रार्थना की जाती है। परन्तु अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये दोनों ही अंश वैदिक काल में सतीप्रथा के नहीं, अपितु सुदूर अतीत में प्रचलित सतीप्रथा के दृष्टान्त मात्र हैं, जब विधवा अपने पति के साथ जला दी जाती थी। लेकिन वेदों के रचनाकाल तक यह प्रथा प्रतीकात्मक क्रियामात्र रह गयी थी। ब्राह्मणसाहित्य में भी सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में विधवा स्त्री का अपने पति के हाथों से धनुष आदि उसकी प्रिय वस्तुओं को लेकर गृह-प्रत्यागमन तथा उसके आगामी जीवन में सुख-समृद्धि की कामना का उल्लेख मिलता है।[8] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्री के सती हो जाने की अपेक्षा उससे पुनर्विवाह या नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती थी या फिर वैधव्य जीवन व्यतीत करने की।

सम्पूर्ण सूत्रसाहित्य में जहाँ मनुष्य की सभी सामाजिक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है वहाँ सती-प्रथा का संकेत मात्र भी नहीं मिलता। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृतपति का शिष्य या उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था।[9] भारद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के समय से ही नियमित तौर पर गृह्याग्नि प्रज्ज्वलित रखनी चाहिए और पति के मृत्यु के बाद भी पत्नी को उस पवित्राग्नि को प्रज्ज्वलित रखना चाहिए।[10] एकमात्र विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र से इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, जहाँ कहा गया है कि **'अपने पति की मृत्यु पर विधवा या तो ब्रह्मचर्य का**

---

5. ऋग्वेद, 10/18/7-8, इमा नारीरविधवाः सपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।। उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।।
6. मैकडॉनल, वैदिक माइथौलॉजी, पृ0 165,
7. अथर्ववेद, 18/3/1 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।।'
8. तैत्तिरीय आरण्यक, 6/1,
9. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 4/2/18,
10. भारद्वाज गृह्यसूत्र, 2/1,

पालन करती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी।'[11] लेकिन यह धर्मसूत्र अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा काफी बाद का माना गया है। बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी सती-प्रथा का कोई उद्धरण नहीं मिलता। मेगस्थनीज, कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों में भी इस प्रथा के अस्तित्व के साक्ष्य नहीं मिलते। मनु तथा याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों से भी इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग 300 ई0पू0 के आस-पास पंजाब एवं सिन्ध में इसका प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। ग्रीक लेखकों ने इस प्रथा का वर्णन किया है। स्ट्रैबो ने आइनेसिक्रिटस की सूचना के आधार पर लिखा है कि सिकन्दर के सहगामी यूनानियों ने कठों के बीच इस प्रथा का प्रचलन देखा था।[12]

महाकाव्यों में इस प्रथा के प्रचलन के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। रामायण में ब्राह्मणी वेदमती की माता का शरीर दहन करने का उल्लेख मिलता है।[13] महाभारत में पाण्डु की रानी माद्री का अपने पति के साथ सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[14] विराटपर्व में कीचक के साथ सैरन्ध्री के जल जाने का उल्लेख मिलता है।[15] मौसलपर्व के अनुसार वासुदेव की चार पत्नियाँ देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा तथा कृष्ण की पत्नियाँ रुक्मिणी, शैब्या, हैमवती और जाम्बवती अपने पति के साथ सती हो गयी थीं।[16] परन्तु फिर भी यह प्रथा लोकमान्य नहीं हुई थी, क्योंकि महाकाव्यों में ही अनेक अभिजात विधवा महिलाओं जैसे कुन्ती, सत्यवती, उत्तरा, कृपा, कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी आदि का पति की मृत्यु के उपरान्त जीवित रहने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार महाभारत के स्त्रीपर्व में युद्ध में मारे गये वीरों की विलाप करती हुई स्त्रियों का वर्णन मिलता है, परन्तु उनमें से किसी के भी सती होने का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः उपर्युक्त उद्धरण नियम के रूप में नहीं अपितु अपवाद के रूप में लिये जाने चाहिये।

लेकिन गुप्तकालीन साहित्य में सती होने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। कालिदास के अनुसार कामदेव के भस्म हो जाने पर उसकी पत्नी अग्नि में प्रवेश करना चाहती थी।[17] वराहमिहिर ने उन विधवाओं के साहस की प्रशंसा की है, जो पति के मरने पर अग्नि में प्रवेश

---

11. विष्णु धर्मसूत्र, 25/14, याज्ञवल्क्यस्मृति के 1/86 की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।।'
12. स्ट्रैबो, 15/1/30, एवं 62,
13. रामायण, 7/17/33,
14. महाभारत, 1/5/65,
15. वही, 4/23/8,
16. वही, 16/7/18, 73-74,
17. कुमारसंभव, 4/34,

कर जाती थीं।[18] वात्स्यायन ने तो यहाँ तक लिखा है कि वीरांगनाएँ अपने प्रेमी का अधिकार पाने के लिए उन्हें आश्वस्त करती थीं कि वे उनके साथ सती होंगी।[19] व्यासस्मृति के अनुसार पति के शव का आलिंगन करके ब्राह्मणी को अग्नि में प्रवेश करना चाहिए, लेकिन यदि वह पति के उपरान्त जीवित रहती है तो उसे अपना केशशृंगार नहीं करना चाहिए और तप से शरीर को गला देना चाहिए।[20] ब्रह्मपुराण के अनुसार पति के मर जाने पर पतिव्रता स्त्रियों के लिए एकमात्र गति यही है कि वे भी पति के शव के साथ चिता पर आरुढ़ हो जायें। पति के वियोग से उत्पन्न होने वाली जलन के शमन का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि पति की मृत्यु किसी देशान्तर में हो जाये तो पत्नी को चाहिए कि उसकी पादुकाओं को साथ लेकर संशुद्ध रूप से अग्नि में प्रवेश कर लें।[21]

पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों तथा अभिलेखों में इस प्रथा के प्रचलन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की पत्नी यशोमति के अग्नि में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है। लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यशोमति ने प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पूर्व ही अपने को भस्म कर लिया था।[22] हर्ष की बहिन राज्यश्री भी अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने को तैयार थी, परन्तु हर्ष ने उसे समझा कर ऐसा करने से रोक दिया था। राजतरंगिणी में भी सती होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[23] शंकरवर्मन में मर जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक प्रधान रानी तीन अन्य रानियों के साथ सती हो गयी थी।[24] इसी ग्रन्थ के अनुसार कन्दर्प सिंह के मर जाने पर उसकी पत्नी सती हो गयी थी।[25] कथासरित्सागर में भी पति के मरने पर सती होने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।[26] अरब यात्री सुलेमान ने भी भारत में सतीप्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यहाँ यह नियम है कि जब राजा मरता है तो उसकी सब रानियाँ जल जाती हैं, परन्तु यह केवल उनकी इच्छा पर निर्भर है, इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।[27] परन्तु सुलेमान के पश्चात् आने वाली विदेशी यात्री अलबेरुनी का कथन है कि राजाओं की पत्नियों को चाहे या ना चाहे सती होना ही पड़ता है।[28]

---

18. बृहत्संहिता, 74/16,
19. कामसूत्र, 6/2/53,
20. व्यासस्मृति, 2/53,
21. कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड, पृ0 634,
22. हर्षचरित, उच्छ्वास 5,
23. राजतरंगिणी, 6/107, 195, 7/103, 478,
24. वही, 5/226,
25. वही, 7/103,
26. कथासरित्सागर, 10/85,
27. सिलसिलतुत्तवारिख, पृ0 50,
28. जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 164,

इस काल में राजाओं के साथ न केवल उनकी पत्नियों के अपितु दास-दासियों एवं रखैलों के भी सती हो जाने के उल्लेख मिलते हैं। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्धन की मृत्यु पर कितने ही मित्रों, मन्त्रियों, दासों, दासियों एवं स्नेहपात्रों ने अपने को जला दिया था। राजतरंगिणी के अनुसार जब अनन्त की रानी सती हो गयी तो उसका चटाई धोने वाला, कुछ अन्य पुरुष तथा तीन दासियाँ उसकी अनुगामी हो गयीं।[29] एक उदाहरण माता का भी मिलता है, जो अपने पुत्र के साथ सती हो गयी थी।[30]

अभिलेखों में इस प्रथा के प्रचलन का सबसे प्राचीनतम प्रमाण गुप्त राजा भानुगुप्त के 510 ई0 के एरण प्रस्तर स्तम्भ लेख में मिलता है, जिसमें गोपराज की पत्नी का अपने पति के साथ सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[31] 705 ई0 के नेपाल अभिलेख में धर्मदेव की विधवा राज्यवती का अपने पुत्र महादेव को राज्य सौंपकर अनुमरण करने का उल्लेख मिलता है।[32] जोधपुर से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुहिलवंशीय दो रानियाँ चिता में जलकर सती हो गयी थीं।[33] घटियाला (जोधपुर) अभिलेख (810 ई0) राजपूत सामन्त राणुक का उल्लेख करता है, जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी ने सहगमन किया था।[34] सिन्ध महामण्डलेश्वर रावमल्ल ने अपने सरदार बेघिराज की दो विधवाओं के, जो कि सती हो गयी थीं, के कहने पर शक सम्वत् 1103 में एक मन्दिर बनवाया था।[35] इसी प्रकार कई अन्य अभिलेखों में इस प्रथा का उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ तथा अन्य स्थानों पर राजपुत्रियों और रानियों द्वारा किये गये जौहर की कहानियाँ अभी भी ताजी हैं। मुस्लिम आक्रान्ताओं के क्रूर हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा राजपूत रानियाँ, पुत्रियाँ तथा अन्य राजपूत कुमारियाँ अपने को अग्नि में समर्पित कर देना उचित समझती थीं।

वास्तव में प्राचीन भारत में इस प्रथा के प्रचलन में अनेक कारणों ने अपना योगदान दिया। ई0 सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जब भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये तो भारतीय स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा एक गंभीर समस्या बन गयी। अतः विदेशी आक्रान्ताओं के हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा भारतीय स्त्रियों ने अपने को पति की चिता के साथ ही जला देना उचित समझा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईसापूर्व तथा ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में सभी स्त्रियाँ अपने पति के साथ सती हो जाती थीं, अपितु यह प्रथा विशेषकर राजपरिवार और अभिजात वर्ग में ही अधिक प्रचलित थी।

---

29. राजतरंगिणी, 7/481,
30. वही, 7/1380,
31. जे0 "लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ0 91,
32. इण्डियन एण्टिक्वेरी, 9/164,
33. एपिग्राफिया इण्डिका, 20/58,
34. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1906-7, पृ0 35,
35. एपिग्राफिया इण्डिका, 14/265-67,

इसका दूसरा कारण प्रारम्भ में उच्चतर जातियों में नियोग और विधवा विवाह का प्रचलन था।[36] जिन स्त्रियों के सन्तान नहीं होती थी, वे धर्मशास्त्रों में वर्णित नियोगप्रथा के द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकती थीं। परन्तु ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में द्विजों के लिए यह प्रथा समाप्त हो गयी।[37] इस प्रसंग में मनु ने इसे द्विजों के लिए पाशविक आचरण (पशुधर्म) कहकर इसकी निन्दा की है।[38] इसकी अनुमति मात्र शूद्रों को ही दी गई।[39] यही बात विधवा विवाह के साथ थी, जो केवल शूद्रों तक सीमित रही।[40] इस प्रकार उच्चवर्ण की विधवा महिलाओं के लिए कठिन समय आ गया, क्योंकि एक तो उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और दूसरा उनके लिए अतिनैतिक और त्यागी जीवन का विधान कर दिया गया। अत: ऐसी स्थिति में उन्होंनें अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा अपने को सती कर देना उचित समझा। तीसरा धर्मशास्त्रकारों द्वारा इसे धार्मिक महत्त्व दिये जाने के कारण भी इसको बढ़ावा मिला, जिससे धर्मभीरु जनता भी धीरे-धीरे इस प्रथा की अनुगामिनी बन गई।

इस प्रकार जब एक बार यह प्रथा जड़ पकड़ गयी तो निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने सती होने वाली स्त्रियों की भरपूर प्रशंसा शुरू कर दी और सती होने से भविष्य में मिलने वाले लाभों की चर्चा चला दी। शंख एवं अंगिरा के अनुसार जो स्त्री अपने मृत पति का अनुगमन करती है वह स्त्री शरीर पर पाये जाने वाले साढ़े तीन करोड़ रोमों की संख्या के बराबर स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार सपेरा साँप को उसके बिल से बलात् खींच लेता है, उसी प्रकार सती होने वाली स्त्री अपने पति को अधोगति से उबार लेती है और उसके साथ स्वर्गीय सुख भोगती है। इसके अतिरिक्त सती होने वाली स्त्री अरुन्धती के समान ही स्वर्ग में यश पाती है। लेकिन जब तक स्त्री अपने को मृत पति के साथ अग्नि में भस्म नहीं करती है तब तक वह स्त्री जन्म से मुक्त नहीं होती है।[41] हारीत के अनुसार जो स्त्री पति का अनुगमन करती है वह तीनों कुलों अर्थात् माता, पिता और पति के कुलों का पवित्र कर देती है।[42] दक्ष के अनुसार पति के मरने पर जो स्त्री अग्नि में प्रवेश करती है वह स्वर्गलोक को प्राप्त करती है।[43] मिताक्षरा ने सतीप्रथा को ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक की स्त्रियों के लिए समान रूप से

---

36. एस0सी0 सरकार, पूर्वोक्त, पृ0 78-79, 82-83, 165-85,
37. आर0एस0 शर्मा, पूर्वोक्त, पृ0 91,
38. मनुस्मृति, 9/66,
39. पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, 2, पृ0 604,
40. मनुस्मृति, 9/66,
41. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 1/86, 'तिस्रः कोट्योर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं स वसेत् स्वर्ग भर्तारं यानुगच्छति।।' ब्यालग्राही यथा सर्प बलादुद्धरते बिलात्। तदुद्धृत्य सा नारी सहानेनैव मोदते।। मृते भर्तरि या न समारोहे हुताशनम्। सारुन्धती समाचारा स्वर्गलोके महीयते।।
42. हारीत, 1/68, 'कुलत्रयं पुनात्येषा भर्तारं यानुगच्छति।'
43. जीवानन्द, 2, पृ0 394, 'मृते भर्तरि या नारी समारोहेदधुताशनम्। सा भवेच्च शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते।।

श्रेयस्कर माना है। लेकिन वह स्त्री जो गर्भवती या छोटे बच्चों वाली होती थी, उसके लिये सती होना वर्जित था।[44]

लेकिन इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ अनेक शास्त्रकारों एवं टीकाकारों ने इस प्रथा का समर्थन किया है, वहाँ कुछ ने इस प्रथा का विरोध भी किया है। बाण के अनुसार पति के साथ मरना व्यर्थ है और यह बेवकूफों की प्रथा एवं एक भयंकर भूल है। इससे मृत्यु के पश्चात् पति के साथ मिलन नहीं होता, क्योंकि जो व्यक्ति मरा है उसको उसके कर्मों के अनुसार अपना स्थान मिलेगा और पत्नी को चिता में जलकर आत्महत्या करने के कारण नरक मिलेगा। परन्तु यदि वह जीवित रहेगी तो वह अपना और अपने पति का ही हित करेगी।[45] तन्त्र लेखकों ने भी इसका विरोध किया है। महापरिनिर्वाणतन्त्र के अनुसार जो स्त्री मोहवश अपने पति के साथ चिता में जलती है वह नरकगामिनी होती है।[46] देवण्णभट्ट ने इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी न रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[47] मेधातिथि का कथन है कि सतीप्रथा एक प्रकार से आत्महत्या है जिसका वेद विरोध करते हैं और यह स्त्रियों के लिए वर्जित है।[48] अपरार्क के अनुसार यदि विधवा जीवित रहती है तो वह श्राद्ध में अपने पति को उपहार देकर उसका कुछ भला कर सकती है, परन्तु यदि वह चिता में जलती है तो वह आत्महत्या करने का पाप करती है।[49]

शुद्धितत्व[50] नामक ग्रन्थ में सती होने की विधि का वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार विधवा स्त्री स्नान करके दो श्वेत वस्त्र धारण करती है, अपने हाथों में कुश लेती है, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करती है, आचमन करती है, जब ब्राह्मण कहता है **'ओम् तत्सत्'** वह नारायण का स्मरण करती है तथा मास, पक्ष एवं तिथि का संकेत करती हुई संकल्प करती है। इसके उपरान्त वह आठों दिक्पालों तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि आदि का भी आह्वान करती है कि वे लोग चिता पर जल जाने की क्रिया के साक्षी बनें। तब वह अग्नि के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करती है और फिर **'नमो नमः'** कहकर जलती हुई चिता पर चढ़ जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में सती होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता था, लेकिन आगे चलकर इस प्रथा का दुरुपयोग होने लगा। चूंकि सती होना परिवार के लिए सम्मान की बात समझी जाती थी, इसलिए कभी-कभी अनिच्छुक विधवाओं

---

44. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 1/86, 'अयं च सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचाण्डालम् साधारणो धर्मभर्तारं यानुगच्छति विशेषोपादानात्।।'
45. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृ0 309,
46. महापरिनिर्वाणतन्त्र, 10/79-80,
47. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ0 598,
48. मेधातिथि, 5/155,
49. अपरार्क, 1/87,
50. शुद्धितत्व, पृ0 235

को भी बलपूर्वक सती कर दिया जाता था। दूसरा कभी-कभी स्वार्थवश भी विधवाओं को जला दिया जाता था। देश के उन भागों में जहाँ दायभाग का सिद्धान्त प्रचलित था, वहाँ इस प्रथा का अधिक प्रचलन था। दायभाग के सिद्धान्त के अनुसार पुत्रहीन विधवा का अपने मृतपति की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार होता था, जिससे परिवार के अन्य सदस्यों को असुविधा होती थी, अत: पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर कहीं विधवा का अधिकार न हो जाये, लोगों ने जबरदस्ती उसे सती करना शुरू कर दिया। पी0बी0 काणे तथा ए0एस0 अल्तेकर के अनुसार चूंकि बंगाल में दायभाग सिद्धान्त प्रचलित था, इसलिए देश के अन्य भागों की अपेक्षा बंगाल में इस प्रथा का अधिक प्रचलन था।[51] लेकिन फिर भी देश में सती होने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती थी।[52]

---

51. पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, भाग 1, अध्याय 15, ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, अध्याय 9, प्रशाखा 2,
52. कोलब्रुक, मिसेलेनियस एसेस, 1837, भाग 1, पृ0 122,

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0204-211)

Yajna and air Pollution

D.R. Khanna
Department of Zoology and Environmental Science
Gurukul Kangri University Haridwar

In Modern era for physical improvement there is continuously elaboration of industries .Due to rapid spread ness of industrialism in the world there is the tremendous production of pollution. This tremendous pollution is spreading in different forms and creating hazards. All elements which are essential for life like air, water, earth (soil), space /sound etc. are entangled by pollution, means the whole world is invaded by pollution. Today this is a very complicated problem for the whole world .The great scientists from the different countries of the world are continuously working on billion dollars projects related to pollution control; but till now pollution is out of control and its is continuously increasing.

If environment is safe, then our life would be safe; this statement of ancient literature is completely true. Environment means a protective covering. This environment regulates and controls the life –cycle. But if there is any undesirable change (pollution) or pressure of harmful substances in the environment then the life of all creatures comes in crisis.

Today, due to this increasing environmental pollution the nature is also displeased from us, that's why disasters like flood, draught, earthquakes and constantly new diseases comes in front of us.

In world's prior 'Vedas' the importance of environment is considered by saying that it should be pure and preserved.

To regulate and to control the environmental pollution the Vedas gives us the knowledge of 'Yajna' according to which-'By Yajna perfect purification of oxygen means the purification of environment occurs.[1]

Since ancient times till now no period is there when Yajna is not prevalent in any form. Besides prior Vedas the importance of Yajna is also explained in details in holy books like Ramayana, Mahabharata, and Geeta.etc. Lord Krishna established the importance of Yajna in this manner-"In the beginning of the universe Brahma creates descendants that is the earth (human –beings etc.) together with Yajna and said that by this Yajna you people gain the progress. This Yajna fulfils man's desires. Through this Yajna the divines and by divines, the human –beings are being protected or progressed. The purpose of saying that is the divines and by divines the human beings are being blessed. This Yajna brings welfare for both divines and human beings (earth).[2]

Which means that the balanced environment by means of Yajna gives prosperity and pleasure to human's life? In present time according to Fundanlal Agnihotri – treatment can be done by Yajna. The book 'Physical religion ' written by Maksmuller also said that fire is air –purifier.

---

1 सं ते प्राणो वातेन गच्छताछं समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा।। यजु0 06/10

2 सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु नः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। – गीता-03/10/11

Yajna and air Pollution

The fire is worshipped not only in India. To escape from an epidemic about 150 years ago, there is the custom to burn fire in Scotland, Ireland and South America. Today as well in temples of Japan the incense stick and in Germany lavender's stick lightens up by the people. Parsi people, especially from Iran, like Hindus become pure and spiritual to do the Yajna. In British period, the British person signifies that carbon –dioxide gas evolves in Yajna, which is injurious to health. People of our country, which were impressed by western culture, especially higher, class people, influenced by this doubtful guess of British people and continuously gone away from Yajna. While the amount of CO_2 evolved during Yajna is not high and the amount, which is present, that combines with water molecules present in atmosphere and forms formaldehyde, which helps in destroying microbes. Besides this, the increasing photosynthesis in plants, due to which plants produce food materials in higher amounts.

In modern era, Swami Dayanand Saraswati again mentions the scientific advantage of Yajna by detecting it in the form of health- developer, disease- killer and air purifier (pollution- controller).

A chemist Trills from France tells that on burning wood, formal dehyde gas evolves, which kills the bacteria. Another Scientist Prof. Plibert again from France tells that on burning sugar the poison of diseases like Cholera, tuberculosis and small pox gets destroyed. According to Dr. Tillit on burning dry grapes and resins the bacteria of typhoid dies in half an hour and other microorganisms in two hours.

Yajna and analysis of polluted air

Above mentioned things in favor of Yajna can be seen and read in some books, but their scientific knowledge gives true results by doing experiments or not, to know this fact we have done experiments on polluted air and vapor of Yajna. For these experiments we have chosen a place, which was in the polluted area and physical, chemical and microbiological analysis of polluted air of that room has been done; afterwards in same room by Yajna material (500gm), Cow's ghee (250 gm), and wood (1.5 kg.) given in table 3, Yajna has been done and also the scientific analysis of that Yajna vapors has been done in the same manner by scientific apparatus and experiments.

The physical, chemical and microbiological parameters of air and yang, which were studied, are as follows: -

Physical Parameters: -

1. Temperature
2. Odour
3. Respiratory suspended particulate matter (R.S.P.M.)
4. Suspended particulate matter (S.P.M.)

Chemical Parameters: -

1. Nitrogen oxides (NO)
2. Nitrogen dioxide ($NO_)$
3. Oxides of nitrogen (NO_X)
4. Sculpture dioxide (SO_2)
5. Carbon dioxide (CO_2)
6. Ozone (O_3)

Microbiology

Number of Bacteria: Before Yajna (that is in polluted air) and after Yajna (that is Yajna vapors) the results after analysis of above mentioned all physical, chemical and microbiological parameters have been given in Table No. 1. Besides this the harms appeared from these parameters of polluted air have been given in Table No. 2. The description of all the parameters is as follows: -

Physical parameters:

Temperature: The temperature of the place (room) where experiment is done is measured by thermometer before and after Yajna. As a result it was found that after Yajna the temperature of the room slightly increases; the reason of which was the energy generated during the burning of wood (fuel) and different types of substances (Yajna material).

Odour: - There was no smell in polluted air but after Yajna the smell spreads all over in the room and atmosphere becomes scented. This fragrance was self-willed and mind –pleasing.

Although the analysis of these aromatic substances could not be done because of lack of apparatus, but it might be more possible that these substances were Thionol, Uginol, Terpenol etc which were evolved by the burning of Sandal, Camphor, Clove and Ghee.

Respiratory Suspended particulate matter (R.S.P.M.): The dust particles capable of breathing present in dusty atmosphere are measured by respiratory dust machine. Actually the suspended dust particles capable of breathing are very minute (smaller than 10 μm) due to which these particles enter in lungs of man while breathing where they badly affect the respiratory organs.

With these is also present cancer- causing substances, which can cause lung cancer. In the experiment the quantity of respiratory suspended dust particles before Yajna was 150 $\mu g/m^3$, while after yang their quantity was found to be 68 $\mu g/m^3$.

So, we can say that by Yajna the possibility of diseases related to respiratory tube and lungs almost finishes.

Suspended particulate matter (S.P.M.): The minute particles present in atmosphere are somewhat bigger than respiratory minute dust particles (larger than 10 μ m) and while breathing these particles entrapped by the hairs of nose, that's why they could not reaches the lungs. Therefore, we can say that these particles are less harmful than respiratory minute dust particles; only they can put little scratches on mucus membrane of nose. Before Yajna quantity was 83 $\mu g/m^3$, while after Yajna it was found only 26 $\mu g/m^3$.

Chemical Parameters:

Oxides of Nitrogen: Generally, in pure atmosphere nitrogen gas is present in the combination with oxygen and carbon dioxide; but if the air is polluted then the oxides of nitrogen are present in the form of various gases like nitric oxide, nitrogen dioxide, and other oxides of nitrogen.

Above mentioned enumerated all gases pollutes air and these produces from continuously arising smoke factories and vehicles. These gases produces diseases of respiratory system, especially these are the main cause of different types of diseases of lungs.

In our experiment before Yajna the amount of these gases Nitric oxide (NO), Nitrogen di-oxide (NO_2) and other oxides of nitrogen (NO_X) were found to be 61.80 $\mu g/m^3$, 85.70 $\mu g/m^3$ and 92.. $\mu g/m^3$ respectively; but after Yajna we could not found their presence in our analysis.

By this may the importance of Yajna in our life is proved and we can say that the diseases of respiratory tube and lung caused by above mentioned gases do not effect the people those do Yajna.

Yajna and air Pollution

Sculpture dioxide: This gas badly affects the working of lungs. Its presence pollutes the ai and by pulling this gas in lungs continuously through breathing increases the danger of respirator diseases and other diseases of lungs.

Before Yajna the amount of sculpture dioxide in the air of experimental place was found to b 12.7 $\mu g/m^3$ but after Yajna the presence of sculpture dioxide was not found in the room.

Carbon monoxide (CO): This poisonous gas badly affects the heart. This gas reaches th lungs by polluted air while breathing where the hemoglobin present in red blood corpuscles change into carboxy- hemoglobin, which is a very poisonous substance. By inhaling this gas in body in highe amounts may cause unconsciousness and later it can also cause death.

Its presence was also not found after Yajna while before Yajna its amount was noted 135.3 $\mu g/m^3$ in air.

Ozone (O_3): This gas causes the burning sensation in eyes, nose and threat and also so man diseases of lungs. Together with this due to ozone sensitiveness towards the infectious disease increases.

Before Yajna the amount of this gas was found to be 15.60 $\mu g/m^3$ while like other harmfu gases this gas was not found on the experimental place (The author's opinion is that ozone move towards sky with the raising air of Yajna, where it strengthens the ozone layer that is protects the eart from ultraviolet rays.

Above mentioned all the pollutants parameters which made the air polluted were almos finished in the experimental room through Yajna –only respiratory suspended particulate matte (R.S.P.M.) and suspended particulate matter (S.P.M.) were not completely finished but remains i small amounts. By these particles after Yajna no difficulty was born in breathing, the reason of whic was minute Yajna particles, which were remaining harmless.

By these experiments we can say that Yajna smoke spreads in the atmosphere and makes i pure. In Atharavaveda also the pure air is said to be the leader of Space.[3]

The medicinal herbs mixed with Yajna material finishes the contaminated elements. Th substances put in the Yajna basin floats away along with them the pain giving and disease –causin pollutants present in atmosphere, like foam floats away with river.[4]

In this investigation during Yajna and after Yajna the presence of sweet –smelling an fragrant substances was found in the atmosphere. Although the analysis of these substances could no be done due to lack of instruments but because of the presence of fragrant substances, favorable effec on mind and brain have seen and found and it was seen up to here that Yajna –smell gives relief fron tensions.

Yajurveda also gives its proof, in which it has been said that when in fire there is hawan o sweet –smelling substances, only then this Yajna pures substances like air, protects substances lik human body and medicines and produces various types of juices (hormones etc.) because of whicl knowledge (that is intelligence) and strength increases in living beings.[5] The reason of finishing ai

---

3 वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः। अथर्व0 05/24/08

4 इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः।। अथर्व0 01/08/01

5 इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणः। – यजु0 01/01

pollution by Yajna is the spreading of useful and effective gases evolves from Yajna in all directions and to turn off air pollution by rising up in salvation.

In Yajurveda it has been said that with the word 'Swaha' the activity of oblation occurs then the air rises up in the sky in salvation that is emancipation of Yajna air removes pollutants.[6]

Rig-Veda has also said that 'drug-united air blows in all directions[7]. Means by blowing medicine united air in all directions purification occurs. Besides this, by our investigation this mantra of Rig-Veda also confirms that medicinal matter burns with cow's ghee and by becoming chiefly powerful kills simply 99 types of defects (pollutants) of polluted atmosphere[8].

Microbiology: In atmosphere disease –spreading and other many types of micro-organisms are present but after Yajna it was found that the microbes of experimental place are almost killed while before Yajna the number of micro-organisms were 860, later this number was only 70; which was the number of harmless microorganisms. The measures to kill microorganisms have also been shown in Vedas.

According to a mantra of Atharavaveda "the great Indra's (Yajna) huge rock stone is insect (microbes) Killing[9]. By that grinds all insects according to rules". An another mantra of Atharavaveda it has been said like this that ' those insects which has been diffused in mountains, forests in addition to other medicines and water means in every type of atmosphere, we kills the entire origin of these micro-organisms[10].

This mantra is of Atharavaveda insect cohabitation text; whose God is Indra. Here the mode is to kill micro-organisms (microbes) through Yajna and to finish its place of origin (polluted atmosphere).

Conclusion

On the basis of results of above mentioned study finally in the form of findings we can say that to remove atmospheric pollution (here study of only Yajna and air pollution has been done) if we do Yajna everyday by following the ways suggested by Vedas then following advantages may appear -

Control on physical pollutants: Physical pollutants like respiratory suspended particulate matter (R.S.P.M.) and suspended particulate matter (S.P.M) etc can be controlled through Yajna.

Regulation of chemical pollutants: Chemical pollutants (NO, NO_X, NO_2, SO_2, O_3) also are removed from Yajna spot by salvation of medicine containing air of Yajna.

Elimination of microorganisms: Everyday by Yajna microorganisms eliminates from Yajna spot and can't revive again.

---

6 स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्। यजु0 06/16

7 वात आवातु भेषजम्। ऋ0 10/186/01

8 जघान नवतीर्नव। ऋ0 01/84/13

9 इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी। तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँइव।। अथर्व0 02/31/01

10 ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः। ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्।। अथर्व0 02/31/05

Removal of foul smell: The atmosphere becomes fragrant through Yajna. Because of this mind-pleasing smell the possibility of mental stress, heart diseases and lung diseases decreases enough.

Others: Besides this insects, flies and mosquitoes etc. also removes by yang, because of this diseases like Cholera, tuberculosis, malaria etc. do not effect the people resides near Yajna.

If we all becomes wakeful and firm determined towards not to destroy environment and the interest towards purity of Yajna would develop not only in Indian people but in the whole world, then the massive expenses of money on different projects of environmental pollution can be reduced.

The Vedas on account of removing air pollution also gives an awakening massage in a mantra that "In space the different types of layers of air elements are there, do not spoil them, do not destroy them. These elements are very much useful for our life.[11] And ultimately we can say, "Yajna is the most excellent act"[12]

NOTE: Here the scientific study of Yajna vapors has been done and presently on this several investigations can be done. Along with this the study of mantra sound is left also.

Table: 1 Study of different parameters of air

S. No.	Parameters	Before Yajna	After Yajna
	Physical Parameters		
1.	Temperature	29^0C	32^0C
2.	Odour*		
3.	R.S.P.M.	150 $\mu g/m^3$	60 $\mu g/m^3$
4.	Normal microbes	83 $\mu g/m^3$	60 $\mu g/m^3$
	Chemical Parameters		
1.	Nitrogen Oxide	60.80 $\mu g/m^3$	Not found
2.	NO_2	85.70 $\mu g/m^3$	Not found
3.	Other Oxides of Nitrogen	92.75 $\mu g/m^3$	Not found
4.	SO_2	12.70 $\mu g/m^3$	Not found
5.	CO	135.33 $\mu g/m^3$	Not found

11 द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या संभव। यजु0 05/43
12 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत0 ब्रा0 01/07/15

6.	Ozone	45.60 $\mu g/m^3$	Not found
Microbiological Parameters			
1.	Proved microbiological calculation	860	70

*Analysis of aromatic substances has not been done

Table: 2 Study of different parameters of air

S.No.	Air Pollutants	Effect on Health
1.	Nitrogen Oxide	Respiratory system, Specially lung diseases
2.	Sculpture Oxide	Effect on working of lungs, Respiratory diseases
3.	Carbon monoxide	Bad effect on heart, Changes hemoglobin presenting red blood corpuscles in to carboxy-hemoglobin
4.	Ozone	Increases sensitiveness towards infection, lung diseases, burning sensation in eyes, nose and ears
5.	Respiratory suspended Particulate matter	Bad effect on respiratory tube, carrier of different secondary pollutants and cancer causing substances

Table: 3 Parameters of Hawan material (about 1Kg.)

S. No.	Parameters	Quantity
1.	Sandal	60 gm.
2.	Aloe	40 gm
3.	Gum	80 gm
4.	Nutmeg	1
4.	Mace	1
5.	Coconut	80 gm
6.	Cardamom	20 gm
7.	Cyperus	80 gm
8.	Xanthocymus epictorius (leaf of tree)	40 gm
9.	Pan	40 gm
10.	Cinnamon	20 gm
11.	Tabernasmontana coronasia	40 gm
12.	Date palm	8

13.	Barley	40 gm
14.	Resins	80 gm
15.	Messua ferrea	30 gm
16.	Betel nut	1
17.	Cloves	20 gm
18.	Chironji Sapida nuts	10 gm
19.	Seeds of Sesamum plants	20 gm
20.	Sugar	200 gm
21.	Almonds	20 gm

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0212-220)

Yajna Samagri for different season

Navneet and Prabhat
Department of Botany & Microbiology
Gurukul Kangri University, Hardwar

The important part of Vedic Yajna is the Samagri used in performing the Yajna. The ingredients used in the Yajna Samagri have medicinal properties at the core of them. These properties get spread in the atmosphere after the performance of Yajna and exactly synchronize the circadian rhythm corresponding to sunrise and sunset. This results in beneficial effects on the body, mind and wisdom of the persons performing the Yajna. An atmosphere of tranquility, genial understanding and discipline develops. The atmosphere is filled with healthy nutrients and its fragrance pleases the mind. Moreover, the ingredients present inside the Samagri plays an important role in controlling microbial population in the atmosphere. Thus the effect of Yajna Samagri on survival of saprophytic and pathogenic microbes in the atmosphere helps in treating air borne infections.

Methods of preparation of Yajna Samagri

The following points are taken into consideration at the time of preparation of Yajna Samagri:

1. The ingredients should be collected separately and kept to different labeled polythene bags. The ingredients must be authentic and pure. The old and rotten ingredients should not be used.

2. The fresh and green medicinal plants (e.g. Tinospora cordifolia etc.) are to be used in Yajna Samagri after cutting them into pieces and drying in the sunlight for one or two days.

3. The ingredients should be cut into small pieces and are to be mixed properly.

4. Cinnamomum camphora (kapur), Crocus sativas (kesar), Myristica fragrans (javatri), sugar and ghee will be kept separately and are to be used as follows :

(a) Cinnamomum camphora is to be used for the lightening of fire.

(b) Crocus sativas and Myristica fragrans are too mixed in ghee.

(c) As per the requirements of the Yajna Samagri, sugar, kapur, honey etc. should be mixed.

(d) Pure ghee is to be added in sufficient quantity so that the Yajna Samagri does not give a dry appearance.

5. Cow's ghee is the most important and essential ingredient prescribed in the performance of Yajna as ordained by the Vedas. In case it is not available then buffalo's ghee can be used but refined vanaspati ghee for performing Yajna is highly improper and harmful.

The Yajna Samagri for different seasons is given in Tables 1 to 6 and Yajna Samagri to cure malaria, diabetes, skin diseases, syphilis and asthma is given in Tables 7 to 11 (Agnihotri, 1995 and Chunekar, 1969).

Yajna Samagri for Sishir (winter) Season, January-February

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Akhroot	Juglans regia	Juglandaceae	Fruit	5gm

Yajna Samagri for different season

2	Kachur	Curcuma zedoaria	Zingiberaceae	Root	5gm
3	Viabidang	Embelia ribes	Myrsinaceae	Fuit	2gm
4	Guchmundi	Gerwia hirsuta	Tiliaceae	Bark	5gm
5	Mocharas	Salmaría malabárica	Bombacáceas	Whole Plant	2gm
6	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	Whole Plant	2gm
7	Munakka	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	5gm
8	Renuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	Whole Plant	1gm
9	Kala Til	Sesamum indicum	Pedaliaceae	Seeds	5gm
10	Tajpatra	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Leaves	2gm
11	Keshar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	2gm
12	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	5gm
13	Chirayita	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	5gm
14	Kharjur	Phoenix sylvestris	Palmae	Fruit	5gm
15	Tulsi	Ocimum sanctum	Labiatae	Seed	2gm
16	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	10gm
17	Chirounji	Bachanania lanzan	Anacardiaceae	Seeds	2gm
18	Khand (Sugar)	Saccharum album	Gramineae	Stem	16gm
19	Kakdasingi	Pistacia integerrima	Anacardiaceae	Stem	2gm
20	Satawar	Asparagus racemosus	Liliaceae	Root	2gm
21	Daruhaldi	Berberis aristata	Berberidaceae	Root	2gm
22	Sankhpuspi	Convolvulus pluricaulis	Convilvulaceae	Whole Plant	1gm
23	Padmakh	Prunus cerasoides	Rosaceae	Stem	2gm
24	Kaunch	Mucuna prurita	Leguminosae	Seeds	2gm
25	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	5gm
26	Bhojpatra	Betula utilis	Betulaceae	Stem	1gm
27	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
28	Halwa				
29	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Basalt (spring) Season, March-April

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Chhadila Permelia	Perlata Parmeliaceae	Perlata Parmeliaceae	Whole Plant	4gm
2	Talispatra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
3	Dakh	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	2gm
4	Lajjavanti	Mimosa pudica	Leguminosae	WholePlant	2gm
5	Seetalchini	Piper cubeba	Piperaceae	Fruit	4gm
6	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
7	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	2gm
8	Devdar	Cedrus deodora	Pinaceae	Wood	2gm
9	Giloua	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	Whole Plant	4gm
10	Agar	Aquilaria agaallocha	Thymelaeaceae	Stem	2gm
11	Tagar	Veleriana vellichii	Valerianceae	Root	2gm
12	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flowers	-----
13	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flowers	
14	Indrajaw	Hordeum vulgare	Gramineae	Seeds	2gm
15	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	10gm
16	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	2gm
17	Javitri	Myristica fragrans	Myristiaceae	Flower	2gm
18	Jaiphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Furit	2gm
19	Dhoob	Cynodon dactylon	Gramineae	Whole Plant	4gm
20	Sarson	Brassica campestris	Cruciferae	Seeds	4gm
21	Puskarmule	Inula recemosa	Compositae	Root	4gm
22	Kamal	Nelumbo nucifera	Nymphaeaceae	Seeds	2gm
23	Mangistha	Rubia cordifolia	Rubiaceae	Root	2gm

Yajna Samagri for different season

24	Dalchini	Cinnamomum zeylanicu	Lauraceae	Stem	4gm
25	Gular (bark)	Ficus glomerata	Moraceae	Stem	2gm
26	Tajbal	Zanthoxylum armatum	Rutaceae	Fruit	4gm
27	Sankhpushpi	Convolvuluspluricaulis	Convolvulacea e	WholePlant	2gm
28	Chirayita	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	4gm
29	Khas	Vetiveria zizanioidis	Gramineae	Root	4gm
30	Gokhru	Tribulus terrestris	Zygophyllaceae	Fruit	4gm
31	Khand	Saccharum ablum	Gramineae	Stem	12gm
32	Seasonal fruit				
33	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Grisma (summer) Season, May-June

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Mura (murva)	Marsdenia tenacissima	Asclepiadaceae	Root	4gm
2	Viabidang	Embelia ribes	Myrsinaceae	Fruit	4gm
3	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	4gm
4	Nagar motha	Cyperus rotundus	Cyperaceae	Root	4gm
5	pila (pilu)	Salvadora persica	Salvadoraceae	WholePlant	2gm
6	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	4gm
7	Chhadila	Parmelia perlata	Parmeliaceae	WholePlant	4gm
8	Nirmali	Strychnos potatorum	Loganiaceae	Seed	4gm
9	Shatawar	Asparagus racemosus	Liliaceae	Root	4gm
10	Khas	Vitiveria zizanioides	Gramineae	Root	2gm
11	Giloya	Tinospora cordifolia	Manispermacea e	WholePlant	4gm
12	Dhoop (Dub)	Cynodon dactylon	Gramineae	WholePlant	4gm
13	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Leaves/stem	4gm

14	Loung	Engenia caryophllata	Myrtaceae	Fruit	2gm
15	Tagar	Valerianaceae wallichii	Valerianaceae	Root	4gm
16	Bhojpatra	Betula utilis	Betulaceae	Leaves	2gm
17	Rice	Oryza sativa	Granineae	Fruit	16gm
18	Kush (root)	Desmostachya bipinnata	Gramineae	Root	4gm
19	Talishpatra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
20	Padmakh	Prunus cerasoides	Rosaceae	Stem	4gm
21	Daruhaldi	Berberis aristata	Berberidaceae	Root	4gm
22	Mangistha	Rubia cordifolia	Rubiaceae	Root	4gm
23	Shilaras	Liquidamber orientalis	Hamamelidace ae	Gum	4gm
24	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	------
25	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	4gm
26	Ilaychi	Elettaria cardamomum	Zingiberaceae	Fruit	2gm
27	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Varsha (Rainy) Season, July-August

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Kala agar	Aquilaria agallocha	Thumelaeaceae	Stem	2gm
2	Jaun	Hordeum vulgare	Gramineae	Fruit	2gm
3	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	2gm
4	Doob	Cynodon dactylon	Gramineae	WholePlant	2gm
5	Sarson	Brassica compestris	Cruciferae	Seed	2gm
6	Tagar	Valeriana wallichii	Valerianaceae	Root	2gm
7	Devdaru	Cedrus deodora	Pinaceae	Wood	2gm
8	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	20gm
9	Nakchikni	Centipeda minima	Compositae	Seed	4gm
10	Gal(Shal)	Shorea robusta	Depterocarpaceae	Gum	4gm

Yajna Samagri for different season

11	Jayaphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Fruit	4gm
12	Nirmali	Strychonos potatorum	Loganiaceae	Seed	4gm
13	Makhane	Euryalc ferox	Nymphaeaceae	Fruit	4gm
14	Tajpatra	Cinnamomum tamala	Lauraceae	Leaves	2gm
15	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
16	Bail	Aegle marmelos	Rutaceae	Bark	4gm
17	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	2gm
18	Ilaychi (chhoti)	Elettaria cardamomum	Zingiberaceae	Fruit	4gm
19	Bach	Acorus calamus	Araceae	Root	2gm
20	Giloya	Tinospora cordifolia	Manispermaceae	WholePlant	4gm
21	Tulsi (Seeds)	Ocimum sanctum	Labiatae	Seeds	2gm
22	Viabidang	Embelia ribes	Myrinaceae	Fruit	2gm
23	Kamal	Nelumbo nucifera	Nymphaceae	Seeds	2gm
24	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	4gm
25	Nagkesar	Mesua ferrea	Guttiferae	Flower	2gm
26	Brahami	Centella asiatica	Umbelliferae	WholePlant	4gm
27	Chirayta	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	2gm
28	Chuhare	Phoenix sylvestris	Plamae	Fruit	2gm
29	Sugar	Saccharum album	Gramineae	2gm	2gm
30	Rice	Oryza sativa	Gramineae	Fruit	2gm
31	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Sharad (Winter) Season, Sep-Oct.

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	White chandan	Santalum ablum	Santalaceae	Wood	4gm
2	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	12gm

3	Nagkesar	Mesua ferrea	Guttiferae	Flower	4gm
4	Ilaychi (bari)	Amomum aromaticum	Cannaceae	Fruit	2gm
5	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	WholePlant	2gm
6	Chirounji	Buchanania lanzan	Anacardiaceae	Seed	4gm
7	Vidarikand	Pueraria tuberosa	Leguminosae	Root	4gm
8	Gular (bark)	Ficus glomerata	Moraceae	Bark	4gm
9	Brahami	Centella asiatica	Umbelliferae	WholePlant	6gm
10	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Stem	2gm
11	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	4gm
12	Mochras	Salmalia malabarica	Bombacaceae	WholePlant	2gm
13	Pittpapra	Fumaria vaillantii	Fumariaceae	WholePlant	2gm
14	Agar	Aquilaria agallocha	Thymeloaeaceae	Stem	2gm
15	Indrajaw	Hordeum vulgare	Gramineae	Seed	2gm
16	Ranuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	WholePlant	2gm
17	Munakka	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	4gm
18	Asvagandha	Withania somnifera	Solanaceae	Root	2gm
19	Sheetal chini	Piper cubeba	Piperaceae	Fruit	2gm
20	Jaiphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Fruit	4gm
21	Chirayata	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	2gm
22	Keshar	crocus sativus	Iridaceae	Flower	
23	Kesmish	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	4gm
24	Khand	Saccharum album	Gramineae	Stem	2gm
25	Jatamansi	Nordostchys jatamansi	Valerianaceae	Root	4gm
26	Makhana	Asteracantha longifolia	Acanthaceae	WholePlant	2gm
27	Sehdevi	Vernonia cineria	Compositae	WholePlant	2gm

Yajna Samagri for different season

28	Dhak	Butea monosperma	Leguminosae	Bark	2gm
29	Kapur (Kachri)	Hedychium spicatium	Zingiberaceae	Root	4gm
30	Kheer	____	____	____	4gm
31	Vishnukanta	____	____	____	2gm
32	Ghee (cow)				

Yajna Samagri for Hemant (Cold Winter) Season, Nov-Dec.

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Kuth	Saussurea lappa	Compositae	Root	2gm
2	Safed musli	Asparagus adscendens	Liliaceae	Root	2gm
3	Kokila	Asteracantha longifolia	Acanthaceae	WholePlant	4gm
4	Kapur (kachri)	Hedychium spicatium	Zingiberaceae	Root	4gm
5	Nakchikni	Centipeda minima	Compositae	Seed	2gm
6	Giloya	Tinospora cordifolia	Minispermaceae	WholePlant	2gm
7	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Stem	2gm
8	Bharngi (Jhangi)	Lerodendrum serratum	Verbenaceae	Root	4gm
9	Sounph	Foeniculum vulgare	Umbelliferae	Fruit	4gm
10	Munnaka	Vitis vinifera	Vitaceae	4gm	2gm
11	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	4gm
12	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	18gm
13	Akhroot	Juglans regia	Juglandaceae	Fruit	4gm
14	Rasna	Pluchea lanceolata	Compositae	Leaves	2gm
15	Pushkarmul	Inula racemosa	Compositae	Root	4gm
16	Keshar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	
17	Chuhara	Phoenix sylvestris	Iridaceae	Fruit	4gm
18	Gokhru	Tribulus terrestris	Zygophyllaceae	Fruit	4gm

19	Kounch (Seed)	Mucuna prurita	Leguminosae	Seed	4gm
20	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae		
21	Pittpapra	Fumaria vaillantii	Fumariaceae	WholePlant	2gm
22	Mulhati	Glycyrrhiza glabra	Liguminosae	Root	2gm
23	Kaletil	Linum usitatissimum	Linaceae	Seed	4gm
24	Javitri	Myristica fragrans	Myristicaeeae	Flower	2gm
25	Red chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	2gm
26	Tagar	Valeriana wallichi	Valerianaceae	Root	4gm
27	Talish patra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
28	Ranuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	Seed	4gm
29	Honey	____	____	____	4gm
30	Badam	____	____	____	2gm

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0221-226)

GLOBALIATION OF AYURVEDA AND ITS IMPAT ON SOUTH EAST ASIA

Dr S.K. Joshi,
Reader and Head
Department of Shalya Tantra
State Ayuredic College
Gurukul Knagri, Haridwar (U.A.)

Globalization is a continuous process. The universal knowledge and good things are made for the betterment of all human being. According to Indian mythological concept, the whole universe is one family (Vasudhaivv Kutumbhakama), so the acquaintance, developed in India was spread all over the globe indistintcly from time immortal.

India the birthplace of Buddhism, from where, a numerous Buddhist scholars traveled, thousands of miles across the continent. The culture, religion, Ayurvedic Medical science and other traditional knowledge also went to south East Asia through the spread of Buddhism.

India's contact with the countries of south East Asia, were mainly through the Brahmanism and Buddhism. Before the Buddhism, Brahmanism extended through out the Indian subcontinent. After that, Buddhism flourished in many divergent societies, ranging from the unsettled to well developed, and today it is a major religion of the world. The impact of India left its ineffaceable stamp in culture, art, language, science and religion on south East Asia. The Indian iiliation was at its zenith gripped the subcontinent, especially south East Asia, before the birth of Christ. Waves of Indian traders, scholars, soldiers, Brahmins and Buddhist missionaries beat upon one south East Asian heave after another. Between the second and fifth centuries A.D. Indian kingdoms governed by Indian emperors were present in Malaya, Cambodia, Vietnam, Sumatra, Java, Bali and Borneo.

In first century A.D., the Kambuja, syama, champa and Malaya was under the influence of Hinduism. During that period, the Chinese named this region Funana. All emperors of this region, named as the name of the south Indian kings. Their surname was Verma, l.e. - Chandra Verma, Jaya Verma, and Rudra Verma. * In the accounts of historians, travelers and pilgrims from foreign countries may be found notices of medical science, as they saw it practiced during their visit to this country. Thus we learn from the accounts of Houen Tsang and Fa Hian that charitable hospitals, dispensaries and Puncyasalas (House of charity) were rather common in Indian subcontinent.**

About 2500 years ago, Buddhism was born in India as a philosophy, since then it has been transformed in to a religion and has traveled to distant lands.

Ayurveda, the science of life has affected the whole south East Asia. The Ayurveda is also enriched by traditional knowledge of south East Asia. A number of medicinal plants are incorporated in the Ayurvedic pharmacopoeia, from other parts of the subcontinent and south East Asia.

Some specialized treatment techniques being practiced and popularized in south East Asia. marma Vigyana (Tsubo Therapy), Sira vedha, Pancha karma and herbal remedies are the most accepted therapy for numerous body ailments with out the adverse effect.

The Ayurveda have played a key role in alternative/ traditional/ oriental medical science through its long history spanning many thousand years. Ayurveda have had deep influence in even south East Asia and other parts of the globe. It is one of the oldest methods of treatment in the world.

Oriental/traditional medicine as known today in south East Asia was developed in India and china and came through Buddhism in this region. As it is well known, Buddhism and Ayurveda had close relations. A number of Buddhist scholars were indulged in the study of Ayurveda was on its zenith, in Indian Before the period of lord Buddha, Ayurveda was on its zenith, in Indian subcontinent, and the teaching and training of Ayurveda was widely popularized.

The surgery (Shalya - tantra) was practiced for the elimination of a number of diseases. From Mohavagga, we learn that Jivaka, the personal physician of lord Buddha, practiced cranial surgery with success.

One of the persuasive causes of progressive profligacy in the knowledge and practice of surgery is the rapid spread of Buddhism in India. Though Buddha sanctioned the use of lancet in selected cases, in doubtful cases he prohibited the use of instruments in the treatment of even surgical diseases. He allowed the surgical treatment of boils by the knife, but he prohibited even the use of clysters for the treatment of fistula in ano. To understand the reasons of this prohibition, one story from Mohavagga is quotable.

The story is as follows:- Now when the blessed one had remained at Savatthi as long as he thought healthy, he went ahead on his journey to Ragagaha, and reached wandering straight at Ragagaha. At Ragagaha he stayed at the Veluvana in the Kaladaka-nivapa. at that time the physician Akasa-gotta operated a Bhikku suffering with fistula in ano. The blessed one visited the place where that Bhikku dwelt. The physician Akasa-gotta, demonstrated the diseased part (anus) to the blessed one, and said look at this Bhikku's orifice; it is like the mouth of iguana. Venerable Gautama called a meeting of the Bhikku-samgha and expressed his dissatisfaction to the surgical procedure performed for fistula in ano. And having admonished him, Buddha delivered a religious discourse and said to the Bikkhus: 'you are not, O Bhikkus, to allow a surgical operation to be performed upon you in that part of your bodies, Whosever allows that, is guilty of inullakkaya offence'. After banning the surgical procedures, at that time Khabbaggiya Bhikkhus, used a clyster. When this episode came in the knowledge of lord Buddha, he rebuked them and delivered a religious dissertation, said to the Bhikkhus: No surgical operation is to be performed within the distance of two inches round the anus, and a clyster is not to be used. person responsible for that is guilty of a thullakkaya offence.

No science can flourish with out the support of governing body of the day. At the time of lord Buddha, the government was highly influenced with the religion, so at that time, surgical practice was declared illegal. As the Buddhism flourished, the development of Rasa-sastra (alchemy) took place rapidly. Efficacy of these herb mineral preparations was excellent in different diseases. But there was a breach in the medical practice, due to the ban on surgery. The scholars of surgery have changed their talent in other direction and they developed different kind of healing techniques like Marma-Vigyana, Sira-vedha and Karna-vedhana, by which instant relief was possible.

The history of surgery in India dates back to Vedas in which transplantation of head, amputation of legs and its replacement by iron legs have been mentioned, performed by divine twin Asvini Kumaras. Susruta Samhita is the oldest available text of surgery, in the world. In fact we would know almost nothing about the ancient Indian surgery if Susruta Samhita had not been preserved. The book not only represented the embodiment of surgical preserved. This book not only represented the embodiment of surgical knowledge of the past millenniums, but also was much ahead of his times in expounding and practing the surgical principle, the validity of which are realized today.

It is very interesting to know that, the study of Vedas, Indian philosophy, epics and Ayurveda was common in Kambuj. In yasoverma's Lole inscription, it is said that, the king cures the diseases of his subject, and his speech is called Susrodita (originated from Susruta). It is important that, apart from

other Ayurvedic texts, Susruta-Samhita was also popular in this region.

Most significant achievement of ancient Indian surgery lies in the fact that surgery was elevated from a manual art to an academic discipline and a superior area of expertise amongst eight disciplines of Ayurveda Susruta was the first person to provide conceptual framework to the practice of surgery. The Susruta Samhita deals among other subjects with medical diseases, but it is basically surgical text. It also deals with anatomy, pathology, toxicology, and diseases of eyes, obstetrics and even medical ethics. Maharsi Susruta has mentioned the method of dissection. According to Susruta there are 107 vital points in the body, 700 blood vessels, 300 bones, 400 ligaments and 500 muscles. Susruta's concept of plastic surgery is the basis of modern plastic surgery.

MAERMA - VIGYANA {KNOWLEDGE OF VITAL POINTS}

Marmas are the vital points, present in the body. The juncture of mansa, sira, snayu, asthi and sandhi is known as marma It is also known as Jeevasthana and Pranayatana. The Marmas are 107 in number. They are of five types, I.e.

1-Mamsa marmas are eleven in number.

2-Sira marmas are forty-one in numbers.

3-Snayu marmas are twenty-seven in numbers.

4-Asthi marmas are eight in number.

5-Sandhi marmas are twenty in number.

Any injury to these vital parts may lead to death, loss of function, intense pain and loss of sensation (anesthesia). This concept of Marmas, is the basis of all martial arts and acupuncture / acupressure anesthesia. According to Susruta Samhita, due to injury of Mamsa Marma, there may be loss of touch sensation. By using this information, local anesthesia can be produced by irritating the Mamsa Marma. All marmas are of three types, Agneya, Saumya, Vayavya.

* Sadyapranahara marmas are Agneya.
* Kalantarapranahara marmas are the combination of Saumya and Agneya Property.
* Visalyghnara marmas are Vayavya.
* Vaiklyakaraka marmas are Saumya.
* Rujakara marmas are the combination of Agneya and Vayavya properties.

TSUBO/SHIASTU/KAMPO/MOXIBUSTION/ACCUNCTURE/ANMA

Traditional medical science of south East Asia Japan and china combines the therapies of Acupuncture, Shiastu, Moxa, Tsubo, Kampo and Anma. Tsubo are places of special importance on the body. Tsubo are the vital points; have to be located by exercising special sensitivity. The meaning of word Tsubo represents an earthenware vessel or jar. These are invisible points on the body surface, where exerting the pressure can alleviate the various clinical symptoms.

The Tsubo has great importance in traditional/oriental medicine of China, Japan and south East Asia. At present time giving the astounding results has popularized Tsubo. Acupuncture anesthesia has received worldwide attention. In different parts of the world, the Oriental medicine developed through the long experience of thousands years. The oriental medicine is also called Kampoo having mainly two branches; one has developed in the Yellow river basin and another from the Yangtze river basin of China. The former branch is acupuncture and moxibustion that includes anima or traditional massage. Today anima has developed into a specialized massage technique, by

which they cure a number of bodily ailments. The locations of most effectives points for treatment on the body are called tsubos. In herbal medicine the roots of plants and bark of the trees were used to treat diseases, because herbal remedies were often not very effective in surgical disorders and in preventing the infectious or contagious Diseases, so it went out the main stream of the conventional methods of treatment. The oriental medicine has a fundamental framework supported by long tradition of empirical knowledge from successful cure of diseases. The fundamental principle of oriental Medicine is based on the concept of six zang and six fu. The principles of Oriental Medicine follow the nature. All manifestations in nature are widely divided in to either Ying or Yang. It represents the phenomena of day and night, light and dark, hot and cold. For example, male is yang and female is yin.

In additions, the nature is made up of five basic elements i.e., plants, heat, earth, minerals and liquids. All creatures of the nature are classified as wood, fire, earth, metal or water. So the Oriental medicine is based upon the yin-yang and five elements theory. The human body also follows the yin-yang and five-element theory, and these principles are applied to all aspects of human life. All body organs are either yin (zang) or Yang (fu) and are made up of five elements.

These five elements are associated with a yin organ or a yang organ. The five essential organs are liver, heart, spleen, lung and kidney. The liver is associated with wood, the heart is associated with fire and the spleen, lung and kidney are associated by earth, metal and water respectively. In oriental medicine these organs do not represents the same meaning as stated in modern medicine.

The human life is not sustained fully by five essential organs (zang/yin). There are also (fu/yang) organs which form collateral or paired relationship with the (zang/yin) organs to maintain the normal body functions. For example, the gallbladder is the yang organ (fu) that supports the liver yin organ (zang). the heart is combined by small intestine and the spleen/pancreas is paired with stomach. The large intestine gives support to the lungs and the urinary bladder aids the function of kidneys, there combinations of above mentioned ten organs are called five zang and five fu. There is one more zang-fu combination mentioned in oriental medicine. The heart constrictor (pericardium) is the yin organ is paired with the triple heater yang/fu organ. The triple heater is the point, which keeps the body warm through out the life. It is the source for the production of body heat. This combination is not an anatomical entity, it seems a physiological thing.

In oriental medicine, the six zang are the liver, heart, spleen, lungs, kidneys and heart constrictor, and six fu are the gallbladder, small intestine, stomach, large intestine, urinary bladder and triple heater. The zang are the yin organs and the fu are the yang organs.

The physiology of the body is under the control of the six zang and six fu. Derangement of the function of any of the organ may affect whole of the body, by this process the microcosm is deprived of mental and bodily energy.

CONCEPT OF MERIDIANS THROUGH THE BODY:-

In oriental medicine, there is concept of circulatory system of energy that passes through the six zang and six fu to supply them with the vital energy.

These channels are called meridians, run in the vertical direction while collaterals run in horizontal direction. The circulation of vital energy flows through the six zang and six fu, vertically and horizontally, through out the body.

There are twelve meridians.

1. Lung meridian
2. Large intestine meridian

3. Stomach meridian.
4. Spleen meridian.
5. Heart meridian.
6. Small intestine meridian.
7. Urinary bladder meridian.
8. Kidney meridian.
9. Heart constrictor meridian.
10. Triple heater meridian.
11. Gallbladder meridian.
12. Liver meridian.

The Indian system of medicine (Ayurveda), even now give medical relief to a very large section of the Indian population. In present time, the saturation point came in the field of western medicine. The side effects of many Allopathic medicines are obvious. The scientists and researchers are very keen to offer an alternative medical system to suffering humanity of the world. In this scenario only the Ayurveda fulfils the criteria. Incorporation of oriental medicine will enrich the Ayurveda fulfils the criteria. Incorporation of oriental medicine will enrich the Ayurveda as whole. interaction between the experts of both the discipline will fulfill the endeavor of globalization of Ayurveda.

DATES OF SPECIAL REMEMBERENCE AND REFFERENCE:-

*Birth of Lord Buddha:-- 567 B.C.

*Demise of Lord Buddha:-- 487 B.C.

*Enthronement of King Ashoka:-- 272 B.C.

*Entry of Sanghamitra And mahendra In Ceylon:-- 241 B.C.

*Entry of Buddhism In China:-- 65 B.C.

*Entry of Buddhism In Khotan:-- 53 B.C.

*Entry of Buddhism In Korea:-- 369 A.D.

*Entry of Buddhism In Japan:-- 522 A.D.

*Entry of Buddhism In Tibet:-- 641 A.D.

References:-

1- Vrihatter Bharat Ka Itihas - By - Chandra Gupta Vedalankar.

2- Beal's Buddhist Records of the Western World, Vol. I., P. 165, 198 and 214;

3- The Surgical Instruments of the Hindus By - Girindra nath Mukhopadhyay, Pub lished By Calcutta University. -- 1913.

4- Dakshin-purvi Aur Dakshin Asia Main Bhartiya sanskriti By; -- Satyaketu Vidyalankar, Published by:-- Shri Saraswati Sadan, mussori; --1974

5- Mohavagga, VIII, 1.18.

6- Mohavagga, VI 14.4 & 5.

7- Mohavagga, VI 22.3.

8- Mohavagga, VI, 22.

9- Kasyapa Samhita, Sutrasthana, Chapter-21

10- Susruta Samhita, Sharirasthana, Chapter-6

11- Effective Tsubo Therapy By--Katsuke Serizawa, M. D. October 1984. Published by Japan Publication, Inc., Tokyo and New York

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0227-231)

Water in Vedas

R. Bhutiani and D.R. Khanna

Department of Zoology and Environmental Sciences

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar

The importance of water had been described in our Vedas. According to yajurveda water is the elixir of life, it is source of energy and governs the evolution and functions of the universe on the earth.

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। यजु०११:५०

In Yajurveda water has been described as " The gods drew waters with their store of sweetness, succulent and observant, king creating where with they sprinkled Varuna and Mitra, where with they guided Indra to past his foemen."

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥ यजु० १०:१

Our Vedas also describes various types of water, according to which water has many synonyms; it has 101 names, which are described along with their importance. Pure water is pollutant remover and disease curer.

Paniya paryaya - Synonyms of Water

पानीयं सलिलं नीरं कीलालं जलमम्बु च।
आपो वारि कं तोयं पयः पाथस्तथोदकम्॥
जीवनं वनमम्भोऽर्णोऽमृतं धानरसोऽपि च ॥१॥
पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं,
तन्द्राच्छर्दिविबन्धाहद्यालकरं निद्राहरं तर्पणम्॥
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं,
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्॥२॥

Bhavaprakasa 6:1:2

Paniya, Salila, nira, kilala, jala, ambu, apa, var, vari, kam, toya, payas, pathas, udaka, jivana, vana, ambha, arna, amrta and ghanarasa - are synonyms

Paniya (Water) relieves fatigue, exhaustion, fainting, thirst, stupor, vomiting and constipation, bestows strength, words - off sleep, is nourishing, good for the heart, of concealed taste, mitigates indigestion, always good for health, is cold in potency, easily digestible clean, helpful for taste perception and is enlivening like nectar.

Classification of Water

Ayurveda classified water into two i.e. Atmospheric water (Divya) and Terrestrial water (Bhauma), atmospheric water i.e. Divya water is further of four types i.e. Rain water in torrents (Dharaja), snow melt water from hailstones (Karakabhava), vapor water/Dew (Tausaral and water from

snow fall (haima). The rain water in torrents i.e. Dharaja is purest form of water and is of two types Akashganga which is sweet, good and potable and samudra which is salty and impotable.

Another type of water i.e. Terrestrial water (Bhama) has been classified into three i.e. water from desert (Jangala), water from marshy land (Anoopa) and water from temperate/moderate (Sadharana).

Properties of water

Properties of different water has been described in details in Ayurveda, According to Bhavprakash torrential water/water on earth (Bhaumajala) is of three types as already mentioned i.e. Jangala, the water from deserts, Anupa, the water from marshy land and Sadharana the water from temperate/moderate lands. Out of these three Anupa, the water from marshy land is rich in water and Jangala, the water from deserts has scarcity of water, while the third one i.e. Sadharana, the water from temperate/ moderate lands has mixture of these two features i.e. with moderate amount of water.

All these types of water have their own properties and cures many types of diseases and is good for health.

Types of water

Our vedas gives us the knowledge of water, The types of water is also described by Atharvaveda. According to Atharvaveda water is of following types:

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।।
शं ता आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।। अथर्व १९/२/१-२

The above ved mantras mention the following types of pure water:

1. हैमवती आपः (Water from Himalayas)
2. उत्स्याः आपः (Spring water)
3. सनिष्यदाः आपः (Perennial Water)
4. वर्ष्याः आपः (Rain Water)
5. घन्वन्याः आपः (Desert Water)
6. अनुप्याः आपः (Hygroscopic water)
7. खनित्रिमाः आपः (Underground water)
8. कुम्भेभिः अमृताः आपः (Pitcher water)

According to Ayurveda Water is of following types with different Qualities:

1. Dharajala (Torrential rain water)
2. Anartavajala (Unseasonable rain water)
3. Karakajala (Water from hailstones)
4. Tusarajal (Dew)
5. Himajala (Water from snow fall)
6. Bhaumajal (Terrestrial water/ Water on earth)

7. Nadeyajala (River Water)
8. Audbhida jala (Water from springs)
9. Nairjhara jala (Water from streams/ water falls)
10. Sarasa jala (Water from natural lakes)
11. Tadaya jala (Water from ponds)
12. Vapya jala (Artificial tank with steps)
13. Kaupa jala (Deep well water)
14. Caunjya jala (Rain water from pits in rocks)
15. Palvala jala (Water of small pool)
16. Vikira jala (Water of burrows in moist sand)
17. Kaidara jala (Water of cultivable fields)
18. Prasasta vrstijala (Good and bad rain water)
19. Amsudaka (Water exposed to rays of sun and moon)
20. Anya jal (other water)

Importance of water

As we already mentioned that water is the elixir of life and without water life is not possible of earth. Therefore it is an important resource, and plays an important part in survival of living organism on this vary planet i.e. earth.

Vedas also described the importance of water, some of the Richas with English translation are given below which highlights the importance of water: -

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। ऋ०१/२३/१९

Pure water is like nectar and has medicinal properties.

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। ऋ०१/२३/२२

Bathing in pure water and drinking it drains the impurities of the body

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। ऋ०१/२३/२३

Using pure water a man becomes healthy.

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्रवन्तु नः ॥

ऋ० १०/०९/०४

We can get healthy body by drinking pure water and taking bath in it.

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥

ऋ०१०/१७/१०

Pure water cleans our body like mothers. It makes us sacred with particles of energy present in it. And it drains all the pollutes and makes the man pious and energetic.

उर्ज वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। यजु०२/३४

Pure water contains energy, Nectar, Vigor and digestive power.

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः॥

यजु०४/१२

Pure water enhances the digestive power when it reaches the stomach. It is divine, nectarous, tasty, disease prevention and curer, body purifier and life promoter.

The Ganga water

"Rivers are like mothers for the country and mountains like the father. This father is a magnanimous thought full resolute archaic man and the rivers are conscious liberators, swift and source of knowledge, when clouds which roam free in the open sky spend themselves at the bedstead of the horizon after creating a commotion, then Mother Earth conceives that life giving man with the halo through its river in arteries. These water filled streams fill the earth with the power of procreation and energy. It is these streams flowing on the land mass which as the blood pumping arteries in the body."

-Kalidas in Raghuvansham

In the Garhwal Himalaya the two main streams, the Bhagirathi and the Alaknanda, form Ganga river system. At Deoprayag the confluence of these two rivers is called the Ganga, which flows down and emerges on the river of plains at Rishikesh, Hardwar.

According to the Hindu mythology, the king Bhagirath brought down this river to the earth for the salvation of his ancestors.

शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि ।
तृष्णामोहध्वंसन दीपनं च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम् ॥

The Ganga water is colorless, tasty pure, very delicious, cold, disease curer, fit for cooking, digestive, quench the thirst, satisfy hunger and enhancing the memory.

हिमवत्प्रभवाः पथ्या।

"Ganga jal cures the diseases" (Maharishi Charak)

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥ अथर्व० ०६/२४/०१

Water from Himalayas cures the heart diseases. Vridh Susruta tells about the water suitable for Health, it includes the time of collection of water (Jala grahanakala), according to it the best time for collection of water is morning hours. Time for drinking of water (Jala grahana Samaya), Drinking small quantities of water but frequently is best for human health. Drinking cold water (Sital jal pana) is helpful in several diseases. Drinking of water in very little quantity (Alpa jal pana) cures skin diseases, ulcers etc. Necessity of water (Jal pana avasyakata) is essence of life; hence avoiding water completely is not possible (According to Harita).

Suddha jala (pure potable water) is good in taste, odorless, cold relieves thirst quickly and pleasing to heart /mind. While Dusta jala (impotable water) has bad taste, bad smell, polluted and causes disease.

Purification of water

Water in Vedas

Our vedas also tells us about the purification of water, which is essential for proper survival of human beings on earth. Nirdoshikarana (Purification of water), water can be purified by boiling, makes smell sweet by putting karpura etc. filtering through sieve or clean cloth of fine mesh size can purify it.

To prevent water from pollution and to purify the polluted water, vedas have given many methods:

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ऋ०७/४९/०४

According to this mantra of Rigveda, water can be purified by water purifying air (Dissolved oxygen) or any other gas, Sunrays or fire (temperature) and ions.

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। यजु०१/१२

By the help of scientific methods or natural methods passing of sunrays through water purifies it. A grass (Kusha grass) also purifies the water.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0232-236)

STRESS AND HEALTH

Vikram Singh[1], Dr. C.P. Khokar[2]

Department of Psycology

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar

Right from the time of birth till the least breath drawn, an individual is invariable exposed to various stressful situations. Thus stress is a subject, which is hard to avoid. Different people have different views about it as stress can be experienced from a variety of sources.

The concept of stress in the modern sense is not easily found in the traditional texts of Indian culture and tradition such as Charak Samhita, Patanjali's Yogasutra and Bhagwad Gita. However, a number of concepts developed by ancient Indian scholars relate to or appear similar to the phenomenon of stress. Some of these, for examples, are dukha (pain, misery or suffering), Klesa (afflictions), Kama or Trisna (desires), atman and ahamkara (self and ego), adhi (mental aberrations) and prajnaparadha (failure or lapse of consciousness). It is interesting to note that the body-mind relationship, characteristic of modern stress studies, is emphasized in the Ayurvedic (Indian) system of medicine.

Palsane et al. (1993) have discussed this issue in detail. They noted that the Indian tradition is characterized by a holistic approach to human phenomena. Behavior is interpreted in terms of the totality of an individual's life style and total body-mind relationship. This synthetic/eclectic approach can be contrasted with the predominantly analytic approach of the Western social sciences that describe behavioral phenomena according to their constituent parts. The mind body level of analysis in Indian tradition is treated as less significant than analysis at a still higher transpersonal level of self. atman or soul, which in turn in equaled with Brahman–the ultimately. The authors have further observed that modern western psychological literature focusing on ideas related to the strength of motives and frustration and their behavioral consequences, the frustration aggression hypothesis, ego involvement, mind–body interactions (psychosomatic) and locus of control have their parallels in ancient Indian thought.

S.K.R. Rao (1983) has very succinctly traced the origin of stress in Indian thought. Going back to the Samkhya and Yoga systems, he has pointed out that there are two Sanskrit word klesa and dukha, which approximate stress. The ward klesa has its origin in the root khis, which means to torment 'cause pain' or to 'afflict', Klesas are not mental processes but are a set of 'hindering load' on our mental process, they produce agitations which act as restrictions or hindrances.

The Samkhya-Yoga system explains that the fundamental non-cognition, which leads to phenomenological stress, is avidya. This avidya leads to asmita (self–appraisal), raga (object appraisal), dvesha (threat appraisal) and abhinivesa (coping orientation). These three appraisals namely, those concerning the self, the object and the threat are used for reality testing, Faulty evaluation in either or all of these can produces stress and torment. The Samkhya system postulates that the feeling of ducka or stress is experienced by the individual in the course of his her interaction with the world around him/her. This system mentions three types of stresses personal (adhyatmik), situational (adhibotik) and environmental (adhidevik). Personal stresses can again be of two types, namely, physiological and psychological (or mental).

Physiological stresses are born out of imbalances between the traces three fundamental physiologic constituents, namely, vata, pitta and kaph. Psychological stresses are caused by emotional

states of lust, hatred, greed, fear, jealousy and depression. Situational stresses are usually caused by 'Un whole some interpersonal transactions', which may include conflicts, competitiveness, aggression etc. The third type of stresses, namely, environmental stresses are occasioned by natural calamities like extremes of temperatures, storms, etc. The abhinivesa indicates the commencement of coping behaviors by arranging the behavior in a proper response sequence.

Looking back at the concepts of asmita, raga and dvesha, we find that they clearly indicate the 'increasing relevance of transactional cognitive processes to life 'situations' and also the increasing role of 'energy dynamics'. A study of self–appraisal reveals that the situation is purely cognitive, in object appraisal we find that intentionality is mainly cognitive with less energy mobilization. However, in threat appraisal the conditions of alarm are characterized by cognitive processes combining energy mobilization. It also involves emotions and other organic changes. The abhinivesa is supposedly non–specific just as the fundamental klesa and avidya are non–specific. The term avidya, which literally means non–cognition is an antonym of correct self – appraisal and the encounters between the self and the object Klesa, as stress has been defined, operates through four different modes. The first is prosupta or dormant. Given the right type of conditions, any mental process can become a stressor. The analogy is given of a seed, which can flower into a tree provided the facilitating conditions are present. The second is tonu or tenuous denoting comparatively weak stressors, which are held in check by more powerful stressors. They are present but without sufficient intensity and urgency. The third types of stressor are vichchinna or intercepted; these lack continuity due to conflict with competing responses. Their demand character is high but they alternate between levels of 'high operation' to 'dormant'? Naturally, they surrender their stressor value when in a dormant stage. The fourth mode is udara or operative stressors. These are potent stress responses, which have found full expression in clearly observable behavioral modes. They have overcome the weaknesses of the first three modes.

This model proposed in the Yoga sutra is a comprehensive one incorporating cognitive structuring, affective or emotional stages and adaptive reactions. It also presents the concept of 'Kriya Yoga' which is aimed at reducing the 'number and intensity of the stressors' and facilitates related conservation of mental energy devoid of tension which is defined as Samadhi bhavana.

'It is evident from this discussion that like Western researchers, Indian scholars also differently approached the problem of stress. They viewed this phenomenon from various perspectives ranging from stimulus-oriented to response and psychodynamic points of view. Ancient Indian scholars, however, seem to have paid due attention to this issue. The system of Yoga is analytical and not only helps the individual in understanding his own stresses but also leads him to the roots of these stresses. There are subtle variations in the intensity with which different stressors operate and it is not unlikely that the powerful stressors become less or even dormant after a period of time whereas the less powerful ones may disappear or return with greater vigor.

Stress and Disease:

Every era in history has been characterized by some debilitating disease. For instance, in the northern hemisphere, there were the plagues of the middle ages, the "consumption" of the romantic period, and the ravages of polio and pneumonia in the early 1900's. However, these diseases were eliminated once the environmental conditions improved or when their carriers were destroyed through drugs. Our society today also has a disease characteristic of it, but one that is not so easy to eliminate. It underlies such diverse conditions as psychosomatic diseases, heart diseases and can be a major contributor to disturbances in one's emotional, social and family life. It inhibits creativity and personal effectiveness and exhibits itself in a general dissatisfaction, so obvious in our day-to-day lives. The

name of this condition is 'stress' and it has been called the most debilitating medical and social problem of the present century (Neurenberga, 1990).

Stress is unique in the category of diseases. It has no biological carrier such as a germ or virus. Rather, it is the result of how our mind and body function and interact. It is psychosomatic in the true sense of the word Psyche meaning 'mind' and soma meaning 'body'. It is the consequence of how we regulate, or to put it more appropriately, how we do not regulate, the mental and physical functioning of our being. It is the 'dis-case' created by the abuse of our minds and bodies and can lead to totally different symptoms in different people. These may be as innocuous as temper tantrums or as destructive as a heart attack. Stress may express itself through alcoholism or depression. Though its symptoms are many, its causes often go unrecognized and untreated

WAYS TO MANAGE STRESS EFFECTIVELY:

Lazarus and his associates (1966) have suggested "intellectualization 'rationalization', isolation, and denial as effective cognitive-coping strategies. Through denial and isolation may not be considered very healthy coping strategies where in individual denies the stressfulness of the situation and adopts a detached attitude towards the situation of stress and threat, these may be quite appropriate when the situation of stress is totally beyond the control and coping capacity of the focal person.

Individuals can adopt following cognitive restructuring and cognitive-coping strategies to avoid or moderate the experience of stress. Many of these coping strategies form special features of our Indian culture (A.K. Srivastava, 1997).

1. Consider difficult, adverse. or demanding job situations as inevitable parts ofjob life.
2. Perceive stressful job situation as a temporary phase of the job.
3. Try to rationalize the situation of stress and its consequences.
4. Take excessive demands as a challenge.
5. Assess the severity of your job stress with reference to others who are facingsimilar or more severe stresses in their jobs.
6. Think that time itself takes care of such situations.
7. Accept the situation of stress thinking that there is nothing you can do to change them.
8. Simultaneously think about the positive outcomes of successful dealing with the situation of stress.
9. Believe that every problem ultimately has some remedy.
10. Think that no one is totally free from stresses, though of different nature and severity.
11. Remind yourself that work is not everything.
12. Believe in Gita's philosophy that "Your right is to do you job only, not to expect the fruits there of".
13. Accept the situations of stress as realities of life.
14. Besides the cognitive-coping strategies, the individuals can develop certain temperamental qualities and adopt specific behavior patterns or habits, which could help in preventing, mitigating, or effectively coping with situations of job stress. Though practice of some of

these behavioral patterns is difficult, individuals can develop them through self imposed behavior modification method.

15. Increase, self-esteem and the level of tolerance and patience.
16. Do not be rigid in your ways of functioning attitudes and decisions?
17. Do things at work in a planned and systematic manner?
18. Try to separate and maintain coordination between your job and other roles.
19. Avoid doing many things simultaneously.
20. Set your priorities for job activities.
21. Do work efficiently but avoid competitions.
22. Discuss the problems with supervisors and/or other competent colleagues or superiors.
23. Avoid time pressure and role overloading. Be regular and make proper distribution of the time for your job activities.
24. Do not try to reach the perfection level in all routine activities.
25. Work sincerely, but do not be over enthusiastic all the time in discharging your duties.
26. Frankly tell your limitations and inabilities.
27. Try to nip the problems in the bud.
28. Be a realist. Aspire within the framework of your capabilities and resources.
29. Try to overlook rather than to react to the irritating situations or behavior of people at work.
30. Before doing something, consider all its possible consequences.
31. If there is no way out, do your best to get out of the situation gracefully.

Coping With Stress Through Non Drug Methods:

There are basically two methods of coping with stress (a) drug therapy, and (b) non-drug method. In today's space age where one is always faced with a multitude of problems and tensions, it is not advisable to use drugs continuously to cope with stress and related ailments like headaches and backaches.

The non-drug methods of coping are advantageous and safer. Some of the non-drug methods like relaxation, acupuncture, exercise walking, yoga, medication, bio-feed back, and recreation.

Total Health Includes Spiritual Well-being:

The definition of health, which confines it to physio-psycho-socio fields, is incomplete. Health is an integral concept, which comprehends the totality of our being. True health must include not only physical fitness but also the simultaneous psychological and spiritual well-being. In a broader perspective, the physical part of the human being is not as important as the spiritual, intellectual and emotional aspects. Mind draws its power from the 'spirit', transmits it to all the body organs, and ensures their rhythmic and coordinated functioning.

Some experts feel that the contents of the hypothesized 'Factor X' could be conveniently included in the mental well-being dimension of health. This would have the advantage of not using the word spiritual' which connotes different meanings to different people depending upon their socio-

cultural background. The ambit of mental well-being could be extended to include human values.

Naidu and Pandey (1988) presented an interim research report on non-attachment and health. It was hypothesized that non-attachment would be implicated in stress process. It would have its main effects on stress and strain, and also moderate the relationship between stress and strain. It was predicted that non attached persons, compared to less non attached subjects, would perceive a lesser degree of stress, exhibit fewer symptoms of strain and show a smaller correlation between stress and strain.

The sample consisted of 465 Hindu adults in the age range of 30 to 50 years. They were 230 males and 235 females. They were administered a measure of Non-Attachment (specially developed for this study), a Stress Scale and a measure of Strain also developed for this study.

The results indicated that those who were none attached, though they experienced as many events as their attached counterparts, did not get as distressed by those events. Consequently, they exhibited fewer symptoms of mental and physical strain in comparison to those low on non-attachment. Thus, non-attachment is a powerful predictor of both perceived distress and strain. To that extent this data supports the assertions of the various commentaries on the Gita regarding the health endowing capacity of non-attachment. This study demonstrates that empirical work with indigenous concepts is a distinct possibility.

Reference

Palsane, M.N; Bhavasar, S.N, Goswami, R.P. and Evans, G.W. (1993): *The concept of stress in the Indian tradition*, Pure University of Poona. Press.

Srivastav, A.K. (1997): Dynamics of role stress an organization. In D.M. Pestanjee and U. Pareek (Eds.) studies in organizational role stress and coping. Jaipur/New Delhi; Rawat Publications.

S.K.R. Rao (1983): *The conception of stress in Indian thought* . The theoretical aspects of stress in Samkhya and Yoga systems. NIMHANS Journal, Vol 2, 115-121.

Nuernberger, P. (1990): *Freedom from stress. Pennsylvania:* Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy.

Naidu, R.K and Pande, N. (1988): *On qualifing a spiritual concept : An interim research report about non-attachment and health.* Paper presented at the National Seminar on Mental Health and Stress, Bhopal.

Lazarous, R.S (1966): *Psychological stress and the coping process*. New York: Mc Graw-Hill.

[1]**Research Scholar,** [2]**Reader, Dept. of Psychology, G.K. University, Haridwar**

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् ही प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।
- वैदिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-लेख प्रेषित करने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे मन्त्र पर उदात्त, अनुदात्तादि स्वरों को अङ्कित करें।

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (चतुर्थोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक 4 अक्टूबर 2005

सम्पादक

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

एक प्रति का मूल्य — रु० ७५.००

वार्षिक मूल्य — १००.०० तथा जनवरी २००६ से १५० रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा पुस्तकालयाध्यक्ष के नाम धनादेश प्रेषित करें।)

पञ्चवार्षिकमूल्य — ५०० रुपये

विषयानुक्रमणिका

1. सम्पादकीयम्
   आचार्य यास्क के मत में शब्द का स्वरूप — प्रो0 ज्ञानप्रकाश शास्त्री — 1-9
2. वैदिकवाङ्मये प्रबन्धनव्यवस्था — प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री — 10-12
3. वैदिक तत्त्वज्ञान की विशेषताएं — डॉ0 फतह सिंह — 13-21
4. वैदिक नीति — डॉ0 खालिद बिन युसूफ खान — 22-50
5. वेदोऽखिलो राष्ट्रमूलम् — डॉ0 जगत नारायण त्रिपाठी — 51-56
6. प्रबन्धन एवं नेतृत्वकला का वैदिक स्वरूप — डॉ0 महावीर एवं डॉ. रजत अग्रवाल — 57-64
7. अर्थवेद में प्रकृति के विविध आयाम — डॉ0 अर्चना विश्नोई — 65-70
8. अथर्ववेदे प्राणतत्त्वम् — डॉ0 विजयलक्ष्मी — 71-76
9. महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में न्याय, दण्ड एवं प्रशासन व्यवस्था का स्वरूप — डॉ0 सत्यदेव निगमालङ्कार — 77-90
10. वेदों में अङ्गिरा का स्वरूप — डॉ0 रघुवीर वेदलङ्कार — 91-100
11. वैदिक एवं आधुनिक दण्ड व्यवस्था: एक तुलनात्मक अध्ययन — डॉ0 मनुदेव बन्धु — 101-110
12. वेदों का पञ्जाबी भाषा पर प्रभाव — डॉ0 राजेन्द्र कुमार शर्मा — 111-120
13. पुनर्जन्म-सिद्धान्त और स्वामी विवेकानन्द — डॉ0 राजेश्वर मिश्र — 121-128
14. औपनिषदिक ब्रह्म — प्रो0 ईश्वर भारद्वाज — 129-138
15. पुराणों की प्रासङ्गिकता — डॉ0 मञ्जुलता शर्मा — 139-148
16. सम्प्रदान का अन्वर्थत्व-विमर्श — डॉ0 ब्रह्मदेव — 149-152
17. स्फोट — डॉ0 सन्ध्या सती — 153-157
18. संस्कृतवाङ्मय में वाक्य और वाक्यार्थ का स्वरूप — डॉ0 रामप्रकाश वर्णी — 158-168
19. संस्कृति की अवधारणा — डॉ0 जितेन्द्र कुमार — 169-176
20. प्राचीन भारतीय साहित्य में वैज्ञानिक विकास — डॉ0 रेखा सेमवाल — 177-183

21. भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्रों की प्रासङ्गिकता — डॉ0 उमा जैन — 184-192

22. प्राचीन भारत में अवगुण्ठन (परदा) प्रथा — डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता — 193-198

23. प्राचीन भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध — डॉ0 (श्रीमती) आशा रानी वर्मा — 199-207

24. VEDIC SURGICAL SKILL OF ANCIENT INDIA — Dr. S.K. Joshi — 208-211

25. WOMEN AS PROJECTED IN BUDDHISM — Dr. Renu Shukla — 212-216

26. SIGNIFICANCE OF RIVERS IN VEDIC LITERATURE — P.K. Bharti & D.S. Malik — 217-221

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)

आचार्य यास्क के मत में शब्द का स्वरूप

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री

आचार्य यास्क ने शब्द के स्वरूप की चर्चा का प्रारम्भ करते हुए शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन किया है। यह प्राचीनकाल से विवाद का विषय रहा है कि शब्द वस्तुतः, नित्य है या अनित्य। यास्क ने इस समस्या को उठाकर अपनी विशिष्ट शैली में उक्त समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। अनित्यपक्ष के प्रवक्ता के रूप में आचार्य यास्क औदुम्बरायण को प्रस्तुत करते हैं तथा स्वयं उसके मत का प्रत्याख्यान करते हुए शब्द-नित्यत्व पक्ष की स्थापना करते हैं।

अनित्यत्ववादी: आचार्य औदुम्बरायण का मत

शब्द के स्वरूप के विषय में आचार्य औदुम्बरायण का मत है:-**'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायण:'**[1] उक्त अवतरण की व्याख्या करते दुर्ग हुए कहते हैं कि इन्द्र अर्थात् आत्मा की जिससे पहिचान तथा जो उस (कर्ता) का साधन है, वह इन्द्रिय है। जितने समय तक शब्द वक्ता की वाणी तथा श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान रहता है, उतने समय तक वह नित्य है और उसके पश्चात् उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण वाक्य उस वाक् इन्द्रिय में स्थित नहीं रह पाता, क्योंकि वाक्य की नष्ट और अनष्ट ध्वनियों को संयुक्त नहीं किया जा सकता है। वाक्य की इस अनित्यता के कारण पदचतुष्टय तथा उसके प्रसङ्ग में वर्णित भाववाचकता, द्रव्यवाचकता, गौण-प्रधानभाव, पूर्वापरीभाव आदि उपपन्न नहीं हो सकते।[2]

आचार्य औदुम्बरायण पदचतुष्टय की कल्पना को असङ्गत और अव्यावहारिक मानते हैं। उनके अनुसार भाषा का सबसे छोटा अवयव वाक्य है। आचार्य भर्तृहरि उनके मत को निम्नरूप में प्रदर्शित करते हैं:-

वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ।।[3]

---

१. निरु०,१.२.

२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२०.

३. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २.३४२.

अनित्य ध्वनिरूप वाले वाक्य की प्रतीति केवल उच्चारणकाल में होती है, उच्चारण से पूर्व तथा पश्चात् उसकी ध्वन्यात्मकता लुप्त रहती है, इसी आधार पर आचार्य औदुम्बरायण कहते हैं कि जब वाक्य नित्य नहीं है, तब उसके अवयवभूत पद, वर्ण आदि कैसे नित्य हो सकते हैं? क्योंकि जिस समय 'गौः' पद का 'ग्' मुख में होता है, उस समय औकार तथा विसर्ग नहीं होते, जब औकार का प्रत्यक्ष होता है, उस समय गकार ध्वनि लुप्त हो चुकी होती है तथा विसर्ग अभी अव्युत्पन्न रहता है और जब विसर्ग मुख इन्द्रिय में प्रत्यक्ष होता है, उस समय गकार और औकार नष्ट हो चुके होते हैं। इसलिये जब एक साथ उपस्थित होकर एक पद पदत्व को प्राप्त नहीं कर सकता, तब नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात पदों से संयुक्त होकर वाक्य कैसे उपस्थित हो सकता है। अतः, वाक्य में प्रयुक्त पद नाम, आख्यात, उपसर्ग या निपात में से किस जाति का यह नहीं कहा जा सकता, इसलिये पदचतुष्टय की जो कल्पना यास्क कर रहे हैं, वह असङ्गत है, ऐसा आचार्य औदुम्बरायण का मत है।

द्वितीय आक्षेप-यास्क के पदचतुष्टय सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए आगे आचार्य औदुम्बरायण कहते हैं:-**'अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः'**[४] कि एक साथ उत्पन्न न हो पाने अर्थात् भिन्न-भिन्न काल में अस्तित्व में आने के कारण शब्दों का परस्पर गौण-प्रधानभाव उपपन्न नहीं हो सकता। कहने का आशय यह है कि एक साथ स्थित न हो पाने के कारण आख्यात की अपेक्षा नामपद गौण और नामपद की अपेक्षा आख्यात प्रधान, यह गौण-प्रधानभाव सम्भव नहीं है।

आचार्य स्कन्दस्वामी **'अयुगपत्'** के स्थान पर **'युगपत्'** पाठ मानते हैं। उनके अनुसार यह वाक्य औदुम्बरायण के अनित्यत्ववादी पक्ष का न होकर, आचार्य यास्क के सिद्धान्त पक्ष का प्रवर्तक है:- 'कि जो यह कहा था कि शब्द इन्द्रिय में नित्य होने के कारण पदचतुष्टय उपपन्न नहीं होगा, कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार प्रकोष्ठ में रखे हुए घट आदि पदार्थों की अभिव्यक्ति, अभिव्यञ्जक रत्नादि के द्वारा हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी होगा। बुद्धि में वाक्यरूप में स्थित विचारों को सत् शब्द के द्वारा उच्चरित किया जाता है। विचार के भिन्न-भिन्न अवयवों को कहने के लिये भिन्न-भिन्न पद अभिव्यक्त होते हैं। जो विचार भिन्न-भिन्न शब्दों या पदों के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है, वह सत् होने के कारण नित्य है और नित्य होने से उसमें युगपद्भाव प्राप्त हो जाता है। युगपद्भाव उपपन्न हो जाने से पदचतुष्टयत्व और उससे इतरेतरार्थकता (गौण-प्रधानभाव) सिद्ध हो जाती है।'[६] अर्थ की

---

४. निरु०,१.२.

५. दुर्ग, निरुवृत्ति, पृ०,२०,२१.

६. स्कन्द, भा०,१. पृ०,१४-१५.

सङ्गति अन्वित करने के लिये स्कन्द को एक क्लिष्ट कल्पना का आश्रय लेना पड़ा है, जबकि दुर्ग के मत में विना किसी पूर्व भूमिका के सरलता से अर्थ अन्वित हो जाता है, अतः, दुर्ग का पक्ष समीचीन है।

आगे आचार्य दुर्ग कहते हैं कि समान संहिता के कारण **'युगपद्'** तथा **'अयुगपद्'** दोनों पाठ माने जा सकते हैं। युगपद् पक्ष में दुर्ग अर्थ की सङ्गति निम्नप्रकार करते हैं:-'यदि यह मानते हैं कि शब्द युगपद् उत्पन्न होते हैं, इसका जहाँ यह लाभ होगा कि पदचतुष्टय उपपन्न हो सकेगा, वहाँ यह हानि भी होगी कि नाम, आख्यात आदि में गौण-प्रधानभाव उपपन्न नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि युगपद् उत्पन्न शब्दों के विषय में यह नहीं कहा जा सकेगा कि आख्यातज होने से नामपद गौण और आख्यात प्रधान है। इसके अतिरिक्त प्रकृति-प्रत्यय का योग अयुक्त हो जायेगा, क्योंकि शब्द पहले से ही सिद्ध है। इसलिये नित्यपक्ष में पदचतुष्टय का प्रारम्भ करके जो गौण-प्रधानभाव कहा गया है, वह असङ्गत हो जायेगा।'[७] दुर्गपक्ष में चाहे **'युगपद्'** पाठ मानें या **'अयुगपद्'**, पर यह वक्तव्य औदुम्बरायण पक्ष का है। जबकि स्कन्दपक्ष में यह सिद्धान्तपक्ष है। दुर्ग की दोनों पक्षों की अन्विति सराहनीय और ग्राह्य है। विना किसी व्यर्थ की कल्पना के अर्थसिद्धि उपपन्न हो जाती है। इस वचन के सिद्धान्तपक्ष में होने में एक बाधा यह भी है कि उक्त वचन में **'अयुगपद्'** या **'युगपद्'** के साथ 'उत्पन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है, लेकिन आचार्य यास्क शब्दों को व्यापक मानते हैं:-**'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य।'**[८] इस कारण यह सिद्धान्तपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये **'अयुगपद्'** या **'युगपद्'** कैसा भी पाठ माना जाये, पर यह वक्तव्य पूर्वपक्ष का कथन है। तृतीय आक्षेप-शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये औदुम्बरायण-पक्ष के तृतीय आक्षेप को प्रस्तुत करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-**'शास्त्रकृतो योगश्च'**[९] वचन की अनित्यता के कारण शास्त्र में एक शब्द के साथ दूसरे शब्द का योग बताया गया है, वह उपपन्न नहीं होता, जैसे-उपसर्ग का धातु और धातु का प्रत्यय के साथ। इसका कारण यह है कि विनष्ट शब्द का अविनष्ट शब्द के साथ योग उपपन्न नहीं हो सकता। अतः, नामाख्यात में गौण-प्रधानभाव तथा इनके साथ उपसर्ग एवं निपात पदों का योग और जो कुछ पदचतुष्टय प्रकरण में कहा है, वह सब असङ्गत हो जायेगा। युगपद्' पाठ मानने वाले पक्ष में **'शास्त्रकृतो योगश्च'** अवतरण की व्याख्या निम्न प्रकार होगी:-'शब्दों को युगपद् उत्पन्न मानने पर शास्त्रकृत प्रकृति-प्रत्यय योग, लोप, आगम, वर्ण, विकार आदि उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि नित्य होने

---

७. दुर्ग, निरुवृत्ति, पृ०,२०,२१.
८. निरु०,१.२.
९. निरु०,१.२.

के कारण शब्द पहले से विद्यमान है तथा इसके साथ वह कूटस्थ और अविचाली है, इस कारण उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है।[१०]

नित्यत्ववादी: आचार्य यास्क का पक्ष

उपर्युक्त सभी आक्षेपों का उत्तर देते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-**'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य'**[११] कि शब्द के व्यापक होने के कारण पदचतुष्टय आदि सब कुछ उपपन्न हो जाता है। शरीर में अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) रूप में स्थित बुद्धि, पुरुष के प्रयत्न से शब्द को उदीरित करती है। उसके द्वारा हृदय, कण्ठ आदि स्थानों पर निष्पन्न होता हुआ शब्द, वर्णरूपता को प्राप्त होकर, मुख से बाहर फेंका जाता है, तब वह नष्ट न होने वाली अभिव्यक्ति को प्राप्त होता हुआ, प्रत्यायन योग्य व्यक्ति के कानों में प्रवेश करके, अभिधान के सम्पूर्ण अर्थों से, उसकी बुद्धि को व्याप्त कर लेता है, इसलिये शब्द व्याप्तिमान् है।[१२]

आचार्य दुर्ग आगे कहते हैं कि जब शब्द व्यापक है, फिर उसे नित्य मानें या अनित्य, पदचतुष्टय आदि अनुपपन्न नहीं रहते। इसका कारण वे यह देते हैं कि अभिधेय का वाचक शब्द पुरुष की बुद्धि में पहले से ही स्थित रहता है, क्योंकि विना स्थिति के व्याप्ति सम्भव नहीं है। उसके पश्चात् उत्पन्न होता हुआ शब्द अपने अभिधेयार्थ का कथन करके, अपनी आत्मा (अर्थ) को सम्बद्ध करके तिरोहित (या विनाश को प्राप्त) हो जाता है और उस सम्बद्ध अर्थ का जितना-जितना भाग नाम, आख्यात, उपसर्ग या निपात का होता है, उस-उस भाग को वही-वही नाम दे देते हैं।[१३]

'चतुष्टं नोपपद्यते'[१४] के प्रकरण में यह कहा था कि जो ध्वनियाँ नष्ट हो चुकी हैं तथा जो अभी नष्ट नहीं हुई हैं, को संयुक्त नहीं किया जा सकता। इस दोष का भी **'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य'** कथन से परिहार हो जाता है। कैसे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दुर्ग कहते हैं कि पुरुष के प्रयत्न से, वक्ता के मुख से निःसृत ध्वनियाँ नष्ट होती हैं। लेकिन पुनः कथन करने में समर्थ बुद्धि के द्वारा दृढ़ रूप से अवस्थित, वह शब्द-आकृति अपने अभिधेयार्थ को प्रकाशित करती हुई स्थित रहती है तथा लक्षणा के द्वारा शब्द-

---

१०. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२१-२२.

११. निरु०,१.२.

१२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२२.

१३. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२२-२३.

१४. निरु०,१.२.

आकृति को ही शब्दव्यक्ति (शब्दध्वनि) नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार शब्द को व्यापक मानने से पदचतुष्टय आदि सब उपपन्न हो जाते हैं।[१५]

औदुम्बरायण ने जो यह कहा था कि गौण-प्रधानभाव तथा शास्त्रकृत प्रकृति-प्रत्यय आदि का योग उपपन्न नहीं होता है, दुर्ग उत्तर देते हुए कहते हैं कि शब्द को व्यापक मानने पर उपर्युक्त दोषों का भी परिहार हो जाता है। सत्त्व और क्रिया के विषय में नाम और आख्यात पद बुद्धि में आकृतिरूप में स्थित होकर गौण-प्रधानभाव से रहते हैं, उसके प्रभाव से व्यक्तिरूप में स्थित नामाख्यात में गौण-प्रधानभाव कहा जाता है तथा उस समय धातुरूप बुद्धि तत्तत् अर्थ में संयुक्त हो जाती है। धात्वादि रूपों के द्वारा विपरिणामित की जाती हुई बुद्धि का शास्त्र के द्वारा संस्कार किया जाता है, उसके परिष्कृत किये जाने पर शब्द में संस्कार का उपचारमात्र किया जाता है। वस्तुतः, शब्द पहले से ही सिद्ध होता है। इसलिये उपर्युक्त आक्षेप असङ्गत है।[१६]

नित्यत्वपक्ष में शब्दों के युगपद् उत्पन्न होने के कारण, गो विषाण की तरह गौण-प्रधान भाव उपपन्न नहीं हो रहा था, उसके सम्बन्ध में दुर्ग कहते हैं कि वह दृष्टान्त अनैकान्तिक है, क्योंकि लोक में युगपद् उत्पन्न राजपुत्र और अमात्यपुत्र में गौण-प्रधानभाव देखा जाता है, उसी प्रकार युगपद् उत्पन्न शब्दों में गौण-प्रधानभाव उपपन्न हो जायेगा। **'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य'** यह कहकर यास्क ने सम्पूर्ण दोषों का परिहार कर दिया है।[१७]

इस प्रकार दुर्ग के अनुसार यास्कपक्ष में शब्द न तो नित्य है और न अनित्य। यदि औदुम्बरायण अनित्य मानते हैं, तब भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार नित्य और अनित्य की कलह से मुक्त होकर यास्क ने एक ऐसा राजपथ चुना है, जो सर्वथा कण्टकहीन है। आचार्य दुर्ग ने जिस कौशल से दोषों का परिहार किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

दुर्ग के अनुसार शब्दव्याप्ति अर्थव्याप्ति में परिणत होती है और यह अर्थव्याप्ति शब्द-आकृति को साकार करती है और लक्षणा के द्वारा उस शब्द-आकृति से शब्दव्यक्ति की प्रतीति होती है तथा वह शब्दध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह ध्वनि मुख से प्रकट होने के पश्चात् तत्क्षण नष्ट हो जाती है। आचार्य औदुम्बरायण ध्वनि के इस तिरोहित रूप को देखकर कह उठे **'इन्द्रियनित्यं**

---

१५. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२३.
१६. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२३.
१७. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२३.

वचनमौदुम्बरायणः'[१८] कि वचन इन्द्रिय में ही नित्य होता है। आचार्य यास्क ने मूलतः औदुम्बरायण के मत का खण्डन नहीं किया है, वरन् जिस बिन्दु पर औदुम्बरायण की दृष्टि पड़ रही थी, उस बिन्दु से आगे भी देखने का प्रयास किया है, जैसे-रेखाओं से निर्मित गौ, वस्तुतः गौ नहीं होती, फिर भी वह गौ की प्रतीति कराती है, उसका उद्देश्य गोभाव की प्रतीति कराना होता है, उसी प्रकार रेखाओं से बनी हुई गौ को देखकर औदुम्बरायण कह रहे हैं कि यह गौ नहीं है, बात उनकी सत्य है, पर यह भी सत्य है कि दूसरा पक्ष भी कब उसे गौ मान रहा है, उससे मात्र केवल प्रतीति करा रहा है, जिसमें वह सफल है, इसी तथ्य को यहाँ यास्क तथा दुर्ग ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। दुर्ग कहते हैं कि व्यक्त रूप धारण करने वाला शब्द अनित्य है, उसे तिरोहित या विनष्ट, कुछ भी कहें, दोनों ही बातें सत्य हैं। औदुम्बरायण यहीं तक देख रहे हैं, लेकिन यास्क तथा दुर्ग उससे आगे के बिन्दु की ओर भी देख रहे हैं, अतः, वे कहते हैं कि क्रमशः शब्द व्याप्त होता हुआ अर्थ की प्रतीति कराता है और यह अर्थव्याप्ति शब्द-आकृति की पहिचान कराती है। वस्तुतः नाम, आख्यात आदि पदचतुष्टय तथा उसका गौण-प्रधानभाव आकृतिरूप में स्थित शब्द के द्वारा उपपन्न होता है।

शब्दनित्यत्व और आचार्य भर्तृहरि

आचार्य भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में आचार्य यास्क के मार्ग का अनुसरण किया है। वे कहते हैं:-

व्याप्तिमांश्च लघुश्चैव व्यवहारः पदाश्रयः।
लोके शास्त्रे च कार्यार्थं विभागेनैव कल्पितः॥
न लोके प्रतिपतृणामर्थयोगात् प्रसिद्धयः।
तस्मादलौकिको वाक्यादन्यः कश्चिन्न विद्यते॥[१९]

पद का आश्रय लेकर शास्त्र के द्वारा उपदिश्यमान वाक्य का व्यवहार व्यापक है तथा इससे उन साधु शब्दों की प्रतिपत्ति भी सरलता से हो जाती है। लोक में अर्थ के सम्बन्ध में, बाधक कारणों के अभाव में प्रतिपत्ता को वाक्यर्थ की प्रतीति होती है, जैसे-रेखागवय रूप असत्य परिज्ञान के द्वारा सत्यभूत वाक्य का परिज्ञान होता है। इस कारण अखण्ड सत्यभूत वाक्य से, अन्य अलौकिक सत्यभूत पदार्थ नहीं है, जिससे उसकी प्रतीति हो। इस प्रकार पदाश्रित असत्य प्रतीति से ही अखण्डवाक्य रूप सत्य की प्रतीति

---

१८. निरु०,१.२.

१९. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २.१४३-४४.

होती है, परन्तु यास्क तथा दुर्ग की तरह भर्तृहरि शब्द को अनित्य मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनके यहाँ शब्द ब्रह्म, नित्य और निरवयव है:-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:॥[२०]

पर मूलत: दोनों आचार्यों के मत में विभेद नहीं है, क्योंकि दुर्ग जिसे शब्द-आकृति कह रहे हैं, वही भर्तृहरि के मत में स्फोट का स्वरूप है। **'स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोट:'** कि जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है, वह स्फोट है और आकृति के द्वारा शब्द स्फुटित होता है, क्योंकि शब्दव्यक्ति अनित्य है।

शब्दनित्यत्व और आचार्य पतञ्जलि

महाभाष्य में आचार्य पतञ्जलि 'शब्द-नित्य है या अनित्य' इस सम्बन्ध में 'सङ्ग्रहकार' आचार्य व्याडि को उद्धृत करते हैं। उक्त ग्रन्थ में व्याडि ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि यद्यपि शब्द-नित्य है, तथापि वह अनित्य है, क्योंकि लक्षण दोनों दशाओं में घट सकता है।[२१] परन्तु आचार्य इस निष्कर्ष से सहमत प्रतीत नहीं होते। उनका कहना है 'कि समाज अनित्य वस्तु का निर्माण दूसरे से कराता है, जैसे-घट प्रयोग करने का इच्छुक व्यक्ति कुम्भकार के पास जाकर कहता है कि 'कृपया एक घंट बना दो, मैं उसका प्रयोग करना चाहता हूँ।' परन्तु इस प्रकार शब्द-प्रयोग का इच्छुक व्यक्ति वैय्याकरण से जाकर नहीं कहता कि 'श्रीमन्! मुझे इस अर्थ का वाचक शब्द बना दीजिये, मैं उसका प्रयोग करना चाहता हूँ। लोग वस्तुओं को देखते हैं तथा उनको द्योतित करने के लिये, विना किसी प्रयत्न के शब्दों का प्रयोग करते हैं।'[२२] आचार्य पतञ्जलि के कथन का अभिप्राय यह है कि लोग अनित्य वस्तु का निर्माण कराने के लिये दूसरे के पास जाते हैं, जैसे-घट, पट आदि। परन्तु नित्य वस्तु का निर्माण कराने के लिये हम कहीं नहीं जाते, इस दृष्टि से देखने पर शब्द-नित्य सिद्ध होता है, क्योंकि उसका निर्माण घट, पट आदि की भाँति सम्भव नहीं है।

लेकिन शब्द के उत्पन्न और विनष्ट होने की स्पष्ट प्रतीति होती है, उसके सम्बन्ध में आचार्य पतञ्जलिं का विचार है कि जिसमें तत्त्व (तद्भाव) नष्ट नहीं होता है, वह भी नित्य होता है और आकृति में

---

२०. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १.१.
२१. पत०, महा०,१.१.१. पृ०,४६. 'यथेव नित्य:, अथापि कार्य:, उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।'
२२. पत०, महा०,१.१.१. पृ०,५७.

भी तद्भाव नष्ट नहीं होता है, इसलिये वह भी नित्य है।[२३] इस प्रकार पतञ्जलि के मत में शब्द-आकृति नित्य है और इधर आचार्य दुर्ग शब्द को व्याप्तिमान् मान रहे हैं और यह व्याप्तियुक्त शब्द-आकृति अनित्यरूपा कभी नहीं हो सकती। वस्तुस्थिति भी यह है कि शब्द-व्यक्ति में शब्द का ध्वनिरूप व्यक्त होता है, इसलिये उसका तिरोभाव भी अवश्यम्भावी है। आचार्य यास्क ने षड्भावविकार के प्रसङ्ग में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है कि जो '**जायते**' रूप को प्राप्त होगा, उसे '**विनश्यति**' की प्राप्ति भी अवश्य होगी। परन्तु भाव '**जायते**' के पूर्व भी विद्यमान रहता है और '**विनश्यति**' के पश्चात् भी, उसी प्रकार शब्द भावरूप में '**जायते**' से पूर्व और '**विनश्यति**' के पश्चात् भी विद्यमान रहता है, इस अर्थ में वह नित्य है, यही शब्द-आकृति है। '**जायते**' के द्वारा अस्तित्व की अभिव्यक्ति करता हुआ शब्द-आकृति का प्रत्यायन कराके तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि और आचार्य दुर्ग के विचारों में अभेद है।

उपर्युक्त पङ्क्तियों में वर्णित तथ्य को 'पाणिनि दर्शन' के प्रसङ्ग में, बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करते हुए माधवाचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का मत है कि '**घटमानय**' इस तरह के वाक्यों के उच्चारण के समय जो '**घ्+अ+ट**' आदि वर्ण कण्ठादि स्थानों में वायु के संयोग से उत्पन्न होते हैं, कानों को सुनायी देते हैं और तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, वे ही शब्द हैं। इसलिये नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं, परन्तु वैय्याकरणों का कहना है कि यह शब्द नहीं है, किन्तु शब्द को व्यञ्जित करने वाली ध्वनि है। इस ध्वनि के द्वारा जो भी व्यङ्ग्य होता है, वही शब्द है। यह शब्द-नित्य है, न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वाणी की सर्वोत्तम, अन्तरतम अवस्था 'परावाणी' है, उसमें यह रहता है। इसे ही 'स्फोट' कहते हैं। बाह्य ध्वनि या कार्य शब्द केवल इसका व्यञ्जक तथा अनर्थक है।[२४]

शब्द के ध्वनिरूप के उत्पन्न या अभिव्यक्त होने की जो प्रक्रिया दुर्ग ने प्रतिपादित की है, उसका आधर 'पाणिनीय शिक्षा' है:-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्॥[२५]

'**व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य**' इस अवतरण की एक अन्य प्रकार से और व्याख्या की जा सकती है। वैशेषिक दर्शन में शब्द को आकाश का गुण माना गया है:-'**श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः**'[२६] कि श्रोत्र से ग्रहण

---

२३. पत०, महा०,१.१.१. पृ०,५०. 'तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। .. ..आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।'
२४. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ०,५९३-९४.
२५. पाणिनीय शिक्षा, ६,७.

किया जाने वाला शब्द आकाश का गुण है। पतञ्जलि कहते हैं:-**'प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशशब्दः'**[२७] कि आकाश में स्थित रहने वाला शब्द प्रयोग से प्रकट होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ आकाश होता है, वहाँ-वहाँ शब्द भी है, क्योंकि आकाश सर्वत्र व्याप्त है, इसलिये शब्द भी सर्वत्र व्याप्त है। आचार्य यास्क भी शब्द को व्यापक बता रहे हैं, सम्भवतः, उसका आधार भी यही आकाश है। इस दृष्टि से देखने पर शब्द-नित्य और अनित्य द्विविध न होकर केवल नित्य है।

इसके अतिरिक्त **'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य'** इस अवतरण की व्याख्या साङ्ख्यदर्शन के सत्कार्यवाद के आधार पर की जा सकती है।[२८] सत्कार्यवाद के अनुसार सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है, जो असत् है, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार शब्द भी उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है, इसलिये वह अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। यदि अनभिव्यक्तरूप में पहले उसकी सत्ता न होती, तो कदापि वह अभिव्यक्त न हो पाता। शब्द सर्वत्र व्यापक है, इसलिये वह सर्वत्र अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। इस व्याप्तिमान् प्रतीति के आधार पर यास्क शब्द को व्यापक कह रहे हैं।

---

२६. तर्कसङ्ग्रह, गुणलक्षणकथन, पृ०,३०.
२७. महा०,१.१.२. आ०,२.
२८ निरु०,१.२.

गुरुकुल-शोध-भारती २००५ अङ्क ४ (पृ०१०-१२)

वैदिकवाङ्मये प्रबन्धनव्यवस्था

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

चतुर्वर्गाश्रयभूते समस्ते भूतले वसतिं प्रकुर्वाणैः समस्तैर्जनैरात्माभ्युदयार्थं यदप्यपेक्ष्यते तत्सर्वमिहैव विद्यते। मानवजीवनं समन्तात् समुन्नेतुं परमात्मना वेदेषु या याः प्रवृत्तयः सम्यक् समुन्मेषितास्तास्ताः संस्कृतसाहित्ये यथायथं मनीषिभिः समाख्याताः। बहुविधमानवजीवनाभ्युदयोचितां प्रवृत्तिं परिष्कर्तुं काले काले नृपतिभिर्मनीषिभिरधिकारिभिरागमविद्भिर्नेतृभिश्च क्रियमाणाः प्रयत्नविशेषा एव व्यवस्थापदवाच्यतामेत्य भवन्ति प्रबन्धपदाभिधेयाः। शास्त्रज्ञानाञ्जुल-शलाकयोन्मीलितनेत्राणां निगमप्रदीपदीप्तमार्गमध्यनिहितपदानां सन्मार्गानु-गामिनां मनुष्याणां जीवनमनुशिष्टं विशिष्टं सदपि प्रतिपदमपेक्षित-प्रबन्धनिबद्धमेव। यद्यपि मानवजीवनस्य सुदीर्घमध्वानं सुप्रकाशं कर्तुं बहवो हि प्रबन्धप्रकाराः प्रकाशस्तम्भायन्ते तथापि पुरुषपुष्टिकरणाय सन्ति रसायनभूताः। तेष्वन्यतमाः प्रबन्धप्रकारा एवंविधाः सन्ति यैर्मानवानामभ्युदयो विष्वग् राष्ट्रे शिक्षाप्रबन्धनम्, अनुष्ठानप्रबन्धनम्, कृषिपशुपालनप्रबन्धनम्, शिल्पोद्योगप्रबन्धनम्, व्यापारप्रबन्धनम्, चिकित्साप्रबन्धनञ्च।

शिक्षाप्रबन्धनम्

मानवोन्नतेर्मूलं शिक्षैवास्ति। अत एव शिक्षामुद्दिश्य भूयान् विचारस्तत्र संस्कृतसाहित्ये समवलोक्यते। शिक्षणयोग्यानि स्थानानि कानि कानि भवन्ति? तत्र के के विषयाः समध्यापनीयाः? अध्यापकाः कतिधा कीदृशाः स्युः? कथं ते छात्रानध्यापयेयुः? कीदृशः स्याच्छात्राणां प्रवेशनियमः? अधिकारिणां कार्यक्षेत्रं कियत्? कुलपतिस्वरूपं किं किञ्च तत्कार्यम्? इत्यादिषु विषयेषु परिपूर्णाः सन्ति संस्कृते विचारोन्मेषाः। वर्तमानकाले ये नवनवा विषयाः पाठ्यक्रमे संनिवेश्यन्ते ते विषया उपनिषत्सु प्रसङ्गानुसारं यथाक्रमं निर्दिष्टाः। विषयानुसारिण्यो विभागव्यवस्था अपि प्रायशः समवलोक्यन्ते यथा सम्प्रति विश्वविद्यालयेषु सङ्कायप्रबन्धो दरीदृश्यते तथैव प्राक्कालेऽपि सङ्कायसंनिवेषः पुष्टिमुपयातः।

यज्ञानुष्ठानप्रबन्धनम्

मानवजीवने धार्मिकानुष्ठानानामनपहेयं महत्त्वमभिमन्यते। धर्मग्रन्थेषु यज्ञयागादिकर्मकरणाय सुदृढा व्यवस्थाः प्राग्वर्तिभिर्धर्मतत्त्वविद्भिः प्रदत्ताः। नित्य-नैमित्तिक-काम्यकल्पनया बहुविधान्यनुष्ठानानि

वर्णितानि तत्र प्रत्यनुष्ठानमेकं विशिष्टं प्रबन्धनं विद्यते। अनुष्ठानसमयविषये यजमानस्य वेषभूषाव्रतोपवासादिविषये, पुरोहितयोग्यताविषये, ऋत्विग्वरणप्रसङ्गे, यज्ञाङ्गविषये, आगन्तुकजनोचितोपवेशनादिविषये च संस्कृतसाहित्ये सावधानतया अविकलतया च महत्प्रबन्धनं दृग्गतं भवति।

कृषिपशुपालनप्रबन्धनम्

'वेदेषु कृष्ये त्वा' इति निगद्य नृपतिः प्रजाः प्रबोधयति यदन्नोत्पादनाय कृषिरेव परिपोष्या। सर्वेषामेव प्रबन्धानां कृषिप्रबन्धो विशिष्यते। समुचिते कृषिप्रबन्धे कृषिर्बहुधा फलति। कृषेरुत्फालयोग्यानि बहूनि साधनानि यथेप्सितानि तथैव सेचनसाधनान्यप्यपेक्षितानि। राजपक्षतः कृषिमुन्नेतुं के के प्रबन्धाः करणीया इत्यस्मिन् विषये संस्कृतसाहित्ये भूयांसो विचाराः संनिबद्धाः। कृषिक्षेत्राधिकारिभिर्बीजवपनप्रबन्धाः क्रयविक्रय-प्रबन्धाः। कृषिकार्यरतभृत्यनियोजनप्रबन्धाः, धान्यमर्दनोचितस्थानप्रबन्धाः, अन्नमानेतुं नेतुं च शकटप्रबन्धाः, धान्यसंरक्षणोपयोगिस्थानप्रबन्धाश्च करणीयाः। संस्कृते त्विमे सर्वे पक्षा यथाक्रमं परिशीलिताः।

शिल्पोद्योगप्रबन्धनम्

शिल्पकला राष्ट्रोन्नतेरथवा मानवोन्नतेरेकं विशिष्टमङ्गं विद्यते। एकस्मिन् काले शिल्पचिह्नानि प्राक्कालिकसंस्कृतेः प्रकाशरत्नानि मन्यन्ते। वेदेषु शिल्पकारः, कारुपदेन विश्वकर्मापदेन वा संज्ञितः। शस्त्रास्त्राणां निर्माणे, भवननिर्माणे, वस्तुनिर्माणे, मूर्तिनिर्माणे, मन्त्रनिर्माणे, नौविमानादिनिर्माणे, विविधाभूषणनिर्माणे च निपुणो नरः शिल्पीति निगद्यते। तत्र शिल्पविकासे शिल्पज्ञैः केचन नियमविशेषाः प्रदत्ताः। नियमानुसारं कार्यं गतिमत्कर्तुं यदा पुरुषः प्रोच्यते। शिल्पोद्योगशाला द्विविधा भवन्ति व्यक्तिविशेषाश्रिता राजशासनाश्रिताश्च। परं प्रबन्धापेक्षा तूभयत्रापि समैव। संस्कृतवाङ्मये लघुशिल्पोद्योगविषये बृहच्छिल्पोद्योगविषये च वर्णनमुपलभ्यते।

व्यापारप्रबन्धनम्

संस्कृतवाङ्मये व्यापारसंवर्धनाय साहाय्यप्रदानं शासनस्य प्रमुखं नैतिकं कर्तव्यम्। अथर्ववेदे त्वेकस्मिन् सम्पूर्णे सूक्ते व्यापारपद्धतिमभिलक्ष्यैव विस्तरेण विचारः कृतः। व्यापारेण राष्ट्रस्य सम्पद् विवर्धन्ते। अतः शासनेन निर्व्यवधानतया व्यापारवृद्धौ विशिष्टा रुचिरुद्भावनीया। न केवलं स्वदेशेऽपितु विदेशेष्वपि व्यापारो वृद्धिं नेयः। संस्कृतसाहित्याधिगमेन सहजतया ज्ञायते यद् विदेशेऽपि भारतदेशवास्तव्या व्यापारं तन्वन्ति स्म। यथा—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि।।[१]

वाणिज्यलाभाय वणिग्जनाः परस्परमेकीभूय स्वमध्ये कमपि विशिष्टगुणोपेतं पुरुषं प्रमुखं मत्वा तन्निर्देशने प्रबन्धने वा व्यापारं बहुत्र प्रसारयामासुः। व्यापारपक्षे केचन प्रबन्धाः शासनपक्षतः केचन च व्यापारमण्डलपक्षतः क्रियन्ते। संस्कृतसाहित्ये व्यापारप्रबन्धा अनल्पतया समाख्याताः।

चिकित्साप्रबन्धनम्

औषधविज्ञानस्य प्रमुखं प्रयोजनं प्राणिनां स्वास्थ्यरक्षणमेव। चिकित्सामूलं त्वौषधविज्ञानम्। देहे पीडामुद्भावयतां विविधानां क्रिमीणां नाशाय क्रियत औषधप्रयोगः। औषधनिर्माणक्रमे तथा चोपाचारक्रमे तथाविधाः प्रबन्धाः क्रियन्ते यैः प्राणिनां समीचीना स्वास्थ्यरक्षा कर्तुं शक्यते। वेदमन्त्रेष्वनेकेषु राजा प्रजाभिरभ्यर्थितोऽभूद् यद् भो राजन्! वयं तथाविधान् चिकित्साप्रबन्धान् कामयामहे यैर्वयं शरदः शतं जीवेम, प्रजाः सन्तु निरामयाः, मा प्रसरन्तु मारकसंक्रामकरोगाः वियत् यक्ष्मा पृथिवी च स्यात्सर्वदा। संस्कृतवाङ्मये रोगकारकक्रिमिनाशाय स्थाने स्थाने प्रबन्धा वर्णिताः। यथा—

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशु सर्वं तद् हन्मि जनिम क्रिमीणाम्।।[२]

संस्कृतसाहित्ये चिकित्सापद्धतयोः बहुत्वेन वर्णिताः सन्ति। तत्र प्रबन्धव्यवस्था समुचितैव समुन्मिषति।

---

१ अथर्व०३.१५.२.
२ अथर्व०२.३१.५.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ013-21)

वैदिक तत्त्वज्ञान (metaphysics) की विशेषताएँ

डॉ. फतह सिंह
पूर्व निदेशक राज. प्रा. वि. जोधपुर

वैदिक तत्त्वज्ञान की विशेषताओं पर विचार करते हैं, तो सर्वप्रथम ध्यान वेद की नानात्वमयी प्रतीकवादी काव्यात्मक शैली पर जाता है, जिससे सुपरिचित न होने के कारण अनुवादकों द्वारा संहिताभाग का निरन्तर अहित ही किया गया है। वेद की शैली को बोधगम्य करने के लिये **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** का सूत्र स्मरण रखना होगा। इसके अनुसार मनुष्य व्यक्तित्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लघु संस्करण है। अत: जब मनुष्य की चेतना शक्ति को आत्मा कहा गया है, तो अखिल ब्रह्माण्ड की सर्वव्यापक शक्ति परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध हुई। वेद[1] में आत्मा और परमात्मा को दो सयुजा सखाया के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मनुष्य व्यक्तित्व रूपी पीपल के वृक्ष में आलिङ्गनबद्ध हैं; दोनों में से एक (आत्मा) तो इस वृक्ष के भोग रूपी स्वादिष्ट फल खाता है, परन्तु दूसरा केवल देखता रहता है।

सप्तलोकों की कल्पना और ब्रह्मज्ञान का उपाय

वेद के अनुसार मनुष्य व्यक्तित्व में छह स्तर हैं, जिन्हें क्रमश: **अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय,** तथा **हिरण्यमकोश** कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक पूर्ववर्ती कोश अपने परवर्ती को अपने भीतर छिपाये हुए है, इनमें से प्रथम पाँच में परमात्मा **अन्नं ब्रह्म, प्राणं ब्रह्म, मन: ब्रह्म, विज्ञानं ब्रह्म** और **आनन्दं ब्रह्म** रूप में ही ज्ञेय है।[2] परन्तु, दुर्भाग्यवश वह हमारे लिए अज्ञात ही रहता है, क्योंकि शरीरकेन्द्रित अहङ्कार के वशीभूत होकर हमारा मन केवल उस सेन्द्रिय शरीर से ही अवगत रहता है जिसे वेद की भाषा में **'असु'** कहा जाता है। जब तक असु पक्ष के प्राणों में रमण करने के कारण मनुष्य का मन स्वयं असुर[3] बना रहता है, तब तक उससे अतिमानसिक 'सु' पक्ष अज्ञात रहता है। इस कारण से न तो आत्मा को अपने देवत्व का ज्ञान होता है और न ही वह ब्रह्मज्ञान में रुचि रखता है।

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।। ऋ01.164.20; श्वे0उप04.6
2. तै0उप03.1–6
3. मनो वा असुरं तद्धि असुषु रमते। तै0ब्रा03.6.7.2

ब्रह्मज्ञान का मुख्य साधन तप[4] है। इसीलिए ब्रह्म को तप में प्रतिष्ठित[5] कहा जाता है और तप को मनोमूलक माना जाता है। इस निमित्त मन को **'असु'** में रमण करने की अपनी **'पतन'** क्रिया को उलट कर **'तपन'** में बदलना होगा। इस प्रकार मन[6] अतिमानसिक 'विज्ञानमयकोश' से जुड़ जाता है, इसके परिणामस्वरूप विज्ञानमयकोश जहाँ अपनी उन्मनी शक्ति द्वारा आनन्दमयकोश से संयुक्त हो जाता है, वहीं अपनी समनी शक्ति द्वारा मनोमयकोश से भी संबद्ध रखता है। इस प्रकार मन का 'असु' रूप बदल कर स्व (सु+अ) हो जाता है और वह उत्तरोत्तर ज्योतिर्मान स्वः होता हुआ, अन्त में ब्रह्म सूर्य नामक उत्तम[7] ज्योति तक पहुँच जाता है। इस यात्रा में हमारे मनोमय आत्मा को विज्ञानमयकोश की सहायता से उत्तरोत्तर ऊपर उठते हुए उस ब्रह्मलोक तक पहुँचने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, जो षड्कोषीय मानव व्यक्तित्व से भी ऊपर है और जिसमें ब्रह्माण्ड का भी समावेश है। छठे कोश को वेद में हिरण्यकोश नामक ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग कहा गया है। यह हिरण्ययकोश अष्टचक्रा नवद्वारा देवों की अयोध्या पुरी[8] में स्थित है। इस स्वर्ग में आत्मा से युक्त (ब्रह्म) विराजमान है।[9] जिसे ब्रह्मवेत्ता ही जान सकते हैं। इस छठे कोश से परे मनुष्य का सातवाँ स्तर भी है जिसे **'प्रभ्राजमाना हिरण्ययी पुरी'** कहा गया है और जिसमें अकेला ब्रह्म ही निवास करता है,[10] क्योंकि सभी आत्मा इस स्तर पर ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म की इस अवस्था को परब्रह्म नाम दिया जाता है, जो वस्तुतः उस ब्रह्म के उन सभी रूपान्तरों में परिव्याप्त रहता है जिन्हें इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि देवों के रूप में **'एकं सत्'** (परब्रह्म) कहा गया है।[11] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की दृष्टि से इस सप्तम स्तर को ब्रह्मलोक कहा जाता है। इस ब्रह्मलोक को ही कभी-कभी **'ब्रध्नस्य विष्टपम्'**[12] भी कहा जाता है, क्योंकि ब्रध्न शब्दब्रह्म का पर्याय है।

---

4. तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व। तै0आ09.2.1
5. ब्रह्म तपसि प्रतिष्ठितम्। ऐ0ब्रा03.6; गो0ब्रा02.3.2
6. मनो ह वाव तपः। ऐ0ब्रा03.6 ; गो0ब्रा02.3.2
7. ऋ01.50.10 उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।। तु0अथर्व07.53.7 उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।
8. अथर्व010.2.31
9. अथर्व010.2.32
10. प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।। अथर्व010.2.33
11. ऋ01.164.46
12. विष्टप एकः सप्तमो ब्रह्मलोको यस्मिन् एतद् ब्रह्म। जै0ब्रा01.334

तप और वेदविज्ञान

इस प्रकार **ब्रध्नस्य विष्टपम्** (ब्रह्मलोक) तक पहुँचने का कार्य करने वाला तप वेद-विज्ञान को अधिगत करने का एक महान् साधन बन जाता है। इस तप का सबसे बड़ा आधार अहङ्कारजन्य स्व को त्यागना है। निज स्व का त्याग करते हुए साधक जब उत्तरोत्तर लोकों का संजयन करते हुए[13] पूर्वोक्त उत्तम ज्योति तक पहुँचता है, तो उसकी सबसे बड़ी शारीरिक उपलब्धि यह होती है कि उसका 'हृद्रोग'[14] नष्ट हो जाता है। इसीलिए तपोजन्य जन्म ही वास्तविक माना गया है, न कि स्त्री गर्भ से जन्म को।[15] तप ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसी में सभी उपलब्धियाँ आदि निहित हैं।[16] यह तप वस्तुतः स्वः का दान है–**'एतद् खलु तपः यत् स्वं ददाति।'**[17] इस प्रकार के तप को उस ऋतम् द्वारा ही अनुभव[18] किया जा सकता है, जो नैतिकता का मूलमन्त्र होने के साथ-साथ सत्य यज्ञ भी है–**ऋतं वै सत्यं यज्ञः।**[19] ऋतपूर्वक तप द्वारा ही मनुष्य अपने विज्ञानमयकोश को सक्रिय कर उसकी उन्मनी शक्ति द्वारा आनन्दमय और हिरण्ययकोश की दिव्य शक्ति का मनोमय आदि निम्न कोशों में अवतरण करने में समर्थ होता है। तभी विज्ञानमयकोश पूर्वोक्त विष्टप नामक आन्तरिक जगत् की सहायता से बाह्यजगत् की सूक्ष्मताओं को समझने में भी समर्थ होता है।

इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि उक्त विष्टप शब्द वेद के जिन अनेक मन्त्रों में प्रयुक्त है, उनमें उसे **'ब्रध्नस्य विष्टपम्'** ही कहा गया है। ब्रध्न शब्द **'बृंह्'** धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है वर्धनशील; अतः यह ब्रह्म का ही सूचक माना जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में विष्टप को वर्धनशील ब्रह्म का (ब्रध्नस्य) गृह कहा गया है, जहाँ जाने, मधुपान करने और फिर अपने सखा (ब्रह्म) के इक्कीस बलों वाले पद को अपनाने के लिए इन्द्र से आग्रह किया गया है।[20] इन्हीं इक्कीस बलों के लिए अथर्ववेद के प्रथम सूक्त में वाचस्पति से आग्रहपूर्वक पुनः

---

13. तपसा वै लोकं जयन्ति (माश03.4.4.27) एषो वै ज्ञायते यत् तपसः (तै0सं0 7.2.10.2)
14. तु0 हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय। ऋ01.50.11
15. तद्धि जातं यत् तपसोऽधि जायते, न यत् स्त्रियः। काठ. 34.12
16. तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् तपः परमं वदन्ति। तै0आ0 10.23.1
17. क037.1; तैसं. 6.16.3
18. ऋतेन तपः (अन्वाभवत्)। काठ. 35.15
19. मै. 1,1011; 4,5,2; काठ. 36,5
20. उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि। मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे।। ऋ.8.69.7

पुनः विनती की गई है।[21] वस्तुतः ये इक्कीस बल इन्द्र (आत्मा) द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् सातों लोकों में पहुँचने वाली उसी त्रयी विद्या के रूपान्तर हैं, जिसे प्रायः ऋक्, यजुः, साम कहा जाता है। गोपथ-ब्राह्मण के शब्दों में यह त्रयी मूलतः **'ऊँ ब्रह्म'** में अन्तर्हित **'सुवेद'** है जो बाहर आकर त्रिविध रूप में प्रकट होता है[22] तथा ब्रह्म की समस्त सृष्टि का मूल साधन बनता है।

रहस्यमय आदि सृष्टि

सृष्टि का प्रसङ्ग आते ही ऋग्वेद का नासदीय सूक्त[23] सहज ही स्मरण हो जाता है, जो अपनी रहस्यमयता के लिए विख्यात है। इस सूक्त में मुख्य प्रश्न यह है कि नानारूपात्मक सृष्टि से पूर्व क्या था? उस समय न तो सत् था और न असत्, अन्तरिक्ष और आकाश भी नहीं था, मृत्यु और अमृत और रात्रि दिन का भी कोई भेद नहीं था। उस समय केवल **'तत् एकम्'** था और उसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। वह अपनी महिमावश तप द्वारा उत्पन्न हुआ था। यहाँ यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि यह एकम् क्या **'प्रजापति परमेष्ठी'** है, जिसे इस सूक्त का 'ऋषि' माना गया है और जो **'भाववृत्त'** नाम से सृष्टिवर्णन कर रहा है ? अस्तु, सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ जिसे क्रान्तदर्शी कवि ही जानते हैं और जिसे मन का **'प्रथमं रेतस्'** कहा गया है। इस रेतस् को धारण करने वाले (रेतोधा) थे और 'महिमानः' थे। परन्तु, जो अनिर्वचनीय एवं सभी शाश्वत गतिविधियों को धारण करने वाला **'कः अद्धा'**[24] (सत्य स्वरूप कः) ही है, सम्भवतः वह ही जानता हो और वह अनिर्वचनीय (कः) ही कह सकता है कि यह 'विसृष्टि' (विशेष सृष्टि) कहाँ से उत्पन्न हुई। इसके ही विसर्जन से ही नीचे को (अर्वाक्) देवगण आये अथवा कौन जाने वे कहाँ से आये ? इस विशेष सृष्टि का जो परम व्योम में अध्यक्ष है, वही सम्भवतः जानता हो अथवा वह भी नहीं जानता हो।

इस विशेष सृष्टि को उक्त सूक्त के परवर्ती सूक्त[25] की सहायता से समझा जा सकता है। यहाँ पर उक्त सूक्त के 'प्रजापति परमेष्ठी' नामक ऋषि को ही प्राजापत्य यज्ञ माना गया है

---

21. अथर्व01.1.1 ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।।
22. गोब्रा01.1
23. ऋ010129
24. निघण्टु में पठित सत्य नाम
25. ऋ010.130

जो प्रस्तुत सूक्त का ऋषि होकर स्वयं अपना वर्णन **'भाववृत्त'** के रूप में कर रहा है। यह यज्ञ सब ओर से 101 देवकर्मों रूपी तन्तुओं से विस्तृत हो रहा है। इन तन्तुओं को बुनने वाले पितर प्राण हैं, परन्तु इसको विस्तार देने वाला अथवा कर्तन करने वाला स्वर्ग में स्थित पुरुष है। इस पुरुष से जो किरणें आतीं हैं, वे सामों द्वारा उत्पादित यज्ञ बुनने के तन्तु हैं। इस पुराण यज्ञ के उत्पन्न होने पर, इसका सम्पादन ऋषि, मनुष्य एवं पितर नामक प्राण करने लगते हैं, जिन्हें हम मानसिक चक्षु द्वारा ही देखते हुए मान्यता देते हैं। धीर मनुष्य इन पूर्व शक्तियों के पन्थ को ध्यान में देखकर, उन्हें प्राप्त कर उनकी रश्मियों को उसी प्रकार पकड़ लेते हैं, जैसे रथी रथ की रस्सियों को। इस सूक्त में जिस साम का उल्लेख है, वही पूर्वोक्त ऋक्, यजुः, साम नामक त्रयी का अङ्गभूत है। इसी वेदत्रयी का जिन ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया गया है, उन्हीं को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद कहा गया है। ऋक्, यजुः और साम के समन्वित सारांश को प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ अथर्ववेद है।

भ्रान्तिनिवारण

इस प्रकार चारों वेद नाम ग्रन्थों में वेद-विज्ञान का जो सुविस्तृत तात्त्विक विवेचन किया गया है, उसी विषय को आगे बढ़ाते हुए उन भ्रान्तियों का भी एक एक कर निवारण करना है, जो इस विषय में बाधक हो रही हैं। सर्व प्रमुख भ्रान्ति पूर्वोक्त सुवेद अथवा उसके त्रयी रूप के विषय में है, जिसे वेद नामक ग्रन्थ समझ लिया गया है। वस्तुतः जिस प्रकार गोपथ ब्राह्मण ने सुवेद **'ऊँ ब्रह्म'** नामक शक्तिमान् की कल्पना ऋक्, यजुः, और साम के रूप में हुई, तो इन तीनों को उस परम देव (ऊँ ब्रह्म) के क्रमशः अग्नि, वायु तथा सूर्य नामक रूपान्तरों को शक्ति तत्त्व अथवा बल[26] माना गया। कभी-कभी ऋक् को भर्ग, यजुः को यशः और साम को महः भी कहा गया है।[27] वस्तुतः ऋक्, यजुः और साम ये तीनों उक्त ऊँ ब्रह्म से उत्पन्न उन तीन ज्योतियों के शक्तितत्त्व (बल)[28] हैं, जिन्हें समस्त सृष्टियज्ञ का कारण माना जाता है।[29] अतः सुवेद अथवा ऋक्, यजुः और साम की त्रयी को वेद नामक ग्रन्थ समझना बड़ी भूल है। इसी भूल के कारण चिरकाल से वेद तीन हैं या चार इस पर विवाद होता रहा है। आधुनिक काल में

---

26. माश011.5.8.3
27. माश012.3.4.9
28. माश011.5.8.3
29. माश 5.5.5.10

स्वर्गीय पं0 मधुसूदन ओझा ने ग्रन्थ रूप वेदों को शब्दवेद[30] साथ ही त्रयी विद्या और सुवेद को तत्त्ववेद के नाम से अभिहित कर इस भ्रान्ति का निवारण करने का प्रयत्न किया, भले ही परम्पराप्रिय जन इस मत को स्वीकार नहीं करते हों, लेकिन स्वयं संहिताभाग और ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि सृष्टि के आदिकाल से सम्बन्धित पूर्वोक्त सुवेद और त्रयी विद्या रूप वेद कोई ग्रन्थ नहीं हैं।

इस निष्कर्ष की पुष्टि का स्पष्ट सङ्केत उस सृष्टि वर्णन में भी प्राप्त होता है जिसे हमने प्रजापति परमेष्ठी के नासदीय सूक्त और प्राजापत्य-यज्ञ[31] में पाया। नासदीय सूक्त में जिस विसृष्टि या विशेष सृष्टि का उल्लेख है उसके वितान को बुनने के लिए ऋग्वेद में कोई पुमान् त्रयी विद्या के अङ्गभूत साम तन्तुओं को उत्पन्न करता है,[32] जबकि ऋग्वेद के अनुसार सर्वप्रथम जन्म लेने वाला काम है, जो कि मन का रेतस् है–'**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः।**'[33] इस रेतस् को धारण करने वाले अनेक हैं, जो महिमानः (बल या शक्ति) कहलाते हैं–'**रेतोधा आसन्।**'[34] यही सृष्टि रूपी पुराणयज्ञ के सम्पादनकर्त्ता मनुष्य, पितर और देव हैं, जिन्हें क्रान्तदर्शी कवि अपनी मानसिक दृष्टि से देख सकते हैं।[35] इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्राजापत्य-यज्ञ रूपी सृष्टि का ही वर्णन किया गया है।

प्राजापत्ययज्ञ ऋषि रूप में

जैमिनीय ब्राह्मण में भी उक्त सृष्टि को प्राजापत्य यज्ञ रूप में कल्पित किया गया है[36] और वही नासदीय सूक्त का ऋषि माना गया है।[37] सामान्य धारणा के अनुसार वैदिक सूक्तों के ऋषि तपोपूत ज्ञानवृद्ध शरीरधारी मनुष्य रहे होंगे। परन्तु इस धारणा पर प्रश्नचिन्ह प्राजापत्य यज्ञ

---

30. प्रसिद्ध पत्रकार श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश ने 'राज. पत्रिका' द्वारा इसी मत का प्रचार किया और सभी उपलब्ध संहिताओं का एक साथ 'शब्दवेद' के नाम से प्रकाशन भी किया है।
31. ऋ010.130
32. ऋ010.130.2
33. ऋ010.129.4
34. ऋ010.129.5
35. ऋ010.130.6 चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे।। ऋ010.130.6
36. जै0ब्रा03.380
37. ऋ010.130

जैसे ऋषिनामों द्वारा लग जाता है। इस शङ्का का समाधान बृहद्देवताकार[38] का यह कथन करता है जिसमें मन्त्रों के ऋषि, छन्द और देवता आदि को प्राण-दृष्टि से समझने का परामर्श दिया गया है-

ऋषिछन्दोदेवतादिज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्।
तदाश्रित्यप्राणदृष्टिर्विहितात्रेति गम्यताम्॥

अत: हमें वेदविज्ञान को हृदयङ्गम करने के लिए बृहद्देवताकार की प्राणदृष्टि को अपनाना आवश्यक है। इसके लिए **'आत्मानम् आत्मनि विविच्य'**[39] की उक्ति को भी ध्यान में रखना होगा। योग की इस प्रमुख प्रवृत्ति को अपनाते हुए अर्थात् आत्मा को आत्मा में खोजते हुए जब आगे बढ़ते हैं तो आत्मतत्त्व की गवेषणा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रक्रिया में प्राणव्यापार के तीन अङ्ग हो जाते हैं-अभिचक्षण, अर्थात् देखने का कार्य; द्योतन अर्थात् मार्ग प्रकाशित करना; और आह्लादन, अर्थात् आवरण को हटाकर उत्तरोत्तर सफलता की प्राप्ति। इन तीनों में प्रथम का प्रतीक नाम ऋषि है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है देखने वाला, इसी सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में **'प्राणा उ वा ऋषय:'** का कथन प्राप्त होता है। अभिचक्षण या ऋषिकार्य, वस्तुत: प्राणों की वह मानसिक यात्रा है, जो आरोह और अवरोह क्रम से द्विविध होती है। आरोहरण में ज्ञात दैहिक आत्मा से ऊपर उठकर अज्ञात अशरीरी आत्मा से सम्पर्क करने का प्रयास निहित है। प्रत्येक आरोहण का प्रयास एक योग सोपान है और प्रत्येक अवरोहण उस योग से प्राप्त उपलब्धि (राय: अथवा रयि) द्वारा दैहिक आत्मा का क्षेम सम्पादन करना है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों ने ऋषियों के पराञ्च और अर्वाञ्च दो भेद माने हैं।[40] इसी परिप्रेक्ष्य में विचार करने का अभ्यास करने से वेदमन्त्रों में वर्णित पूर्व और नूतन ऋषियों और विभिन्न प्रकार के विचित्र ऋषिनामों के अर्थ समझ में आ सकते हैं।

ऋ. 10.130 में वर्णित सृष्टि यज्ञ के विषय में यह प्रश्न पाते हैं कि 'जब देवों ने यज्ञ किया, तो छन्द क्या था ? प्रउग क्या था और उक्थ क्या था'? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न देवों से सम्बन्धित छन्दों के नाम बताते हुए इन्द्र के त्रिष्टुप् छन्द को **'भागो अह्नः'** को समझने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों का आश्रय लेना होगा। **'अहर्वै सविता'**[41] **'अहः स्वर्गः'**[42] की उक्तियों के

---

38. बृ0दे. 8.136
39. बृ0दे07.135
40. जै0ब्रा03.44
41. गो0ब्रा01.1.33

आधार पर भागो अह्नः रूप त्रिष्टुप् छन्द को दिव्य दिवस अथवा स्वर्ग के रूप में लें तो यह मानना पड़ेगा कि देवों में जगती द्वारा प्रविष्ट होने वाला अह्न का भाग दिव्य प्रकाश ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में जगती छन्द भी दिव्य प्राणशक्ति के रूप में ही सिद्ध होता है। यही दृष्टि अन्य छन्दों के विषय में भी अपनाई जा सकती है।[43] इस प्राणदृष्टि को अपनाने से तैत्तिरीय आरण्यक[44] का होना भी सुसङ्गत सिद्ध होता है, जिसमें कहा गया है कि **'यह अहः सभी भूतों के प्राणों द्वारा अपसर्पण और उत्सर्पण करता है।'** ध्यान-योग के अभ्यास द्वारा उस समय सहज ही इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है, जब हम अपने भीतर प्रकाश की धाराओं अथवा प्रकाश बिन्दुओं को गतिशील देखते हैं। निस्सन्देह हमारे भीतर यह कार्य प्राणरश्मियों द्वारा ही सम्भव होता है। प्राणरश्मियों की जो भी गतिविधि हमारे भीतर हो रही है, वह वस्तुतः ब्रह्माण्ड में होने वाली प्राणिक क्रिया की एक छोटी सी झलक मात्र है।

वेदविज्ञान और प्राण

अतः यह स्पष्ट है कि वेदविज्ञान में प्राणविज्ञान का अत्यन्त महत्त्व है। वेद के अनुसार प्राण केवल मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में नहीं, अपितु समस्त सृष्टि का मूलाधार है। अथर्ववेद में प्राण का अत्यन्त सुन्दर काव्यात्मक वर्णन किया गया है,[45] उसके अनुसार प्राण के वश में इदं सर्वम् है, वह स्वयं सर्वेश्वर है। घनगर्जन, विद्युत् और वर्षा आदि में उसी का वर्चस्व प्रकट होता है। प्राण ही विराट् है, तत्त्वतः वही सूर्य चन्द्र और प्रजापति भी है। सामान्यतः हम प्राण और अपान से परिचित होते हैं, जो श्वासोच्छ्वास रूप है जिसके बारे में अथर्ववेद में भी कहा गया है–**'अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।'**[46] परन्तु, साथ ही प्राण को मातरिश्वा और वात भी बताते हुए उसी में भूतं, भव्यं सभी कुछ प्रतिष्ठित माना गया है।[47] जो इस प्राण को जानता है वही उस तत्त्व को भी जानता है, जिसमें प्राण प्रतिष्ठित हैं, उसे समस्त प्राण उत्तम

---

42. माश013.2.1.6
43. विशेष अध्ययन के लिए देखें लेखक की कृति ''भावी वेद भाष्य के सन्दर्भ सूत्र'' पृ0 35
44. तै0आ0 1.14.4
45. अथर्ववेद 11.6
46. अथर्ववेद 11.6.14
47. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।। अथर्व011.4.

लोक में भेंट पहुँचाते हैं।[48] यह चेष्टाशील विश्व का विश्वजन्मा[49] प्राण और चेष्टायुक्त सर्व का सर्वजन्मा[50] प्राण कहा गया है। यह व्यष्टि के सन्दर्भ में **'अष्टाचक्र एकनेमि'** है तो समष्टि की दृष्टि से **'सहस्राक्षरम्'** भी; यह अपने अर्द्धभाग से विश्व को उत्पन्न करता है, जबकि शेषार्ध अज्ञात रहता है। पूर्व में इसी रहस्यमय अर्द्धभाग को अन्य (प्राण) अपनी भेंट देने वाले कहे गये हैं। इस उत्तम लोकवासी प्राण के जो अनेक रूपान्तर हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके **'प्राणाः रश्मयः'**[51] कथन प्रचलित हुआ है। इससे हमें प्राणों की प्रकाशरूपता की ओर सङ्केत प्राप्त होता है। इन्हीं प्राणरश्मियों के सन्दर्भ में उनके मूलस्रोत स्वरूप प्राण को सूर्य, चन्द्रमा, सविता आदि कहा गया है, तो उसके नानात्व को **मरुतः रश्मयः,**[52] **सूर्यस्य रश्मयः**[53] **एते वै विश्वेदेवा रश्मयः**[54] आदि। तैत्तिरीय आरण्यक[55] का मरुतों को आदित्य प्रर्वग्य की रश्मियाँ कहना भी इसी ओर इङ्गित करता है। मरुत्प्राणरश्मियों[56] का सम्बन्ध मनुष्य व्यक्तित्व के हिरण्ययकोश से हैं, जो कि मरुतों का रथ भी माना गया है। इसीलिए उन्हें वेद में हिरण्ययासः[57] भी कहा गया है। हिरण्ययकोशीय ब्रह्मात्मसायुज्य से उद्भूत इन प्राणरश्मियों को वेद में हरयः भी कहा गया है।

इस प्रकार यदि वैदिक तत्त्वज्ञान की इन मूलभूत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए वेदाध्ययन को आगे बढ़ाया जायेगा तो निश्चय ही जो ज्ञानबिन्दु हमें प्राप्त होंगे वे न केवल सृष्टि के रहस्योद्घाटन में सहायक होंगे, अपितु मानवीय आचरण को भी दिव्य आभा से अलोकित करने में समर्थ होंगे। अतः वैदिक प्राणविज्ञान की दृष्टि को अपनाकर आधुनिक विज्ञान तथा वेदविज्ञान के गवेषकों को समन्वित रूप से अपने कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए।

---

48. अथर्व011.6.18
49. अथर्व011.6.23
50. अथर्व011.6.24
51. तै03.2.5.2
52. जै0ब्रा0 1.136; 3.374
53. माश0 3.1.3.22
54. माश0 2.3.1.7
55. तै0आ05.4.8; 59.2
56. द्र. 'मानव व्यक्तित्त्व की वैदिक गवेषणा' ले. डा. श्रद्धा चौहान (गवेषण प्रकाशन. 17 ई/257 नन्दनवन जोधपुर)
57. ऋ06.66.2

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ022-50)

वैदिक नीति

डॉ. ख़ालिद बिन यूसुफ ख़ान
रीडर, संस्कृत-विभाग
ए.एम.यू., अलीगढ़

एक और भारतीय मनीषा वेदों को समग्र धर्म एवं आचरण का मूल स्रोत मानती आई है और दूसरी ओर पाश्चात्त्य विद्वानों ने जब उनका अध्ययन किया तो पाया कि उनमें सदाचार सम्बन्धी सामग्री लगभग नगण्य है। कीथ महोदय भारतीय दर्शन को प्राय: सदाचार से रहित मानते हैं।[1] वेद के प्रति लुई रेनू ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं–''हमें उन व्यक्तियों पर भी विचार करना है जो कि विप्र अथवा कवि न होकर साधारण जन थे, उनकी इच्छाएँ क्या थीं? वास्तव में वे भौतिक वस्तुओं की ही इच्छाएँ करते थे–धन, पुत्र, स्वास्थ्य इत्यादि। वैदिक आचार-शास्त्र इसी सरल महत्त्वाकाङ्क्षा पर आधारित है।''[2] विन्टरनित्ज़ महोदय ऋग्वेद को कुछ भी मानने को उद्यत हैं, परन्तु इसे वे 'नीति-रत्न-माला' कदापि नहीं मान सकते।[3] इस प्रकार विद्वानों के लिए वेद प्राय: विवादास्पद रहा है। परन्तु नि:सङ्कोच भाव से यह कहा जा सकता है कि वेद धर्म के साथ-साथ भारतीय नीति का प्रचीनतम ग्रन्थ है। इस युग में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी। इसकी शिक्षाएँ अत्यन्त व्यापक एवं सार्थक हैं। जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित तथ्य वेदों के अध्ययन से ज्ञात होती हैं तथा इसमें सन्देह नहीं कि इन शिक्षाओं पर चल कर एवं इनका पालन करके लौकिक एवं आत्मिक सुखों की प्राप्ति की जा सकती है–वह जीवन जो सर्वथा मनुष्योचित एवं वास्तविक अर्थों में मानवधर्मी कहा जा सकता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा उसको उच्छृङ्खल अथवा मर्यादाहीन होने से बचाये रखने के लिये, विद्वानों ने अपने अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर कुछ नियम निर्धारित किये हैं। हम अपने चारों ओर रहने वाले मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के संग किस प्रकार व्यवहार करें कि वह 'उचित' हो–'ठीक' हो तथा 'सदाचार' की

1. वैदिक धर्म एवं दर्शन. पृ0583. अनु0 डॉ0 सूर्यकान्त
2. रिलीजन्स ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृ027
3. प्राचीन भारतीय साहित्य, अनु0 लाजपतराय (प्रा0भा0), पृ090

संज्ञा के योग्य हो। जिस शास्त्र में आचरण सम्बन्धी इन नियमों का विवेचन किया जाता है उसे 'आचार-शास्त्र' करते हैं। इसे 'नीति-शास्त्र' तथा 'व्यवहार शास्त्र' भी कहा जाता है।[4]

वास्तव में नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक जीवन की समस्याओं से हैं, जबकि नैतिक जीवन का इतिहास मानव की संस्कृति से आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिम में मिस्र तथा यूनान एवं पूर्व में भारत तथा चीन की संस्कृति प्राचीनतम है, परन्तु हॉपकिन्स ने भारतीय नीति-विज्ञान को ही प्राचीनतम माना है।[5]

इस प्रसङ्ग में नीति अथवा आचार के प्रति भारतीय एवं पाश्चात्त्य मतों को जानना आवश्यक है।

भारतीय नीति

1. मनु ने वेद, स्मृति तथा सदाचार को नैतिकता का आधार एवं अन्तरात्मा के भाव अथवा विचार को चौथा प्रमाण स्वीकार किया है।[6]

2. ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार नीतिशास्त्र सत्य, हित तथा परिणाम में सुख देने वाली बातों का वर्णन करता है।[7]

3. शुक्राचार्य के अनुसार समस्त लोक-व्यवहार की स्थिति विना नीति शास्त्र के उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार देहधारियों की स्थिति भोजन के विना नहीं हो सकती।[8]

4. श्री सोमदेव सूरि के अनुसार 'तन्त्र' तथा 'अवाप' का नाम नीतिशास्त्र है। अपने मण्डल अथवा राज्य की सुरक्षा तथा पालन-पोषण की योजना बनाना तन्त्र है एवं अन्य मण्डल अथवा राज्य प्राप्ति के निमित्त सन्धि-विग्रहादि की योजना अवाप है।[9] उनका मानना है कि नीति के द्वारा यथार्थ विषय का अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है।[10]

---

4. मोहन वल्लभ पंत, सदाचार सोपान, पृ011
5. डॉ0 दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ04
6. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। मनुस्मृति 2/12
7. ब्र0पु0115/3
8. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम्। धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षपदं यतः।। शुक्रनीति 1/2
9. नीतिवाक्यामृतम्, 30/45, 46, 47
10. नीतिर्यथाव्यवस्थितमर्थमुपलम्भयति। नीतिवाक्यामृतम्, 10/61

5. डॉ0 राधाकृष्णन् का मत है कि 'मोक्ष नैतिक व्यक्तिमत्ता से आध्यात्मिक सर्वव्यापकता तक उठने का ही नाम है, अतः मोक्षरूपी साध्य के लिए नीतिरूपी साधन आवश्यक है।'[11]

6. श्री अरविन्द के अनुसार नीति और दर्शन का एकमात्र उद्देश्य पूर्णत्व की प्राप्ति है।[12]

उपर्युक्त विचारकों के मत के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में आचार एवं विचार की स्थिति कुछ इस प्रकार है। मीमांसा-परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचार प्रधान है, जबकि दूसरा पक्ष उत्तर मीमांसा विचार प्रधान। साङ्ख्य तथा योग क्रमशः विचार एवं आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा की दो धाराएँ हैं। बौद्ध परम्परा में हीनयान आचार-प्रधान है तथा महायान विचार-प्रधान। जैन परम्परा में भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है।

पाश्चात्त्य नीति

पाश्चात्त्य नीतिशास्त्र की समस्याओं का मुख्य प्रयोजन ऐहिक जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ हैं, जबकि भारतीय नीतिशास्त्र का अधिकांश सम्बन्ध पारमार्थिक चिन्तन से रहा है। पाश्चात्त्य नीतिशास्त्र में धार्मिक समस्याओं को नैतिक प्रश्नों से अलग रखा गया है। नीति के सम्बन्ध में पाश्चात्त्य विद्वानों के मतों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है-

१. अन्तः अनुभूतिवाद

इसके अनुसार वास्तविक नैतिक मापदण्ड आन्तरिक होता है, बाह्य नहीं। अन्तः अनुभूतिवाद के अनुसार नैतिक गुण अर्थात् औचित्य-अनौचित्य कर्मों में अन्तर्भूत है। कोई कर्म स्वतः अपने स्वभाव के अनुसार उचित या अनुचित होता है। उनका नैतिक गुण उनके फल या जिन उद्देश्यों से कर्म किये जाते हैं, उन पर निर्भर नहीं है। यदि किसी वस्तु में उजलापन है तो उजलापन क्यों है ? इसका उत्तर होगा, वही उसकी प्रकृति है। उसी प्रकार यदि कोई कर्म उचित है तो वह क्यों उचित कहा गया ? इसका उत्तर होगा, वही उसकी प्रकृति है। इसके अनुसार नैतिक गुण स्वतन्त्र होते हैं, फल या उद्देश्य पर निर्भर नहीं होते[13] नैतिक गुणों का ज्ञान मनुष्य को अन्तःकरण के द्वारा होता है। अन्तःकरण ही नैतिकता का मापदण्ड होता है।[14] प्राचीन

---

11. डॉ0 दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ04
12. वही, पृ0134
13. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचारशास्त्र, पृ0130
14. वही, पृ0131

काल में सुकरात, प्लेटो आदि इस मत के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त रीड, मार्टिन्यू, सेफ्टस्वरी, बटलर तथा काण्ट आदि भी इस मत के समर्थक हैं।

अन्तः अनुभूतिवाद के प्रकार

कुछ विचारकों के अनुसार अन्त:करण के द्वारा विशेष कर्मों के नैतिक गुण का विना किसी युक्ति के ही सहजबोध हो जाता है। इस दशा में अन्त:करण एक वैसे शासक की भाँति है जो प्रत्येक दशा में अपना आदेश देता है। यह मत 'अदार्शनिक अन्तः अनूभूतिवाद' कहा जाता है।[15] परन्तु कुछ विद्वानों ने अन्त:करण बुद्धिमूलक बताया है। उनके अनुसार अन्त:करण के द्वारा सामान्य नैतिक नियमों का बोध होता है, जिसे बुद्धि द्वारा विशेष कर्मों पर लागू किया जाता है। इस दशा में अन्त:करण एक विधान-निर्माता की भाँति है, जो नियम बना देता है और उसे ही अन्य लोग विशेष परिस्थितियों में लागू करते हैं। यह मत **'दार्शनिक अन्तः अनुभूतिवाद'** कहा जाता है।[16]

रसेन्द्रियवाद

कुछ विचारकों के अनुसार सौन्दर्य-इन्द्रियाँ ही नैतिक इन्द्रिय हैं। इस विचार को सौन्दर्य या रसेन्द्रियवाद कहते हैं।[17] इस मत के अनुसार नैतिक गुण अन्य गुणों की भाँति कर्मों में ही निहित हैं। पर नैतिक गुण सौन्दर्य-विषयक गुणों से भिन्न नहीं। 'उचित' का अर्थ है 'सुन्दर' और अनुचित का 'कुरूप'। जो सुन्दर है, वह समरस तथा समानुपाती है। जो समरस और समानुपाती है, वही सत्य है, और जो सुन्दर और सत्य है, वही प्रिय और शुभ है। रस्किन ने कहा कि रस नैतिकता का केवल सङ्केत नहीं, बल्कि एकमात्र नैतिकता है। उसका कहना है कि आप बता दें कि आपकी रुचि क्या है ? मैं बता दूँगा कि आप क्या हैं।[18]

नैतिक गुण सौन्दर्य गुण हैं, अत: उनका अपरोक्ष ज्ञान रसेन्द्रिय से होता है। रसेन्द्रिय के द्वारा ही कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की अपरोक्ष अनुभूति होती है। अत: रसेन्द्रिय ही नैतिकता का आधार है, यही नैतिकता का मापदण्ड है।

---

15. वही, पृ0135
16. वही
17. वही, पृ0139
18. वही, पृ0139

बुद्धिवादी अन्तः अनुभूतिवाद

इसके अनुसार अन्तःकरण के द्वारा सामान्य नैतिक नियमों का बोध होता है, जिसे बुद्धि विशेष कर्मों में लागू करती है। अन्तःकरण बुद्धिमूलक है, कोई इन्द्रिय नहीं। इस मत के अनुसार नैतिक गुण कर्मों में ही निहित हैं। कर्म के परिणाम या किसी अन्य लक्ष्य पर नैतिक गुण निर्भर नहीं है।[19]

नैतिकगुण भावनाओं पर आश्रित नहीं है, बल्कि उनका आधार बुद्धि है। नैतिक निर्णयों के उपरान्त भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, पर हमारा निर्णय उस पर आश्रित नहीं रहता। नैतिक निर्णय का स्वरूप गणितशास्त्रीय है। इस मत के समर्थक क्लार्क, काल्डरवूड, बोलास्टन आदि हैं।

इस मत के विपरीत प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस बुद्धि से नैतिक गुणों का ज्ञान होता है, उसका स्वरूप हमारी साधारण बुद्धि-सा है या यह कोई विशेष बुद्धि है? इसके उत्तर में बुद्धिवाद के दो भेद हो जाते हैं–एक–वह विचार, जिसके अनुसार नैतिक बुद्धि साधारण बुद्धि है, दूसरा–वह, जिसके अनुसार नैतिक बुद्धि व्यावहारिक बुद्धि है। पहले मत को तर्कवाद कहा जाता है। इसके समर्थक क्लार्क, कडवर्थ आदि हैं। दूसरा मत काण्ट का है, जिसे कठोरतावाद भी कहते हैं।[20]

काण्ट का बुद्धिवाद

काण्ट ने किसी कर्म का नैतिक या गुण या मूल्य उस कर्म में ही अन्तर्भूत बताया है। कर्म के परिणाम पर उसका मूल्य निर्भर नहीं रहता। यही विचार अन्तः अनुभूतिवाद की आधारशिला है। नैतिक नियमों का ज्ञान व्यक्ति को व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) के द्वारा होता है। मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि उसकी उस विवेक शक्ति से, जिससे वह अनुमान या गणित में काम लेता है, भिन्न है। मनुष्य में दो तत्त्व हैं, विवेक (Reason) और भावनाएँ (Sensibility) विवेक शक्ति के कारण ही मनुष्य अन्य जीवों से उच्चतर है। यदि उससे विवेक-शक्ति को हटा लें, नैतिकता का लोप हो जायेगा; क्योंकि उसके कर्म पशुवत् हो जायेंगे। चूँकि बुद्धि के आदेश ही नैतिक नियम हैं और बुद्धि सभी मंनुष्यों में सामान्य है, इसलिए नैतिक नियम भी सामान्य (Universal) होते हैं। वे अनुभव-निरपेक्ष हैं, अनुभवजन्य नहीं। नैतिक

---

19. वही, पृ0141
20. वही, पृ0143

नियमों को काण्ट ने निरपेक्ष आदेश कहा है। उनका पालन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु उन्हीं के लिए होना चाहिए। नैतिक नियमों का कोई बाह्य प्रयोजन नहीं होता। कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए (Duty of Duty's Sake) होना चाहिए, भावनाओं या इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं। यदि किसी बाह्य लक्ष्य की कामना से प्रेरित होकर कोई सङ्कल्प किया जाता है, तब वह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब हमारा सङ्कल्प उस वस्तु के अधीन हो जाता है। इसमें स्वतन्त्रता नहीं रहती। वैसा सङ्कल्प, जिसमें नैतिक नियमों का पालन ही उद्देश्य है, जो प्रवृत्तियों और कामनाओं से प्रेरित नहीं होता, शुभ सङ्कल्प है।

नैतिक निकष के लिए काण्ट का कहना है कि यदि आपने कोई कर्म किया तो यह देखें कि उसी परिस्थिति में सभी वैसा ही करें, ऐसी इच्छा आप कर सकते हैं या नहीं। यदि उस कर्म को सार्वजनिक नहीं बनाया जा सकता तो वह उचित कर्म नहीं।[21] वह कहता है कि सभी व्यक्तियों को साध्य समझो; साधन नहीं। वह पुनः कहता है कि ऐसा कर्म करो जैसे तुम 'साध्यों के साम्राज्य' (Kingdom of Ends) में हो अर्थात् ऐसे संसार में जहाँ प्रत्येक व्यक्ति नैतिक नियमों की सृष्टि करने वाला भी है और पालन करने वाला भी।[22]

सुखवाद—कतिपय विद्वानों का मत है कि सुख प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। इसलिए वैसे कर्म, जो सुख-प्राप्ति के साधन हैं, वे शुभ और वे जिनसे इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, अशुभ हैं। इस मत को सुखवाद (Hedonism) कहा जाता है।[23] इस मत के मिल, बेन्थम तथा एपीक्यूरीन्स आदि समर्थक हैं।

आत्मपूर्णवाद (Perfectionism)

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार बुद्धि और भावना दोनों ही मनुष्य के आवश्यक अङ्ग हैं। इसलिए विना बुद्धि के या विना भावना के मनुष्य पूर्ण नहीं हो सकता। बुद्धि और भावना में आवश्यक सम्बन्ध है। इसलिए दोनों का विकास अर्थात् सम्पूर्ण स्व (Self) का विकास ही शुभ है।[24] आत्मपूर्णता आत्मा-सिद्धि (Self-Realisation) के द्वारा प्राप्त होती है, अतः यही नैतिक आदर्श है।

---

21. वही, पृ0 148
22. वही, पृ0 149
23. वही, पृ0 156
24. वही, पृ0195

नैतिकता का लक्ष्य

श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक जीवन का लक्ष्य मानवता का कल्याण है। परन्तु यह कल्याण मात्र लौकिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक भी है जो कि कोई पारलौकिक उपलब्धि नहीं है। यह इसी पृथ्वी पर संभव है।[25] नैतिकता तो सामाजिक संरक्षण का साधन है। भारतीय आचारशास्त्रियों ने पारलौकिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है। कठोपनिषद् में भी श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठ माना गया है।[26]

नैतिक जीवन का लक्ष्य मनुष्य के समक्ष उच्च से उच्च ध्येय को उपस्थित करना है। नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं, प्रत्युत एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेष्टा करना है। यह लक्ष्य अपने आपको, अपने आचरण को विवेक युक्त बनाना है। वैदिक ऋषियों का लक्ष्य मिथ्या के बदले सत्य को, निर्ऋति के स्थान पर ऋत को एवं खण्डित तथा ससीम जीवन के बदले समग्रता तथा असीमता को लाकर मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से अमरता की अवस्था में पहुँचा देना था।

वैदिक नीति का आधारभूत तत्त्व

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, यहाँ तक कि परमाणु भी नहीं। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लेटस का भी मत है कि एक नदी में पुनः नहीं उतरा जा सकता, क्योंकि नदी के साथ ही व्यक्ति भी परिवर्तित हो चुका होगा। बुद्ध ने भी इस संसार को क्षणभङ्गुर कहकर किसी भी स्थायी तत्त्व को अस्वीकृत कर दिया। आधुनिक युग के दार्शनिक बर्गसाँ तथा व्हाइटहेड का कथन है कि यह संसार स्थिर न होकर एक प्रक्रिया मात्र है तथा यह प्रक्रिया ही सृष्टि का आधार है। वैज्ञानिकों का दावा है कि प्रत्येक सात वर्ष के पश्चात् मनुष्य के शरीर की प्रत्येक कोशिका नष्ट होकर नवीभूत हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य प्रत्येक सात वर्ष के पश्चात् भौतिक रूपेण पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। कुरआन में कहा गया है–"अल्लाह ने आकाशों तथा धरती को हक के साथ पैदा किया रात को दिन पर लपेटता है तथा दिन को रात पर लपेटता है और सूर्य एवं चन्द्रमा को काम में लगाया, हर-एक एक निश्चित समय तक चला जा रहा है।[27]

---

25. डॉ0 दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ0125
26. देखें, कठोपनिषद् 2, 1–2
27. अज़–ज़ुमर, 5

इस प्रकार यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि धर्म, दर्शन तथा विज्ञान इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं कि यहाँ स्थायित्व की गवेषणा मरुभूमि में जल की खोज है। प्रत्येक क्षण यहाँ परिवर्तन हो रहा है।

उपर्युक्त सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब परिवर्तन ही शाश्वत है तो फिर नैतिक नियमों में स्थिरता कैसे होगी ? जब व्यक्ति प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहा है तो फिर वह किन्हीं नियमों पर स्थिर कैसे रह सकता है ? जब समय ही स्थिर नहीं तो फिर उसमें निर्मित वस्तुएँ अथवा नियम कैसे अचल हो सकेंगे ? जब व्यक्ति के विचार भी प्रत्येक क्षण परिवर्तित होते रहते हैं तो कैसे किसी नीति की कल्पना की जा सकती है ? यदि ऐसा ही है तो फिर किसी नीति की आवश्यकता ही शेष नहीं रह जाती। क्योंकि जिसके अन्तस् में कोई स्थिरता का बिन्दु अथवा कोई आधार नहीं होगा, उसमें नित्य ही परिवर्तन वाली घटना होगी। प्रात: वह जिस सिद्धान्त के लिए अपने प्राणों की आहुति देता था, सन्ध्या में उसी सिद्धान्त को नष्ट करने के लिए भी प्राण अर्पित कर सकता है। इस प्रकार वह नदी की भाँति ही बह जायगा। परन्तु वास्तविकता मात्र इतनी ही हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि बुद्ध ने जहाँ क्षणभङ्गुरवाद का प्रतिपादन किया है एवं आत्मा को एक यौगिक एवं परिवर्तनशील तत्त्व माना है वहीं उन्होंने 'निब्बान' को शाश्वत भी बताया है। इसी प्रकार महावीर ने भी समय की परिधि में समस्त वस्तुओं को परिवर्तनशील माना है, परन्तु समय को शाश्वत अथवा अपरिवर्तनशील। कुरआन भी जहाँ 'भाव-दर्शन' की बात करता है वहीं यह भी स्वीकार करता है कि गतिशील रात्रि एवं दिवस के मध्य स्थिरता भी विद्यमान है।[28] विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि ऊर्जा नश्वर नहीं है। अत: स्पष्ट है कि इस परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसा भी है जो शाश्वत, अपरिवर्तनशील तथा स्थिर भी है। वेद में उस शाश्वत तत्त्व को ऋत कहा गया है, जिस पर वैदिक नीति आधारित है।

ऋत की परिभाषा एवं स्वरूप

सायणाचार्य ने इसका अर्थ उदक, सत्य, यज्ञ तथा आदित्य इत्यादि किया है।[29] कीथ इसकी व्युत्पत्ति अर् 'योग्य होना' अथवा एर् 'गतिशील होना' से मानते हैं।[30] मैकडॉनल के अनुसार प्रकृति में व्याप्त शाश्वत नियम ऋत है। यही शब्द नैतिक क्षेत्र में सत्य एवं यथार्थ के

---

28. कुरआन, अल-अनआम, 13
29. देखें सायणभाष्य ऋ05,67,4/5,44, 2/8, 7, 21 / 5, 804
30. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ0103 (अनु0 डॉ0 सूर्यकान्त)

रूप में व्यवस्था का निर्देश करता है तथा धार्मिक जगत् में यह यज्ञ अथवा यागादि पद्धतियों का वाचक बन गया है।[31] लुई रेनु के अनुसार ऋत शब्द का प्रयोग वैश्व विधान के लिए होता है जिस पर मनुष्य का शासन, नीति तथा सामाजिक व्यवहार निर्भर है। यही आगे चलकर धर्म कहलाया।[32] कीथ के अनुसार यह निषेध एवं यथार्थ कर्म के लिए विधान करता है। सत्य एवं ऋत में अन्तर करते हुए वे लिखते हैं कि 'सत्य का अर्थ कथन की यथार्थता, प्रतिज्ञा का सच्चाई के साथ निर्वाह, यह निष्ठा कि आदर्श असल बनकर रहेगा, तथा प्रस्तुत वस्तु-विधान आदर्श विधान है।[33] ऋत को अवेस्ता में 'अश' तथा लाओत्से की भाषा में 'ताओ' कहा जा सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार 'वैदिक ऋत जहाँ मनोवैज्ञानिक विचार है, वहाँ आध्यात्मिक विचार भी'।[34]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऋत एक शाश्वत नियम है। वैश्व स्तर पर वह प्रकृति का नियम है जो अव्यवस्था अथवा विप्लव के ऊपर सामञ्जस्य स्थापित करता है एवं सौन्दर्यमय रूप की संरचना करता है। यह सामाजिक दृष्टि से वह मौलिक नियम है जो अपने नियम तथा संतुलन द्वारा मनुष्य के जीवन एवं चरित्र पर नियन्त्रण रखता है तथा नैतिकता अथवा अच्छाई को उत्पन्न करता है। ऋत एक शाश्वत नियम तथा सीधा मार्ग है, जिस पर चल कर दिव्य-ज्योति प्राप्त की जा सकती है–

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः॥[35]

कुरआन की भाषा में यह **'सिरातल मुस्तकीम'** अर्थात् सीधा रास्ता है।[36]

सृष्टि के आरम्भ में कतिपय नियम बना दिये गए थे, उन्हीं पर आचार-शास्त्र भी आधारित है। नैतिकता के नियम मूलतः स्थायी हैं परन्तु अपने प्रकटीकरण में वे परिवर्तित भी हो सकते हैं। ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि इन शाश्वत नियमों का उल्लङ्घन राक्षस, मनुष्य, द्यावापृथिवी, समस्त, चेतन तथा पर्वतादि जड़ पदार्थ भी नहीं कर सकते–

---

31. वैदिक माइथोलॉजी, पृ018 (अनु0 डॉ0 सूर्यकान्त)
32. रिलीजन्स ऑफ एंशीएण्ट इण्डिया
33. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ0310 (अनु0 डॉ0 सूर्यकान्त)
34. ए0वी0कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ0310 (अनु0 डॉ0 सूर्यकान्त)
35. ऋ01.46.11
36. सूरः फातिहा

न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अद्रुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः॥[37]

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि ''कवियों ने सात मर्यादायें बनाई हैं, उनमें से यदि एक मर्यादा का भी व्यक्ति उल्लङ्घन करे तो भी वह पापी हो जायगा, क्योंकि मनुष्य का स्तम्भ सर्वोच्च गगन के मूल स्थान में है, जहाँ से मार्ग प्रस्फुटित होते हैं तथा मौलिक स्थिति में विद्यमान होते हैं''।[38] इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणी जिस पर पूर्णतः विश्वास कर सके एवं जिस पर नैतिकता स्थित हो सके वह सर्वोच्च गगन में है। वहीं से समस्त पथ निकलते हैं तथा वहीं धारक स्तम्भ है। अतः जो उस सर्वोच्च स्तम्भ पर आश्रित होगा वही उन सप्त मर्यादाओं[39] का पालन करने में समर्थ होगा। वरुण सूक्त[40] में भी **'उपरि बुध्न एषाम्'** कहकर संसार में व्याप्त प्रकाश के स्रोत को ऊपर स्थित बताया गया है।

प्रस्तुत विचार की पुष्टि में उस मन्त्र को प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ कहा गया है कि 'असत् तथा सत् का मूल स्थान परम व्योम है, दक्ष के जन्म में तथा अदिति के क्रोड में अग्नि ऋत से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व है। अपने जन्म से पूर्व वह वृषभ भी था तथा धेनु भी।''[41] फ्रायड के अनुसार 'काम' के कारण अनेक पाप उत्पन्न होते हैं। परन्तु उस अग्नि में पुरुष एवं स्त्री दोनों ही तत्त्व एक समान विद्यमान थे। अतः इस प्रकार की स्थिति में किसी दुराचार की संभावना नगण्य हो जाती है। अतः नैतिकता का अन्तिम आश्रय सर्वोच्च गगन में है, व्यक्ति में नहीं। यदि मनुष्य की नैतिकता उसी सर्वोच्च नीति पर आधारित है तो उसमें स्थिरता होगी अन्यथा उसकी नीति क्षण परिवर्तनशील होगी। यूँग का कथन है कि नैतिक तत्त्व ही केवल ऐसा है जिसमें संशोधन नहीं किया जा सकता, जबकि प्रत्येक स्थायी नैतिकता का संशोधन अपने आप में एक अनैतिकता है।[42] नैतिक तत्त्व के इसी स्थायित्व को स्पष्ट रूप से

---

37. ऋ 3.56.1
38. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोगात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।। ऋ010.5.6
39. स्तेयं गुरुतल्पारोहणं ब्रह्महत्यां सुरापानं दुष्कृतकर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यम्।।
40. ऋ01.24.7
41. असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।। ऋ010.5.7
42. सी0जी0यूंग, साइकलाजिकल रिफ्लेक्शन्स, पृ0194

ऋग्वेद में देखा जा सकता है जहाँ कहा गया है कि ''तीन तो द्युलोक हैं, इसमें से दो सूर्य के समीप हैं तथा एक यम के लोक में विराजमान है। देवता लोग रथ की धुरी की भाँति स्थिर रहते हैं, जो व्यक्ति जानता हो वह इस बात को बताये।''[43] यहाँ देवता को समायातीत तथा रथ की धुरी की भाँति स्थिर कहा गया है। देवता ऋत पर प्रतिष्ठित होते हैं। अतः देवताओं की स्थिरता निश्चित रूपेण ऋत के ही कारण है। क्योंकि वही उनका आधारभूत तत्त्व है। वह सबको गति देता है, परन्तु स्वयं स्थिर है, रथ की धुरी की भाँति।

प्लेटो ने 'वास्तविकता' का वास स्वर्ग में माना है एवं इस संसार को उसकी छाया। इसी भाँति वास्तविक नीति ऋत पर आधारित है, वह ऋत शाश्वत एवं उसका मूल पारलौकिक है। इस संसार में व्याप्त नैतिकता उसकी ही अभिव्यक्ति है। ऋत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि 'हे अश्विनीकुमारो! ऋत के द्वारा सवितृ देव शान्त किये जाते हैं, ऋत की ही सींग विस्तार से फैलती है। युद्ध करने वाले महायोद्धा को भी ऋत पराभूत करता है, उसी ऋत के कारण तुम दोनों हमारे प्रति जो सख्य भाव हैं उसे न त्यागो तथा अश्व की लगाम शिथिल करो।'[44] उक्त मन्त्र से प्रतीत होता है कि ऋत दो स्तरों पर कार्य करता है[45]–यान्त्रिक तथा वैयक्तिक। विश्व में जो व्यवस्था है अर्थात् सूर्य का उदयास्त, ऋतुओं का आवागमन, पृथिवी का परिक्रमण इत्यादि यान्त्रिक है। इन सब के पीछे ऋत ही कार्य कर रहा है। वही इनका नियन्ता है। वैयक्तिक स्तर पर भी ऋत कार्य करता है। उपासक को जो उपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, वह ऋत के ही द्वारा होती है। लघुतम जीव की प्रार्थना को भी परमेश्वर इसी के द्वारा सुनता है, क्योंकि उसने अपने लिए भी कतिपय नियम बना रखे हैं जिनके अनुसार वह कार्य करता है। अतः कहा जा सकता है कि ऋत के दो स्वरूप हैं-एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। देवताओं ने प्रथमतः इसे अपने भीतर अवतरित किया, तदुपरान्त इसके बाह्य रूप में वृद्धि की–

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥[46]

---

43. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥ ऋ01.35.6

44. ऋतेन देवः सविता शमायत ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे। ऋतं सासाह महि चित्पृतन्यतो मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्। ऋ08.86.5

45. ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा। ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जने जने॥ ऋ05.65.2

46. ऋ01.28.11

यदि ऋत इस संसार में परिव्याप्त नहीं होता तो कहीं भी नियमबद्धता नहीं होती तथा नैतिकता का कोई मूल्य भी नहीं रह जाता। मनुष्य ही नहीं देवी-देवता भी इसका पालन दृढ़ता से करते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसका सुन्दर उदाहरण देखा जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि 'दिन के प्रारम्भिक काल को जानती हुई अन्धकार से चमकती हुई उषा उत्पन्न हुई है। यह युवती प्रतिदिन नियत स्थान पर पहुँच जाती है तथा नियमों का उल्लङ्घन कभी नहीं करती।'[47] उषा यद्यपि अन्धकार के पश्चात् आती है तथापि वह देदीप्यमान है, क्योंकि वह ऋत के मार्ग का कभी उल्लङ्घन नहीं करती। वह अत्यधिक सुन्दरी है, परन्तु उसका सौन्दर्य स्वच्छन्दचारी न होकर नियमबद्ध है। स्वच्छन्द सौन्दर्य में उच्छृङ्खलता के कारण कुरूपता अथवा हीनता उत्पन्न हो जाती है। अत: सौन्दर्य को यथावत् रखने तथा उसमें निरन्तर वृद्धि के लिए ऋत के मार्ग का अनुसरण अनिवार्य है।

ऋत का अनुगमन कौन कर सकता है? इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'हे इन्द्र! तुम्हारा तेज स्वर्ग में भी विस्तृत रूपेण फैला है। वर्षा को अवरुद्ध करने वाले मेघ में जो उज्ज्वल जलसमूह है, उसे तुम सब दिशाओं में प्रेषित करते हो। तुम पालक, उत्तम इच्छा शक्ति वाले तथा मायाओं को दूर करने वाले हो, अत: तुम्हारा नाम ऋत पर आश्रित है।''[48] यहाँ इन्द्र को उत्तम इच्छा-शक्ति से सम्पन्न कहा गया है। अपनी इसी इच्छा-शक्ति के कारण वह ऋत पर प्रतिष्ठित है। मनोवैज्ञानिकों का भी विचार है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के पीछे कोई न कोई आन्तरिक आवश्यकता अथवा इच्छा होती है। अत: उसके प्रत्येक कार्य 'प्रेरक' के द्वारा होते हैं। प्रेरकों का कार्य मनुष्य को किसी व्यवहार के लिए क्रियाशील बना देना होता है।[49] अत: 'सुक्रतु' प्रेरक तत्त्व का कार्य करता है। आचार-शास्त्रियों ने भी नैतिकता का अधिष्ठान मनुष्य के सङ्कल्प में माना है। शुभ सङ्कल्प के द्वारा ही व्यक्ति नैतिक नियमों के प्रति आकृष्ट होता है। इसी कारण वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि 'हे उषे! ऋत की रश्मि को ग्रहण करते हुए कल्याणकारी इच्छा-शक्ति को हमारे भीतर धारण कराओ। हे उषः! आज सरलता से आह्वान करने योग्य तुम विशेष रूपेण प्रकाशित हो तथा मेरे भीतर तथा अन्य उदारचेता के भीतर

---

47. जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची। ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती।। ऋ01.123.9
48. श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः स्वर्विरोचमानः ककुभामचोदते। सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते।। ऋ05.44.2
49. डॉ0 रामकुमार राय, असामान्य मनोविज्ञान, पृ047-48

सम्पत्ति हो।''[50] ऋषि को ज्ञान है कि देवता ऋतगामी होते हैं, फलतः उनमें अन्य को भी इस मार्ग पर चलाने की शक्ति होती है। इसी कारण वह उनसे प्रार्थना करता है कि उसके जीवन में भी इस कल्याणकारी इच्छा-शक्ति का उदय हो। जब व्यक्ति में शुभ सङ्कल्प होगा तब वह ऋत के प्रति उन्मुख होगा तथा जब ऋत के प्रति वह जागरूक होगा तभी उसमें शुभ-सङ्कल्प का उदय होगा।

वैदिक नीति

ऋतमयी अदिति के पुत्र देवता ऋत के रक्षक एवं निर्ऋति के हन्ता हैं। देवत्व के कारण उनके स्थानविशेष निश्चित हैं तथापि अभिभावक के रूप में मनुष्यों का पालन पोषण करने वे धरती पर भी अवतरित होते हैं।[51] वे स्वामी बनकर मनुष्यों को दास बनाना नहीं चाहते, प्रत्युत दासता के स्तर से उठाकर देवत्व के शिखर पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को 'मानुष'[52] कहकर सम्बोधित किया गया है, जिससे प्रकट होता है कि मानवीय गुण देवगुणों से हीन नहीं है। मनुष्य अपनी वास्तविकता के स्तर पर पहुँच कर देवता से अभिन्न हो जाता है, जैसा कि ऋभुओं के चरित्र से स्पष्ट है। ऋग्वेद द्वारा निर्दिष्ट नैतिक कर्म ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा देवत्व तक आरोहरण किया जा सकता है। ऋषि का विचार है कि स्वर्ग को पृथिवी पर उतारा जा सकता है, केवल आवश्यकता है उतारने वाले की।

कोई भी धर्म तब तक अस्तित्व में नहीं आता जब तक उसका कोई प्रवर्तक नहीं होता तथा कोई भी नियम तब तक प्रचलित नहीं होता जब तक उसका कोई आदर्श रूप न प्रस्तुत किया जाए। वैदिक देवता किसी भी नैतिक नियम को मनुष्यों पर बलात् आरोपित नहीं करते। वे सर्वप्रथम स्वयं उन नियमों पर चलकर आदर्श प्रस्तुत करते हैं, तदुपरान्त मनुष्यों को प्रेरित करते हैं कि वे भी प्रणीत मार्ग पर चलें। वे मार्ग निम्नलिखित हैं–

१. दान–ऋग्वेद के प्रमुख देवता इन्द्र अपनी दानशीलता के कारण 'मघवन्' तथा 'दानौकस्' कहलाए।[53] उनकी दान शक्ति सहस्रों का दान करने वाली है। उनका दान अलौकिक

---

50. ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि। उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः।। ऋ01.123.13

51. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।। ऋ0 1.1.9

52. ऋ01.84.20 मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्। विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ।।

53. देखें, ऋ01.61.5

होता है अर्थात् वह ऐसी वस्तुओं को देते हैं जो कभी किसी को प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनकी सुमति अधिक कल्याणकारी तथा घृत की ओर चलने वाली है।[54] घृत पवित्रता का द्योतक है। अतः इन्द्र में शक्ति के साथ ही पवित्रता भी है। इस प्रकार इन्द्र ऐसे सदाचारी हैं जिनमें उदारता के साथ पवित्रता भी निहित है। इन्द्र लोभी तथा दुष्टों के धन को छीन कर कर्मशील उपासकों में वितरित कर देते हैं।[55] क्योंकि वास्तविक धन वही है जो दूसरों के उपभोग में आए–**'स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यः।'**[56]

देवता दर्पहीन चेतना से दान करते हैं; इस विचार को एक मन्त्र में इस प्रकार वर्णित किया गया है–'हे देवताओं में प्रथम मित्र-वरुण! तुम्हारे उपासक यज्ञ और गाय से निर्मित भोज्य-पदार्थ के द्वारा तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम ऋत से युक्त हो वैसे ही जैसे मन के प्रयोगों में होता है। तुम दोनों के लिए एकत्रित तथा संयत मन से मन्त्रों का उच्चारण करते हैं एवं तुम लोग दर्पहीन मन के द्वारा उनके जीवन को सम्पन्नता के साथ व्याप्त करते हो।'[57] यहाँ बताया जा रहा है कि उपासना के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। दान का भाव यदि अन्तस् से नहीं आता तो वह दान बलात् ही होगा तथा उस आरोपित नियम को स्वीकार करने वाला चित्त अशान्त। अशान्त चित्त से दिया गया दान दुःख उत्पन्न करता है। अतः दाता में दर्पहीनता आवश्यक है। कुरआन में भी कहा गया है कि 'याचक' अनाथ तथा बन्धकों को भोजन निःस्वार्थ भाव से कराना चाहिए; प्रतिकार की भावना से नहीं।[58] कहा भी गया है–**'स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः।**[59]

देव-भिषज् अश्विनीकुमारों के दान से सम्बन्धित ऋग्वेद में अनेक मन्त्र हैं। वे दान में धन, स्त्री, नेत्र, कर्ण, जङ्घा इत्यादि प्रदान करते हैं।''[60]

---

54. यस्मै धायुरदधा मर्त्यायाभक्तं चिद्भजते गेह्यं सः। भद्रा त इन्द्र सुमतिर्घृताची सहस्रदाना पुरुहूत रातिः।। ऋ03.30.7
55. ऋ01.103.6 तथा 8.92.9
56. सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम्, 11/52
57. युवां यज्ञैः प्रथमा गोभिरञ्जत ऋतावाना मनसो न प्रयुक्तिषु। भरन्ति वां मन्मना संयता गिरोऽदृप्यता मनसा रेवदाशाथे।। ऋ01.151.8
58. अद–दहर–8–9
59. सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम्, 17/9
60. देखें ऋ01.116

देवता किस प्रकार का दान करते हैं यह निम्नलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-''वे दोनों देवता हमको पार्थिव तथा दिव्य दोनों प्रकार का महान् धन प्रदान करने वाले हैं। हे मित्रावरुण! तुम दोनों अधिक प्रशंसित बल वाले हो एवं देवताओं में प्रसिद्ध हो।''[61]

देवता मनुष्यों को पार्थिव तथा दैविक अथवा आध्यात्मिक सम्पत्ति प्रदान करते हैं। देवता चाहते हैं कि मनुष्य संसार से विमुख न हो तथा वह पारलौकिक जीवन की चिन्ता भी करे। प्रत्येक देश की मुद्रा भिन्न होती है। अतः संसार का धन परलोक में मान्य नहीं हो सकता। इसलिए देवता उस धन को भी प्रदान करते हैं जो उच्च-कोटि का तथा स्थायी स्वरूप वाला है एवं जो देशकाल के परे भी अपना महत्त्व बनाये रखता है। परन्तु उनका यह दान केवल उन्हें ही प्राप्त होता है जो पाप तथा द्रोह से रिक्त होते हैं।[62]

एक मन्त्र में ऋषि की कल्पना अथवा इच्छा इस प्रकार मुखरित हुई है-'हे इन्द्र! यदि जितना तुम्हारे पास है उतने का ही मैं स्वामी बन जाऊँ तो हे दाता इन्द्र! मैं स्तुति करने वाले को (धन) प्रदान करना चाहूँगा, मैं पापी को नहीं दूँगा।''[63] इस मन्त्र में उसकी इच्छा है कि वह देवत्व को प्राप्त करे तत्पश्चात् दान करे। परन्तु उसका दान पापियों के लिये नहीं है। गीता में भी कहा गया है-'**देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः**'[64] ऋषि की नैतिकता इसमें चरम रूप में विद्यमान है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं-प्रथम तो यह कि जो भी सम्पन्न है उन्हें दान करना चाहिए तथा द्वितीय यह कि सम्पन्नता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, परन्तु वही सम्पन्नता जो दैव्य गुणों से युक्त हो एवं परिग्रह के लिये न हो। उर्दू के विख्यात शायर डॉ0 बशीर बद्र का एक शेर उक्त मन्त्र का उर्दू अनुवाद ही प्रतीत होता है-

मैं तमाम तारे उठा-उठा के ग़रीब लोगों में बाँट दूँ।
कभी एक रात वह आस्माँ का निज़ाम दें मेरे हाथ में।।

२. मधुर वचन-नीति का उद्देश्य दुःखों से रक्षा करना है। यदि कोई कर्कश एवं कठोर शब्दों का प्रयोग करता है तो वह सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टिकोण से विशेष अपराधी नहीं,

---

61. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य। महि वां क्षत्रं देवेषु।। ऋ05.68.3
62. त्वं नः सोम सुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि। क्षेत्रवित्तरो वि वो मदे द्रुहो नः पाह्यंहसो विवक्षसे।। ऋ010.25.8
63. यन्दिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय। स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय।। ऋ07.32.18
64. गीता, 17.20

परन्तु नैतिक दृष्टि से वह महान् अपराधी होगा, क्योंकि नीति में विचार से व्यवहार तक की सभी बातों पर ध्यान दिया जाता है। ऋग्वेद ऐसे लोगों को गर्हित समझता है।[65]

ऋषि कहता है कि 'हे अग्नि! जो हमें नहीं देता है, जिसका जीवन पापमय है, जो हमसे शत्रुता करता है तथा जो अपनी शक्तिद्वय के द्वारा हमें मारने की चेष्टा करता है, उसके लिये मन्त्र और भी शक्तिशाली बने, उसके दुर्वचन के द्वारा उसका शरीर स्वयमेव नष्ट हो जाए।''[66] प्रस्तुत मन्त्र में शक्ति द्वय की ओर सङ्केत है जो हैं–मानसिक तथा वाचिक। ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि जो दुर्बुद्धि होते हैं वे ही दुर्वचनों का प्रयोग करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन पापमय होता है। इनके मानसिक पाप ही वाचिक पापों में परिणित हो जाते हैं। ऋषि की धारणा है कि जिनके विचारों में सौन्दर्य नहीं होता वे अपनी वाणी में भी सुन्दरता नहीं उत्पन्न कर सकते। इस प्रकार की कुत्सित वृत्तियों वाले का जीवन अपने अपराधी जीवन के द्वारा विस्थापित होकर स्वयमेव नष्ट हो जाता है। स्वतः नष्ट होने से तात्पर्य मनोदैहिक रोगों द्वारा नष्ट होने से हैं।

वैदिक नीति शारीरिक दुःखों के साथ ही मानसिक दुःखों का भी ध्यान रखती है। शारीरिक कष्ट तो दूर हो जाते हैं, परन्तु आन्तरिक आघात समस्त व्यक्तित्व को आलोडित-विलोडित सा कर देता है तथा अन्तस् का यह व्रण बाह्याचरण को भी परिवर्तित कर सकता है। अतः ऐसे परुष (कठोर) वाणी बोलने वालों को इन्द्र दण्डित करके मधुर वचन के महत्त्व को सूचित करते हैं।[67]

एक मन्त्र में ऋषि कहता है–'हे अग्नि! अपने घातक शस्त्रों के द्वारा उन्हें दूर भगाओ जो अनुचित बातें बोलने वाले, दुर्बुद्धि (तथा) क्षति पहुँचाने वाले हैं। वे चाहे निकट हों अथवा दूर। जो तुम्हारी स्तुति करता है उस स्तोता के मार्ग को सरल बनाओ, तुम्हारी मित्रता में आकर हम किसी प्रकार नष्ट न हों।'[68] ऋग्वेद में मानसिक तथा वाचिक नैतिकता पर भी बल दिया

---

65. ऋ07.94.7
66. यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन। मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्मा अनु मृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः।। ऋ01.147.4
67. एषः स्तोम इन्द्र तुभ्यमस्मे एतेन गातुं हरिवो विदो नः। आ नो ववृत्याः सुविताय देव विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।। ऋ01.173.13
68. वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः। अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।। ऋ01.94.9

गया है। अतः जो मानसिक अथवा वाचिक पाप करता है उसे देवता दण्डित करते हैं। देवत्व को प्राप्त करने के लिए समस्त अनैतिकताओं का विवर्जन आवश्यक है। कहा भी गया है कि सभी जीव मीठे वचनों से सन्तुष्ट होते हैं, इसलिए प्रिय वचन में क्या दरिद्रता है—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।[69]

३. संरक्षा—वैदिक देवता भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संरक्षा प्रदान करते हैं। वे मानवीय जीवन में सत्य तथा सौन्दर्य की छटा देखना चाहते हैं। जीवन का सौन्दर्य समस्त वस्तुओं के समन्वय से होता है। वास्तविक सौन्दर्य वही है जो ऋत से सञ्चालित हो। जिस सौन्दर्य में सत्य का समावेश नहीं वह निस्सार है। अतः वास्तविक सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिए ऋत की संरक्षा आवश्यक है।[70]

मनुष्य का दुर्भाग्य है कि वह किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट हो सकता है, अतः विनिपात से सुरक्षित रखने का कार्य देवता ही कर सकते हैं, यह बात इस मन्त्र से स्पष्ट होती—

यो अस्मै हव्यैघृतवद्भिरविधत्प्र तं प्राचा नयति ब्रह्मणस्पतिः।
उरुष्यतीमंहसो रक्षती रिषो3होश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः।।[71]

अर्थात् जो इस ब्रह्मणस्पति के लिए घृतयुक्त हविष् से उपासना करता है उसे वे ऋजु मार्ग से ले जाते हैं, उसकी वे पाप से रक्षा करते हैं, द्वेष से भी रक्षा करते हैं तथा दरिद्रता से भी वे अद्भुत ब्रह्मणस्पति उबारते हैं।' इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि देवोपासना के द्वारा व्यक्ति पाप, द्वेष तथा दरिद्रता के पथ से हटकर ऋजु मार्ग पर चलने में समर्थ होता है।

ऋषि अन्यत्र कहता है कि-'हे देवताओं! सूर्य के उदित होने पर हमें पाप तथा विभाजन से निकालो। मित्र, वरुण मुझे न मारें। अदिति, सिन्धु तथा द्यावापृथिवी हमारा वध न करें।'[72] पाप एक खण्डन की स्थिति है, अतः सूर्य इस विषम स्थिति से मनुष्यों को निकालते हैं। इस मन्त्र में पाप, खण्डन तथा मृत्यु से एक साथ सुरक्षित रहने की कामना यह प्रकट करती

---

69. चाणक्य, नीतिदर्पण, 16/17
70. त्वं नो अस्या इन्द्र दुर्हणायाः पाहि वज्रिवो दुरितादभीके। प्र नो वाजान्रथ्यो३ अश्वबुध्यानिषे यन्धि श्रवसे सूनृतायै।। ऋ01.121.14
71. ऋ02.26.4
72. अद्या देवा उदिता उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।। ऋ01.115.6

है कि ये तीनों तत्त्व वस्तुतः एक ही हैं। मृत्यु भौतिक रूप को, विभाजन मानसिक क्षेत्र को तथा पाप आध्यात्मिक स्वरूप को नष्ट करने वाले तत्त्व हैं। अतः देवताओं का इन घातक तत्त्वों से मनुष्यों को सुरक्षित रखना विलक्षण कार्य है।

दैवी-शक्तियाँ मित्रवत् हैं, यह निम्नलिखित मन्त्र से प्रकट होता है–'हे बृहस्पति! तुम उस व्यक्ति के लिए अन्न युक्त मार्ग जैसे हो जो ठीक प्रकार से चलता है तथा उस शक्तिशाली व्यक्ति के लिए मित्रवत् हो जो सन्तुष्ट रहता है। जो पाप रहित व्यक्ति हमारे चारों ओर विद्यमान हैं, वे अज्ञान से प्रच्छन्न हैं, वे उस अज्ञान से रहित हो जाएँ।''[73] इस मन्त्र में बृहस्पति को उसका मित्र बताया गया है जो सन्तुष्ट रहता है अर्थात् जिसकी उत्कट इच्छाएँ नहीं हैं। कुरआन में भी कहा गया है कि ''अल्लाह सन्तोष करने वालों के साथ है।''[74]

४. साम्य दृष्टि–आधुनिक युग में जाति-प्रथा एक गम्भीर समस्या के रूप में विद्यमान है। इसे समाज का ''कैंसर'' कहा जाता है। इसका आरम्भ कब और कैसे हुआ इस विषय में मतभेद है। सेनार्ट[75] का विचार है कि जब आर्य भारतवर्ष में आए तो उनसे एक सङ्कर नस्ल बनी, जो क्रमशः जाति-प्रथा के रूप में विकसित हुई। अबे दुबोइस[76] के मत में जाति-प्रथा के लिए स्मृतिकार अथवा ब्राह्मण उत्तरदायी हैं। उनका विचार है कि यह ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त एक चतुर युक्ति थी जिसका प्रयोजन था उनके वर्चस्व की सुरक्षा। डाहलमन का कहना है कि भारतीय समाज में आरम्भ से तीन वर्ग-पुरोहित, राजन्य तथा बुर्जुवा थे।[77] ये क्रमशः धार्मिक, राजनैतिक तथा आर्थिक शाखाओं का प्रतिनिधत्व करते हैं। तदुपरान्त ये वर्ग अनेक भागों तथा उपभागों में विभाजित हो गए। इनमें से कुछ रक्त सम्बन्ध के आधार पर निर्मित हुए तथा अन्य व्यावसायिक आधार पर। उनका यह भी विचार है कि जाति चारों वर्णों से नहीं निर्मित हुई प्रत्युत अगणित निगमों तथा रक्त-सम्बन्धों से सम्पृक्त समुदायों से निर्मित हुई है जिनमें ये चारों वर्ण विभाजित हो गए थे।[78]

---

73. सुप्रैतुः सूयवसो न पन्था दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः। अनर्वाणो अभि ये चक्षते नोपीवृता अपोर्णुवन्तो अस्थुः।। ऋ 1.190.6
74. कुरआन 2/153
75. जे0एच0हटन, भारत में जाति प्रथा, पृ0162
76. वही, पृ0160
77. वही, पृ0161
78. पुरुत्राहि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनुप्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे।। ऋ08.43.21

ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। ऋषि की उक्ति है कि 'हे अग्नि! तुम सबको समान देखने वाले सर्वव्यापी तथा स्वामी हो। युद्ध के अवसर पर हम तुम्हें आहूत करते हैं।'' यहाँ स्पष्टतया कहा जा रहा है कि देवता की दृष्टि में सभी समान हैं। देवता भेदभाव नहीं करते।

एक अन्य मन्त्र में ब्रह्मणस्पति के विषय में कहा गया है कि वे निर्बल तथा बलवान् दोनों ही की रक्षा करते हैं तथा वे समस्त जीवों के स्वामी हैं अर्थात् वे किसी व्यक्ति अथवा जाति विशेष के स्वामी न होकर प्राणीमात्र के स्वामी हैं–

योऽवरे वृजने विश्वथा विभुर्महामु रण्वः शवसा ववक्षिथ।

स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पतिः।।[79]

वैदिक देवता मनुष्यों से भ्रातृत्व भाव रखते हैं। अतः उनके समीप स्व-पर की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं।[80]

ऋग्वेद उषा के विषय में कहता है कि 'इस भाँति चमकती हुई यह महान् उषा देवताओं तथा मनुष्यों में अन्तर रखे विना सुखकारी-दर्शन के हेतु सभी को प्राप्त होती है। पापरहित शरीर से बढ़ती हुई भास्वर उषा छोटे अथवा बड़े किसी से भी नहीं हटती।[81] यहाँ उषा की विशालतम दृष्टि का आभास होता है। उसकी दृष्टि में देवता तथा मनुष्य समान हैं। वह भेद-भाव नहीं करती। यदि देवता एवं मनुष्य हैं तो फिर मनुष्य तथा मनुष्य परस्पर असमान कैसे हुए ?

परवर्ती साहित्य ने ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में वर्णित उस मन्त्र को जाति-प्रथा का आधार माना है, जिसमें कहा गया है कि विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जङ्घाएँ वैश्य तथा चरण शूद्र हुए।[82] परन्तु यह विभाजन कर्म की दृष्टि से किया गया है। अध्ययन का कार्य करने वाले ब्राह्मण, रक्षा करने वाला क्षत्रिय, आर्थिक ढाँचा वहन करने वाला वैश्य तथा

---

79. ऋ02.24.11

80. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः।। ऋ01.75.4

81. एवेदेषा पुरुतमा दृशे कं नाजामिं न परि वृणक्ति जामिम्। अरेपसा तन्व ३ शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती।। ऋ01.124.6

82. ऋ010.90.12 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

सेवा इत्यादि का कार्य करने वाला शूद्र हुआ। यदि उपर्युक्त विश्लेषण को अस्वीकार भी कर दिया जाए तो यह कैसे कहा जा सकता है कि एक ही शरीर का अमुक अङ्ग महत्त्वपूर्ण है तथा अमुक घृणित। यदि 'पुरुष' एक ही था तो उसका मुख भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसके चरण। अत: इस दृष्टि से भी समस्त मनुष्य समान हैं।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि ऋग्वेद में भेद-भाव के प्रमाण नगण्य हैं। देवताओं के निकट न कोई वर्ण-भेद है न ही कोई जाति-भेद परन्तु एक भेद अवश्य है–नैतिक तथा अनैतिक अथवा पापी एवं पुण्यशील का। इस सन्दर्भ में सोम का कथन महत्त्वपूर्ण है कि "जहाँ देवगण हैं, उसी दिशा में हम गमन करते हैं। हे सोम तुम शीघ्र ही देवताओं के शरीरों में रमण करने के लिए आओ।"[83] इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जहाँ देवत्व होता है वहीं सोम जाते हैं, अर्थात् वे राक्षसत्व के समीप नहीं जाते। इस मन्त्र के आधार पर दो वर्ग बनते हैं-एक देवताओं का तथा दूसरा राक्षसों का। इसे ही प्रकारान्तर से नैतिक अथवा अनैतिकता का वर्ग-विभाजन कहा जा सकता है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि आर्य बहिर्देश से आए थे और उन्होंने भारत के मूल निवासियों को अनार्य कहकर उनसे घृणा के आधार पर जाति अथवा वर्ण भेद अस्तित्व में आए, पूर्णत: असङ्गत है। इसके उत्तर में ऋषि स्वयं कहता है कि 'हे धनी इन्द्र! जो हमारा वध करना एवं हमें वशीभूत करना चाहता है उसके वज्र को तुम छिपा दो, वह चाहे दास हो अथवा आर्य, यदि वह जीतना चाहता है तो उससे घातक शस्त्र को पृथक् कर दो।"[84] इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य तथा अनार्य की भेद-भावना ऋग्वेद में नहीं थी। यदि आर्य पाप करता है तो वह भी देवताओं द्वारा दण्डित होता है देवता केवल उत्तम तथा अधम कर्मों के आधार पर मनुष्यों को पुरस्कृत अथवा दण्डित करते हैं।[85]

५. विश्व-बन्धुत्व–जिस देश की पवित्र भूमि पर कभी **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** जैसे पवित्र एवं उत्ताल विचार उद्भूत हुए हों, वहीं आज घृण के कैक्टस भी अङ्कुरित हो रहे हैं। धर्म, जाति, वर्ण, भाषा तथा प्रदेश के नाम पर मानवता को खंडित करके देश की एकता को आलोडित-विलोडित किया जा रहा है। जिन्होंने स्वयं कभी धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया

---

83. आशुरर्षबृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना। यत्र देवा इति ब्रुवन्।। ऋ09.39.1

84. ऋ010.102.3 अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासत:। दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्।।

85. प्रभङ्गं दुर्मतीनामिन्द्र...... ऋ08.46.19

वे ही राजनीति की अग्नि में धर्म की आहुति दे रहे हैं। तथा उसमें बलि चढ़ रहा है अबोध मनुष्य। अत: ऐसी विषम परिस्थिति में वेदों में वर्णित सहिष्णुता, सौहार्द्र, समता तथा एकता के सिद्धान्त ही उपादेय हो सकते हैं।

वाजसनेयि-संहिता में कहा गया है कि जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, वह घृणा नहीं करता।[86] घृणा परत्व की भावना पर आधारित होती है। अत: जहाँ स्व तथा पर की भावना कार्यरत होती है वहाँ प्रेम के अङ्कुर प्रस्फुटित नहीं होते हैं। अत: ऋषि की मान्यता है कि 'स्व' तथा 'पर' की भित्ति को धराशायी करके ही आत्मिक सम्बन्धों को स्थापित किया जा सकता है। ऐसे ही सम्बन्ध मनुष्य को एकता के सूत्र में बाँधने में सक्षम होते हैं।

आज कुछ सङ्कीर्ण विचारधारा के समर्थक धर्म व भाषा के नाम पर मानव-जाति को विभाजित करने की चेष्टा कर रहे हैं। इसे उनके वैचारिक स्तर की हीनता का दुष्परिणाम कहा जा सकता है, क्योंकि अथर्ववेद ने आज से सहस्रों वर्षों पूर्व कहा था कि यह पृथ्वी स्थानानुसार विभिन्न धर्म वाले तथा विभिन्न भाषा बोलने वाले मनुष्यों को उसी प्रकार धारण करती है, जैसे एक ही दिन में कनिष्ठ-ज्येष्ठ विभिन्न स्त्री-पुरुष निवास करते हों।[87] विश्व-बन्धुत्व का सुस्पष्ट शब्दों में वर्णन करने वाला उक्त मन्त्र आधुनिक समय में प्रासङ्गिक एवं अन्य देशों के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है।

६. **विनय**-सरलता व्यक्ति को अत्यधिक संवेदनशील बना देती है। विनय के द्वारा अर्जित सरलता अहङ्कार को भी क्षीण कर देती है। देवताओं में भी विनयशीलता विद्यमान है। अत: ऋषि कहता है कि "नमस्कार शक्ति सम्पन्न है, नमस्कार की मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार ने ही द्युलोक तथा पृथिवी को धारण कर रखा है। अत: देवताओं को मैं प्रणाम करता हूँ नमस्कार ही सबका शासक है। जो कुछ हमने पाप किया है उसे नमस्कार के द्वारा दूर करता हूँ।"[88] उक्त मन्त्र में नमस्कार को एक देवता के रूप में कल्पित किया गया है। यहाँ नमस्कार का तात्पर्य विनय से हैं। देवता भी विनीत हैं, अत: विनय देवत्व की श्रेणी का हुआ। इस दृष्टि

---

86. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते।। वा0सं040/6
87. जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्व012-1-45
88. नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे। ऋ06.51.8

से उसे कहना असङ्गत नहीं है। ऋषि विनय चाहता है क्योंकि विनीत होने पर अर्थात् अहङ्कार-मुक्त होने पर कर्म लिप्त नहीं होते-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।[89]

विनय अर्थात् क्षमा द्वारा पापों को भी प्रक्षालित किया जा सकता है। कुरआन भी कहता है कि 'क्षमा याचना पर अल्लाह क्षमा कर देता है।'[90]

७. अतिथि सेवा–अतिथि सेवा की प्रशंसा समस्त धर्म-ग्रन्थों में प्राप्त होती है। ऋग्वेद भी इसका अपवाद नहीं है। वह आदिम ग्रन्थ अवश्य है, परन्तु उसमें सभ्यता एवं सदाशयता की न्यूनता नहीं है। उसके सामाजिक अथवा नैतिक मानदण्ड किसी भी नीतिशास्त्र में वर्णित मानदण्डों से बढ़कर हैं।

अतिथि-सत्कार को प्रोत्साहित करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि–'हे इन्द्र! तुम्हारे इस यज्ञ में तुम्हारे प्रीति भाजन होते हुए हम सुखी रहें। तुम अतिथि की सेवा करने वाले सुदास को सुखी करो, तथा राजा तुर्वश एवं याद्व को अपने अधीन करो।''[91] इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि देवता के निकट धन अथवा शक्ति प्रीति की पात्र नहीं है प्रत्युत वे भाव देखते हैं। साधारण सुदास केवल इसीलिए इन्द्र की प्रीति प्राप्त करता है कि उसने अतिथि सेवा की थी, जबकि तुर्वश तथा याद्व राजा होते हुए भी प्रीति नहीं प्राप्त कर सके।

८. निन्दा, कृपणता तथा अहङ्कार–वैदिक काल में निन्दा को हेय समझा जाता था। तत्कालीन समाज प्रेम एवं बन्धुत्व की भावना पर आधारित था। जिसमें निन्दा जैसी दुर्वृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। ऋग्वेद निन्दा तथा अन्धकार को एक ही श्रेणी का मानता है।[92] अहङ्कार को जब आघात पहुँचता है तो उससे निन्दा का जन्म होता है। जो व्यक्ति स्वयं

---

89. गीता 18.17
90. कुरआन, अल–बकरा, 160
91. प्रियास इत्ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः। नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्।। ऋ07.19.8
92. इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः। युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च।। ऋ06.72.1

जीवन-पथ पर सही ढंग से नहीं चल पाता वह उन पर पत्थर फेंकता है जो उस पर दौड़ते हैं। यह चित्त की रुग्ण दशा है।[93]

अहङ्कार अपने आप में अज्ञान स्वरूप है। अतः इससे उत्पन्न निन्दा अज्ञान का विकृत रूप है। अज्ञान को अन्धकार से प्रतीकायित किया जाता है। अतः ऋषि का विचार तर्कसम्मत है कि निन्दा एवं अन्धकार सदृश हैं। देवता ज्योतिस्वरूप होने के कारण अन्धकार को नष्ट करते हैं। यह अहङ्कार यदि निन्दा के रूप में भी हो तब वे उसे समाप्त कर देते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार कृपणता भी निन्दा ही के समान एक अवगुण है। निन्दक की भाँति कृपण भी व्यक्ति और समाज का अहित करता है। निन्दा वाचिक पाप है तथा कृपणता मानसिक। देवता इन दोनों पापों का निराकरण करते हैं।[94] एक मन्त्र में कहा गया है–"जो दाता है वही धन का वहन कर सकता है; कृपण नहीं। जो ज्ञानी है वही तर्क-वितर्क कर सकता है, अज्ञानी नहीं। जो सोम रस निकाल कर नहीं देता उसे इन्द्र समाप्त कर देते हैं।[95] यहाँ सोम-रस का दान उदारता का प्रतीक माना जा सकता है। अतः जो उदार नहीं अर्थात् कृपण है उसको भौतिक सम्पत्ति के साथ ही आध्यात्मिक सम्पत्ति से भी वंचित होना पड़ता है। यह मन्त्र अपरिग्रह का आदेश देता है। इसी वैदिक विचार को बुद्ध तथा मार्क्स ने विस्तृत रूप दिया है। प्रेम तथा त्याग में यौगपद्य है। अहङ्कारी त्याग नहीं कर सकता क्योंकि उसके निकट दान का अर्थ है सम्पत्ति का कम होना। ऐसे लोभी व्यक्ति का जीवन सङ्कुचित होकर देवताओं के द्वारा समाप्त कर दिया जाता है।

एक मन्त्र से प्रतीत होता है कि देवताओं के समीप कृपणता तथा दुष्टता अभिन्न है। वहाँ कहा गया है कि "जल को प्रेरित करने वाले ये सोम इन्द्र को वृद्धि प्रदान करते हुए तथा सबको आर्य बनाते हुए गमन करते हैं। ये कृपणता को दूर करते हैं।[96] ऋषि का तात्पर्य है कि अनार्य में कृपणता एवं दुष्टता होती है जबकि आर्य सरल चित्त होता है। अतः आर्य होना चरित्र की नैतिकता को प्रकट करता है तथा अनार्य अनैतिकता को। देवताओं का देवत्व इसी बात में

---

93. चाणक्य, नीतिदर्पण, 13/10 दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना। अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वत।।

94. स मन्युं मर्त्यानामदब्धो नि चिकीषते। पुरा निदश्चिकीषते।। ऋ08.67.6

95. रक्षा सु नो अररुषः स्वनात्समस्य कस्य चित्। निदो यत्र मुमुच्महे।। ऋ09.29.5

96. असुन्वन्तं समं दूणाशं यो न ते मयः। अस्मभ्यमस्य वेदनं दद्धि सूरिश्चिदोहते।। ऋ01.176.4

निहित है कि वे अनैतिकता को केवल समाप्त नहीं करते, अपितु नैतिकता की वृद्धि भी करते हैं।

जब मनुष्य में अहङ्कार प्रबल हो जाता है तो उसकी विवेकशक्ति क्षीण हो जाती है। नीति-अनीति के मध्य वह अन्तर नहीं कर पाता। इस प्रकार के लोगों के विषय में ऋषि कहता है-'हे बृहस्पति! जो अहङ्कारी हमारे समीप आकर हम अपराधहीनों का वध करना चाहे उसे तुम उत्तम मार्ग से हटाकर यज्ञ के निमित्त हमारा मार्ग सुगम करो।'[97] वैदिक ऋषि निष्पाप है। अत: इस प्रकार के व्यक्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाला पापी हुआ। देवता इस प्रकार के पापियों को समाप्त करके यज्ञ के लिए सुगमता प्रदान करते हैं।

९. ब्याज–वैदिक काल में व्यापार आरम्भ हो चुका था। व्यापारी अनेक मार्गों से धन अर्जित करते थे। उनमें एक मार्ग 'ब्याज' का भी था। सामान्यतया यह धारणा है कि ब्याज का आरम्भ आर्य धर्म से हुआ है, परन्तु उक्त धारणा को खण्डित करने वाला मन्त्र द्रष्टव्य है–हे इन्द्र! कीकट देश में लोग क्या करते हैं ? वे न तो गायों से दूध दुहते हैं और न ही उसे गरम करते हैं। जो ब्याज पर रुपये देते हैं उनकी सम्पत्ति हमें प्रदान कराओ। वे नीचे लटकती हुई शाखा वाले हैं अथवा उन्हें तुम शाखा की भाँति नीचे झुका दो जिससे हम फल की भाँति उनकी सम्पत्ति ले सकें।''[98] सूद पर रुपया देने वाले को इन्द्र छिन्न-भिन्न कर देते हैं, क्योंकि वे नीचता का कर्म करते हैं।[99] सूद एक प्रकार का सामाजिक शोषण है। अत: देवता समाज में व्याप्त असामाजिक प्रचलनों को समाप्त करते हैं। कुरआन में भी इसे हराम कहा गया है।[100]

१०. चोरी–चोरी के द्वारा व्यक्ति अन्य लोगों की वस्तु को अधिकृत करना चाहता है। यह ऐसा अनैतिक साधन है जिससे संसार में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अत: इन समस्याओं को समाहित करने के लिए ऋषि प्रार्थना करता है–''हे अग्नि! तुम यज्ञ विमुख व्यक्ति, निरर्थक बोलने वाले, कृपण तथा श्रद्धारहित, जो किसी की वृद्धि नहीं चाहते तथा

---

97. इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुर: कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्ण:।। ऋ09.63.5
98. उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा: मर्त: सानुको वृक:। बृहस्पते अप तं वर्तया पथ: सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि।। ऋ02.23.7
99. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया न:।। ऋ03.53.14
100. कुरआन, 2/275

यज्ञरहित हैं--इन समस्त दस्युओं को तुम समाप्त करो। अग्नि इनके पूर्व है तथा ये पश्चात्।''[101] प्रस्तुत मन्त्र में अयाज्ञिक, कृपण, कटुवक्ता तथा ईर्ष्यालु व्यक्तियों को दस्यु कहा गया है। वस्तुत: यज्ञ देवताओं एवं मनुष्यों के मध्य पवित्र वस्तुओं के आदान-प्रदान का नाम है, जो इससे विमुख होता है वह देवत्व तक उनके अधिकारों को न पहुँचा कर स्वयं भोगता है, अत: वह दस्यु के समान ही हुआ। इसी प्रकार कृपण भी दान आदि के द्वारा मनुष्यों की सहायता करने से निराह हो जाता है। वह केवल धन का सञ्चय करता है, अत: ऐसा व्यक्ति भी दस्यु है जो उस धन को अवरुद्ध करता है, जिसका वास्तविक अधिकारी अन्य कोई है। ईर्ष्यालु भी दस्यु तुल्य है क्योंकि वह उन वस्तुओं की आकाङ्क्षा करता है जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। अत: ऋषि देव-शक्तियों से प्रार्थना करता है कि वे चोरों एवं दस्युओं को दण्डित करें।[102] यह दण्ड इस बात का द्योतक है कि चोरी अनैतिक तथा दण्डनीय है।

११. मिथ्यारोप–ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि 'जो व्यक्ति हमारे प्रति किसी प्रकार का अपराध लगाता है अथवा पाप लगाता है, उसके प्रति पाप स्वत: पहुँच जाए, क्योंकि वह पाप के विषय में ही बोलता रहता है। हे अग्नि! तुम ज्ञानी हो अत: इस आक्षेप को तुम मारो तथा दोनों पापों से जो हमें मारना चाहता है उसे भी तुम समाप्त करो।''[103] इस मन्त्र से स्पष्ट है कि मिथ्यारोप पाप है। यह मिथ्यारोप अपराध अथवा पाप का हो सकता है। एक भौतिक जीवन को नष्ट करने वाला है तथा दूसरा आध्यात्मिक जीवन को। इस प्रकार दोनों ही घातक हैं।

१२. दोहरा व्यवहार–ऋग्वेद में कहा गया है–'हे पूषन्! दोहरा व्यवहार करने वाला जो पापमयी बातें करता है, उस संताप कारक व्यक्ति को तुम पैर के नीचे कुचल दो।[104] प्रस्तुत मन्त्र में आचार एवं विचार में अन्तर रखकर व्यवहार करने वाले के विषय में कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति देवताओं की घृणा का पात्र होता है। फलत: उसका पतन निश्चित होता है।

---

101. न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाच: पणीरंश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्र प्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्।। ऋ07.6.3

102. स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुन:सर। स्तोतृनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप।। ऋ07.55.3

103. यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात। जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन।। ऋ05.3.7

104. त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम्।। ऋ01.42.4

कुरआन में भी कहा गया है–"कथनी और करनी में अन्तर रखने वाले से अल्लाह प्रसन्न नहीं रहता।[105]

१३. द्वेष–ऋग्वेद में द्वेष तथा असूया प्राय: समतुल्य हैं, इनका जन्म मानसिक दुर्बलता के कारण होता है। जो आन्तरिक रूप से सशक्त हैं वे द्वेष के स्थान पर श्रम को महत्त्व देते हैं तथा स्वयं उस वस्तु को अर्जित करने की चेष्टा करते हैं जो द्वेष का कारण बन सकती है। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे इन्द्र-सोम! जो पाप की बात कहने वाला है तथा जो पाप की ओर उन्मुख है वह तप्यमान होकर उसी भाँति तड़पे जैसे अग्नि में डाला हुआ चरु। जो ब्रह्मद्वेषी है, कच्चा माँस खाने वाला है, भयङ्कर दृष्टि रखने वाला है तथा प्रत्येक में सन्देह करने वाला है उसके लिये तुम दोनों द्वेष धारण करो तथा उसे अपनी सुरक्षा न दो।''[106]

यहाँ वाचिक तथा कायिक रूप से पाप करने वालों को छटपटाने की बात कही गयी है। कच्चा माँस खाना तथा भयङ्कर दृष्टि रखना पशुता का द्योतक है। ऋषि के कहने का तात्पर्य है कि जो द्वेषी है वह पापी है किन्तु जो ब्रह्मद्वेषी है वह पापी के साथ ही पशु भी है। पाशविकता को समाप्त करना देवताओं का कर्तव्य है।

१४. कपट–ऋषि कपट को भी अनैतिक समझते हुए कहता है–"हे मरुतो! तुम्हारे शस्त्र शत्रुओं का नाश करने के हेतु स्थिर हों एवं शत्रुओं को बाँधने के लिये दृढ़ हों। तुम्हारा बल स्तुत्य हो। कपट करने वाले हम मनुष्यों के निकट बलशाली न हों।''[107] यहाँ कपटी को देवत्व के शत्रु के रूप में अनुमित किया गया है। कपटी अपने अनैतिक आचरण के द्वारा मनुष्यों को निराकृत करने की इच्छा करता है, अत: उसे शक्तिहीन करने के लिए यहाँ दैवी साहाय्य पर बल दिया जा रहा है।

१५. द्यूत-क्रीड़ा–ऋग्वेद के 'कितव-सूक्त' में द्यूत-क्रीड़ा की अनेक दृष्टियों से निन्दा की गई है। यह निन्दा पूर्णत: मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। 'कितव-सूक्त' के अध्ययन से प्रतीत होता है मानो ऋषि स्वयं जुआरी हो। परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी भी घटना अथवा वस्तु का, चाहे वह आध्यात्मिक हो अथवा आधिभौतिक, वर्णन करते समय ऋषि उससे

---

105. कुरआन, अस सफ्फ, 2–3
106. इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने।। ऋ07.104.2
107. स्थिरा व: सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिन:।। ऋ01.39.2

तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस तादात्म्य के कारण ही उसके उदात्त विचारों की अजस्रधारा अद्यापि प्रवाहित है।

द्यूत-क्रीड़ा में ऐसा क्या आकर्षण है जिसके प्रति व्यक्ति स्वतः उन्मुख हो जाता है, इसका सुन्दर विवेचन उक्त सूक्त में किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब फलक पर अक्ष फेंका जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह नृत्य कर रहा हो। उसका वह नृत्य आनन्ददायी होता है।[108] जब कभी जुआरी इससे दूर रहने का निश्चय करता है तो सुन्दर वर्ण वाले शब्दायमान अक्ष उसे बलात् आकर्षित कर लेते हैं। वह अपने पूर्ववर्ती प्रण को भग्न कर खेलने चला जाता है।[109] बुद्ध ने तीन प्रकार की 'एषणाओं का वर्णन किया था–वित्तैषणा, लोकैषणा तथा पुत्रैषणा। उन्होंने वित्तैषणा को अधिक प्रबल माना था। जुआरी भी धन के लोभ में अक्ष के समीप जाता है। धनी होने की उसकी यह आकाङ्क्षा अक्षों के द्वारा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। वासना दुष्पूर होती है। उसका अनुगामी होना वर्तुल का घूर्ण होना है। परन्तु अक्ष उसकी इच्छा को उत्कट रूप में पुष्ट करते हैं।[110] यही कारण है कि वह सरलता से इसके प्रति आकृष्ट हो जाता है। इस आकर्षण का परिणाम क्या होता है, इसका विस्तार से वहाँ उल्लेख किया गया है। जुआरी की पत्नी, भाई-बन्धु, माता आदि उससे दूर चले जाते हैं एवं वह चोरी करने पर भी विवश हो जाता है। उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करते हुए ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जुआ कदापि नहीं खेलना चाहिए, क्योंकि इससे अनेक प्रकार के अन्य पापों का भी उदय होता है। जुआरी न तो स्वयं सुखी रहता है, न ही उसके पारिवारिक जन। उसका परिवार विघटित हो जाता है। विघटित परिवार समाज में अराजकता को जन्म देता है। अतः इस प्रकार की हानिप्रद द्यूत-क्रीड़ा का परित्याग करके कृषिकार्य में संलग्न होना उत्तम है।[111]

---

108. ऋ010.34.1

109. ऋ010.34.5

110. सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३शूशुजानः। अक्षासो अस्य वितिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आकृतानि।। ऋ010.34.6

111. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।। ऋ010.34.13

उपसंहार

उक्त तथ्यों को आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि देवता ही नैतिकता के आदर्श हैं। एवं उनकी नैतिकता ऋत पर आधारित है। उन्हीं का अनुकरण मनुष्यों को करना है। देवता तीन प्रकार से नीति की स्थापना करते हैं-

प्रथम वे स्वयं नैतिक कार्य करके एक आदर्श रूप उपस्थापित करते हैं, यथा वे दान देकर मनुष्यों के समक्ष नीति का एक अनुकरणीय रूप प्रस्तुत करते हैं कि वे भी दान दें। इसी प्रकार वे संरक्षा तथा सर्जनात्मक कार्यों के द्वारा मनुष्यों को भी समानता के व्यवहार का बोध कराते हैं इत्यादि।

द्वितीय वे मनुष्यों को साक्षात् प्रेरित करते हैं कि वे नैतिक कार्यों को स्वयं करें। उदाहरणार्थ वे इच्छाशक्ति को सुदृढ़ करते हैं, पापों का रेचन करते हैं, पतित मार्गों से निकालते हैं तथा अवचेतन को शुद्ध करते हैं। इस प्रकार की परिशुद्ध स्थिति में नीति की सम्भावना अधिक होती है। देवताओं द्वारा प्रेरित मनुष्य नैतिक कार्यों के प्रति स्वतः उन्मुख होता है।

अन्ततोगत्वा देवता दण्ड अथवा निषेध के द्वारा भी नीति की स्थापना करते हैं। जिन कार्यों को करने पर वे दण्ड देते हैं। वे कार्य अनैतिक हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति ऋग्वेद के नियमों के विपरीत आचरण करता है, वह पापी है। देवतागण पापियों को दण्डित करते हैं। देवताओं को दण्डित करना नैतिक है, क्योंकि प्रेरणाएँ यदि शुभ हैं तो परिणाम अनिवार्यतः शुभ होते हैं। बेन्थम ने-'प्रेरणा' को शुभ बनाने तथा परिणामों को नियंत्रित करने के लिए व्यक्ति को दण्डित करने की सम्भावना को स्वीकार किया है।[112] देवताओं का दण्डित करना किसी वैमनस्य अथवा शत्रुता का परिणाम नहीं है, प्रत्युत वे इसके द्वारा मानव जाति को नैतिक बनाते हैं। उनके दण्ड केवल पापियों के लिये हैं, निष्पाप के लिये नहीं।

समस्त तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि वाचिक, कायिक तथा मानसिक पापों में से अन्तिम पाप अधिक जघन्य होता है क्योंकि उससे ही कायिक तथा वाचिक पापों का भी जन्म होता है। इसीलिये ऋषि मानसिक नैतिकता पर विशेष बल देता है।

---

112. डॉ0लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ0104

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ051-56)

वेदोऽखिलो राष्ट्रमूलम्

डॉ. जगत नारायण त्रिपाठी
सहा0 प्राध्यापक संस्कृत
शास0 हमीदिया कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, बुधवारा, भोपाल (म0 प्र0)

गौतम धर्मसूत्र में वेदों को धर्म का मूल कहा गया है।[1] किन्तु वेदों की राष्ट्रपरता राष्ट्रकल्याण कामना को देखते हुये **'वेदोऽखिलो राष्ट्रमूलम्'** अर्थात् वेद ही राष्ट्र के मूल हैं कहना असमीचीन न होगा। धर्ममूलक स्वरूप में भी वेद अन्ततः उसी भावना से अभिभूत दृष्टिगत होते हैं। क्योंकि वे आचरण जिनसे आत्मा उन्नत हो, धर्म कहा गया है-**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**[2] धर्म का अर्थ है जो उन्नति की ओर जाए। उन्नति से आशय आत्मोन्नति के साथ राष्ट्रोन्नति से हैं। वैदिक ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वों को हृदयङ्गम किया और प्रकृति के विधान को लक्ष्य में रखकर तदनुरूप समाज व्यवस्था और धर्मव्यवस्था का सामञ्जस्य रखा। आधिभौतिक सिद्धि के साथ-साथ पारमार्थिक पथ का प्रश्रय लेना ही उनका ध्येय था। उनका धर्म एवं संस्कृति किसी अन्य धर्म या संस्कृति की विरोधी नहीं रही, अपितु उसमें राष्ट्र कल्याण किंवा जन कल्याण की भावना अन्तर्भूत रही है।

राष्ट्र शब्द 'राजृ शब्दे' एवं राजृ शोभने धातु से, **सार्वधातुभ्यः ष्ट्रन्**[3] इस उणादि प्रत्यय से निष्पक्ष होता है। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र शब्द का प्रयोग देश अथवा देशवासियों के बोधक के रूप में ही नहीं हुआ है, वरन् एक निश्चित भूभाग पर रहने वाले उस जन समुदाय का बोधक है, जिसमें उसकी जनसामान्य चारित्रिक विशेषतायें एवं उपलब्धियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। **'पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम्'** अर्थात् एक ऐसा जनसमुदाय जो हर प्रकार से समृद्धि सम्पन्न हो राष्ट्र कहा गया है। वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण विश्व के लिये एक राष्ट्र की कल्पना की थी। जैसा कि नीतिकार ने कहा भी है-**उदारचरितानां**

---

1. गौतम धर्मसूत्र 1
2. वैशे01.1.2
3. उणा04.160

तु वसुधैव कुटुम्बकम्।[4] वेदों में किसी धर्म, सम्प्रदाय या जाति विशेष का प्रतिपादन न होकर उनका विषय सही मानवता की पुकार है। वे समस्त मानव के कल्याण के लिये उपादेय हैं। जिस अमूल्य ज्ञानराशि को ऋषियों ने तपोबल से जाना वही तो वेद है। इसलिये उनमें सङ्कीर्ण विचारों का समावेश हो भी कैसे सकता है। बल्कि वेदों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि के द्वारा अविज्ञात विषय वेद के माध्यम से ज्ञात हो जाते हैं–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपयो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

श्रुति वाग्सृष्टि को वेदों से ही उत्पन्न बताती हैं–वागेवेदं सर्वम्। इसी आशय से महाभारत में कहा गया है–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।[5]

समग्र वैदिककाल शासक और शासित के सद्भाव का काल था। **'सर्वस्वं मे स्वराष्ट्रकम्'** इस उक्ति के अनुसार राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रकल्याण सर्वोपरि था। विभिन्न भाषाभाषी एवं विभिन्न धर्मावलम्बी सभी मानव वैदिक ऋषि की दृष्टि में एक ही धरती माँ के बेटे हैं-'**जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसां, नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।**[6] धरती मेरी माँ है और मैं इसका बेटा हूँ–''**माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**'' यह वैदिक ऋषि का उद्घोष है। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में धरती के प्रति अनुराग तथा समस्त समाज के लिये कल्याणभाव प्रकट करता हुआ ऋषि कहता है–**'गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं तु पृथिवि स्योनमस्तु।**[7]

वैदिक युग में अपने देश के प्रति भक्ति और राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो गया था। वेदों में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने वाले अनेक मन्त्रों का विनिवेश है। वेद कहता है कि स्वराज की अनेक उपायों से रक्षा करनी चाहिए–**'व्यचिष्ठे बहुपथ्ये स्वराज्ये।'** अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए सदैव जागरूक रहने तथा सेवा एवं त्याग से राष्ट्र उत्थान का गान करते रहने का वर्णन वेदो में मिलता है। **'वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः।'**[8] अपने राष्ट्र को एकता के सूत्र में

---

4. नीतिशास्त्र।
5. महा0शा0232.24
6. अथर्व012.1.45
7. अथर्व012/1/11
8. यजु09/23

बाँधकर एक राष्ट्र के रूप में देखने की भावना कितनी प्रबल थी इसका सजीव चित्रण इस मन्त्र में दृष्टिगत होता है–**'स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमामशधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सर्वायुषः आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति।**[9]

विभिन्न राज्यों की कल्पना में भी एक राष्ट्र की मान्यता वैदिक काल में सर्वोपरि थी। जिसकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म समझता था। यजुर्वेद के **'विशि राजा प्रतिष्ठितः'**[10] इस मन्त्र के अनुसार राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर रहती थी। फलतः राजा कभी भी प्रजा पर अत्याचार करने का साहस नहीं करता था। अपने अङ्गों की तरह प्रजा की रक्षा करना अपना धर्म समझता था–**'विशो मेऽङ्गानि सर्वतः।'** राष्ट्र के बहुमुखी विकास की भावना अत्यन्त सहजता से यजुर्वेद में वर्णित है–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।[11]

राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति राजा के अधीन होती है। राजा के आदर्शों के सम्बन्ध में वैदिक मान्यता है कि राष्ट्र का राजा ऐसा होना चाहिए जिसको प्रजा चाहे। प्रत्येक जन की जनता राजा का निर्वाचन करती थी तथा राजा जनता से प्रतिज्ञा करता था कि वह उसकी बाह्य तथा आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करेगा और न्यायपूर्वक उसका पालन करेगा। उसका शासन भ्रष्टाचार रहित होता था। राजा पर्वत के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण करता था–

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥[12]

वेदों में विना किसी भेदभाव के सभी वर्गों के लोगों की भलाई के लिये ईश्वर से कामना की गई है–

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नः कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥[13]

---

9. ऐत0 ब्रा0, अष्टम अध्याय।
10. वही, 20/9
11. यजु0 22/22
12. ऋ010.173.2
13. यजु0 18/48

राष्ट्र को अपने योगक्षेम के लिए जिन-जिन कर्तव्यकर्मों की अपेक्षा रहती है, राष्ट्र और समाज में व्यक्तियों को उन सभी कर्मों की रक्षा करनी पड़ती है। जब तक उन सभी कर्मों की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक राष्ट्र सुसमृद्ध नहीं हो सकता। वैदिक ऋषियों ने इसीलिये राष्ट्रिय समाज के कल्याण की दृष्टि से कर्तव्य कर्मों को भी चार श्रेणियों में विभक्त किया एवं कर्तव्य के भेद से राष्ट्रिय समाज में रहने वाले प्रजा वर्ग को चार श्रेणियों में विभक्त किया। समस्त राष्ट्र अभ्युदय के लिये यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कल्पनामूलक नहीं अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा महर्षियों के सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण का परिणाम है। राष्ट्र को ज्ञानशक्ति ब्राह्मण वर्ग से, रक्षाशक्ति क्षत्रिय वर्ग से, अर्थशक्ति वैश्यवर्ग से तथा शिल्प एवं सेव्य शक्ति शूद्रवर्ग से उपलब्ध होने का विवेचन है। यही नहीं प्राकृतिक समस्त पदार्थों में भी इस व्यवस्था को ज्ञानकर उसकी उपादेयता को समस्त राष्ट्ररूपी शरीर के लिये अत्यन्त हितकर और अनिवार्य मानकर यह व्यवस्था की गई। सम्पूर्ण विश्व जिनका शरीर है, उन विराट् ईश्वर के शरीर में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सङ्केत पुरुषसूक्त के मन्त्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर है–**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।'**[14] **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** कहकर वेदो में प्रतिपादित याज्ञिक विधिविधान के पीछे प्रतीकात्मक रूप में विश्वकल्याण की भावना अन्तर्निहित है। देवता और मनुष्य का परस्पर उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध सृष्टिकल्याण के लिये परिकल्पित है। देवताओं के विना मनुष्य नहीं और मनुष्य के विना देवता नहीं। देवत्व की ऐसी मानव सापेक्ष कल्पना वैदिक संस्कृति में ही देखी जा सकती है।[15] वैदिक कवि आध्यात्मिक स्तर पर मन्त्रद्रष्टा तथा ऋषि है तो आधिभौतिक स्तर पर कृषक और श्रमिक बनकर राष्ट्र का पोषण भी करता है। आधिभौतिक का आध्यात्मिक और आधिदैविक के साथ यह सहकार ही राष्ट्र के उन्नयन की आधारशिला है। भारत कृषि प्रधान राष्ट्र है। कृष्टि शब्द ऋग्वेद में समग्र समाज का वाचक है।[16] कृषि पर ही जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा थी। इसीलिये कृषि एक गौरवमय कर्म के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद के कितव सूक्त में जुआरी अपने जीवन के अधःपतन और दुरवस्था पर पछताता हुआ अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है–**''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।''**[17] अर्थात् जुआ मत खेलो, कृषि करो। द्यूतकार की दुर्दशा तथा द्यूत के दोषों का कथन जनसाधारण को उसके परिहार के उद्देश्य से किया गया

---

14. ऋ0पुरुषसूक्त
15. नरो वै देवानां ग्रामः, ताण्ड्य ब्राह्मण 6/9/2
16. द्रष्टव्य–सं0सा0का अभि0इतिहास, पृ033 डॉ0राधाबल्लभ त्रिपाठी
17 ऋ010.34.13

है। क्योंकि द्यूत एक सामाजिक अभिशाप है, जो राष्ट्र के विकास में बाधक है। चार्वाकों के **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** को आदर्श वाक्य मानकर भौतिक संसाधनों की पूर्ति के लिये अधिकाधिक ऋण लेकर रही सही पूंजी को भी गिरवी रखने तथा उससे भी हाथ धो बैठे लोगों को वेद का यह मन्त्र सच्चा उपदेशक हो सकता है। जिसमें बन्धक रखकर ऋण लेने की सामाजिक प्रथा का विरोध किया गया है–

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।[18]

आध्यात्मिकता इस राष्ट्र की आत्मा है, जो वेदों में पलती है। यह अध्यात्मवाद मानव को सांसारिक भोगवाद से दूरकर ब्रह्मविषयक ज्ञान की ओर उन्मुख करता है। ईशावास्योपनिषद् के इस मन्त्र में सर्वव्यापी ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुये त्यागभाव के साथ सांसारिक पदार्थों के उपभोग हेतु कथन किया गया है–

ईशवास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥[19]

इस राष्ट्र की इसी आध्यात्मिक भावना से अभिभूत होकर ही शायद मैक्समूलर ने कहा था–''यदि मुझसे पूछा जाए कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपनी उत्कृष्टतम उपलब्धियाँ विकसित की हैं, जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर मनन चिन्तन किया है और उन समस्याओं का समाधान प्राप्त किया है तो मैं कहूँगा कि वह भारत है। और यदि मैं स्वयं से यह प्रश्न करूँ कि हम यूरोप निवासी जो पूर्णतः यूनान के यहूदियों और रोम के विचारों में पले हैं, किस साहित्य से वह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आध्यात्मिक जीवन को अधिकपूर्ण व्यापक और सार्वभौम बना सकता है तो मैं पुनः भारत की ओर ही सङ्केत करूँगा।''[20] वस्तुतः वैदिक ऋषियों के चिन्तन में कभी भी पारमार्थिक दृष्टि का परित्याग नहीं हुआ। इसीलिये–देशी हों या विदेशी सभी ने इससे प्रेरणा ली है। उनका लक्ष्य राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति था।

आज देश की एकता और अखण्डता की बात जोरों पर है। किन्तु भारत की राष्ट्रिय एकता के मूल में वैदिक संस्कृति ही है। इस विशाल राष्ट्र में विविधतायें उसका सौन्दर्यवर्धन करती हैं। इनमें जो भावनात्मक एकता की बात जोरों से कही जा रही है वह वेदों में पहले से ही विद्यमान है। केवल उसकी अनुभूति हमें होनी चाहिए। देश को विघटन से बचाने के लिये

---

18. ऋ04/24/10
19. ईशा0 मन्त्र–2.
20. माडर्न रिव्यू 1908, पृ0181

राष्ट्रिय भावना अत्यावश्यक है। पूर्व में भारत सरकार ने डॉ0 सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में एक समिति गठित की थी, जिसका प्रतिवेदन था कि यदि हमें राष्ट्र को बचाना है तो संस्कृत भाषा के पठन पाठन के प्रति लोगों में रुचि जागृत करनी होगी।[21] निश्चित रूप से ये विचार वैदिक वाङ्मय के धरातल से आये होंगे। आज राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ा चरित्र का सङ्कट है। कोई भी राष्ट्र कितना ही समृद्ध क्यों न हो जाए, अपरिमित भौतिक संसाधनों का मालिक क्यों न बन जाए यदि उसमें राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है तो न वह राष्ट्र कहलाने का अधिकारी है और न वह दीर्घकाल तक जीवत रह सकता है। धर्म, मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था, देश प्रेम, सांस्कृतिक परंपरा, त्याग भावना आदि जो राष्ट्रिय चरित्र के वाहक हैं, निरन्तर ह्रासोन्मुख हैं। जो गुण हमारे पूर्वजों का जीवनाधार रहे हों, जिनके कारण **'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** तथा **'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'** आदि भावनाओं का सृजन हुआ, जिनके आधार पर महाराज मनु ने **'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजनन्मनः, स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।'**[22] कहकर भारतीय संस्कृति को विश्वसंस्कृति के मानक के रूप में प्रतिष्ठित होने का उद्घोष किया हो, उसका अभाव, उसके प्रति समादृत भावना का अभाव राष्ट्रिय एकता के पथ की सबसे बड़ी बाधा है।

---

21 द्रष्टव्य– संस्कृत शिक्षण, पृ035, डॉ0रामशकल पाण्डेय

22. मनु 2/20

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ057-64)

प्रबन्धन एवं नेतृत्वकला का वैदिक स्वरूप

डॉ. महावीर, डी.लिट्.-प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी वि.वि. हरिद्वार
डॉ. रजत अग्रवाल, प्रवक्ता-अभियान्त्रिकी एवं
प्रौद्योगिकी सङ्काय, गुरुकुल काँगड़ी वि.वि. हरिद्वार

वेद सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक

वेद परमात्मा की वह अमरवाणी है, जो कि अद्भुत उपहार के रूप में मानवमात्र के हितार्थ मानवजाति को प्राप्त हुई। मनुष्य के द्वारा ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, अध्यात्म और विभिन्न प्रकार की विद्याओं में प्रगति का मूल स्रोत परमात्मा द्वारा प्रदत्त वेद ही है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कहा है 'वेद सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक है।'[1] महर्षि दयानन्द के विचारों को ही पुष्ट करते हुए महर्षि योगीराज अरविन्द ने कहा 'प्राचीन सभ्यताओं के पास विज्ञान के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान था, जिसमें से आधुनिक विज्ञान मात्र कुछ ही सिद्धान्तों को जान पाया है और शेष को जान भी नहीं पाया है।' इसी सन्दर्भ में यह कहना और समझना अत्यन्त प्रासङ्गिक होगा कि वैदिक संहिताओं में प्रबन्धन के तत्त्व भी उपलब्ध हैं। यह भी सत्य है कि प्रबन्धन के वर्तमान स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उसी प्रकार के सिद्धान्त संभवतः वैदिक ग्रन्थों में सतही तौर पर नहीं मिल पायेंगे। परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ बिखरे हुए पुष्पों को बटोर कर पिरो देने से सुन्दर माला के निर्माण के समान इन तत्त्वों को एकत्रित कर वैदिक प्रबन्धन का सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

सर्वश्रेष्ठता (Excellence) की प्राप्ति

आधुनिक समय में प्रबन्धन कौशल का मुख्य बिन्दु श्रेष्ठता की प्राप्ति है। विश्व भर में सभी प्रमुख संस्थान जैसे Toyota, Ford, Motorola, B.H.E.L, Wal-Mart आदि अपनी सभी गतिविधियों में श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए निरन्तर प्रयासरत हैं। श्रेष्ठता की प्राप्ति, तत्पश्चात् उस स्तर को निरन्तर बनाए रखना, एक बार का कार्य नहीं है, यह एक सतत प्रक्रिया है, अतः आधुनिक प्रबन्धक प्रबन्धन को एक सतत चलने वाली प्रक्रिया कहते हैं। परन्तु हम यदि

---

1. आर्यसमाज के नियम।

परमात्मा का विचार करें, तो पायेंगे कि श्रेष्ठता में परमात्मा (GOD) बेजोड़ है। वेदों में स्थान-स्थान पर परमात्मा की श्रेष्ठता का वर्णन मिलता है। जैसे कि–

सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्।[2]

अर्थात् हे ईश! यह सत्य है कि तेरे जैसा और कोई नहीं है।

सत्यमित् तन्न त्वावाँ अन्यो अस्ति।[3]

अर्थात् हे ईश! यह ठीक ही है कि तेरे जैसा कोई दूसरा नहीं है। यहाँ हम जिस परमात्मा (GOD) की चर्चा कर रहे हैं, वह मात्र धार्मिक आदर्श, पवित्रता, स्नेह, सुखदायक, दया, न्याय, समभाव, निर्भयता एवं कुशलता का प्रतीक न होकर प्रबन्धन का भी आदर्श है। वास्तव में इस सृष्टि की रचना करके परमात्मा एक प्रबन्धक की भाँति ही कार्य कर रहा है, जिस प्रकार एक कुशल प्रबन्धक अपनी संस्था के लिए कार्य करता है। एक निर्माता, उत्थाता, पालक, दिशा देने वाले के रूप में तथा नियन्त्रक के रूप में परमात्मा इस सृष्टि के सन्दर्भ में सभी प्रबन्धन के दायित्वों का निर्वहण करता है। उसकी प्रत्येक गतिविधि में एक उद्देश्य, लक्ष्य, नियोजन, सामञ्जस्य, व्यवस्था एवं नियन्त्रण समाहित होता है। इस सृष्टि को सञ्चालित करने वाले प्राकृतिक नियम परमात्मा की कुशलता का स्पष्ट प्रमाण हैं। वह स्वयं ही इन नियमों का निर्माता एवं पोषक है।

प्रबन्धन के मुख्य कार्यों में से एक है 'नियन्त्रण'। नियन्त्रण के लिए नियन्त्रणकर्ता के पास स्वाभाविक रूप से दो शक्तियों का होना आवश्यक है, 1. संयोजन अथवा सामञ्जस्य की शक्ति, 2. वियोजन की शक्ति। इन शक्तियों का प्रयोग प्रबन्धक परिस्थितियों के अनुसार करता है। परमात्मा इन शक्तियों का प्रयोग निर्भय और निष्पक्ष होकर समभाव से करता है। परमात्मा की कार्यपद्धति को समझे विना, किस प्रकार से परमात्मा समस्त सृष्टि में समानता बनाए रखता है, यह जाने विना, प्रबन्धन की पूर्ण जानकारी हो ही नहीं सकती है। अतः श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए परमात्मा के गुणों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

वैदिक प्रबन्धन

वैदिक संहिताओं में एक व्यक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। विशेष रूप से यजुर्वेद का यह मन्त्र ध्यान देने योग्य है–

---

2 ऋ01.52.13

3 ऋ06.30.4

पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआविवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।

एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्।।[4]

इस मन्त्र के पहले भाग का साधारण अर्थ है कि प्रत्येक पुरुष पाँच रूपों में लक्षित होता है। यह रूप निम्न प्रकार हैं–

(क) स्वयं व्यक्ति

(ख) उसका परिवार

(ग) उसका समाज (सामाजिक व्यवस्था)

(घ) उसका राष्ट्र

(ङ) विश्व

ये सभी रूप व्यक्ति से ही परिभाषित हैं। विना व्यक्ति के उपर्युक्त सभी अवयव सम्भव ही नहीं है, अतः प्रत्येक व्यक्ति इन सभी पाँचों अङ्गों को प्रभावित करता है, लेकिन साथ ही वह व्यक्तिगत रूप से इन पाँचों अङ्गों द्वारा प्रभावित होता रहता है। अतः यह निश्चित है कि प्रत्येक रूप व्यक्ति पर आश्रित है, साथ ही प्रत्येक रूप उसको प्रभावित करता है। यहाँ पर मुख्य ध्यान देने योग्य बात व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व विश्व की परस्पर निर्भरता है। अतः वैदिक दृष्टिकोण से प्रबन्धन को समझने के लिए प्रबन्धन के निम्न आयामों मुख्यतः स्व-प्रबन्धन, परिवार-प्रबन्धन, समाज-प्रबन्धन, राष्ट्र-प्रबन्धन एवं विश्व-प्रबन्धन को समझना चाहिए।

स्व-प्रबन्धन का मुख्य आधार अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण है। मानसिक स्तर से आरम्भ हुई इच्छाओं, इच्छाओं से उत्पन्न हुए विचार जो कि वैचारिक स्तर पर आरम्भ होते हैं और इसके कारण शारीरिक स्तर पर विचारों के क्रियान्वयन के लिए की गई गतिविधियों का प्रभावी नियोजन एवं नियन्त्रण स्व-प्रबन्धन की सफलता का आधार है।

स्व-प्रबन्धन के दूसरे प्रमुख आयाम के रूप में प्रत्येक सफल प्रबन्धक के लिए सुख और दुःख में सफलता और असफलता में, मान और अपमान में, जीत और हार में एक भाव बनाए रखना आवश्यक है। स्व प्रबन्धन हमारी दैनन्दिन गतिविधियों में राग, भय, क्रोध पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए प्रेरित करता है। वैदिक संहिताओं में भी स्व-प्रबन्धन श्रेष्ठता आदि के लिए स्थान-स्थान पर प्रेरणादायी सूक्त मिलते हैं। यथा-

---

4 यजु. 23.52

श्रद्धां हृदय्य१ याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥[5]

अर्थात् हृदयस्थ शुभ सङ्कल्प से श्रद्धा प्राप्य है और श्रद्धा से ही श्री मिलती है।

इस अर्थ को समझने के पश्चात् उसे व्यवहार में आचरित करने से प्रबन्धन के क्षेत्र में वांछित परिणाम मिलने लगते हैं। हम किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करनेके लिए जब शुभ सङ्कल्पधारी होते हैं। वेद में कहा गया है कि **'हृदयस्थ सङ्कल्पों से सत्कर्मों के लिए प्रेरणा मिलती है'**, यह सत्प्रेरणा कर्मों में स्फूर्ति पैदा करती है, जिससे लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव होती है।

स्वप्रबन्धन की व्यवस्था के पश्चात् परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रबन्धन की चर्चा सम्भव है। प्रबन्धन के इन आयामों का केन्द्र व्यक्ति ही है, इन प्रबन्धनों के सुचारु सञ्चालन के लिए नेतृत्व कौशल की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। नेतृत्व कौशल के लिए वैदिक संहिताओं में कहा गया है कि राजा के गुण ही एक सफल प्रबन्धक में होने चाहिए। दूरदर्शिता, त्वरित क्रिया, बड़ों को आदर, सभी के हितों के लिए व्यक्तिगत हितों का त्याग आदि कुछ ऐसे गुण हैं जो कि सफल नेतृत्वकला के लिए आवश्यक हैं। वेद कहता है-

अग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा।[6]

अर्थात् आगे चलने वाला (नेता, राजा) आकर्षक, मधुरभाषी और सत्यप्रिय हो।

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः। स वेद यज्ञमानुषक्॥[7]

अर्थात् हम अपने नेतृत्व के द्वारा अपने कर्मों के प्रति समर्पित हों तथा नेतृत्व के द्वारा ही गतिविधियों को सञ्चालित करें, क्योंकि वही सभी मार्गों का ज्ञाता है।

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः॥[8]

अर्थात् हे अग्रज (Leader)! आप हमारे निकटतम मित्र, रक्षक, आशीर्वाददाता और गौरवशाली निदेशक हो।

वैदिक दृष्टिकोण एवं पाश्चात्त्य आधुनिक दृष्टिकोण से भी सफल प्रभावी प्रबन्धक के लिए निम्न रूप प्रस्तावित हैं-

---

5 ऋ010.151.4

6 ऋ07.7.4

7 ऋ03.11.1

8 ऋ05.24.1

1. जागरूक नेतृत्व।
2. कार्य संपादित करने के लिए अनुकूल वातावरण।
3. प्रभावी प्रबन्धक।
4. उत्कृष्ट प्रदर्शन के लिए अवसर।
5. उत्कृष्ट प्रदर्शन के लिए पुरस्कार।

इस प्रारूप से यह प्रदर्शित होता है कि प्रभावी प्रबन्धन के लिए जागरूक नेतृत्व होना अत्यावश्यक है, वैदिक संहिताओं में अग्नितत्त्व की बताई गई विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए एक ऐसे आदर्श नेतृत्व की परिकल्पना साकार की जा सकती है जो कि प्रभावी प्रबन्धन की प्राथमिक आवश्यकता है। निरुक्त के अनुसार **'अग्निर्वै अग्रणीर्भवति'**[9] अर्थात् जो सदैव आगे चलने के लिए उद्यत रहता है, जो सदैव ऊपर उठता है और अपने साथ दूसरों को भी उठाता है, उसे ही अग्नि कहते हैं। अग्रणी रहने का यह गुण सफल नेतृत्व के लिए परमावश्यक है। ऋग्वेद में कहा गया है कि **'अरण्योर्निहितो जातवेदाः'**[10] अर्थात् अरणियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार नेतृत्व की चमक तभी चारों ओर पहुँचती है, जब प्रबन्धक सङ्घर्ष के द्वारा कड़े परिश्रम से संस्थान का नेतृत्व करता है। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है– **'अभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित'**[11] अर्थात् अग्नि की गतिशीलता से नवीन कार्य सम्पन्न होते हैं। प्रबन्धन के क्षेत्र में यह एक सटीक उपमा है। कुशल नेतृत्व की दूरदर्शिता से ही बड़े-बड़े उद्यम संभव हो पाते हैं। यह दूरदर्शिता, नये उद्यमों को सफलता के शिखरों तक ले जाती है, यह सब तभी सम्भव है, जब नेतृत्व में अग्नि के समान गतिशीलता होगी।

चारो वेदों में वर्णित निम्नलिखित मन्त्र भी एक आदर्श नेतृत्व के प्रारूप को प्रस्तुत करता है–

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः॥[12]

---

9 निरु07.4.

10 ऋ03.29.2

11 ऋ01.144.5

12 ऋ01/127/1, यजु. 15/47, साम. 465, 1813, अथर्व. 20/67/3

इस मन्त्र के अनुसार उसी प्रबन्धक को कुशल नेता कहा जा सकता है जो अग्नि की ज्योति के समान ऊर्ध्वगामी (अग्निम्), क्रियाशील (होतारम्), दानशील और समर्पित (दास्वन्तम्), धैर्यशील (सहसः), सभी प्रकार के प्रस्तुत पदार्थों का ज्ञाता (जातवेदसम्), दूरदर्शी (ऊर्ध्वया), अहिंसक गौरवशाली कार्यों का संपादक (सुअध्वर), दैवीय गुणों का धारक (देवः), महापुरुषों से आशीर्वाद प्राप्त (देवाच्या कृपा), सभी कार्यों का सफल रूप से सम्पन्न करने वाला (घृतस्य विभ्राष्टिमनु) जिसमें वह अपनी बुद्धि, ज्ञान और लोकप्रियता (वष्टि शोचिषा) का प्रयोग करता है और किसी भी सुउद्देश्य के लिए सदैव आहूत रहता है (आजुह्वानस्य सर्पिषः)।

इसके आधार पर कुशल नेतृत्व का रूप निम्न प्रकार हो सकता है।

1. अग्नि के समान ऊर्ध्वगामी।
2. क्रियाशील।
3. धैर्यवान्।
4. विद्वान्।
5. कुशल नेतृत्व।
6. दैवीय गुणों का धारक।
7. गौरवशाली कार्यों को करने वाला।
8. दानशील एवं समर्पित।

निष्कर्ष

प्रबन्धन की सफलता से ही बड़े-बड़े उद्यम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर पाते हैं। वैदिक संहिताओं द्वारा बताए गए पाँच प्रकार के प्रबन्धनों यथा स्व, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में स्व-प्रबन्धन सबसे मुख्य है। स्व-प्रबन्धन के पश्चात् ही समाज एवं संस्थान के सुप्रबन्धन की चर्चा की जा सकती है। स्व-प्रबन्धन के दो मुख्य आयाम स्वश्रेष्ठता एवं कुशल नेतृत्व कला है। वैदिक ज्ञान के आधार पर श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए परमात्मा के गुणों को भलीभाँति समझना चाहिए। परमात्मा द्वारा रचित यह सृष्टि एवं उसका कुशलतापूर्वक सञ्चालन ईश्वर के कार्य श्रेष्ठता के अनुपम प्रमाण हैं। अतः परमात्मा के जितने गुणों को हम आत्मसात् करेंगे, उतने ही श्रेष्ठ कहलायेंगे। द्वितीय-नेतृत्व कौशल के लिए 'अग्नि' के गुणों को धारण कर कुशल नेतृत्व दे पायेंगे।

इस प्रकार वैदिक ज्ञान के आधार पर प्रबन्धन एवं नेतृत्वकला का स्वरूप विकसित किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. यजुर्वेद संहिता-श्रीमद्दयानन्द वेदविद्यालय, नई दिल्ली।

2. ऋग्वेद संहिता-श्रीमद्दयानन्द वेदविद्यालय, नई दिल्ली।

3. ऋग्वेद सुभाषितावली, डॉ. कपिलदेवद्विवेदी, विश्वभारती शोध-संस्थान, ज्ञानपुर, वाराणसी।

4. अथर्ववेद सुभाषितावली, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती शोध-संस्थान, ज्ञानपुर, वाराणसी।

5. Vedanta and Management, Nalini V. Dave, Deep&Deep Publications, New Delhi.

6. Vedas and the Concepts of Management and leadership, Arya Sanyasi Mahatma Gopal Swami, Research Paper presented at International conference on the contribution of Vedas to the world at Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

7. Planning and Organizing : A Comparative study of Indian and Western approaches, Rajat Agrawal, Ph.D. thesis, Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ065-70)

अथर्ववेद में प्रकृति के विविध आयाम

डॉ. अर्चना विश्नोई, रीडर संस्कृत-विभाग
सैन्ट जोसेफ्स गर्ल्स डिग्री कॉलेज, सरधना (मेरठ)

वैदिक काव्य में मानव प्राकृतिक जीवन के उल्लासमय प्राण-तत्त्व से स्फुरित दिखाई देता है। प्रकृति में सर्वत्र मानवीय जीवन की कल्पना ने प्रकृति को देवत्व प्रदान किया है।[1] एक ओर, प्रकृति का प्रत्यक्ष दृश्य-बोध है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारक, आकाश, तमस्, प्रकाश, मेघ, पवन, सरिता, विद्युत्, वृक्ष, अग्नि, वर्षा तथा पशु-पक्षियों का चित्रमय-भावमय संसार है, दूसरी ओर इनमें व्याप्त इन्द्र, वरुण, उषा, पवन, पृथ्वी, रुद्रादि देवता हैं,[2] जिनके माध्यम से वैदिक द्रष्टा सत्य, अमृत, शक्ति, ऊर्जा, स्फूर्ति, पराक्रम, सङ्घर्ष, आवेग, संवेग, तृप्ति, क्षमा, मैत्री, साहचर्य आदि मानवीय गुणों व प्रत्ययों का आह्वान करता है।[3] परवर्ती महाकाव्यों व नाटकों के लिए निर्धारित काव्यशास्त्रीय लक्षणों में प्रकृति-चित्रण आवश्यक अङ्ग बन गया।[4] ऐसा हो भी क्यों न! स्वयं मनुष्य प्रकृति के पाँच रूपों से जो विनिर्मित है, किन्तु जब से आधुनिक मनुष्य ने प्रकृति को अपनी उपभोग्या समझना प्रारम्भ किया है, वह उसका अनवरत दोहन करके स्वामित्व का अभिमानी बन बैठा है। उसके वशीकरण के लिए वह दुस्साहसिक तरीके से प्रयत्नशील भी हो रहा है। वैदिक समय में स्थिति सर्वथा भिन्न थी। प्रकृति में उसे दैवीशक्ति का बोध होता था। वह बाह्यप्रकृति से स्वयं पर दया की दृष्टि बनाये रखने की कामना करता था, इसके लिए आराधना भी करता था। प्रकृति के प्रति इस श्रद्धा ने जिस वैदिक धर्म को जन्म दिया, उसे प्रकृतिपूर्ण कहना असङ्गत नहीं होगा।[5] प्रस्तुत लेख में अथर्ववेद के आधार पर प्रकृति के विविध रूपों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1. ऐतरेयोपनिषद में कहा गया है कि विभिन्न प्रकार के देवता प्रकृति के विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर निवास करते हैं। परन्तु सूक्ष्म रूप से उनका निवास मानव शरीर में है।1.2.4
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– 1.1 में शिव के आठ रूपों की कल्पना में प्रकृति के सूर्य, चन्द्र आदि का वर्णन किया गया है।
3. प्रकृति और काव्य (संस्कृत साहित्य), रघुवंश, भूमिका।
4. साहित्यदर्पण, उल्लास 1.1
5. संस्कृत शोध लेखमाला–डॉ. मुहम्मद इस्माइल खाँ, पृष्ठ 85।

प्रकृति के प्रारम्भिक दो रूप

1. अन्तः प्रकृति
2. बाह्यप्रकृति

१. अन्तः प्रकृति

वैदिक ऋषियों में प्रकृति को अन्तर्मन से समझा तथा वाणी से उसके स्वरूप को स्पष्ट आकार दिया। कल्पना के फलस्वरूप प्रकृति के रूप और आकार के वर्णन में क्रमिक परिवर्तन व विकास दृष्टिगत होता गया।

२. बाह्यप्रकृति

(क) पृथ्वी स्थानीय–अग्नि, नदी, पशु पक्षी व वनस्पति सहित पृथ्वी।

(ख) अन्तरिक्ष स्थानीय–मरुद्गण, जल, वायु, प्रकाश, रात्रि।

(ग) द्युलोक स्थानीय–सविता, उषा, द्यौस्

१. पृथ्वीस्थानीय प्रकृति में पृथ्वी–अग्नि, नदी, पशु–पक्षी तथा वनस्पति जगत् के लिए आधार स्तम्भ है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में इस अभिप्राय का विशद वर्णन है। इसमें पृथ्वी का मानव व मानवेतर दोनों रूपों में वर्णन है। पृथ्वी का मानवरूप यहाँ माता के रूप में दृष्टिगोचर है। वह नदी पर्वतादि के लिए व्यापक रूप धारण करती है। माता के समान वह उत्पन्न हुए जीवों के लिए व्रीहि, यवादि को उत्पन्न करती है।[6] इस प्रकार वह समस्त जीवों का भरण पोषण करती है। पृथ्वी जिस प्रकार से विशाल–हृदया वर्णित की गई है, उससे उसे मानवेतर अर्थात् देवी रूप प्राप्त हुआ है तथा प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए विस्तीर्ण हो तथा हमारे कार्यों की सिद्धि में सहायक हो। यह धरती, स्वर्णरजत आदि बहुमूल्य धातुएँ भी प्रदान करती है। पृथ्वी उत्पत्ति के समय अवश्य चलायमान थी–बाद में सर्वभूतहिताय स्थिर भी हुई और विस्तृत भी।[7] भूमि व भूमिज सभी पदार्थों में अग्नि का अस्तित्व है। इस प्रकार मनुष्य को जिन पृथ्वीस्थानीय द्रव्यों ने घेरा है और लाभान्वित किया है न केवल वे अपितु उनका आधार रूप पृथ्वी भी माता और देवी रूप में पूजी जाती है।[8]

---

6. अथर्ववेद, भूमिसूक्त।
7. वही, 20.34.2, निरुक्त 1.4 में पृथ्वी प्रारम्भ में ''अल्पा'' कही गई है।
8. अथर्ववेद– 12.1.106.10.1, 12.1.6

२. नदियाँ–नदियाँ मानवहित की सम्पादिकाएँ है। वे पृथ्वी के प्राकृतिक सौन्दर्य, अन्न आदि की उत्पत्ति तथा धरती के उर्वरत्व को बढ़ा कर इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करती है।[9] अथर्ववेद में सरस्वती, अंशुमती, सिन्धु व परुष्णी नदियों में देवीत्व का आरोप किया गया है।[10]

३. पशु पक्षी तथा ओषधियाँ–अथर्ववेद में गायों, अज, व्याघ्र, हरिण, कपोत, उलूक आदि का वर्णन आया है।[11] ओषधियों में पिप्पली, अश्वत्थ, शङ्खपुष्पी, कपित्थ, पलाश, हरिद्रा, व्रीहि, गुग्गुलु आदि से नीरोगी काया की प्रार्थना की गई है। बिभीतक (बहेड़ा) की तेल को बालों को काला करने वाला बताया गया है। सोम एक आकाश बेल है, जिसकी जड़ें व आधार नहीं होता। इसको पीस कर रस निकाला जाता है और यज्ञ के अवसर पर इन्द्रादि देवताओं को समर्पित किया जाता है। वे चन्द्रमा के पर्याय है तथा इनका यजमान इन्द्र आदि देवता तथा यज्ञ सभी से सम्बन्ध है। सोम का आध्यात्मिक रूप उनके स्वर्ग में प्रतिष्ठित होने के कारण है।

४. अग्नि (मातरिश्वन्)–अग्नि देव मनुष्यों व देवताओं के मध्यस्थ है अत: उनके मानवहितकारकत्व व देवत्व दोनों ही रूप महत्त्वपूर्ण हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[12] के अनुसार वे विधि पूर्वक प्रदत्त हवि को तद्तद्देवता तक पहुँचाते हैं। वे यज्ञ तथा गृहकार्य सम्पन्न कराने के अतिरिक्त शीतलता दूर करते हैं। अथर्ववेद की अनेक ऋचाएँ उनके देवत्व व महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करती हैं।[13]

(ख) अन्तरिक्षस्थानीय प्रकृतिः

१. पर्जन्य–प्राकृतिक जल का अजस्र स्रोत है। वे समस्त पृथ्वी स्थानीय ओषधियों-वनस्पतियों में अङ्कुरण व अभिवृद्धि करते हैं, जिससे धरती हरीतिमा से युक्त हो जाये। न केवल वृष्टि अपितु वे गौओं, अश्वी आदि मादा स्त्री जातियों में गर्भाधान क्षमता भी उत्पन्न करते हैं। वे केवल शान्त देवता ही नहीं, कभी-कभी उग्र रूप भी धारण करते हैं और स्तोता के शत्रु को भयभीत करने के लिए विद्युत् तथा सिंहगर्जनाओं के साथ आकाश में विकराल रूप भी प्रदर्शित करते हैं। पर्जन्यदेव की कृपा के अभाव में धरती न केवल जलविहीन

---

9. वही 1.3.1
10. वही 4.15.2, 3
11. वही 6.12.2
12. अभिज्ञान01.1
13. अथर्व01.102.3, 19.59.3, 5.6.11

हो जायेगी अपितु अकालग्रस्त हो जायेगी और इसके प्राणी रोगग्रस्त भी हो जायेगें।[14] पर्जन्य के उपर्युक्त दानी तथा बलशाली[15] रूप की अभिव्यक्ति उनके मानव, देवता व आध्यात्मिक तीनों रूपों का वर्णन करती है। जिस प्रकार धरती भरण पोषण करने के कारण सभी प्राणियों की माता है, उसी प्रकार भरण-पोषण रूपी दायित्व पालन करने के कारण पर्जन्य पिता स्वरूप है।[16] वैदिक परिपाटी रही है की जैसे ही कोई ऋषि किसी वस्तु अथवा द्रव्य से लाभान्वित होता है या प्रभावित होता है, वह उसके समक्ष नतमस्तक होकर कृतज्ञता ज्ञापन करता है।[17] अथर्ववेद में पर्जन्य को यज्ञ, सोम तथा अग्नि के साथ स्मरण किया गया है जो इनके आध्यात्मिक रूप का साक्ष्य है।[18]

(२) मरुद्गण या वात–आँधी के देवता है। वे मानव के स्तोता के मित्र रूप में आते हैं[19] तथा युद्धरूप कर्म में उसके शत्रुओं को पराजित कर उसके सहायक बनते हैं। ये प्रकृति वैचित्र्य के भी परिचायक हैं।[20] वे सात की सङ्ख्या से बढ़कर उनंचास की सङ्ख्या के बराबर प्रभावी बन जाते हैं। मरुद्गण पर्जन्य के भी नियन्ता हैं। मरुतों की उत्पत्ति सूर्य तथा वाक् से हुई है। सूर्य का देवत्व सर्वज्ञात है और वाक् परब्रह्म में विलीन ब्रह्म रूप है, अतः मरुद्गणों के आध्यात्मिक स्वरूप को नकारा नहीं जा सकता।

(३) आपः तथा अपां नपात्–इसके भौतिक रूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। कहीं वे जलों के पौत्र कहे गये हैं तो कही मेघों में व्याप्त विद्युत् के।[21] कहीं सूर्य तो कहीं सविता के रूप में भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।[22]

(४) रात्रि–उषा की बहन तथा बहन की पुत्री है। वे मनुष्य को अपने भौतिक रूप से विश्राम देने वाली है।[23]

---

14. वही 1.3.1
15. वही 4.15.2, 3
16. वही 1.2.1
17. संस्कृतशोध लेखमाला पृष्ठ 91
18. अथर्व010.2.29
19. वही 3.1.2
20. वही 2.67.4
21. भगवद्दत्त–वेद विद्या निदर्शन–पृष्ठ 59
22. वैदिक माईथोलोजी–मैकडोनल–पृष्ठ 70

(ग) द्युलोक स्थानीय प्रकृतिः

(१) सूर्य–दृश्यमान प्राकृतिक उपादानों में सूर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अन्य अभिधान सवितृ तथा पूषन् हैं। सूर्य पृथ्वी पर उष्णता के महान् स्रोत हैं और आकाश में विद्युदग्नि के। यह विद्युत् आकाशीय जल को बरसाने में सहायक है। साथ ही सूर्य की ऊष्मा से पृथ्वीस्थल जल भी वाष्पीकरण की प्रक्रिया से मेघ बन जाता है। प्रकाश का स्रोत होने के कारण सूर्य सभी चेतन प्राणियों का आलस्य दूर कर शुभ कार्यों में सलग्न होने की प्रेरणा देता है।[24] अथर्ववेद में सूर्य का देवता रूप प्रत्यक्षगोचर है। स्तोता की प्रार्थना है कि सूर्य अपने तेज से उसके शत्रु का नाश कर दें। सूर्य अथर्ववेद में अभिमानी देवता के रूप में चित्रित किये गए हैं। लोककल्याणक रूप में सूर्य का ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कोण में भ्रमण करना, दिशाओं को प्रकाशित कर मनुष्यों के भ्रमण योग्य बनाना, मानव को सफलता की दिशा में अग्रसर करने का ही प्रयास है।[25] अपने आध्यात्मिक रूप में सूर्य भाग्यानुसार शुभाशुभ फल देने वाले हैं अतः उनसे प्रार्थना की गई है कि वे दुर्भाग्य को शान्त कर दें।[26] नेत्राभिमानी देवता होने के कारण सूर्य नेत्र ज्योति बढ़ाने वाले हैं।[27] ऋग्वेद,[28] ऐतरेयोपनिषद्[29] से भी इस तथ्य का समर्थन हो जाता है। सूर्य के आध्यात्मिक रूप का विस्तार यहाँ ज्योतिर्ब्रह्म[30] कहकर किया गया है। कठोपनिषद्[31] तथा ताण्ड्य-ब्राह्मण[32] में भी सूर्य का प्रखर आध्यात्मिक रूप वर्णित है।

(२) उषस्/प्रकाश–प्रातःकाल की अधिष्ठात्री उषा प्रकाश, समृद्धि व वैभव प्रदान करने वाली कही गई है। उषा के आगमन से जीव जगत् पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है तथा वह अग्निष्टोमादि याग सम्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील होता है।[33]

---

23. अथर्व–19.47.9
24. वही 2.21, 4.25, 3.20
25. वही 19.9.10
26. अथर्व0संहिता भाग 4 पृष्ठ 191
27. अथर्व08.2.31
28. वही 10.16.3
29. वही 1.2.4
30. वही 20.107.14
31. उपनिषद्वाक्य महाकोष–गजानन पृष्ठ 62
32. अथर्व06.5.01
33. वही 18.1.20

(३) द्यौस्–ये पिता के रूप में महनीय हैं। वे उषा, रात्रि, सूर्य, चन्द्रमा, मरुद्गण, जल व पर्जन्य सभी को धारण करते हैं। अतः इन सब के पिता हैं, उषा उनकी पुत्री है। उनसे सुन्दर भोज्य पदार्थों की कामना की गई है तथा लोक लोकान्तरों के प्राणियों का आश्रय बताया गया है।[34]

उपर्युक्त प्राकृतिक उपादानों के मानवीय, दैवीय व आध्यात्मिक वर्णन को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि इन आंशिक जड़ पदार्थों को संवेदनाओं से युक्त कर मानवीय तथा अतिमानवीय रूप प्रदान करना चाहता था। आध्यात्मिक रूप में ईश्वर तथा प्रकृति रूप में मानवीयता के संयोग से प्रकृतिवाद का विकास हुआ है। प्रकृति में सब कुछ प्राप्य नहीं है। उसके उग्र सर्पादि रूपों से शक्ति के प्रतीक विभिन्न देवताओं की स्थापना हुई है। इसके अतिरिक्त विकास की प्रक्रिया में सरस्वती का नदी रूप अन्ततः वाग्देवी के रूप में अधिक ग्राह्य बन गया। प्रकृति में संवेदनशीलता, आलम्बन तथा उद्दीपन भाव का विकास इस समय तक नहीं हो पाया था। प्रकृति में सौन्दर्य कम, उसकी उपादेयता व दया अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

34. वही 2.4.6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ071-76)

अथर्ववेदे प्राणतत्त्वम्

डॉ. विजयलक्ष्मी
प्रवक्त्री संस्कृत-विभाग
एस0 डी0 कॉलेज, मु0 नगर

संसारस्य समस्तं कार्यजातं सुखोपलब्धये मानवैः क्रियते। निखिलानि कृत्यानि भौतिकानि अभौतिकानि वा सर्वाणि खलु सा साधयन्ति जनाः सुखसेवनाय। कार्यसाधनाय महती आवश्यकता स्वस्थशरीरस्य। कविताकामिनीविलासस्य महाकविकालिदासस्य-**'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**[1] अनया गिरा संस्कृतसारस्वतरसास्वादितपवित्रस्वान्तः को नाम सहृदयः अपरिचितः स्यात्। अस्मदीयाः लौकिका अपि ग्रन्थाः स्वस्थदेहस्य उपादेयत्वं स्वीकुर्वन्ति। तत्र वेदा ये खलु सर्वज्ञानविज्ञानमयाः, येषां विषये मनुमहाराजः सगर्वमुद्घोषयति-**'सर्वज्ञानमयो हि सः'**।[2] तेषु वेदेषु तु आरोग्यसम्बन्धिनी चर्चा भविष्यति एव। चतुर्षु वेदेषु अन्यतमोऽथर्ववेदः। अथर्ववेदविषये निश्चप्रचमिदं कथयितुं शक्यते यदयं जनानां वेदो जीवनवेदश्च, यतो हि श्रुतिरियं जीवनतत्त्वं प्राणतत्त्वं विशदं वर्णयति। **'प्राणो वै भूतानामायुः'** सूक्तिमुक्तेयं प्राणानामपरिहार्यत्वं विज्ञापयति। अथर्ववेदेऽनेकेषु मन्त्रेषु प्राणस्वरूपं तदुपयोगित्वं च सम्यक् प्रतिपादितं वर्तते। वस्तुतस्तु अथर्ववेद आयुर्वेदो यतो हि वेदेऽस्मिन् मुख्यत्वेनायुर्विषयकवर्णनम्। अथर्ववेदस्य सप्तशतोत्तरैकत्रिंशत्सूक्तेषु चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतमितानि सूक्तानि आयुर्विज्ञानविषयकानि।[3]

'शरदः शतं'[4] कथं जीवेम ? तथ्यमिदं निरूपयत्यथर्ववेदीयसप्तमकाण्डस्थत्रिपञ्चाशत्तमे सूक्ते **'सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ मे सयुजाविह स्याताम्।'**।[5] हे प्राणापानौ शरीरे सञ्चरतं, मां विहाय मा गच्छतम्। मम शरीरे मित्रमिव तिष्ठतम्। तथा च प्रथममन्त्रे-**'प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।**[6] इन्द्रियाणां चिकित्सकौ

---

1. कुमारसम्भवम्, 5-33
2. मनु0-2/7
3. द्र0 संस्कृत-साहित्य-विमर्शः, पृ0 73
4. यजु036.24
5. अथर्व0-7/53/2
6. अथर्व0 7.53.1

प्राणापानौ अस्मत्मृत्युमपाकुरुताम्। अश्विनौ इति प्राणापानौ। प्रकरणेऽस्मिन् सुबोधभाष्यकाराः श्रीपाददामोदरसातवलेकरमहोदयाः लिखन्ति–'देवानां वैद्यावश्विनीकुमारौ' नाम्ना विश्रुतौ वैद्यौ, अध्यात्मपक्षे देहे राजमानौ प्राणापानावेव, इमावेव इन्द्रियभूतानां देवानां चिकित्सां कुर्वन्तौ मनुष्याय दीर्घायुष्यं दत्तः, कोऽन्योपायः प्राणानां कृपया विना येन जना आयुष्यं प्राप्नुयुः। अपि च–**नासत्यो..**.।[7] नासिकायां तिष्ठत अनेन 'नासत्यौ' इत्यभिधानेनापि एतयोरेव स्मरणं विचारणञ्च। आचार्यवरो यास्कोऽपि निरूपयति निरुक्ते **'नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा'**।[8] प्राणापानयोरेव निर्देशोऽत्र निर्दिश्यते निरुक्तकारेण, नास्त्यत्र शङ्कास्थानम्। चतुर्थमन्त्रः जीवनरक्षासूत्रं सम्यक् स्पष्टीकरोति–**'मेमं प्राणो.....**[9] मनुष्यदेहं (इदं वपुर्वा प्राणः) न त्यजेत्, अपानोऽपि वियुक्तो न स्यात्। अतो ये सप्तर्षयस्तेभ्य एनं ददामि। क इमे सप्तर्षयः सप्तज्ञानेन्द्रियाणि ? पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनोबुद्धी च, तेभ्यो मानवदेहं यच्छामि, येन **'अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्द्धताम्'**[10] जीवनस्य निधिरिदमायुर्वर्द्धताम्। वार्द्धक्ये जायमानानां रुजां प्रशमनं जायेत। मनुनाऽपि कथितम्–**''प्राणायामैर्दहेद् दोषान्......**।[11] न केवलं प्राणाः अपितु भेदा अपि तेषां प्रकीर्तिताः। अथर्ववेदे एकमतिमनोहरं सूक्तं प्राणस्वरूपवर्णनात्मकम्। तत्र जगदाधारस्य ईश्वरस्य प्राणरूपे वन्दना कृता, यतो हि प्राणा हि सर्वान् निजवशे स्थापयन्ति। प्राणा अन्तरिक्षस्था अपि औषधीन् वनस्पतीन् च पोषयन्ति। मेघोऽपि प्राणस्वरूपो यो खलु निजप्रतापेन (जलेन) चेतनाचेतनजीवान् जीवयति। अतः कथयितुं शक्यते यत् प्राण एकः सन् विश्वानि भुवनानि धारयति, यस्य महिम्ना स्वधया अन्नादितत्त्वानि दिव्यामृतेन मधुरेण पूर्णानि, भूतजातानि हर्षोपेतानि भवन्ति, अस्यैव प्राणस्य प्रियः पन्थाः, अन्तरिक्षं ब्रह्मलोकमिति वा यमाश्रित्य सर्वाणि भूतानि निवसन्ति।

एकस्मिन् मन्त्रे पापनिवृत्तिं कामयमानो भक्त उपमारूपेण प्राणान् सुष्ठु निरूपयति–**'चन्द्रः प्राणेन संहितः, चन्द्रः प्राणैः संयुतो.........**। यथा चन्द्रः शीतलः तस्य कुमुदिनी ज्योत्स्ना वा परिश्रान्तस्वान्तेषु अमृतोपमा सुधातुल्या, तथैव प्राणा अपि देहेऽस्मिन् शीतलाः सुखदाः, जीवनसञ्चालकाश्च। यथा चन्द्रमसा वनस्पतिषु रससेचनं क्रियते, तथैव मानवशरीरे प्राणाः तिष्ठन्ति

---

7. अथर्व0-20/140/1, अथर्व0-20/141/15
8. निरुक्त-6/13/1
9. अथर्व0 7.53.4
10. अथर्व0 7.53.6
11. मनु0 6/72

जीवनहेतवे। अपि च प्राणशक्तिं प्राणेन बलवतीं कुरु, दीर्घाष्यं च प्रापय, सपदि मृत्युं मा गच्छ। अथर्ववेदस्य एकादशतमकाण्डस्य एकस्मिन् मन्त्रे अतीव रमणीयं वर्णनम्–

'हे प्राणा:! प्राणान् पालयत, हे जीवन! जीवनमस्माकं सुखमयं कुरु, नियमैः वयं जीवेम, अनियमेभ्योऽस्मान् रक्ष। अत्र प्राणा एव प्रार्थिताः प्राणदानाय। विचारदृशा विमर्शेन ज्ञायते यत् केवलं श्वासोच्छ्वासैर्जीवमानो जीवो न प्राणरक्षणे समर्थः, अथ को तर्हि इति जिज्ञासायामुच्यते यत् प्राणायामं कुर्वन्नेव मनुजः प्राणैः प्राणान् त्रातुं समर्थः, कथमेवमिति विचिकित्सा यदि स्यात् प्रमाणरूपेण वेदभगवान् स्वयं दर्शयति पन्थानं कथयति च स एव ब्रह्मज्ञानी पदभाक् यः प्राणरोधने समर्थः, यः प्राणान् अवरोद्धुं न पारयति तस्य हानिर्जायते, इतोऽतिरिच्य स शीघ्रमेव परलोकमवाप्नोति अर्थात् प्राणैर्विमुच्यते।।[12] भूयोभूयः प्राणमहत्त्वं प्रतिपादयता वेदभगवता प्राणायामो विमृष्टः। उत्तरकालीनमखिलं साहित्यजातमेभिः प्राणैरनुप्राणितं वयं पश्यामः। ब्राह्मणानि, उपनिषदः, आरण्यकानि, दर्शनानि (आस्तिकानि, नास्तिकानि) औषधशास्त्राणि, स्मृतिग्रन्थाः येऽपि संस्कृतसाहित्ये विद्यन्ते तत्र सर्वेषु नैकरूपेषु प्राणचर्चा सर्वत्र परिव्याप्ता दृश्यते।

वैदिककोशे चतुर्दशपृष्ठेषु प्राणविषयकं विस्तृतं संग्रहं भूयसा परिश्रमेण कृतवन्तौ सुविज्ञौ कोशकारौ।[13] मनुना अपि निगदितम्–**'प्राणायामैः दहेद् दोषान्'.........**[14] अन्यच्च **'दह्यन्ते ध्मायमानानां.......'**[15] अथर्ववेदादन्यत्रापि ऋग्0, यजु0, साम0 त्रिषु एव वेदेषु प्राणायाममहिमा बहुधा प्रकीर्तितः[16] प्राणभेदाः अपि यजुर्वेदे निगदिताः[17] प्राणापानव्यानादीनां सर्वेषामनुकूलतात्र याचिता, येनेदं वपुः स्वस्थं भवेत्, वयञ्च वैभवशालिनो भवेम जीवनाय समर्थाः स्याम। वेदेषु प्राणापेक्षया तस्य पर्यायवाचिनां पदानां प्रयोगा अधिकाः प्राप्यन्ते।[18] आयत्-तिष्ठत्-परायत्-आसीनपदैः पूरककुम्भकरेचकबाह्यकुम्भकानां कीर्तनमिति मनुते सुबोधभाष्यकारः श्रीपाददामोदरसातवलेकरमहोदयः। उक्तानां भेदानां भूयोभूय अभ्यास एव प्राणदेवस्य प्रसादनम्। अयमेव विधिः प्राणोपासनायाः। मनुष्येण यत्नेन प्राणरक्षणीयाः। शतपथब्राह्मणे कतमे रुद्रा इति

---

12. अथर्व0-11/3/54, 55,56
13. वैदिककोशे 337-351
14. मनु0-6/72
15. मनु0-6/71
16. अथर्व0 काण्ड 11/पृष्ठ 43
17. यजु0 18/2।
18. वेदो में योगविद्या-प्राणविषयकोश की साधना पृष्ठ 100

जिज्ञासायामेकादश ते इत्युदीरितम्। ते च पञ्च प्राणापानव्यानोदानसमानानि, नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाः उपप्राणाः जीवश्च।।[19] वपुषि च प्राणादीनां सम्यक् स्थितिरेव प्राणाराधनम्। इदमेव प्राणतत्त्वं प्राणिषु यावत् सुष्ठु चरति तावत् ते धारयन्ति जीवनम्। उपनिषत्सु तेषां महत्ता गौरवेण गीता। प्राणाः वसुरूपेण रुद्ररूपेण वर्णिताः। पिता, माता, स्वसा, आचार्यः, ब्राह्मणः–इमे सर्वेऽपि प्राणस्वरूपत्वेनोक्ताः। अनेन पर्यालोचनेनावगतं भवति यदेतेषु प्राणस्य पौनःपुन्येन वर्णनं प्राणायामस्यानिवार्यत्वं विज्ञापयति। प्राणायाममहत्त्वं हृदि सन्धार्य एव आचार्यवरेण दयानन्देन ब्रह्मयज्ञे (सन्ध्यायाम्) प्राणायामस्य विधानं कृतम्। प्राणायामेनानेकान्यसाध्यानि कार्याणि साधयति साधकः। प्राणायामेन शुद्धो वातो हृत्प्रदेश अन्येषु च सर्वेषु भागेषु सञ्चरति, अनेन अशुद्धश्वासप्रवासेनोद्भूता रोगाः प्रणश्यन्ति। अयं विधिर्न केवलं कारणं स्वस्थशरीरस्यापितु जीवनस्य अन्यतमो हेतुरिति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम्। वैदेशिका अपि विद्वांसो मुदितमनसा स्वीकुर्वन्ति यत् स्वास्थ्यरक्षणे अप्रतिमः, अद्वितीयश्च प्राणायामः–In deep breathing the whole lung is forced into action....... the blood in the abdomen is more efficiently maintained, thus equalizing the circulation throughout the body the blood-pressure is also favourably influenced. Dr. Kallagsay. प्राणायामप्रकाराः तेषां लाभाश्च विद्वत्शिरोमणि-आचार्यवरैः विश्वश्रवोमहोदयैः सन्ध्यापद्धतिमीमांसानामके ग्रन्थे विस्तरेण प्रतिपादिताः। तत्रैव नैकेषां पाश्चात्त्यविदुषां मतान्यपि सम्यक् निर्दिष्टानि। प्राणवर्णने अथर्ववेद एवं शेखरायते चतुर्षु वेदेषु। वेदेऽस्मिन् प्राणस्य प्रस्फुटं वर्णनं तु अस्त्येव नैकेषु सूक्तेषु तत्र मानवशरीरस्य अङ्गप्रत्यङ्गानां निरूपणम्, शारीरिकमानसिकोभयविधरोगाणां वर्णनमुपन्यस्तम्, रोगाणां नाम ग्राहं ग्राहं तेषां निराकरणमपि समुदीरितं येन सर्वे सुखिनः स्युः। उक्तञ्च–'**जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति**'। वेदस्योपदेशः यत् दीर्घायुराकाङ्क्षिणा जनेन सततं प्राणाराधना करणीयैव–'**इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः**'[20] मन्त्रेऽस्मिन् दीर्घायुष्यं वर्णयन्नपि प्राणाः प्राथम्येन प्रकीर्तिताः, यतो हि प्राणान् विना न जीवनम्। प्राणान् आधारीकृत्य असकृत्प्रणामाः मन्त्रेषु निर्दिष्टाः–

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।।[21]
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते।।[22]

---

19. वेदों में योगविद्या पृष्ठ-101
20. अथर्व0 8/9/3
21. अथर्व0-11/04/01

सर्वाणि इन्द्रियाणि सप्रयोजनानि मानवदेहे, एकस्मिन्नपि विकारे सति जीवनयात्रा न सुकरा, परं प्राणाभावे तु सर्वं मोघमेव। अतः सर्वातिशायि महत्त्वमसूनाम्। इन्द्रियेषु 'प्राण' प्रधानतममिन्द्रियम्। प्राणाः सर्वेषां रक्षक इति पितुर्दृष्टान्तमाध्यमेन विज्ञापितम्। यथा मन्त्रेऽस्मिन्–

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।।[23]

मातरिश्वा पदमपि प्राणत्वेनोपदिष्टम्। यतो जीवः प्राणरूपेण मातुः गर्भे तिष्ठति। अत्रैवापरार्थरूपेण वातोऽपि मातरिश्वा इत्युक्तः। वातरूपाः प्राणा एवं शरीरावयवेषु अन्तः गच्छन्ति, बहिरागच्छन्ति, अङ्गेषु सञ्चरन्ति च–

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठिम्।।[24]

ओषधिषु सर्वोत्तमौषधिः प्राणाः। प्राणेषु विरतेषु निष्प्रयोजनो खलु औषधिप्रयोगः।

याते प्राणप्रिया तनूर्यो ते प्राणप्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।।[25]

तस्मिन्नेव सूक्ते सर्वाणि इन्द्रियाणि प्राणानुपासते इति प्रतिपादितम्–**'प्राणं देवा उपासते....** ....[26] अवधेयमत्र भूतवर्तमानभविष्यत्कालेषु प्राणानां महत्त्वं नैव न्यूनीभवति जनो बालरूपे, यौवने, वार्द्धक्ये वा कस्मिन्नपि आयुषि स्यात्, महिमा प्राणानां सर्वासु अवस्थासु एकरसत्वेन अनुभूयते, स्वीक्रियते वा मानवेन। प्रकरणेऽस्मिन् सुनामीतरङ्गैः को नाम सहृदयः अपरिचितः, येषां विनाशलीलया सङ्ख्यातीताः जनाः कालकवलीकृताः। तत् सर्वं दुःखदं दृष्ट्वा श्रुत्वा च दन्दह्यते देहः, चेखिद्यते चेतः, परं नैव किमपि कर्तुं पार्यते जनैः। तत्र हतानां तु का कथा आहतानामपि रक्षणार्थं नालं खलु औषधप्रयोगः। संक्रमणे प्रभाविताः शरीरावयवाः कृतेऽप्युपचारे विहितेऽपि प्रयत्ने न शक्याः रक्षितुम्। द्रष्टव्यं विषयेऽस्मिन् 8/1/5 दिनाङ्कस्य दैनिकजागरणपत्रस्य अन्तिमः पृष्ठः। मन्त्र एकस्मिन् दत्तेन 'अतन्द्र' विशेषणेन सुस्पष्टमुक्तं भवति, यदयं सर्वथा जागरूकस्तिष्ठति, आलस्यं नैव करोति, सर्वेषु सुप्तेषु अपि जागर्ति। वर्णनेनानेन प्राणानां माहात्म्यं तु ज्ञायते एव

---

22. अथर्व0–11/04/02
23. अथर्व 11/1/10
24. अथर्व–11/4/15
25. अथर्व–11/4/9
26. अथर्व–11/4/11

अन्तर्निहितोपदेशोऽप्यत्रास्ति यद् जनेन जागरूकेण अतन्द्रेण भवितव्यम्, तदैव इहलौकिकं पारलौकिकमुभयविधसुखं वैभवमैश्वर्यं, दीर्घायुष्यं च लप्स्यते। उद्बोधयति च ऋग्वेदः **'यो जागारः तमृचः कामयन्ते। यो जागारः तमु सामानि यन्ति।'**[27] एतादृशमेव रमणीयं वर्णनमन्यत्रापि समुपन्यस्तं वर्तते, कथयति च वैदिकी ऋचा[28] बोधप्रतिबोधनामानौ ऋषी यौ अहर्निशं जागरूकौ भवतः, तौ रक्षकौ प्रेरकौ च, उद्बोधयतो मानवं यत् तेनोत्साहेन सावधानतया च संसारेऽस्मिन् जीवितव्यम्। अखिलानि कार्यजातानि समयेन करणीयानि प्राणायामोऽपि कालेनैव कृतः फलप्रदो भवति, अभिप्रायोऽयं ज्ञापितः अनया वेदवाण्या— **'काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्। कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।।**[29] स्थाने एव उक्तं कविना—काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः। अध्यात्मप्रधानेष्वपि वेदेषु लोकहितकाम्यया जीवनदायकाः विविधा विधाः समुपदिष्टाः। तात्त्विकदृशा विचार्यमाणे विमृश्यमाणे विज्ञातं भवति यज्जगति जनाः जीवितमेव महार्घं मन्यन्ते। सत्स्वपि बहुविधेषु कष्टेषु न हापयितुमिच्छन्त्येनम्। अतीतेषु अपि संवत्सरेषु प्राणत्यागस्य वाञ्छा नैव प्रकटीकुर्वन्ति। अत एव वेदभगवता प्राणानामुपदेशः अतीव रमणीयतया समुपदिष्टः येन जनाः लभेरन् आभ्युदयिकं नैःश्रेयसिकं सुखम्।

---

27. ऋ० 5/44/14
28. अथर्व०-5/30/10
29. अथर्व-19/53/7

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ077-90)

महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में न्याय, दण्ड एवं प्रशासन व्यवस्था का स्वरूप

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान
गु0का0वि0वि0 हरिद्वार-249404

वेदभाष्यकारों में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्यारम्भ करने से पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत **'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?'**[1] इस प्रश्न के उत्तर में **'सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः'**[2] लिखकर संसार में प्रसृत सत्यविद्याओं का आदिस्रोत वेदों को बताने की न केवल घोषणा की अपितु भाष्यभूमिका के मध्य में ब्रह्मविद्या, वेदोक्त धर्म, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, प्रकाश्यप्रकाशक, गणितविद्या, आदि अनेकों विषयों के अन्तर्गत राजप्रजाधर्मविषय को भी संक्षेपतः जहाँ स्थापित किया, वहीं स्ववेदभाष्य में इस विषय की स्थान स्थान पर स्थापना भी दर्शायी।

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्॥[3]

मन्त्र के व्याख्यान में तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं–प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक **'आर्य्यराजसभा'** कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी **'आर्य्यविद्यासभा'** कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाये, तीसरी **'आर्य्यधर्मसभा'** कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से युद्ध में सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिए[4]–लिखा।

इन तीनों सभाओं के महत्त्व को दर्शाते हुए **''यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना''**–मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी जी ने लिखा

---

1. अथ ब्रह्मविद्याविषयः के प्रारम्भ में।
2. वही
3. ऋ0 3, 38, 6
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अथ राजप्रजाधर्मविषय: संक्षेपतः के प्रारम्भ में।

कि जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग-ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो सुख को प्राप्त होता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में राजप्रजाधर्मविषय वेदों में विद्यमान है, यह दिखाकर भाष्यान्तर्गत अनेकत्र इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। राजनीति को महत्त्वपूर्ण समझते हुए स्वामी जी ने लिखा–

यथाध्यापकाद् विद्यार्थिनो मनसा विद्याः सेवन्ते, तथैव त्वमाप्तोपदेशानुसारेण राजधर्मं सेवस्व।[5] नित्यं नीतिवीरताभ्यां संवर्द्धितराज्यकर्मणि राजप्रजाजनेषु सर्वतः सुखं प्रतिदिनं सूर्यप्रकाश इव वर्द्धते।[6]

अर्थात् जैसे अध्यापक से विद्यार्थी मन से विद्याओं का सेवन करते हैं, वैसे (हे ज्ञानवान्!) तू आप्तजनों के उपदेश के अनुसार राजधर्म का सेवन कर।। नित्य राजनीति और वीरता के द्वारा राज्यकर्म के बढ़ाये जाने पर राजा और प्रजाजनों में सूर्य–प्रकाश के समान सब ओर से प्रतिदिन सुख बढ़ता है।।

स्वामी जी सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्ती राज्य को सुख का उत्तम साधन मानते हैं–**मनुष्याश्चक्रवर्त्तिराज्यकरणस्य सामग्रीं विधाय पालनं कृत्वा विद्यासुखोन्नतिं कुर्युः।[7]**

भूमि और राज्य की प्राप्ति अन्यों का उपकार करने से, उत्तम पदार्थों के सञ्चय से तथा परमात्मा-सम्बन्धी अज्ञान को नष्ट करने से होती है।[8] राज्य की व्यवस्था सभा और सभापतियों द्वारा ही होती है। कभी भी एकमात्र राजा राज्य की व्यवस्था नहीं कर सकता, क्योंकि एक के द्वारा बहुतों के हित की सिद्धि का और असिद्धि के निवारण का कार्य नहीं हो सकता है।[9] सभापति में जहाँ राज्यरक्षा आदि के अनेक गुण होने चाहिये, वहाँ उसे गौओं वाला,

---

5. ऋ01.31.13
6. ऋ04.16.4
7. ऋ01.801
8. य आदावन्यानुपकरोति पदार्थान् संश्चिनोति, स सर्वसहायेन भूमिराज्यादिकं प्राप्नोति–ऋ06.54.5, ये परमात्माऽज्ञानं हिंसन्ति, ते यशस्विनो भूत्वा राज्यमाप्नुवन्ति– ऋ05.82.2
9. मनुष्यैः सभया एवं सभापतिभिश्चैव राज्यव्यवस्था कार्या। न खलु कदाचिदेकराजाधीनत्वेन स्थातव्यं यतो नैकेन बहूनां हिताहितसाधनं भवितुं शक्यमत– य016.24

भेड़ो वाला, और घोड़ों वाला भी होना आवश्यक है, वह किसी दुष्ट से दबने वाला न हो तथा उन दुष्टों का स्थायी रूप से नियन्त्रणकर्ता हो और उत्तम सन्तान वाला हो[10] –

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥[11]

प्रशासन में राजा का बहुत महत्त्व है। ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यान है कि देवताओं एवं असुरों में बार-बार युद्ध होने पर देवताओं को पराजय मिल रही थी। देवताओं ने पराजय के कारणों पर विचार-मन्थन कर यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी पराजय का प्रमुख कारण राजा का न होना है। तब उन्होंने सर्वसम्मति से सोम को अपना राजा स्वीकार किया। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुसार देवताओं में सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली होने के कारण इन्द्र को राजा बनाया गया। जैमिनीय-ब्राह्मण में वरुण के राजा होने का उल्लेख है। राजा की आवश्यकता समाज में अन्याय अव्यवस्था और सामरिक प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए होती है।[12] वेदों में अनेकत्र राजा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है–

शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्।
पूषन्निह क्रतुं विदः॥[13]

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्याऽरुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥[14]

क्षपो राजन्नुत त्मनाऽग्ने वस्तोरुतोषसः।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति॥[15]

सभापति राजा और सेनाध्यक्ष के विना इस संसार में कोई भी सामर्थ्य-प्रदाता, सुखी करने वाला, पुरुषार्थप्रदाता, चोर-दस्यु आदि के भय का निवारणकर्ता, सर्वोत्तम भोगों का दाता

---

10. मनुष्यैः स एव सभाध्यक्षः कर्त्तव्यो यो गोमानविमानश्ववानप्रधर्षितुं योग्यो दुष्टानां दृढप्रबन्धः प्रजावान् भवेत्– ऋ04.25
11. ऋ0 4.2.5
12. मनु07.3, रामायण अयो02.47–48, मत्स्य-पुराण 225.1–10
13. ऋ0 1.42.9
14. य0 8.52
15. य0 15.36

और न्याय तथा विद्या का प्रकाशक नहीं है, इसलिये उसी का आश्रय सब को लेना चाहिये। जब तक सबका रक्षक धार्मिक राजा और आप्त विद्वान् न हो, तब तक कोई भी निर्विघ्न रूप से विद्या और मोक्ष का अनुष्ठान करके उनके सुख को नहीं पा सकता और न ही मोक्ष के सुख से बढ़कर अधिक अन्य कोई सुख है। मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि जैसे प्रभातवेला का, दिन का और रात्रि का निमित्त अग्नि है, वैसे न्याय के प्रकाश का और अन्याय के निवारण का निमित्त राजा है–ये शब्द महर्षि ने उपर्युक्त तीनों मन्त्रों के भावार्थ में उद्धृत किये हैं।

राजा बनने योग्य मनुष्य के लक्षणों को स्वामी जी ने वेदभाष्य में अनेकत्र व्याख्यात किया है। प्रजाजन ऐसे राजा का चयन करें जो विद्वान् जितेन्द्रिय, धार्मिक, पिता जैसे पुत्रों के वैसे प्रजा के पालन में तत्पर और सबको सुख देने वाला हो। राजा अथवा प्रजाजन कभी दुष्ट कर्मों को करने वाला न हो। यदि किसी प्रकार हो जावे, तो प्रजा अपराध के अनुसार राजा को दण्डित करे और राजा प्रजाजन को। कभी भी अपराधी को दण्ड के विना न छोड़े और निरपराधी को व्यर्थ न सतावे।[16] जिसकी पुण्यप्रशंसा, सौन्दर्यमयरूप, विद्या, न्याय, नम्रता, वीरता, तेज, पक्षपातरहितता, मित्रता, उत्साह, स्वास्थ्य, बल, पराक्रम, धैर्य, जितेन्द्रियता, वेद आदि शास्त्रों में श्रद्धा और प्रजापालन में रुचि हो उसे ही राजा बनाना चाहिये।[17] जिसकी सङ्गति से दुष्ट भी श्रेष्ठ, कायर भी शूरवीर और कंजूस भी दानी बन जाते हैं।[18] जो दुष्ट लोगों को ताडना देवे और जो श्रेष्ठ श्रेष्ठ लोगों का सत्कार करता हुआ, दूसरे की वृद्धि देख के द्वेष करने वालों को दण्ड देता हुआ और प्रसन्न होने वालों का सत्कार करता हुआ, सब वादी तथा प्रतिवादियों के वचनों को ठीक-ठीक सुनकर सच्चा न्याय करता है।[19] जिसकी प्रशंसा आप्तविद्वान् करें, जिसके धार्मिक कर्मों को सारी प्रजाएँ चाहें और जो सत्य और असत्य का ठीक-ठीक विभाग करके

---

16. प्रजापुरुषाणां योग्यताऽस्ति [यत्ते] यो हि विद्वान् जितेन्द्रियो धार्मिकः पिता पुत्रानिव प्रजापालने तत्परः सर्वेभ्यः सुखकारी भवेत्तं सभापतिं कुर्वीरन्। राजा वा राजपुरुषः कदापि दुष्टकर्मकारी न भवेत्। कथञ्चिद् यदि स्यात् तर्हि प्रजा यथापराधराजानां दण्डयेत् राजा च प्रजापुरुषम्। कदाप्यपराधिनं दण्डेन विना न त्यजेत्। अनपराधिनं च वृथा न पीडयेत्– य08.23
17. यजु08.49 का दयानन्दभाष्य
18. स एव राजा भवितुं योग्यो यस्य सङ्गेन दुष्टा अपि श्रेष्ठाः कातरा अपि शूरवीराः कृपणा अपि दातारो भवन्ति–ऋ06.7.3
19. ऋ06.47.16 का दयानन्दभाष्य

न्याय करे।[20] जो वायुविद्या और विद्युद्विद्या का आश्रय लेकर सूर्यकिरणों से आग्नेयास्त्रादि शस्त्रों तथा यानों को सिद्ध करता है, वह राजा बनते हुए सुखी रहता है।[21]

वेदभाष्य के अन्तर्गत अनेकशः स्थलों पर राजा बनने योग्य पुरुष का वर्णन स्वामी जी ने किया है। वस्तुतः स्वामी जी का अभिप्राय प्रजापालन, न्याय, दण्ड का व्यवस्थापक, विद्या, ज्ञान और विज्ञान का अधिष्ठाता, पुरुष को राजा बनाने का दृष्टिगत होता है, जिसका व्याख्यान उन्होंने मन्त्रों के व्याख्यान प्रसङ्ग में दर्शाया है। राजा को कभी झूठी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए और कभी कठोर वचन नहीं बोलने चाहिये।[22] यदि अपना पुत्र भी कुलक्षण वाला हो, तो उसे अधिकार से वञ्चित कर देना चाहिए।[23]

न्याय-व्यवस्था करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य है। वही राजा श्रेष्ठ समझा जाता है जो प्रजाओं का वास्तविक न्याय करता है।[24] जो राजा स्त्री की कामना वाले पति के समान प्रजा के वचनों को सुनकर न्याय करता है और ऐश्वर्य को धारण करता है, वह राष्ट्र में पूजनीय होता है।[25] राजा स्वयं धार्मिक होकर और प्रजाजनों को भी धार्मिक बनाकर न्यायासन पर बैठकर निरन्तर न्याय करता है।[26] जो स्त्रीपुरुष सूर्य का प्रकाश जैसे संसार को वैसे सम्पूर्ण राज्य को पुष्ट करे, शुभ आचरण वाला हो[27] सबका स्वामी, वेदोक्त गुणों का धारणकर्त्ता, विज्ञानप्रेमी, सच्चे ऐश्वर्यवाला, यथोचित न्याय करने वाला सभापति अथवा सेनापति विद्वान् है,[28] भुजबल से दुष्टों का तिरस्कार करता हुआ श्रेष्ठ मनुष्य के गुणों से सम्पन्न होकर मित्र के समान प्रजाओं का पालन

---

20. ऋ07.26.4 का दयानन्दभाष्य
21. ऋ01.205 का दयानन्दभाष्य
22. राजा कदाचिन्मिथ्याप्रतिज्ञः परुषवादी न स्यात्–य023.23
23. स्वस्य पुत्रोऽपि कुलक्षणश्चेन्निरधिकारी कर्तव्यः–ऋ04.19.9
24. स एव राजा श्रेष्ठोऽस्ति, यः प्रजानां यथार्थं न्यायं विधन्ते–ऋ05.3.2
25. यो राजा स्त्रियं कामयमानः पतिरिव प्रजावाचः श्रुत्वा न्यायं करोत्यैश्वर्यं च दधाति, स राष्ट्रे पूज्यो भवति–ऋ04.32.16
26. राजा स्वयं धार्मिको भूत्वा प्रजाजनानपि धार्मिकान् सम्पाद्य न्यायासनमधिष्ठाय सततं न्यायं कुर्यात्–य012.17
27. ऋ02.27.15 का दयानन्दभाष्य।
28. ऋ01.305 का दयानन्दभाष्य।

करता है, लक्ष्मीवान् और प्रजावान् है वही न्यायाधीश हो सकता है।[29] जैसे राजा लोग पुरुषों का न्याय करें, वैसे ही स्त्रियों का न्याय रानियाँ करें।[30] स्त्रियों का न्याय और शिक्षण पुरुषों के द्वारा नहीं करवाना चाहिये। क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्रियाँ लज्जित और भयभीत होकर ठीक ढंग से बोल और पढ़ नहीं सकती हैं, इसलिए[31] न्याय करते समय राग-द्वेष और प्रेम-घृणा का परित्याग कर देना चाहिए।[32] जहाँ विदुषी स्त्री स्त्रियों का न्याय करने वाली और पुरुषों का विद्वान् पुरुष न्यायकर्त्ता हो वहाँ दिन और रात भय रहित होते हैं तथा विशेषकर रात्रि सुख से बीतती है।[33] न्यायकारी राजा होने से प्रजाएँ अनुकूल हो जाती हैं।[34] चरित्रहीन जनों को मात्र ताड़ना ही नहीं करनी चाहिये, अपितु प्राणों से भी वियुक्त करना तथा श्रेष्ठों को सत्कृत करना न्याय है।[35] यह निश्चित है कि यदि न्याय ठीक-ठीक होगा तो राज्य का धन और बल कभी नष्ट नहीं होगा प्रत्युत सैकड़ों गुना बढ़ेगा।[36] न्यायपूर्वक राज्य करने से धन और बल ही नहीं बढ़ते, अपितु जैसे वायु से अग्नि बढ़ता है और शीघ्र फैल जाता है, वैसे ही न्यायपूर्वक पालन की गई प्रजा के द्वारा राजा बढ़ता है।[37] जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार हट जाता है और प्रकाश हो जाता है, वैसे ही कार्य, कारण और आत्मा की विद्या के ज्ञाता राजा और अमात्य मित्र के तुल्य वर्त्ताव करके दृढ़ न्याय का प्रचार करें।[38] अपने और पराये राज्य की रक्षा न्यायाचरण से होती है तथा धर्म से राज्य की उन्नति होती है,[39] अतः न्याय और धर्म का आचरण अवश्य करना चाहिये।

---

29. ऋ04.22.5 का दयानन्दभाष्य।
30. यथा राजानः पुरुषाणां न्यायं कुर्युस्तथैव स्त्रीणां न्यायं राज्ञ्यः कुर्युः ऋ05.46.7 का दयानन्दभाष्य।
31. नैतासामेते पुरुषैःकारयितव्ये। कुतः? पुरुषाणां समीपे स्त्रियो लज्जिता भीताश्च भूत्वा यथावद् वक्तुमध्येतुं च न शक्नुवन्त्यतः-य01026 का दयानन्दभाष्य।
32. तत्र रागद्वेषौप्रीत्यप्रीती च विहाय न्यायमेव कुर्यात्।।-ऋ02.27.7 का दयानन्दभाष्य।
33. यत्र विदुषी स्त्री स्त्रीणां न्यायकर्त्री पुरुषाणां विद्वान् पुरुषश्च तत्राहोरात्रौ निर्भयौ भवेतां, विशेषतो रात्रिश्च सुखेन गच्छति-ऋ02.27.14 का दयानन्दभाष्य।
34. हे राजन्! भवान् न्यायकारी भवेत्तर्हि सर्वाः प्रजास्त्वामनुवर्त्तेरन्-ऋ04.302 का दयानन्द भाष्य।
35. य035.19, पर दयानन्दभाष्य का भावार्थ।
36. ऋ04.31.9 पर दयानन्दभाष्य का अभिप्राय।
37. ऋ04.48.2 पर दयानन्दभाष्य का भाव।
38. ऋ05.62.8 पर दयानन्दभाष्य का भाव।
39. ऋ05.66.6 पर दयानन्दभाष्य का भावार्थ।

ईश्वर का आश्रय लिये विना कोई भी मनुष्य प्रजाओं का पालन नहीं कर सकता[40] और प्रजाओं के पालन के लिये न्याय करना आवश्यक है। राष्ट्र में राजा परमेश्वर है। अतः जैसे परमेश्वर सब जीवों को उनके अपने अपने कर्मों के अनुसार फल देता है, वैसे राजा भी देवे। जैसे जगदीश्वर जैसा जिसका कर्म और जितना पाप तथा पुण्य है उतना ही और वैसा ही उसे देता है वैसे ही राजा भी जिसकी जितनी वस्तु और जैसा कर्म है, उतना और वैसा ही उसे देवे। जैसे परमेश्वर पक्षपात त्याग कर सब जीवों के प्रति वर्त्ताव करता है वैसे राजा भी करे।[41] जैसे पालन करने से घोड़े पुष्ट होकर कार्य-सिद्धि के योग्य बनते हैं, वैसे ही न्याय पूर्वक पालन की गई प्रजायें सन्तुष्ट होकर राज्य को बढ़ाती हैं।[42] जो सूर्य के समान वर्त्तमान राजा लोग और उनके सभासद् प्रजाजनों के द्वारा निवेदन किये गये उनके सुख-दुःख के वचनों को सुनकर न्याय करते हैं, वे राज्य बढ़ा सकते हैं।[43] राजाओं का यज्ञ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करना है।[44] जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, वैसे राजा अन्याय के आचरण को नष्ट करे।[45] जैसे सूर्य अपने आकर्षण आदि गुणों से जगत् को धारण करता है वैसे राजा न्याय से राज्य को धारण करता है।[46] जैसे सूर्य को पाकर समस्त पदार्थ अलग-अलग प्रकाशित होते हुए आनन्ददायी होते हैं, वैसे ही धार्मिक न्यायाधीशों को पाकर पुत्र, पौत्र, स्त्री, सेवक आदि के साथ वर्त्तमान जन विद्या, धर्म और न्याय में प्रसिद्ध आचरण वाले होकर कल्याणकारक होते हैं।[47] न्यायधीशों का न्यायासन पर बैठकर प्रसिद्ध शब्दों से वादी और प्रतिवादी को सम्बोधन करके, प्रतिदिन ठीक से न्याय करके तथा उन्हें प्रसन्न करके सबको सुखी करना चाहिये।।[48] जैसे विद्वान् जन विद्या के प्रसार से मनुष्यों के आत्माओं को प्रकाशित करके सबको पुरुषार्थ में प्रवृत्त करते हैं, वैसे विद्वान् न्यायाधीश प्रजाओं को उद्यमी

---

40. य07.39 पर दयानन्दभाष्य भाष्यार्थ।
41. य0304 पर दयानन्दभाष्य भावार्थ।
42. यथा पालनात्तुरङ्गाः पुष्टा भूत्वा कार्यसिद्धिक्षमा भवन्ति, तथैव न्यायेन सम्मालिताः प्रजाः सन्तुष्टा भूत्वा राज्यं वर्धयन्ति–य015.62 पर दयानन्दभाष्य।
43. ऋ02.27.1 पर दयानन्दभाष्य।
44. न्यायेन प्रजापालनं विद्याप्रदानकरणमेव राज्ञां यज्ञोऽस्तीति–य09.1 पर दयानन्दभाष्य।।
45. यथा सूर्यस्तमो हन्ति, तथा राजाऽन्यायाऽऽचारं हन्यात्–ऋ04.3010पर दयानन्दभाष्य।
46. सभाध्यक्षः सत्यन्यायेन राज्यं सूर्यः स्वैराकर्षणादिगुणैर्जगच्च धरति–ऋ01.67.3 पर दयानन्दभाष्य।
47. ऋ01.1006 पर दयानन्दभाष्य।
48. ऋ01.104.1 पर दयानन्दभाष्य।

बनाते हैं।[49] सांसारिक और पारलौकिक सुख का माध्यम पक्षपात छोड़कर अपने और पराये जनों का ठीक-ठीक न्याय करना है।[50] न्यायाधीश को चाहिये कि वादियों और प्रतिवादियों का लेख-पूर्वक (=बयान लेखबद्ध करके) न्याय करे।[51] जो न्यायाधीश सच्चा न्यायकारी विद्वान् होता है, उसके प्रति समुद्र के प्रति जैसे नदियाँ वैसे प्रजाएँ अनुकूल होकर ऐश्वर्य उत्पन्न करती हैं और इस न्यायाधीश की पूरी आयु होती है।[52]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द ने वेद भाष्य के अन्तर्गत अनेकत्र न्याय सम्बन्धी व्याख्यान दर्शाया है।

दण्ड शब्द का प्रयोग दमन के अर्थ में किया जाता है।[53] निरुक्तकार यास्क ने 'दण्ड' शब्द की व्युत्पत्ति धारणार्थक 'दद्' धातु से मानी है। दण्ड द्वारा ही सारी प्रजा धारण की जाती है, विना दण्ड के राष्ट्र का उच्छेद हो जावे। धारण अर्थ में 'दद्' धातु के प्रयोग की पुष्टि के लिये यास्क **'अक्रूरो ददते मणिम्'** वचन किसी प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं। हरिवंश पुराण के 34 वें अध्याय से ज्ञात होता है कि 'अक्रूर राजा' की माता गान्दिनी तथा पिता श्वफल्क था। इसका पितृव्य श्रीकृष्ण था। गान्दिनी काशी के राजा की पुत्री थी। वह अक्रूर स्यमन्तक नामी अतिसुन्दर मणि को धारण करता था। औपमन्यव निरुक्तकार का मत है कि इस दण्ड के द्वारा दुष्टों का दमन करने से, इसे दण्ड कहा जाता है। इस प्रकार दम् धातु से औणादिक ड[54] प्रत्यय करने पर भी 'दण्डं' शब्द सिद्ध होता है। दण्ड शब्द का दमनार्थक लोक में प्रायः प्रयुक्त होता है, जैसे **'दण्ड अस्य आकर्षत'** इस अदान्त को दण्ड दो, तभी यह सीधा होगा-यह निन्दार्थ में प्रयोग है[55] धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में भी 'दण्ड' शब्द का प्रयोग धारण तथा दमन के अर्थ में प्राप्त होता है। गौतम धर्मसूत्र में दमन करने के कारण ही दण्डविधि को दण्ड

---

49. यथा विपश्चितो विद्याप्रचारेण मनुष्याणामात्मनः प्रकाश्य सर्वान् पुरुषार्थे नयन्ति तथा विद्वांसो न्यायाधीशाः प्रजा उद्यमयन्ति। ऋ01.27.4 पर दयानन्दभाष्य।
50. ऋ06.45.5 का दयानन्दभाष्यभाव।
51. राजा वादिप्रतिवादिनां लेखपुरस्सरं न्यायं कुर्यात्-ऋ05.53.7 पर दयानन्द भाष्य।
52. ऋ07.34.11 पर दयानन्दभाष्य।
53. शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमतिनेनीयमानः। ऋ06.47.16
54. उणा0 1.114
55. दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते दमनादित्यौपमन्यवो दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्-निरुक्त 2.1.2

कहा गया है, जिसके द्वारा निरङ्कुश लोगों को वश में किया जाता है।[56] मनु के अनुसार प्राणियों की रक्षा के लिये सभी जीवों के रक्षक ब्रह्मतेजोमय दण्ड को ईश्वर ने अपने धर्मपुत्र में पैदा किया है।[57] दण्ड ही प्रजा का शासक है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड ही सभी के सोने पर जागता है। इसलिए विद्वान् दण्ड को ही धर्म कहते हैं।[58] कुलूक भट्ट ने धर्म का कारण होने से ही दण्ड को धर्म कहा जाता है-लिखा है।[59] महर्षि दयानन्द ने दण्ड पद का अर्थ करते हुए लिखा है-

दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स दण्डः यष्टिभेदो वा।।[60]

यहाँ पर भी 'दण्ड' पद का अर्थ दमन उपशमन या यष्टिभेद में गृहीत किया गया है। स्ववेदभाष्य में अनेकशः स्थलों पर प्रशासन व्यवस्था को सुचारु रूप प्रदान करने हेतु महर्षि ने दण्ड शब्द का प्रयोग किया है। प्रजाजनों और सैनिकों को अपने नियमों से विचलित होने पर न्यायाधीश कठोर दण्ड देवे।[61] मनुष्यों को शिक्षा, विद्या और सेना के बल से पराया धन हरने वाले धूर्त्तों और चोरों को सब प्रकार से मारना चाहिये; दूर फेंकना चाहिये और निरन्तर बन्द रखना चाहिये। ऐसा करके राजधर्म और प्रजा के मार्गों को निःशङ्क और निर्भय बनाना चाहिये। जैसे परमेश्वर दुष्टों को उनके कर्मों के अनुसार शिक्षा देता है, वैसे ही हमें भी इन सबको शिक्षा, दण्ड और वेद के द्वारा सज्जन बनाना चाहिये।[62] न्यायाधीश आदि मनुष्यों को, किसी अपराधी अथवा चोर को दण्ड दिये विना नहीं छोड़ना चाहिये। नहीं तो प्रजा पीड़ित होती रहेगी। इसलिये प्रजा की रक्षा के लिये दुष्ट कर्म करने वाले पिता, आचार्य, माता, पुत्र तथा मित्र आदि को भी सदैव अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिये।[63] सभाध्यक्ष आदि राजपुरुषों को और

---

56. दण्डो दमनदित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत् 2.2.28
57. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मनम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्यपूर्वमीश्वरः।। 7.14
58. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।।–मनु01.18
59. मनुस्मृति 7.28 पर कुल्लूककृत टीका
60. उणादिकोषः 1.114 दयानन्दवृत्ति।
61. ऋ01.37.7 का दयानन्दभाष्यभाव।
62. ऋ01.42.2 का दयानन्दभाष्य।
63. नैव न्यायकारिभिर्मनुष्यैः कस्यचिदपराधिनश्चोरस्य दण्डदानेन विना त्यागः कर्त्तव्यः। नो चेत् प्रजा पीडिता स्यात्। तस्मात् प्रजारक्षणार्थं दुष्टकर्मकारिणः पित्राचार्यमातृमित्रादयोऽपि सदैव यथापराधं ताडनीयाः। ऋ01.42.4 पर दयानन्दभाष्य।

प्रजाजनों को, जैसे अग्नि आदि वन आदि को जला डालते हैं वैसे दुष्टाचारी प्राणियों को विनष्ट करना चाहिये। इस प्रकार प्रयत्न करते हुए निरन्तर प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।[64] जैसे सौत स्त्रियाँ अपने पति को क्लेश पहुँचाती हैं, अथवा जैसे अपने प्रयोजन में सफल या असफल होते हुए भी चूहे पराये द्रव्यों को विनष्ट करते हैं और जैसे व्यभिचारिणी वेश्या आदि स्त्रियाँ विद्युत् के समान चमचमाती [दिखती हुई,] कामी मनुष्य के उपस्थेन्द्रिय के रोग के द्वारा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के अनुष्ठान में बाधक होने के कारण, उस कामी मनुष्य को सताती हैं, वैसे जो डाकू आदि लोग झूठे निश्चय, कार्य और वचन से हमें क्लेश पहुँचाते हैं, उनको भलीभाँति दण्डित करके इनका और हमारा न्यायाधीश को पालन करना चाहिये। ऐसे निश्चय किये विना निरन्तर राज्य के ऐश्वर्य का योग अधिक नहीं हो सकता है।[65] दण्ड देकर दुष्टों को सचेत किया जाता है।[66] जो बुद्धिमान् लोग हिंसाभाव को त्याग कर अजातशत्रु बन गये हों, वे दुष्टों को पाशों से बाँधे। उनके द्वारा की गयी इस रक्षा-विधि से सब सुखी होवें।[67] यदि अध्यापक विद्यार्थियों को और राजा अमात्यों एवं प्रजाजनों को भृकुटि टेढ़ी करके प्रेरणा भी दे देवें तो वे सुसभ्य, विद्वान् और धार्मिक बन जाते हैं।[68] यह भी दण्ड की एक प्रक्रिया ही है। दुष्टों को दण्डित किये विना सज्जनों को आनन्द नहीं आ सकता।[69] अपराधी को दण्डित किये विना न छोड़ें।[70] प्रजाजनों और प्राणियों के सो जाने पर भी जिस राजा का दण्ड जागृत रहता है, वह अभयदाता कहीं से भी भयभीत नहीं होता है।[71] जो विपरीत कर्म के द्वारा प्रजाओं में कुचेष्टा करता है, उसे सदा बाँधकर और शस्त्रों से पीड़ित कर सब ओर से बन्द कर दे।[72] जो पुरुष

---

64. ऋ01.36.20 पर दयानन्दभाष्य।
65. ऋ01.105.8 का दयानन्दभाष्य।
66. ऋ02.11.10का दयानन्दभाष्य।
67. ऋ02.27.16 का दयानन्दभाष्य।
68. ऋ04.1.1 का दयानन्दभाष्य।
69. ऋ04.17.2 का दयानन्दभाष्य।
70. योऽपराधं कुर्यात्तं दण्डेन विना मा त्यजे:—ऋ04.17.13 का दयानन्दभाष्य।
71. यस्य राज्ञ: प्रजाजनेषु प्राणिषु सुप्तेषु दण्डो जागर्त्ति, सोऽभयद: कुतश्चिदपि भयं नाऽऽप्नोति— ऋ04.17.15 का दयानन्दभाष।
72. यो विरुद्धेन कर्मणा प्रजासु विचेष्टते, तं सदा निबद्धं शस्त्रैर्व्यथितं कृत्वा सर्वतो निबध्नीहि— ऋ04.17.15 का दयानन्दभाष्य।

और स्त्रियाँ व्यभिचार करें, उन्हें कठोर दण्ड देकर नष्ट कर दें।[73] जब-जब दुष्ट लोग श्रेष्ठों को सतावें, तब-तब सब अधार्मिकों को प्रचुर दण्ड दिया जावे।[74] जो प्रजा को दूषित करने वाले हों, उन्हें सदैव दण्ड दे और जो श्रेष्ठ आचराण वाले हों, उनका मान होना चाहिये।[75] जैसे धान स्वच्छ करने वाला धान को कूटकर और भूसे को अलग करके अन्न को ले लेता है और जैसे पशु खुरों से धान आदि को खाँडता है, वैसे ही राजा साहसिक दुष्ट मनुष्यों को प्रचुर दण्ड दे।[76] जो कुशिक्षा के द्वारा मनुष्यों को दोषयुक्त करते हैं और उन्हें निन्दा तथा विषयासक्ति में प्रवृत्त करते हैं, उनको न्यायाधीश प्रचुर दण्ड दे।[77] जो न्याययुक्त आज्ञा के विरुद्ध प्रजाएँ हों, उन्हें दण्ड देकर शान्त करना चाहिये। इस न्याययुक्त आचरण से, सब लोग सौ वर्ष की आयु के होते हैं।[78] जो विना किये ही किसी पर अपराध लगाते हैं, उन्हें राजा नित्य दण्ड दे।[79] जो धर्म के मार्ग को छोड़कर उल्टे मार्ग पर चलते हैं, उन्हें राजा नित्य दण्ड देवे।[80] जो डाकू आदि चोर, दुष्टवचन वाले, झूठ बोलने वाले तथा व्यभिचारी मनुष्य हों, उनको अग्नि के द्वारा दग्ध करना आदि उग्र दण्डों से प्रचुर ताड़ना देकर वश में करना चाहिये।[81] राजपुरुषों को जो गौ आदि की हिंसा करने वाले पशु तथा मनुष्य और जो चोर आदि हों, उन्हें अनेक प्रकार के बन्धन, ताड़न और विनाश के द्वारा वश में करना चाहिये।[82] जो राजकर्मचारी शत्रुओं के निवारण में यथाशक्ति प्रयत्न नहीं करते हैं, उन्हें अच्छी प्रकार दण्ड देना चाहिये।[83] जिस-जिस अङ्ग से मनुष्य कुचेष्टा

---

73. ये पुरुषा याः स्त्रियश्च व्यभिचारं कुर्युस्तांस्तीव्रं दण्डं नीत्वा विनाशय–ऋ04.18.13 का दयानन्दभाष्य।
74. यदा यदा दुष्टाः श्रेष्ठान् बाधन्तां तदा तदा त्वं सर्वानधर्मिणो भृशं दण्डय–ऋ04.30.5 का दयानन्दभाष्य।
75. ये प्रजादूषकाः स्युस्तान् सदैव दण्डय। ये श्रेष्ठाचारा भवेयुस्तान् मानय–ऋ05.3.7 का दयानन्दभाष्य।
76. ऋ05.7.7 का दयानन्दभाष्य।
77. ऋ05.42.10का दयानन्दभाष्य।
78. ऋ06.12.6 का दयानन्दभाष्य।
79. ऋ0ये विनाकृतेनाऽपराधं स्थापयन्ति तेभ्यस्त्वं तीव्रं दण्डं देहि–ऋ06.16.13 पर दयानन्दभाष्य।
80. ये धर्मपथं विहायोत्पथं चलन्ति तान्राजा नित्यं दण्डयेत्–ऋ06.204 पर दयानन्दभाष्य।
81. य011.77 पर दयानन्दभाष्य।
82. राजपुरुषैर्गवादिहिंसकाः पशवः पुरुषाश्च ये च स्तेनास्ते विविधेन बन्धनेन ताडनेन नाशनेन वा वशं नेयाः–य011.78 पर दयानन्दभाष्य।
83. ये राजभृत्याः शत्रुनिवारणे यथाशक्ति न प्रयतन्ते ते सम्यग्दण्डनीयाः य015.2 दयानन्दभाष्य।

करके हैं उस-उस अङ्ग के ऊपर दण्डदान के द्वारा राजधर्म की निरन्तर उन्नति राजा को करनी चाहिए।[84]

महर्षि दयानन्द ने स्ववेदभाष्य में अनेक स्थलों पर लिखा कि पराये पदार्थ हरने वाले, कुटिल स्वभाव वाले, अपनी विजय चाहने वाले डाकुओं को वेगपूर्वक ललकार कर, पर्वत तथा वन आदि में बनाये हुए उनके घरों को गिराकर, उनको बाँधकर,[85] निन्दित कर्म करने वाले, द्वेष करने वाले को दण्ड देकर सूने स्थान में बन्द करदे,[86] अन्धा-सा बनाकर कारागृह में डाल दे।[87]

किन्तु साथ में यह भी लिखा है कि हिंसक, चोर और लम्पट मनुष्यों को कारागृह में अन्ध-सा बनाकर तथा उपदेश और व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा उन्हें धार्मिक बनाकर धर्म और विद्या के प्रेमी बनावे तथा पथ्य और ओषधिप्रदान के द्वारा उन्हें नीरोग करे।[88]

प्रशासन को सुचारु स्वरूप प्रदान करने के लिए स्वामी जी ने लिखा कि कोई डाकू, कोई कपट पूर्वक, अपहरण करने वाले, कोई बेहोश करके अथवा मोहित करके पराये पदार्थ ले लेने वाले, कोई घूस लेने वाले, कोई रात्रि में सुरंग लगाकर जो पराये पदार्थों का हरण करते हैं, विभिन्न बिक्री स्थलों के वासी जो हाट बाजारों में छल से पराये पदार्थों को हरते हैं, जो अन्याय पूर्वक शुल्क लेने वाले, कर्मचारी बनकर स्वामी के पदार्थों को हरते हैं, जो छल कपट के द्वारा पराये राज्यों को अपना बना लेते हैं, जो धर्मोपदेश के बहाने से मनुष्यों को भ्रमित करके तथा गुरु बनकर शिष्यों के पदार्थों का हरण करते हैं, जो वकील होते हुए मनुष्यों को आपस में लड़ाकर उनके पदार्थों को हरते हैं और जो न्यायासन पर बैठकर अनुचित शुल्क आदि लेकर अथवा मित्रभाव से अन्याय करते हैं—इत्यादि जितने हैं, उन सबको चोर समझना चाहिये। इनका सबं उपायों से निवारण करके मनुष्यों को धर्मपूर्वक राज्यशासन करना चाहिये।[89]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर न्याय, दण्ड और प्रशासन के स्वरूप को वेदानुकूल व्याख्यात किया है। जिन

---

84. य03010पर दयानन्दभाष्य।
85. ऋ01.36.18 पर दयानन्दभाष्य।
86. ऋ05.2.6 पर दयानन्दभाष्य।
87. ऋ01.116.16 पर दयानन्दभाष्य।
88. ससभो राजा हिंसकान् चोरान् लम्पटान् जनान् कारागृहेऽन्धानिव कृत्वोपदेशेन व्यवहारशिक्षया च धार्मिकान् सम्पाद्य धर्मविद्याप्रियान् पथ्योषधिदानेनऽऽरोग्यांश्च कुर्यात्—ऋ01.116.16 पर दयानन्दभाष्य।
89. ऋ01.42.3 पर दयानन्दभाष्य।

स्मृतिग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा गृह्यसूत्रों में ग्रन्थकारों ने प्रशासन की व्यवस्था का विस्तार किया है, उस प्रशासन-विज्ञान को वेदमन्त्रों में ढूँढना महर्षि दयानन्द का ही कार्य है। आज जब हम काले पानी या देश निकाला की चर्चा करते हैं, कारागृह में पड़े बन्दीजनों को संस्कारवान् बनाने की सोचते हैं, दुष्ट अपराधी से कठोर दण्ड देकर बात उगलवाने की प्रक्रिया अपनाते हैं, सज्जनों को, विद्वानों को सम्मानित करने की घोषणा करते हैं, तब हम पाते हैं कि इन सबका मूल तो वेद ही है। और तब हमें महर्षि के ये वाक्य सहसा कर्णगोचरी होने लगते हैं -**'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है**[90] **तथा वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति मूलोद्देशतः।**[91]

अन्त में इतना ही कहूँगा कि धन्य है वह महर्षि जिसके वेद में से वेद (ज्ञान) को उद्भासित कर वेदों का सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय बनाकर न्याय का नया मार्ग सुलभ कराया।

90. आर्य समाज का नियमांश।
91. 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अथ ब्रह्मविद्याविषय: के प्रारम्भ में।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ091-100)

वेदों में अङ्गिरा का स्वरूप

वेदाचार्य डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार
उपाचार्य, रामजस कालेज
दिल्ली

वेदों में अगस्त्य, अङ्गिरा, पुरुरवा, ययाति आदि अनेक नाम पद इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं जो लोक में मनुष्यों के भी वाचक हैं। लोक में विश्रुत ऋषि वाचक तथा राजा वाचक नाम पद वेदों में पर्याप्त रूप में उपलब्ध होते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा है कि वेदों में इन नाम वाले राजाओं तथा ऋषियों आदि का इतिहास विद्यमान है। उक्त धारणा ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार के नामपद व्यक्ति विशेषों के वाचक न होकर विभिन्न पदार्थों के वाचक हैं। यास्काचार्य ने इस प्रकार के अनेक नामों के निर्वचन दिये हैं तथा उनसे सम्बन्धित मन्त्रों की विभिन्न कारिकाएँ की हैं। यहाँ पर वेदोक्त अङ्गिरा ऋषि के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

अङ्गिरा ऋषि

वेदों में अनेक स्थानों पर अङ्गिरा या अङ्गिरस् का उल्लेख मिलता है। यह कोई ऋषि अथवा व्यक्ति विशेष नहीं है, अपितु विशेष गुणों से युक्त है। स्वयं वेद ही इसमें प्रमाण है। यथा-ऋग्वेद में अङ्गिरा तथा उनके वंशजो का अग्नि से सम्बन्ध,[1] तथा उनके विशेषण **'अग्नेः सूनवः'**[2] **'दिवस्पुत्राः', 'असुरस्य वीराः'**[3], दिये गए हैं। ऋग्वेद में इनको 'गवां गोत्राः' वाणी के वंशज तथा विद्वान् के पद को प्राप्त करने वाले भी कहा गया है।[4] ये लोग यज्ञ के सर्वश्रेष्ठ मन कर्त्ता होते हैं।[5] यजुर्वेद के अनुसार ये लोग पदज्ञ होते हैं तथा साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करते

---

1. ऋग्वेद 1.13.1
2. ऋ04.2.15.3.53.7.1062,5
3. ऋ010.67.2
4. ऋ0 6/65/5
5. ऋतं शसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथममनन्तः अथर्व020.91.2

हैं।[6] इसी प्रकार ऋग्वेद में भी अङ्गिरसों को वाणी को प्राप्त करने वाला कहा गया है।[7] उक्त विशेषणों के आधार पर बिल्कुल ही स्पष्ट है कि वेद में अङ्गिरा अर्थ व्यक्ति अथवा ऋषिविशेष न होकर उक्त गुणों को प्राप्त करने वाले विद्वान् व्यक्ति से हैं। कोई भी व्यक्ति इन गुणों को प्राप्त करके अङ्गिरा की पदवी को प्राप्त कर सकता है। वेदों में अङ्गिरा का अथवा अङ्गिरसों का अग्नि तथा यज्ञ से विशेष सम्बन्ध कहा गया है। ये विश्वामित्र को धन प्रदान करने वाले तथा यज्ञों द्वारा आयु को बढ़ाने वाले होते हैं।[8] ऋ0 10.67 तथा 68 सूक्तों का देवता बृहस्पति है। इन सूक्तों में अङ्गिरसों के उक्त विशेषण दिये गए हैं। बृहस्पति का अर्थ विद्या तथा वाणी पर अधिकार रखने वाला विद्वान् है। सूक्त 67 का ऋषि अङ्गिरस् है। इससे स्पष्ट है कि इन सूक्तों में वर्णित गुणों का धारण करके भी व्यक्ति अङ्गिरस् विद्वान् बृहस्पति बन सकता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अङ्गिरा को अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है।[9] सायणाचार्य के अनुसार यहाँ पर अङ्गिरस् की उपमा मनुष्य, अङ्गिरा, ययाति तथा पूर्व पुरुषों से दी गई है। यदि यहाँ पर वेद को अङ्गिरा की उपमा अङ्गिरस् से ही देनी अभीष्ट होती तो अनन्वय अलङ्कार के अनुसार अन्य उपमानों का निषेध होना चाहिए था, किन्तु यहाँ अङ्गिरा के अन्य उपमान भी विद्यमान हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ अङ्गिरा तथा अङ्गिरस् रूढ़ि अर्थों में प्रयुक्त न होकर विशेष अर्थों के वाचक हैं।

अङ्गिरा, अङ्गिरसाम्, अङ्गिरोभिः, अङ्गिरसः, आदि विभिन्न विभिक्तियों एवं वचनों में अङ्गिरा के रूप प्राप्त होते हैं। तमप् प्रत्यय के साथ भी इसका 'अङ्गिरस्तमः' प्रयोग पाया गया है।[10] अङ्गिरसी[11] यह स्त्रीलिङ्ग का रूप भी प्राप्त होता है। यह कृत्याओं का विशेषण है। यास्क ने अङ्गिरा के लिए **'अङ्गारेष्वङ्गिराः अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः'**[12] लिखा है। अग्नि के अङ्गारों में किसी की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं। अतः इसका अर्थ तपस्याप्रधान लिया गया है यहाँ पर 'अकि लक्षणे' (भ्वा0) से 'आरन्' प्रत्यय होकर अङ्गार बनता है।

---

6. यजुर्वेद 34.17
7. येना नः पूर्व पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्। ऋ01.62.2.यजु034/17
8. विश्वमित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः ऋ03.53.7
9. मनुष्यवदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुशे। ऋ01. 31. 17
10. अधा ते अङ्गिरस्तमाग्ने। ऋ01.75.2, तुम्यं ता अङ्गिरस्तम ऋ08.43.18
11. अथर्व08.5.9
12. नि0 3/5

सायणाचार्य ऋग्वेद में पठित 'अङ्गिरा ऋषि' का अर्थ **'अङ्गिरसामृषीणां सर्वेषां जनकत्वात् तादृशोऽङ्गिरो नामकः ऋषिः'** करते हैं,[13] किन्तु यहीं पर द्वितीय मन्त्र में पठित **'अङ्गिरसरस्तमः'** का अर्थ **'अतिशयेन अङ्गिरा भूत्वा'** करते हैं। जो किसी ऋषि का नाम अङ्गिरा होगा तो उसके साथ 'तमप्' नहीं आ सकता। 'तमप्' प्रत्यय ही यहाँ अङ्गिरा के गुणवाचकत्व को सूचित कर रहा है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ **अग्नि** का अर्थ **'स्वप्रकाश विज्ञान स्वरूप परमेश्वर'** करके **अङ्गिरा** का अर्थ **'ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि अङ्ग तथा शरीर के शिर आदि अङ्गों के रसरूप अर्थात् सर्वान्तर्यामी'** किया है। मन्त्र दो में पठित **'अङ्गिरस्तमः'** का अर्थ जीव-प्राण तथा मनुष्यों में अत्यन्त उत्तम किया है, जो गुणवाचक ही है। शतपथ में अङ्गिरा को अग्नि का विशेषण ही माना है।[14] शतपथ में प्राणों को भी अङ्गिरा कहा है।[15] इसी आधार स्वामी दयानन्द ने अङ्गिरा का अर्थ प्राण भी किया है। इस प्रकार वेदों में यह पद व्यक्तिविशेष वाची न होकर गुणवाची है। अथर्ववेद का सम्बन्ध अङ्गिरा ऋषि से माना जाता है। यह वेदवर्णित अङ्गिरा से पृथक् है। 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखक कीथ तथा मैक्डानल ने भी ऋग्वेद में प्रयुक्त अङ्गिरसों की ऐतिहासिकता का निषेध किया है।[16]

अङ्गिरस=सूर्यकिरणें

सूर्य किरणों को भी अङ्गिरस कहा जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि हम द्युलोक के पुत्र बनकर अङ्गिरस बन जाएँ[17] तथा दीप्त होते हुए मेघ को विदीर्ण करें इसका अर्थ है कि मेघ मण्डल में प्रविष्ट होकर अङ्गिरस बन जाएँ। सूर्य की रश्मियाँ ही जब मेघमण्डल में प्रविष्ट होकर अङ्गिरस बन जाती हैं, ये वहाँ पर विद्युत् की दीप्त तरङ्गे हैं। ये अङ्गिरस या सूर्यकिरणें ही मेघ को विदीर्ण करके वर्षा कराती हैं। इसी तथ्य को ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है कि सूर्य के समान चक्र का वर्त्तन करते हुए अङ्गिरा वाले इन्द्र ने वल का भेदन किया।[18] सूर्य ही

---

13. ऋग्वेद 1.31.1
14. अङ्गिरा वाऽग्निः। शत06.4.4.4
15. प्राणो वा अङ्गिराः शत) 6.1.2.28.6.5.2.3
16. जीम ।दहपतेंमे ंचचमंत पद जीम त्पहअमकं ष् `मउपउलजीपबंस इमपदहेए ंदक दव तमंससल ।पेजवतपबंस बींतंबजमत उंद इम `पहमदक ूमतद जव जीम जीवेम चेंहमे त्पहण 1ण्45ण्3ए1ण्39ण्9ए 3ण्31ण्7ए म्ण्ज्ण्ब्ण्
17. दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ऋ० 4.2.15
18. अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद्वलमिन्द्रोऽङ्गिरस्वान्। ऋ02.11.20

इन्द्र है। निघण्टु में वल मेघ नामों में पठित है।[19] सूर्य ही अपनी अङ्गिरस किरणों के द्वारा मेघ को विदीर्ण करता है। **'वलमङ्गिरोभिः हन्नच्युतच्युत्'**[20] में भी यही रहस्य प्रकट किया गया है। ऋग्वेद में अङ्गिरसों को **'विरूपासः'** तथा द्युलोक की अग्नि से उत्पन्न बतलाया गया है।[21] सूर्य की किरणें ही द्युलोक की अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अङ्गिरस् पद वाच्य हैं। सायणाचार्य ने भी यहाँ पर पठित **'दिवस्परि'** का अर्थ **'द्युलोकादग्नेः जज्ञिरे परितो जाताः'** किया है। सूर्यकिरण ही विविध रूप वाली होने से विरूपासः हैं। सूर्यकिरणों में सात रंग प्रसिद्ध हैं। यास्क ने एक स्थान पर अङ्गिरसों को वराह भी कहा है।[22] वराह का अर्थ है-जल को आहरण करने वाला (वर=आहर) सूर्यकिरणें ही वर=जल का आहरण करने के कारण अङ्गिरा हैं।

एक अन्य मन्त्र में अङ्गिरसों के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥[23]

यहाँ पर सायणाचार्य **'भोजाः'** का अर्थ **'सौदासाः क्षत्रियाः'** तथा **'विरूपाः'** का अर्थ नाना स्वरूप वाले मेधातिथि आदि करते हैं। मन्त्र में न तो सुदास शब्द पठित है तथा न ही मेधातिथि। स्पष्टतः यहाँ पर इतिहास के पूर्वाग्रह के कारण ही इन्हें जोड़ा गया है। स्वामी दयानन्द ने **'भोजाः'** का अर्थ भोक्ता प्रजापालक तथा **'विरूपाः'** का अर्थ विविध रूप वाले किया है, जो धात्वर्थानुसारी है। इसी प्रकार सायणाचार्य **'असुरस्य'** का अर्थ **'रुद्रस्य'** तथा विश्वामित्र का भाव विश्वामित्र नामक ऋषि लेकर मन्त्र को इतिहास से सम्बद्ध करते हैं, जबकि स्वामी दयानन्द धात्वर्थ के अनुसार **'असुरस्य'** का अर्थ **'शत्रूणां प्रक्षेपकस्य'** तथा विश्वामित्र का अर्थ **'विश्वं सर्वं जगन्मित्रं यस्य'** करते हैं। आधिदैविक पक्ष में मन्त्र का यह अर्थ होगा-

अर्थ-(इमे) ये (भोजाः) पालन करने वाली (विरूपाः) नाना स्वरूप वाली (दिवस्पुत्रासः)[24] प्रकाश का पालन करने वाली (असुरस्य[25] वीराः[26]) सूर्य की गतिशील

---

19. निघण्टु (1.10)
20. ऋ० 6.18.6
21. ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि। ऋ010. 62. 6
22. अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। नि05.4
23. ऋ03/53/7
24. पुत्रो निपरणाद्वा। नि02.11
25. ऋ01.35.7,10 में सायणाचार्य ने भी असुर का अर्थ सूर्य किया है।

(अङ्गिरसः) किरणें (विश्वामित्राय) सूर्य के लिए (मघानि) जल रूपी धनों को (ददतः) देते हुए (सहस्रसावे)[27] जीवन में (आयुः[28] प्रतिरन्ते) अन्न तथा आयु को बढ़ाती हैं। सूर्य किरणों का आयुवर्धकत्व सुप्रसिद्ध है।

ऋग्वेद में इन्द्रसूर्य को अङ्गिरस्तम तथा सूर्यकिरणों को अङ्गिरसः कहा गया है।[29] सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या इस रूप में की है कि गमन करने के कारण सूर्यकिरणें अङ्गिरा हैं। सूर्य अङ्गिरस्तम है अर्थात् अतिशय गन्ता हैं।

अङ्गिरसों का परिश्रम तथा तपस्या से सम्बन्ध

यास्क ने कहा है कि अङ्गारेष्वङ्गिराः। अग्नि के अङ्गारों से मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः इस वचन का यही अर्थ है कि अङ्गारों के समान तपस्या की अग्नि में तपकर ही व्यक्ति अङ्गिरा बनता है। यास्क से पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अङ्गिरा का सम्बन्ध अङ्गारों से माना गया है। ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया है कि जो अङ्गारे थे वे ही अङ्गिरस् हो गये।[30] शतपथ में भी अङ्गारों से अङ्गिरसों की उत्पत्ति कही गई है।[31] महीधर ने गत्यर्थक 'अगि' धातु से अङ्गिरा की व्युत्पत्ति मानते हुए अङ्गिरा का अर्थ गतिमान् किया है।[32] गति के तीन अर्थ सुप्रसिद्ध है-ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। अतः ज्ञानी तथा गतिशील को अङ्गिरा कहेंगे। गोपथ-ब्राह्मण में अङ्गिरस की व्युत्पत्ति अङ्ग+रस् से मानी गयी है।[33] जो परिश्रम करते हुए श्रान्त व्यक्ति के अङ्ग-अङ्ग से स्वेद रस-पसीना निकलने लगता है, इससे यह अङ्गिरस कहलाता है।[34] स्वामी दयानन्द ने अङ्गिरा का अर्थ ईश्वर, अग्नि तथा ऋषि करते हुए इसका निर्वचन इस प्रकार किया

---

26. वीरः वेत्तेर्वा स्याद् गतिकर्मणः नि01.7
27. सहस्रं बहुनाम। निघ. 3.1, सहस्रं सूयतेऽत्रेति सहस्रसावः (सायण)
28. आयुः निघ 2.7 में अन्न नामों में पठित है। सायण आयुः जीवनमन्नं वा।
29. ऋ01.100.4
30. ये अङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। ऐ03.34
31. अङ्गारेभ्योऽङ्गिरसः। शत04.5.1.8
32. अङ्गतिर्गत्यर्थः अङ्गिगतिरस्याऽस्तीति अङ्गिराः। रः प्रत्ययो मत्वर्थीयः। (यजु03.3, मही0भा0)
33. गो0ब्रा01.1.7
34. तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतम् अङ्गरसं सन्तम् अङ्गिरा इत्याचक्षते परोक्षेण। गो0पू01.1.7

है-'अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा सः अङ्गिराः। ईश्वरोऽग्निर्ऋषिर्वा।'[35] इस प्रकार परिश्रमी तथा तपस्वी व्यक्ति को ही अङ्गिरा कहेंगे।

अङ्गिरस् या अङ्गिराः पद विशेषण के रूप में

वेद मन्त्रों में अङ्गिरस्तम पद बहुधा विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। योगी अरविन्द का तो यह कथन है कि मन्त्रों में सर्वत्र अङ्गिरस् पद विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, विशेषतः गौओं तथा उषा के रूपक के प्रकरणों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है।[36] यथा–

(१) अग्नि का विशेषण

(क) तं त्वासमिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।[37]

(ख) इसी प्रकार ऋ0 1/31/1 में स्पष्ट रूप से अग्नि को अङ्गिरा ऋषि कहा गया है।[38] एतदतिरिक्त ऋ0 1/31/2; 175/2, 8/43/18, 27 तथा 8/44/8 इत्यादि मन्त्रों में अग्नि के लिए 'अङ्गिरस्तमः' पद का प्रयोग किया गया है।[39] इससे बिल्कुल ही स्पष्ट है कि अङ्गिरा के रूप में वेद में किसी ऐतिहासिक ऋषि का वर्णन नहीं है।

(२) इन्द्र का विशेषण

ऋ0 2/11/20 में यह इन्द्र=सूर्य का विशेषण है। यथा–अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद् लवमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्।

(३) बृहस्पति का विशेषण

य अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसः।[40] यहाँ यद्यपि यह बृहस्पति के विशेषण रूप में प्रयुक्त है, तथापि यहाँ बृहस्पति का अर्थ सूर्य ही है, क्योंकि वही अद्रि=मेघ का भेत्ता तथा वृषभ (वर्षणात्) है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी बृहस्पति के लिए अङ्गिरस् पद विशेषण रूप में प्रयुक्त है।[41]

---

35. उणा0, दया0 भा0।
36. वेद रहस्य, पृ0213–32
37. यजु0 3.3
38. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो।
39. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः। ऋ01.31.5
40. ऋ0 6.73.1
41. अथर्व0 11/10/10, 12, 13

(४) अश्विनौ का विशेषण

ऋ0 8/35/14 में यह अश्विनौ के विशेषण रूप में हैं–**अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता।**

(५) मरुतों का विशेषण

ऋग्वेद में मरुतों को भी अङ्गिरस् कहा गया है। जो सभी रूपों को धारण करते हैं।[42]

पितर अङ्गिरस

यजुर्वेद में अङ्गिरस् पद पितरों के विशेषण के रूप में आया है[43] इसी मन्त्र में पितरों के अन्य गुण नवग्वा=नवीन गति वाले, अथर्वाण=चञ्चलता रहित शान्त, भृगवः परिपक्व ज्ञान वाले अथवा तपस्या में पके हुए भी पठित हैं। स्वामी दयानन्द ने नवग्वा का अर्थ **'नवीनज्ञानोपदेष्टारः'** किया है। ज्ञान-गमन तथा प्राप्ति, तीनों ही गति के अर्थ हैं। इस आधार पर नवग्वा का स्वामी दयानन्दकृत उक्त अर्थ उचित ही है। स्वामी जी ने यहाँ पर अङ्गिरसः का अर्थ **'सर्वविद्यासिद्धान्तविदः'** किया है जबकि उव्वट तथा महीधर ने इसका अर्थ अङ्गिरा ऋषि के अपत्य किया है। इन मन्त्रों के साथ पठित अन्य मन्त्रों को देखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि यहाँ पितरों के गुणों का वर्णन है। उन्हें यज्ञ में बुलाया गया है तथा उनसे उपदेश देने की प्रार्थना भी की गयी हैं।[44] इसी प्रकार अन्य विशेषण भी पितरों के ही दिये गए हैं। ये पितर भी ऐसे हैं, जिन्हें हम यज्ञ में बुलाकर उनसे उपदेश सुन सकते हैं तथा उन्हें अन्न आदि प्रदान कर सकते हैं। इन कार्यों को जीवित व्यक्ति ही कर सकते हैं; मृत नहीं। जीवित व्यक्ति ही पुत्र-पौत्र आदि उत्पन्न होने पर उनके पितर बन जाते हैं, जो अपने उपदेश तथा अनुभवों के द्वारा पारिवारिक जनों की रक्षा करते हैं। इससे यह भ्रान्ति भी दूर हो जानी चाहिए कि इन मन्त्रों में वर्णित पितर मृत व्यक्तियों के लिए आया है, जैसा कि लोक में प्रचलित है। न ही यहाँ पर अङ्गिरसः का अर्थ ऋषि के वंशज हैं, क्योंकि इन मन्त्रों में सोम्यासः आदि पद भी विशेषण ही हैं। इसी प्रकार अङ्गिरस् भी विशेषण ही है। ये सभी विशेषण पितरों के हैं।

---

42. विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः ऋ010.78.5 अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। यजु019.50
43. नवा नूतना ग्वा गतिर्येषां ते, नवा नवनीया स्तोतव्या वाग्येषामिति वा।। यजु019.50 मही0भा0
44. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।। यजु050.58

अङ्गिरसों का सामाजिक तथा किरण पक्ष

ऋ0 10/62, के 1-6 मन्त्रों के ऋषि 'विश्वेदेवा अङ्गिरसो वा' हैं। इनमें अङ्गिरसों की विशेषताएँ एवं कार्य बतालाये गये हैं। यथा–

(1) जो अङ्गिरस् यज्ञ तथा दक्षिणा से युक्त हैं तथा जिन्होंने इन्द्र का अमृत सख्य प्राप्त कर लिया है। यहाँ सामान्य व्यक्तियों के लिए अङ्गिरस् प्रयुक्त है।

(2) जिन अङ्गिरस् पितरों ने गौओं के समुदाय को प्राप्त किया तथा वल का भेदन किया। यहाँ पर सूर्यकिरणें ही अङ्गिरस् पद वाच्य हैं।

(3) जिन्होंने ऋत के द्वारा सूर्य का आरोहण किया तथा पृथिवी का प्रथन किया। यहाँ पर सूर्यकिरणें तथा तेजस्वी पुरुष पद वाच्य हैं। सूर्यकिरण ऋत=उदक के साथ सूर्य का आरोहण करके वर्षा से भूमि को समृद्ध करती हैं तथा तपस्वी व्यक्ति ऋत=सत्य के द्वारा सूर्य लोक को प्राप्त करते हैं।

(4) ये अङ्गिरस् विविध रूप वाले हैं तथा द्युलोक में अग्नि से उत्पन्न हुए हैं। ये गम्भीर वेपर=कर्म वाले हैं। सूर्यकिरण तथा परिश्रमी, तपस्वी व्यक्ति इन दोनों के पक्ष में ये विशेषण घट जाते हैं।

(5) ऋग्वेद में अङ्गिरसों को नवग्व तथा दशग्व कहा गया है।[45] सायणाचार्य ने 'नवग्व' का अर्थ अन्यों की अपेक्षा नवीन गति वाले या नवनीत के समान स्नेहयुक्त गति वाले किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार नवीन शिक्षाओं तथा विद्याओं को प्राप्त करके उनको दूसरों को प्राप्त कराने वाले लोग नवग्व हैं। अरविन्द के मत में यहाँ अङ्गिरस् पद दिव्य अग्नि की प्रसरणशील ज्योतियों का प्रतीक हैं। उसका सम्बन्ध न तो भौतिक आग से है तथा न किसी मानवीय व्यक्तिविशेष से। अरविन्द कहते हैं कि अग्नि दिव्यज्वाला के रूप में अङ्गिरस् प्रकाश की नव तथा दश किरणों से सम्बद्ध होते हैं तथा अङ्गिरस्तम बनते हैं अर्थात् अग्नि की जाज्वल्यमान अर्चियों से पूर्णतम होते हैं और इसीलिए कारागार में बन्द प्रकाश तथा वल (क्रमशः गौ तथा अश्व) को मुक्त करने में तथा अतिमानस ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।[46]

---

45. ऋ0 10/62/6

46. अरविन्द, वेदरहस्य पृ0218

ऋग्वेद में अङ्गिरसों को अग्नि का पुत्र कहा गया है।[47] इसी सूक्त के षष्ठ मन्त्र में कहा गया है कि ये विविध रूप वाले अङ्गिरस अग्नि तथा द्युलोक के चारों ओर घूमते हैं। नव तथा दशकिरणों वाला अङ्गिरस्तम देवों में समृद्धि को प्राप्त करता है।[48] इस प्रकार अङ्गिरा का तथा अङ्गिरस् का अर्थ अग्नि, सूर्य, किरणें तथा तपस्या की अग्नि में तपे हुए व्यक्ति ही प्रमाणाधारित हैं। वेद में ये पद किसी व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं हैं। ऐतिहासिक अङ्गिरा ऋषि भी हुए हैं, किन्तु उनका वर्णन वेदों में नहीं माना जा सकता।

---

47. ते अङ्गिरसः सूनवस्त अग्नेः परिजज्ञिरे। ऋ010.62.5
48. ते अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि। नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते। (ऋ01062.6)

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0101-110)

वैदिक एवं आधुनिक दण्ड-व्यवस्था: एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. मनुदेव बन्धु
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वेद विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अनादि और अनन्त ज्ञान के स्रोत वेद विश्व के सर्वोच्च और परम पवित्र ईश्वरीय ज्ञान के साधन हैं तथा सभ्यता के मूलस्रोत हैं–मानवमात्र को वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर उसे सुख शान्ति और आनन्द का सच्चा मार्ग दिखाना ही वेदों का पवित्र उद्देश्य है।

इस दृश्यमान संसार में, चर-अचर स्थूल प्रकृति में सत्व, रजस् तथा तमोगुण नियन्त्रक एवं रञ्जन करते हैं तथा प्रजा के रञ्जन एवं नियन्त्रण हेतु राजा व नियन्ता की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार समाज में अत्याचारों के नियन्त्रण एवं रोकथाम के लिए दण्ड-विधान आवश्यक होता है।

वेदों की अमर ऋचाओं में तथा वैदिक वाङ्मय में दण्ड-व्यवस्था का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। दण्ड-व्यवस्था के विषय में विवेचन से पूर्व दण्ड शब्द का सङ्क्षिप्त परिचय आवश्यक है–

निरुक्तकार के अनुसार 'धार्यते ह्येषोऽपराधेषु' अर्थात् अपराध करने पर जिसे धारण किया जाता है वह दण्ड है[1] तथा आचार्य औपमन्यव के अनुसार जिसके द्वारा अपराधियों का दमन किया जाता हैं, वह दण्ड है।[2]

आधुनिक विचारक डॉ0 वाल्टर रैकलेस के अनुसार, 'दण्ड सामाजिक नियन्त्रण का एक साधन है, जिसके द्वारा समाज सदोष, कृत्य, आघात अथवा विधि तथा प्रथा के उल्लङ्घन के लिए प्रतिरोध लेता है।

डॉ0 सेठना के शब्दों में, 'Punishment is some sort of social censure and not necessarily involve infiction of physical pain.' अर्थात् दण्ड एक प्रकार की सामाजिक

1. निरु02.2
2. निरु02.2

प्रताड़ना है, जिसमें यह आवश्यक नहीं कि पीड़ा या क्लेश सम्मिलित हो। एनरिको फैरी के अनुसार, 'Punishment is a legal deterrent.'

सारांश में सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण के लिए जो कानून निर्मित्त हैं उनके उल्लङ्घन को रोकने के लिए भय के रूप में जो शारीरिक, मानसिक या आर्थिक कष्ट पहुँचाया जाता है, वह "दण्ड' है।

प्राचीन आपराधिक न्यायव्यवस्था में दण्ड को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, हिन्दू धर्मानुसार दण्ड को कर्मफल के रूप में स्वीकार किया गया। दण्ड ही सभी प्राणियों का रक्षक है। 'मनुस्मृति' में दण्ड को धर्म का रूप माना गया है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥[3]

वस्तुतः दण्ड ही शासक है, दण्ड द्वारा भय उत्पन्न किया जाता है, दण्ड के भय से ही लोग सन्मार्गगामी होते हैं तथा अपने धर्म और कर्म से विचलित होने से विरत रहते हैं। दण्ड ही प्रजाजनों के जानमाल की रक्षा करता है। इसलिए अपराधी को दण्डित करना शासक का परम धर्म माना गया है।

वस्तुतः समाज के नियन्त्रण के लिए दण्ड एक परम आवश्यक वस्तु है। ऐसे व्यक्तियों की सङ्ख्या बहुत ही नगण्य होती है, जो स्वतः कर्त्तव्य भावना से सन्मार्ग पर अग्रसर होते हैं। अधिकांश लोग भय से ही सन्मार्ग पर चलते हैं, भले ही वह भय समाज का हो, राजा का अथवा अभिभावक का। मनु के अनुसार सारा संसार दण्ड से ही वश में किया जा सकता है। दण्ड का भय न हो तो चोर, डाकू सबका सर्वस्व हरण कर लें–

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥[4]

प्रजाशासन हेतु राजनीति के चार उपायों में दण्ड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दण्ड के परिप्रेक्ष्य में जब वैदिक वाङ्मय की चर्चा होती है तो हमें दण्ड–व्यवस्था का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

---

3. मनु0 7/18
4. मनु0 7/22

वैदिक युग में परपीडकों एवं अत्याचारियों को दण्ड देने के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में वरुण देव से क्रोध दूर करने हेतु प्रार्थना की गई है।[5] ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में अनाचारियों को राक्षस कहा गया है तथा कई प्रकार के अपराधों और दण्डों का वर्णन भी प्राप्त होता है, एक मन्त्र में इन्द्र और सोमदेव से कहा गया है कि वेद विरुद्ध कर्म करने वाले दुराचारियों को घोर नरक में प्रविष्ट कर ताड़न करिये जिससे कि वह पुनः दुष्कर्म न करें–

इन्द्रासोमा दूष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः॥[6]

दुष्टाचारी अन्यायकारियों के प्रति दण्ड देने का विधान करता यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है–

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा॥[7]

प्रस्तुत मन्त्र में दुष्कर्मी पुरुष हेतु यथायोग्य दण्ड देने का वर्णन मिलता है तथा उसको क्षमा करने का निषेध किया गया है। इसी मण्डल के अन्य मन्त्र में परमात्मा से यह प्रार्थना की गयी है कि वह अन्यायकारी दुष्टों का दमन करें (7/104/6) ।

इसी प्रकार एक मन्त्र में कहा गया है कि जो लोग अन्यायकारी हैं और भद्रपुरुष को दूषित करते हैं उनको परमात्मा दण्ड स्वरूप हिंसको को दें ताकि वह दण्ड भोगकर शुद्ध हो जाएँ–

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥[8]

इसी मण्डल के अगले मन्त्र में अन्न के रस तथा अश्व, गौ एवं मानव शरीर के बल को नष्ट करने के इच्छुक शत्रु, चोर तथा छिपकर हानि करने वालों के दण्ड का वर्णन मिलता है। इस मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है कि वह शत्रु को निम्नता प्रदान करें और उनको शरीर से हीन बनायें।

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।

---

5. ऋ01/24/14
6 ऋ07/104/3
7. ऋ07/104/7
8. ऋ07/104/9

रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च।।[9]

एक मन्त्र के अनुसार परमात्मा असत्यवादी एवं मिथ्या आचरण करने वाले व्यक्तियों को कदापि क्षमा नहीं करता, उनको दण्ड भोगना ही होता है।[10]

ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में कहा गया है कि जो लोग सदाचारियों को व्यर्थ में ही दोष देते हैं, उन्हें राजाओं को यथायोग्य दण्ड देना चाहिए।[11]

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के अठारहवें मन्त्र में आकाश मार्ग में प्रजा को पीड़ित करने वाले राक्षसों का विमान आदि से नष्ट करने की बात कही गयी है तथा उन्नीसवें मन्त्र में राक्षसों को वज्र प्रहार से आघात करने को कहा गया है।

एक मन्त्र के अनुसार पुरुष हो या स्त्री उनके राक्षससम आचरण करने पर उनको समान रूप से वध्य माना गया है। उनकी गर्दन काट देने अर्थात् प्राणदण्ड देने का वर्णन मिलता है। यहाँ समान अपराध हेतु समान दण्ड की नीति दिखती है। स्त्री के प्रति कोई उदारता दृष्टिगोचर नहीं होती।

वेद पापियों को दण्ड देने की बात कहता है। अन्य लोग तो निर्भय विचरण कर सकते हैं।

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्।
जहा को अस्मदीषते।।[12]

इसी प्रकार यजुर्वेद के एकादशवें अध्याय में उल्लिखित है कि धर्मात्मा राजपुरुषों को प्रजा विरोधी, डाकू, मिथ्यावादी तथा व्यभिचारी मनुष्यों को अग्नि से जलाकर अर्थात् भयंकर दण्ड देकर वश में करना चाहिए–

याः सेना ऽ अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽ उत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपि दधाम्यास्ये।।[13]

---

9. ऋ07/104/10
10. ऋ07/104/13
11. ऋ07/104/16
12. ऋ08/45/37
13. यजु011/77

इसी अध्याय के अगले मन्त्र में कहा गया है कि राजपुरुषों को पशुओं का वध करने वाले तथा चोरों आदि को अनेक प्रकार के बंधनों से बाँधना चाहिए तथा नष्ट कर वश में लाना चाहिए।

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२ऽ उत।
हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्॥[14]

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जो धर्मात्माओं से शत्रुता करें, दुष्टता करें और निन्दा करें, उसे जला कर भस्म कर दिया जाये–

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु॥[15]

वेदों के अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में चोर को तपता हुआ फरसा पकड़ने को कहा गया है। यदि वह झूठा है तो वह जल जायेगा और मृत्यु को प्राप्त होगा, अन्यथा मुक्त हो जायेगा।

पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत्। परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्त्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते। अथ यदि तस्याकर्त्ता भवति तत् एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते।[16]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यत्र तत्र अपराधों का वर्णन प्राप्त होता है, लेकिन दण्डव्यवस्था का स्पष्ट एवं विकसित उल्लेख धर्मसूत्रों और स्मृतिकाल में हमारे समक्ष आता है। प्राचीन शास्त्रों में दण्ड का वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है। दण्ड को स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा गया है–

1. आन्तरदण्ड
2. बाह्य दण्ड

'आन्तरदण्ड' का अर्थ है वृद्ध संयोग एवं इन्द्रियजय के द्वारा अपने को वश में रखना। मनु ने बाह्य दण्ड के चार भेद बताये हैं–

1. वाग्दण्ड
2. धिक् दण्ड

---

14. यजु0 11/78
15. यजु011/80
16. छान्दो06/16

3. धन दण्ड

4. वध दण्ड

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥[17]

वाग्दण्ड और धिक् दण्ड सौम्य दण्ड हैं। नये तथा विवेकशील इन दण्डों से ही निन्दित होकर पुनः अपराध नहीं करते थे। वधदण्ड का अर्थ केवल मृत्युदण्ड ही नहीं था, इसके अन्तर्गत पीडन, अङ्गच्छेदन तथा प्रमापण (मृत्यु दण्ड) आते थे। पीडन के चार भेद होते थे–ताडन, अवरोधन, बन्धन तथा विडम्बन। प्रमापण के दो भेद होते थे–शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध के भी दो भेद होते थे–अविचित्र और विचित्र। अविचित्र में सामान्य ढंग से प्राण लिये जाते थे और विचित्र में सूली पर चढ़वाकर तथा जानवरों से नुचवाकर प्राण लिये जाते थे। इन दण्डों से सम्बन्धित कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

मनुस्मृति के अनुसार, 'चोर के ब्राह्मण के घर में स्वर्ण चुराने पर राजा को चोर को गदा या लाठी से मारना चाहिए। इससे चोर पापमुक्त हो जाता है।'[18] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार, 'चोरी के अपराधी को मृत्युदण्ड दिया जाता था।'

मनु के अनुसार, 'रात्रि में सेंध लगाकर चोरी करने पर चोर के हाथ काटकर सूली पर चढ़ा दिया जाता था।'[19]

मनु ने जलाशय, झील या बाँध तोड़ने वाले को डुबाकर मृत्युदण्ड देने तथा जिस स्त्री ने अपने बच्चे या किसी पुरुष को मार डाला हो, उसे गर्दन में पत्थर बाँधकर डुबोने को कहा है।[20] इस प्रकार मृत्युदण्ड के अनेक प्रकार प्रचलित थे। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में ब्राह्मण को मृत्युदण्ड या शारीरिक दण्ड से दूर रखा गया है।

अर्थदण्ड के उदाहरण स्वरूप मनुस्मृति तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र के उदाहरण प्रस्तुत हैं–मनु के अनुसार, जब क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ब्राह्मण की अवमानना करें तो उन्हें क्रम से 100, 150 पणों का दण्ड तथा शारीरिक दण्ड (जीभ काट लेना) मिलता है। जब ब्राह्मण ऐसा करे

---

17. मनु08/129
18. मनु0 9/276
19. मनु0 9/271
20. मनु0 9/279

तो 50, 25 या 12 पण दे। चोरी के मामले में वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण को शूद्र की अपेक्षा दोगुना, चौगुना तथा आठगुना दण्ड देना पड़ता था।[21]

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार क्षत्रिय के हंता को शत्रुता दूर करने हेतु उसके संबंधियों को क्षतिपूर्ति के रूप में एक सहस्र गायें देनी पड़ती थीं और प्रायश्चित स्वरूप एक बैल भी देना पड़ता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन दण्ड-व्यवस्था के अन्तर्गत विविध प्रकार के दण्डों का प्रचलन था किन्तु आधुनिक भारतीय दण्ड-संहिता ने दण्ड-व्यवस्था को पर्याप्त सीमित कर दिया है। आधुनिक भारतीय दण्ड-संहिता के अन्तर्गत अब केवल पाँच प्रकार के दण्डों का ही प्रचलन रह गया है–

1. मृत्यु दण्ड
2. आजीवन कारावास
3. कारावास
4. सम्पत्ति को जब्त करना
5. जुर्माना

कारावास के तीन भेद किये गये हैं–

1. कठोर कारावास (सश्रम)
2. साधारण कारावास
3. एकाकी परिरोध (अन्य अपराधियों से अलग रखना)

इस प्रकार आधुनिक दण्ड-व्यवस्था में जितने प्रकार के दण्ड प्रचलित हैं। प्राय: वे सभी प्राचीन दण्ड-व्यवस्था में उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारत के प्रचलित दण्डों में से कुछ दण्डों का प्रचलन इन दिनों नहीं है। उदाहरणार्थ–आन्तरिक दण्ड (प्राश्यचित्त), ताडन, विडम्बन, अङ्गछेदन, विचित्र वध आदि।

प्राचीन भारतीय दण्ड-व्यवस्था में वर्णभेदानुसार दण्ड देने का विधान था, किन्तु आज ऐसा नहीं है। प्राचीन दण्ड-व्यवस्था में क्षेत्र विभाजन नहीं है, जबकि आधुनिक भारतीय दण्ड संहिता स्पष्ट क्षेत्र विभाजन करती है।

---

21. मनु0 8/338-339

शारीरिक दण्ड के सम्बन्ध में भी आधुनिक एवं प्राचीन दण्ड-व्यवस्थाओं में भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। प्राचीन युग में दी गयी कठोर यन्त्रणाएँ आजकल के विचारकों को नृशंस एवं बर्बरतापूर्ण प्रतीत होती है। अङ्ग-भङ्ग आदि के द्वारा अपराधियों के परिवारजनों को भी कष्ट उठाना पड़ता है, अपराधी भी कार्य करने में अक्षम हो जाता है, वह प्रतिशोध की दुर्भावना का शिकार बनता है, उसे सुधार का मौका भी नहीं मिलता है। अनुभवों से सिद्ध होता है कि सजा देने से अपराध में वृद्धि होती है। अपराध से प्राप्त सजा में आत्मसम्मान खोने से कुछ अन्य शेष नहीं रहता और व्यक्ति को जिस समुदाय के कारण सजा गिली है, उससे बदला लेने की भावना प्रबल होती है। इन्हीं विचारधाराओं के परिणामस्वरूप प्रत्येक देश में शारीरिक यन्त्रणा के स्थान पर यथासंभव कारागार की सजा दी जाने लगी है। इस प्रकार वर्तमान में सबसे प्रचलित दण्ड है—कारावास। वर्तमान कारागृहों में भी काफी अन्तर दृष्टिगत हो रहा है। उनमें बन्दियों का श्रेणी विभाजन कर उन्हें श्रेणी के अनुरूप सुविधा प्रदान की जाती है। जेलों में धार्मिक उपदेशों की भी व्यवस्था की गई हैं प्रत्येक रविवार को धर्मोपदेशक धर्मोपदेश करते हैं। जेल सुधार समितियों का गठन किया गया है। जेल अब यातनामय नहीं रहे, उनमें कैदियों से श्रम कराकर कैदियों को रोजगारोन्मुख बनाने का प्रयास किया जाता है।

आधुनिक दण्ड-व्यवस्था के अन्तर्गत जेल सुधार से सम्बन्धित कुछ अन्य पद्धतियाँ भी हैं, जिनमें पहली है परिवीक्षा-इस पद्धति में अपराधी के दूषित वातावरण को सद्वृत्तियों के पवित्र वातावरण में बदलने का प्रयास किया जाता है। इसमें अपराधी को न्यायालय द्वारा कुछ शर्तों पर निश्चित समय के लिए परिवीक्षा अधिकारी के निरीक्षण में कारावास का दण्ड देने के स्थान पर मुक्त कर दिया जाता है। परिवीक्षा की कुछ शर्तें होती हैं, उन शर्तों का उल्लङ्घन करने पर परिवीक्षा अधिकारी अदालत को सूचना देता है, जिससे अपराधी पुनः दण्ड पाने योग्य समझा जाता है।

दूसरी सुधारात्मक पद्धति है—पैरोल। इस पद्धति में अपराधी को दण्ड की घोषणा होने के पश्चात् दण्ड का कुछ भाग भोगना पड़ता है, तत्पश्चात् उसे मुक्त किया जाता है। पैरोल में अपराधी का व्यक्तिगत निरीक्षण नहीं होता, बल्कि प्रशासकीय अधिकारी उसका निरीक्षण करता है। पैरोल को परिभाषित करते हुए सदरलैंड ने लिखा है—"Parol is the act of releasing or the status of being released from a penal or reformatory institution in which one has served a part of his maximum sentance on condition of maintaining good behaviour and remaining in the custody and under the guidance of the institution of some other agency approved by the state untill a final discharge is granted." अर्थात् पैरोल किसी दण्ड अथवा सुधार-संस्था से जिसमें बन्दी अपना अधिकतम दण्ड भुगत चुका है, सद्व्यवहार बनाये रखने

और साथ ही जब तक अन्तिम मुक्ति नहीं मिल जाए, इस संस्था अथवा राज्य द्वारा स्वीकृत किसी अन्य संस्था के अधीन पथ प्रदर्शन में रहने की शर्त पर रिहा करने अथवा रिहाई की स्थिति में रखने की प्रक्रिया है।

दण्ड के चार सिद्धान्त हैं—प्रतिरोधात्मक, प्रतिशोधात्मक, निरोधात्मक तथा सुधारात्मक। वर्तमान समय में दण्डनीति में सुधारात्मक सिद्धान्त को स्वीकार किया जा रहा है। आज अधिकांश अपराधशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि कठोर दण्ड देने की अपेक्षा अपराधी का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षण और विश्लेषण के बाद उचित उपचार किया जाना चाहिए, जिससे वह सभ्य नागरिक बन सके।

सुधारात्मक पद्धति के अन्तर्गत आदर्श बन्दीगृह, किशोर बन्दीगृह तथा प्रतिपेषण गृहों की भी योजना की गयी है। इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन दण्ड-व्यवस्था काफी हद तक प्रतिशोधात्मक एवं प्रतिरोधात्मक थी लेकिन आधुनिक दण्ड-व्यवस्था सुधार प्रवण है। आज अपराधियों की प्रकृति, मानसिक रचना, बुद्धि एवं प्रवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर उनके सुधार की योजनायें बनायी जा रही हैं। यह प्रयास स्तुत्य है।

मैं अपराधियों के अनुचित उत्पीड़न का पक्षपाती नहीं हूँ, किन्तु अपराधियों को अत्यधिक महत्त्व एवं सुविधाएँ प्रदान करके उनके अनुचित उत्साह को बढ़ावा देने की वर्तमान प्रवृत्ति भी मेरी दृष्टि से व्यावहारिक रूप से कथमपि उचित नहीं है। आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा कोरी सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भले ही आकर्षक क्यों न प्रतीत हो, व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर यह नितान्त अनुपयोगी प्रमाणित होती है। अपराधियों पर अत्यधिक दयादृष्टि दिखाने के प्रतिफल के कारण ही आज देश में सर्वत्र आतङ्क से त्रस्त समाज दृष्टिगोचर होता है। अपराधियों पर नम्र रुख अपनाने का दुष्परिणाम हम सभी भोग रहें हैं।

भय के अभाव में आज शासन तक में भी भ्रष्टाचार की नित नयी घटनायें दृष्टिगोचर होती हैं। सरकारी कर्मचारी भी रिश्वत लेने में नहीं हिचकते। ऐसी स्थिति में दण्ड-व्यवस्था का थोड़ा कठोर होना अति आवश्यक है, जिससे अपराधी कष्ट का अनुभव करें और दुरभ्यास का परित्याग कर सदाचरण करें तथा उनको प्राप्त दण्ड को देखकर समाज के अन्य लोग भय से उस जैसा अपराध या दुराचरण की ओर प्रवृत्त न हों, क्योंकि दण्डनीति का उद्देश्य समाज में नैतिक अनुशासन की भावना को जाग्रत करना होता है। दण्डनीति न तो अत्यधिक नरम होनी चाहिए न अत्यधिक असहनीय। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ वर्षों से दण्ड-व्यवस्था में अतिव्यापी परिवर्तन हुए हैं, क़िन्तु फिर भी इसके अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में सतत नियन्त्रण एवं निगरानी रखे जाने की नितान्त आवश्यकता है, जिससे कि यह औपचारिकता मात्र न रहकर

प्रायोगिक रूप से प्रयोग भी की जा सके। वर्तमान समय में मानव अधिकारों के बढ़ते हुए महत्त्व को ध्यान में रखते हुए दण्ड-व्यवस्था को उसके अनुरूप बनाया जाना चाहिए, ताकि मानव की गरिमा बनी रहे और आपराधिक न्याय के प्रति जनसाधारण की आस्था भी समाप्त न होने पाये, क्योंकि दण्ड का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित ढंग से चलाना, अपराधी के आचरण में परिवर्तन लाना, अपराध की पुनरावृत्ति को रोकना, अन्य व्यक्तियों को अपराध से रोकना, सामाजिक विशृङ्खलता एवं अत्याचार को रोकना तथा नागरिकों में सुरक्षा एवं शान्ति की व्यवस्था को बनाये रखना होता है।

इस प्रकार वैदिक दण्डव्यवस्था एवं आधुनिक दण्डव्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उसकी व्यावहारिकता तथा उसमें किये गये परिवर्तनों से सम्बन्धित विचारों को लेखनीबद्ध कर प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया गया है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0111-120)

वेदों का पञ्जाबी भाषा पर प्रभाव

डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान
पञ्जाब विश्वविद्यालय
होशियारपुर.

विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय जो सर्वप्रथम भारत में प्रणीत हुआ, 'वेद' नाम से जाना जाता है। वेद भारत की आत्मा है। वर्तमान समय का पञ्जाब, परन्तु प्राचीन 'सप्तसिन्धु' प्रदेश भौगोलिक क्षेत्र दृष्टि से बृहत्तर पञ्जाब था, जिसका विस्तार पश्चिम में सिन्धु नदी से लेकर पूर्व में सरस्वती नदी तक था। सप्तसिन्धु प्रदेश को इस बात का गौरव है कि वह भारतीय (आर्य) सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का केन्द्र स्थल रहा। बृहत्तर पञ्जाब की इसी पावन धरती पर ऋषियों के माध्यम से वेद के रूप में ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ और जो वैदिक संस्कृत की प्राचीनतम कृति भी है। आर्यों ने जिस देश या भूखण्ड पर अपनी सभ्यता का विकास तथा विस्तार किया, उसकी भौगोलिक स्थिति, संस्कृति और सभ्यता को जानने का स्रोत वैदिक साहित्य ही है, जो उस समय वहाँ प्रणीत हुआ था। जिस भाषा में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा अन्तःकरण से वेदमन्त्रों का उच्चारण प्रस्फुटित हुआ, वह वैदिक संस्कृत है, जिसका प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। सभ्यता के आदिम काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अन्तःकरण में जो वेदज्ञान प्रकाशित हुआ, जो ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व रूप में अभिहित हुआ, वह साहित्य सृष्टि के आदि से आज तक ज्यों का त्यों वर्तमान है। उसकी प्रामाणिकता को देश-विदेश में सभी ने एकमत से स्वीकारा है।

सप्तसिन्धु प्रदेश आर्यों का मूलस्थान था, इस बात के स्पष्ट उल्लेख वेदों में प्रचुर मिलते हैं-**इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम यानि चकार प्रथमानि वज्री।**[1]

इस मन्त्र में इन्द्र के प्रथम कार्यों का वर्णन करने का उल्लेख करते समय आगे कहा गया है-**'अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून्'**[2] अर्थात् हे इन्द्र! आप ने गायों को जीता, सोम को जीता तथा नदियों को प्रवाहित किया। यहाँ जिन सात नदियों का

1. ऋ01.32.1
2. ऋ01.32.12

उल्लेख किया गया है, वे सप्तसिन्धु प्रदेश के ही नदियाँ है। निःसन्देह जिस भूभाग पर विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकाशित हुआ, उस सारे प्रदेश पर वैदिक/संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसके लिए अधिक प्रमाण की आवश्यकता है कि वर्तमान 'पञ्जाब' की भाषा पञ्जाबी थोड़े बहुत परिवर्तन (जो भाषा में होने स्वाभाविक हैं) के साथ उसी वैदिक/संस्कृत का परिवर्तित, विकसित रूप है। प्राचीन समय की वही भाषा जिसे हमने वैदिक अथवा संस्कृत नाम दिया, उसका पञ्जाबी पर इतना प्रभाव है कि उसे 'वैदिक पञ्जाबी' कहा जाए तो गलत न होगा। आधुनिक पञ्जाबी-भाषा का स्वरूप व ढाँचा थोड़े परिवर्तन के साथ प्राचीन वैदिक/लौकिक संस्कृत सदृश ही है। पञ्जाबी भाषा की धातुएँ तथा नामधातुएँ प्रायः संस्कृत वाली ही हैं तथा पञ्जाबी के रूप भी संस्कृत की तरह चलते हैं। संस्कृत के उपसर्ग, प्रत्यय, अव्यय तथा समासादि भी उसी प्रकार पञ्जाबी में धरोहर की भाँति सुरक्षित पड़े हैं। मूलतः पञ्जाबी अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के अत्यन्त समीप है तथा दूसरी भाषाएँ उस पर कोई विशेष अन्तर नहीं डाल सकीं हैं। यही नहीं अपितु पञ्जाब के लोगों के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, संस्कृति, शकुन-विश्वासादि भी आर्य सभ्यता से बहुत मिलते-जुलते हैं। यह सारे तथ्य इस बात को भी दर्शाते हैं कि हजारों वर्ष पूर्व इस भूप्रदेश के जनसाधारण द्वारा बोली जाने वाली जो संस्कृतभाषा थी, उसका ही परिवर्तित या घिसा हुआ स्वरूप वर्तमान पञ्जाबी भाषा है।

वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त कुछ ऐसे शब्द हैं, जो वेदों की भाँति लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। पञ्जाबी भाषा में भी वही शब्द उसी रूप में या कुछ विकृत रूप में प्रयुक्त होते हैं। दूसरे कुछ शब्द वेदों की भाँति लौकिक संस्कृत में तो मिलते हैं, परन्तु पञ्जाबी में आजकल नहीं मिलते। किन्तु तीसरे प्रकार के कुछ ऐसे विलक्षण शब्द भी हैं जो या तो वेद में मिलते हैं या कुछ विकृत अथवा उसी रूप में पञ्जाबी भाषा में आज भी उपलब्ध होते हैं। संभवतः लौकिक संस्कृत-साहित्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग न हुआ हो। भाषायी दृष्टि से इन विलक्षण शब्दों का जो सीधे वेद तथा पञ्जाबी में मिलते हैं, बड़ा महत्व है। ये शब्द स्पष्टरूप से पञ्जाबी भाषा का सम्बन्ध वेद के साथ सिद्ध करते हैं तथा पञ्जाबी को संसार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा वेद से सीधा सम्बन्ध होने का प्रमाण देते हैं। उदाहरणतः-

1. पञ्जाबी में=जिग, जीग (ऊँट का गला या गर्दन)=वैदिक=जिगर्ति।[3]

3. ऋ.5.29.4

2. पञ्जाबी में=दौड़ (दौड़ने की क्रिया, दवीड़, भगदड़)=वैदिक=द्रवर।[4]

3. पञ्जाबी में=सिंवल (संस्कृत शाल्मली वृक्ष)=वैदिक=शिम्बल।[5]

4. पञ्जाबी में=सिद्धर (सिद्धा), पद्धरा (साफ या सीधा)=वैदिक=सिध्र, सिध्य, सिध्म।[6]

5. पञ्जाबी में=रुक्ख=वृक्ष,=वैदिक=रुक्ष।[7]

6. पञ्जाबी में=भीड़=इकठ्ठ, समूह=वैदिक=वीरिट।[8]

7. पञ्जाबी में=मेख=तीक्ष्ण कील=वैदिक=मयूख **'यथा ह वै मयूखो वा तीक्ष्णः।"**[9]

8. पञ्जाबी में=बसना=अनमोल=वैदिक=वस्न्य।[10] पञ्जाबी में=**"जिउ म्रिग नाभि बसे बासु बसना**[11]

9. पञ्जाबी में=टड्छणा=खोलना=वैदिक=तर्दन।[12]

10. पञ्जाबी में=जबरी=वृद्धा स्त्री=वैदिक=जिव्रि, जिव्री।[13]

11. पञ्जाबी में=चाच्चा=पिता का छोटा भाई=वैदिक=तात्यः।[14] कई विद्वान् ताँत शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं।

---

4. ऋ. 4.40.2
5. ऋ. 3.53.22
6. ऋ. 1.33.13
7. ऋ. 6.3.7
8. ऋ. 7.39.2
9. जैमिनीय ब्राह्मण 2.90
10. ऋ. 10.34.1
11. प्रभाती रागमहल्ला 4.
12. शतपथब्राह्मण 3.2.12
13. ऋ. 4.19.2
14. ऋ. 1.161.12, ऋ. 7.37.6

12. पञ्जाबी में=गड्ड, गड्डा, गड्डी गडीरना=वैदिक=गर्त (रथ या रथ की सीट) **तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते।**[15] कई विद्वान् इसका मूल संस्कृत शकट मानते हैं, परन्तु संस्कृत शकट से पञ्जाबी में=छकड़ा बना है।

13. पञ्जाबी में=चिट्टा=सफेद,=वैदिक=चित्र **"चित्रं देवानामुदगादनीकम्।**[16] कुछ विद्वान् संस्कृत सित: (सफेद) से इसका सम्बन्ध मानते हैं।

14. पञ्जाबी में=खुंब, खूंब=छत्रक=वैदिक=क्षुम्प।[17] (कुकुरमुत्ता)

15. पञ्जाबी में=खुंझणा=भूलना या हाथ से निकल जाना=वैदिक=अकुध्रयञ्च (जिसे लक्ष्य का पता न लगे)।[18]

16. पञ्जाबी में=कोतक=(खेत में बनाया गढ़ा)=वैदिक=कर्त।[19] संस्कृत=गर्त।

17. किरच=(सीधी तलवार)=वैदिक=कृति।[20]

18. पञ्जाबी में=खम्भा=स्तम्भ=वैदिक=स्कम्भ:।[21] कई विद्वान् इस शब्द का मूल संस्कृत स्तम्भ मानते हैं।

19. पञ्जाबी में=आप्पा=अपणत्त, अपनापन=वैदिक=आप्य।[22]

20. पञ्जाबी में=चप्पण, चप्पणी=मिट्टी के बर्तन का ढक्कन)=वै चप्य।[23] चप्य (काण्व) यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला एक छोटा सा पात्र।[24]

---

15. ऋ. 6.20.9
16. ऋ. 1.115.1
17. निरुक्त 5.16
18. ऋ. 10.22.12.
19. ऋ., अथर्ववेद 4.12.7
20. ऋ. 1.168.3
21. ऋग्वेद
22. ऋ. 2.29.3, 7.15.1
23. माध्यन्दिन संहिता 19.88
24. यह शब्द वाजसनेयि संहिता XIX 88 शतपथ ब्राह्मण XII 7.2.13 आदि में भी मिलता है।

21. पञ्जाबी में=जाभ, जाब्भां=दांत, जभड़ा=वैदिक=जम्भ।[25]

22. पञ्जाबी में=थप्पड, धप्पा, धप्फा=चपेड़=वैदिक=पृथ **'हनानि....... न पृथेन न मुष्टिना।'**[26]

23. पञ्जाबी में=जनी=जणी=इकजणी=वैदिक=जनी। **'प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसु। दिवो अदर्शि दुहिता।'**[27]

24. पञ्जाबी में=फल्लियाँ=वैदिक=**इयं नार्यं उपाबूते पूल्यान्यावपन्तिका दीर्घायुर अस्तु मे पतिर् जीवाति शरदः शतम्।**[28]

25. पञ्जाबी में=अड्डा=ठहरने का स्थान=वैदिक=अर्धः। **स हायस्तः पितुरर्धं मेयाय।**[29]

26. पञ्जाबी में=हेक्क, होक्का=ऊँची आवाज लगाना, जैसे पञ्जाबी में=में हेक्कां ला के गाणा=वैदिक=हेक्। **'उपहूतं हेगिति तच्छरीमुपहव्यते।'**[30]

27. पञ्जाबी में=चिलकणा=चमकना=वैदिक=चिकितु, चिकिति।[31]

28. पञ्जाबी में=जग, जग्ग=संसार=वैदिक=जग।[32]

29. पञ्जाबी में=जद=जिस समय=वैदिक=यद्, संस्कृत यदा।

30. पञ्जाबी में=कलपणा =दुःखी होकर बोलना=वैदिक=कृप् धातु।[33]

31. पञ्जाबी में=करदा=वैदिक=करत्, करती।[34]

---

25. ऋ. वाजसनेयी संहिता 11.79
26. शतपथ ब्राह्मण 12.7.31
27. ऋ. 4.52.1
28. अथर्ववेद 14.2.63
29. छान्दोग्य उपनिषद् 5.3.4.6.
30. शतपथ ब्राह्मण 1.4.123
31. ऋ, शतपथब्राह्मण
32. कौशीतकि उपनिषद् 1.3
33. ऋग्वेद।

32. पञ्जाबी में=कहां, कहू=वैदिक=कुह, कुहया।[35]

33. पञ्जाबी में=उरे=इस ओर, समीप को=वैदिक=अवर।[36]

34. पञ्जाबी में=उद्दां=उस तरह=वैदिक=अमुथा।[37]

35. पञ्जाबी में=उंज=इस तरह=वैदिक=अमुया।[38]

36. पञ्जाबी में=इद्दां=इस तरह=वैदिक=इत्था।[39] इस शब्द पर संस्कृत इत्थं का भी प्रभाव है।

37. पञ्जाबी में=आणा, आउणा=वैदिक=आयन।[40]

38. पञ्जाबी में=कुलफ=हुक्के का टखना (गिट्टा)=वैदिक=कुल्फ।[41]

39. पञ्जाबी में=इन्नू=मूँज, कपड़े आदि का चक्र, या सिर पर घड़ा रखने के लिए=वैदिक=इण्डव।[42]

40. पञ्जाबी में=तुरना=चलना=वैदिक=तुरत्, तुरते।[43] कई विद्वान् संस्कृत त्वरण धातु त्वर्=तेज चलने के साथ इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

41. पञ्जाबी में=जित्त=विजय=वैदिक=जित्यः।[44] इस का मूल संस्कृत जिति=विजय नहीं है।

---

34. वेद।
35. ऋग्वेद।
36. ऋग्वेद।
37. निरुक्त।
38. ऋ., अथर्ववेद।
39. ऋग्वेद, कठ. 1.2.24
40. ऋग्वेद, अथर्ववेद।
41. ऋग्वेद 7.50.2
42. शतपथ-ब्राह्मण।
43. ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता
44. ताण्ड्य ब्राह्मण

42. पञ्जाबी में=विच्च, विच=अन्दर=वैदिक=व्यचस्।[45] धातु विच् (जुदा करना) विचाल=मध्यान्तर=पञ्जाबी में=विचाल। इसी शब्द के आधार पर पञ्जाबी में=में अन्य शब्द विउच, विचकना, विचकार, विचकाल, विचम्मा, विच्चालू, विच्ची, विच्चूं, विच्चों, विचाक, विचकारा, विचकारिआ, विचालला, विचकारला, विचालड़ा, विचाला, विचालिड़्, विचाले, विचौला, विचोलगिरि, विचौलगी, विचौलण आदि बने हैं।

43. पञ्जाबी में=मरदा=वैदिक=मरति।[46]

44. पञ्जाबी में=माड़कू=कमजोर, दुबला=वैदिक=मारुक।[47]

45. पञ्जाबी में=मूरा=मूर्ख=वैदिक=मूर:।[48]

46. पञ्जाबी में=भीड़ा=तंग=वैदिक=वीड् धातु (कसना)।[49]

47. पञ्जाबी में=भूसला=भूरा=वैदिक=बभ्लुश:।[50]

48. पञ्जाबी में=भल, भला=असल में, पक्के तौर पर, जैसे पञ्जाबी में=भला किस दिन आवेंगा तू?=वैदिक=भल।[51] जिस पञ्जाबी में=का भला अर्थ अच्छा है वह संस्कृत भल्ल (भद्र से) बना है।

49. पञ्जाबी में=पल्ली=तप्पड़, बोरी=वैदिक=पल्य।[52]

50. पञ्जाबी में=हुत्थ=कुच्छ विरुद्ध कहना=वैदिक=उक्थ।[53]

---

45. ऋग्वेद, अथर्ववेद
46. ऋग्वेद।
47. तैत्तिरीयसंहिता।
48. ऋग्वेद।
49. ऋग्वेद।
50. वाजसनेयी, मैत्रायणी-संहिता।
51. ऋग्वेद, अथर्ववेद।
52. श्रौतसूत्र।
53. ऋग्वेद, अथर्ववेद।

51. पञ्जाबी में=सुहान=सोंहदा(सुन्दर)=वैदिक=शुभान।[54]

52. पञ्जाबी में=सुजाख्खा=अच्छी तरह देख सकने वाला=वैदिक=सुचक्षाः **(सुचक्षाः अहं अक्षिभ्यां भूयासम्।)**[55]

53. पञ्जाबी में=रेत, रेता=वालू,=वैदिक=रेतः।[56] (नदी का प्रवाह, नदी)

54. पञ्जाबी में=सा=था=वैदिक=आस।[57]

55. पञ्जाबी में=साता=सात वस्तुओं का समूह=वैदिक=सप्त।[58]

56. पञ्जाबी में=मींह=बारिश=वैदिक=मिह्।[59] पानी का बरसना।

इसी तरह अक्कणा, साक, अणजाण, साई, पिलपिला, भिआणा, जल्हा, पोल्ला, घडम्म, घम्म. आदि अनेक=वैदिक=शब्द तत्सम-तद्भव आदि रूपों में पञ्जाबी में=भाषा के ढाँचे को अलंकृत कर रहे है। यही नहीं अपितु केवल वेद सम्बन्धी लेट् लकार लकार जो कि इच्छा तथा कभी-कभी भविष्यत् अर्थ को प्रकट करने के लिए होता था और संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता है, पश्चिमी पञ्जाबी में आज भी प्रयोग होता है। उदाहरणत्-गच्छासि, जासि, करसी, होसी इत्यादि पञ्जाबी रूपों की मूलभूत वैदिक लेट् लकार (मध्यम पुरुष के रूप क्रमशः गच्छासि, यासि, करासि, भवासि इत्यादि हैं। ये पञ्जाबी तथा वैदिक रूप समान रूप से भविष्यत् अर्थ के सूचक हैं। जिस प्रकार वेद में 'करन्' (वे करे), 'गच्छान्' (वे जाएं) आदि लेट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन के रूप प्रायः मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार पञ्जाबी में **"ओह करण"** (वे करें), **'ओह जाण'** इत्यादि वाक्यों में उन रूपों का प्रयोग दिखाई देता है। ऐसे ही वैदिक=तरन्, पञ्जाबी में=तरन। वैदिक=यान, पञ्जाबी में=जाण। वैदिक=चरन्, चरान्, पञ्जाबी में=चरन। वैदिक=जीवन, जीवान्, पञ्जाबी में=जीवण। वैदिक=पृच्छान्, पञ्जाबी में=पुच्छण। वैदिक=शिक्षान्,

---

54. ऋग्वेद।
55. निरुक्त में उद्धृत वेद मन्त्र का खण्ड।
56. ऋग्वेद, अथर्ववेद।
57. ऋग्वेद।
58. ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता।
59. ऋग्वेद।

पञ्जाबी में=सिक्खण। वैदिक=श्रृण्वन्, पञ्जाबी में=सुणन आदि हैं। वैदिक=लोकोक्तियों तथा मुहावरों का भी पञ्जाबी पर बहुत प्रभाव है। उदाहरणात: पञ्जाबी में कहावत है-

"छुट्टिया तीर मुड़ हत्थ नी आउंदा" अथवा "तीर कमानों गल्ल जवानों निक्कल वापिस नी आउंदे"=वेद में 'न सायक प्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्।'[60]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा अथवा संस्कृत नाम से स्मरण की जाने वाली "पञ्जाब" अथवा "सप्तसिन्धु" की पवित्र भूमि की प्राचीन मातृभाषा ने प्रत्येक पहलू से वर्तमान पञ्जाबी भाषा को प्रभावित किया है। उस पवित्र वैदिकभाषा अथवा संस्कृतभाषा का ही समय एवं स्थितियों के संघर्ष से परिष्कृत हुआ पावन स्वरूप है, वर्तमान पञ्जाब की भाषा जिसका नामकरण विद्वानों ने पञ्जाबी किया है।

60. अथर्ववेद 9.2.12

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0121-128)

पुनर्जन्म-सिद्धान्त और स्वामी विवेकानन्द

डॉ. राजेश्वर मिश्र
संस्कृत-विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

कर्म की प्रधानता तथा आत्मा (जीव) और शरीर में भेद ये दो भारतीय जीवन-दर्शन के प्रमुख तथ्य हैं। आत्मा, जो परमात्मा भी माना जाता है, अविद्या के कारण बन्धन में पड़कर 'जीवात्मा' कहलाता है और इस बन्धन का मूल कारण है—शुभाशुभ कर्म, जिनके कारण शरीर धारण करना पड़ता है। इन्हीं शुभाशुभ कर्मों के भोग के लिए ही जीव इस जगत् में आया करता है, अतः इस भोग का साधन शरीर है। इन्हीं पुण्य और पाप कर्मों के साथ पुनर्जन्म की भी कल्पना की गयी है। तात्पर्य यह है कि अपने शुभाशुभ कर्मों के भोग के लिए जीव का इस संसार में बार-बार शरीर धारण करना ही पुनर्जन्म है। वस्तुतः जीव अर्थात् आत्मा नित्य, सनातन और जन्म-मरण से सर्वथा रहित है।[1] यह शरीर ही बार-बार बनता और नष्ट होता है। इस सिद्धान्त की परिकल्पना सर्वप्रथम वेदों में उपलब्ध होती है। तदनुसार वहाँ ऐसी प्रार्थना की गयी है कि 'इष्टापूर्त कर्म करते हुए मृत्यु के पश्चात् यम-पितरलोक की प्राप्ति हो और तदनन्तर पुनः मर्त्यलोक में जाकर कान्तिमान् शरीर प्राप्त हो।[2] 'ऋग्वेद' में एकत्र वामदेव ऋषि ने अपने अनेक जन्मों का उल्लेख भी किया है।[3] 'अथर्ववेद' में तो स्पष्टतः ऐसा उल्लेख किया गया है कि अविनाशी आत्मा मरणधर्मा शरीर के साथ एक होकर शुभाशुभ कर्मों से नाना बन्धन अर्थात् जन्म ग्रहण करता है।[4] सिद्धान्त के रूप में पुनर्जन्म का सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथ-ब्राह्मण' में

---

1. गीता, 2.20: न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
2. ऋ010.14.8: संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चा।।
3. वही, 4.26.1: अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा।।
4. अथर्व09.10.16: अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।।

मिलता है। वहाँ ऐसा प्रतिपादित है कि कर्म करता हुआ जीव मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म ग्रहण करता हैं।[5] उपनिषदों में भी इसका बहुधा विवेचन किया गया है।[6] उपनिषद्रूप 'गीता' में तो स्पष्टतः भगवान् कृष्ण ने पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया है।[7]

शास्त्रों में प्रतिपादित पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को स्वामी विवेकानन्द ने भी अक्षरशः स्वीकार किया है और परम्परया उन्होंने भी जीव के पूर्वकृत कर्मों को इसका मूलकारण माना है। 19 सितम्बर, 1893 को शिकागो में 'हिन्दू धर्म' पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने इस विषय में एक तर्क उपस्थापित किया था, जो इस सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य कर देता है। उनका तर्क है कि 'जीव को कुछ शारीरिक प्रवृतियाँ माता-पिता से प्राप्त होती हैं, पर इसका सम्बन्ध केवल शरीर-गठन से है, परन्तु जिसके द्वारा जीवात्मा की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट होती है, उसकी इस प्रवृत्ति विशेष का कारण उसी के पूर्वकृत कर्म हैं, क्योंकि एक विशेष प्रवृत्ति वाला जीवात्मा **"योग्यं योग्येन युज्यते'** इस नियम के अनुसार उसी शरीर में जन्म-ग्रहण करता है, जो उसे प्रवृत्ति को प्रकट करने के लिए उपयुक्त आधार हो'। यह पूर्णतया विज्ञान-सङ्गत है, क्योंकि विज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति अथवा स्वभाव अभ्यास से बनता है और अभ्यास बार-बार अनुष्ठान का फल है। अतः एक नवजात शिशु की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिए पुनः पुनः अनुष्ठित पूर्वकर्मों को अङ्गीकार करना आवश्यक हो जाता है। चूँकि वर्तमान जन्म में इस स्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई, अतः वह पूर्वजीवन में उसे प्राप्त हुई होगी, ऐसा सहज अनुमेय है।[8]

---

5. शत0ब्रा010.4.3.10: ये वैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते सम्भवन्तऽएवामृतत्त्वमभिसम्भवन्त्यथ यऽएवं न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति तऽएतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति। एवं द्रष्टव्य तदेव, 11.2.1.1 भी।
6. कठ0उप01.1.5–6: .... सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः; छा0उप05.10.7; बृह0उप04.4.1–2; 4.4.3–5; 3.2.13 इत्यादि।
7. गीता, 2.22: वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। तदेव, 2.27: जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तदेव, 4.5: बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।। तदेव, 7.19: बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
8. द्रष्टव्य–'शिकागो वक्तृता' श्रीकृष्ण आश्रम धन्तोली, नागपुर, सप्तम संस्करण, 1957, में संकलित व्याख्यान–हिन्दू धर्म, पृ021।

'स्वामी विवेकानन्द पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भारतीय दार्शनिकों (चिन्तकों) के परिप्रेक्ष्य में ही देखते हैं' इस बात की पुष्टि पुनर्जन्म पर न्यूयार्क में किये गए उनके प्रवचन से भी हो जाती हैं, जिसका प्रारम्भ वे गीता के उस श्लोक से करते हैं, जिसमें भगवान् कृष्ण के माध्यम से वेदव्यास द्वारा अर्जुन को उसी के अनेक जन्मों की बात बतायी गई है तथा जो पुनर्जन्म-सिद्धान्त को स्थापित करता है–'**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**'[9] स्वामी विवेकानन्द ने अपने इस व्याख्यान में पुनर्जन्म-सिद्धान्त की कल्पना का मूल कारण शरीर से भिन्न अस्तित्व वाले अमर आत्मा के सिद्धान्त को माना है। उनकी मान्यता है कि ऐसे आत्मा की सत्ता मानने वालों में से अधिकांश विचारवान् लोग सदा उसके पूर्वास्तित्व में भी विश्वास करते आये हैं। वर्तमान समय में भी सङ्गठनबद्ध धर्मों के अधिकांश अनुयायी इसमें विश्वास करते हैं तथा सुसम्पन्न देशों के सर्वश्रेष्ठ विचारक आत्मा के पूर्वास्तित्व के विरोधी धर्मों में पोषित होने पर भी उस विश्वास का समर्थन करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म को इस विश्वास का आधार माना है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन मिस्र का शिक्षित वर्ग, प्राचीन इरानी, यूनानी तत्त्ववेत्ता, हिब्रुओं में फैरिसी तथा मुसलमानों में प्रायः सभी सूफियों ने भी इस सत्यता को अङ्गीकार किया है। उन्होंने विभिन्न देशों के विभिन्न धर्मावलम्बियों का आत्मा व शरीर-विषयक मत उद्धृत करते हुए पुनर्जन्म-सिद्धान्त को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

मृत्यु से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने वाले विचारकों के मत की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए स्वामी जी ने अन्ततः भारतीय आर्यों के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त को सर्वोपरि ठहराया है। पुराने हिब्रु लोगों में आत्मा विषयक कोई विचार नहीं था, उनके विचार में मृत्यु सब कुछ समाप्त कर देती है। इस विषय में स्वामी जी का मानना है कि कार्ल हेकेल ने हिब्रु लोगों के शरीर से भिन्न एक जिस जीवन तत्त्व की बात कही है, जिसे वे 'ने फ्रेश' (Naphesh) या 'रुआख' (Ruakh) कहते हैं, वह आत्मा की अपेक्षा प्राणवायु का बोधक है, जो शरीर के नष्ट होने पर ईश्वरी 'रुआख' में पुनः तिरोहित हो जाती है। इसी प्रकार प्राचीन मिस्रवासी और कैल्डियन लोगों का भी आत्मा के सम्बन्ध में एक विचित्र मत था। वे लोग आत्मा को स्वतन्त्र अस्तित्व से रहित केवल प्रतिरूप-शरीर मानते थे और उनका विश्वास था कि वह शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता। जब तक शरीर है

9. गीता-4.5; द्रष्टव्य–विवेकानन्द साहित्य (जन्मशती संस्करण), नवम खण्ड, अद्वैत आश्रम कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1963 में संकलित "पुनर्जन्म" विषय पर व्याख्यान, जो न्यूयार्क की मेटाफिजिकल मैगजीन में मार्च 1895 में प्रकाशित हुआ था।

तभी तक वह वर्तमान रहता है और यदि शरीर नष्ट हो जाए तो उस शरीर से मुक्त आत्मा को दुबारा मृत्यु और विनाश का दुःख भोगना पड़ता है। इसीलिए वे मृत शरीर की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। पहले उन्होंने उसको गाड़ने के लिए मरुस्थल को चुना जहाँ सूखी हवा के कारण शरीर शीघ्र नष्ट नहीं होता था और इस प्रकार विगत आत्मा को दीर्घ जीवन प्राप्त हो जाता था। कालान्तर में उन्होंने मृतशरीर को अनन्तकाल तक रखने की आशा से शव-संरक्षण की विधा 'ममीफिकेशन' का आविष्कार किया, जिससे वह मृत आत्मा अमरत्व प्राप्त कर सके। इस प्रकार पुराने समय में मिस्रवासी अथवा कैल्डियन लोग आत्मा का अस्तित्व मृतपुरुष के शरीर अथवा कब्र से पृथक् नहीं मानते थे। स्वामी विवेकानन्द ने आर्यों से पृथक् अन्य सभी समुदायों को असंस्कृत भाषी-म्लेच्छ मानते हुए इस विषय में यह स्पष्ट किया है कि कोई भी म्लेच्छ जाति वाले, चाहे वे मिस्रवासी हों, या असीरियन अथवा बेबिलोनियन हों, आर्यों विशेषकर हिन्दुओं की सहायता के विना कभी भी इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके कि आत्मा का पृथक् अस्तित्व है और शरीर से स्वतन्त्र रहकर भी अलग जीवित रह सकती है।[10] इस प्रकार स्वामी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्यों और म्लेच्छों के आदर्श में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक अर्थात् म्लेच्छ शरीर और संसार को ही सम्पूर्ण सत्य मानते हैं और मृत्युकाल में शरीर को छोड़कर जाने वाली आत्मा के शव में पुनः आ जाने की व्यर्थ आशा से अनन्तकाल तक उसकी सुरक्षा में लगे रहते हैं, जबकि आर्यों ने यह रहस्य समझ लिया है कि शरीर को त्यागकर जाने वाला ही यथार्थ मनुष्य है और शरीर से पृथक् होकर वह असीम आनन्द की प्राप्ति करता है तथा अन्ततः अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। अतः स्वामी विवेकानन्द का दृढ़विश्वास है कि पुनर्जन्म अमरत्व और आत्मा के व्यक्तित्व का सिद्धान्त प्रथमतः भारत में और आर्यों में ही प्रकट हुआ।

तदनन्तर स्वामी जी ने अलेक्जेन्ड्रिया के यहूदियों के जीवात्मा सिद्धान्त, ईसा मसीह के समय के फैरिसी लोगों के आत्मा सम्बन्धी विचार तथा यूनान देशवासियों के पुनर्जन्म के सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए अन्ततः उन्होंने आर्यों द्वारा वेद के नासदीय आदि सूक्तों में प्रतिपादित सत्य तत्त्व[11] तथा आत्मा जन्म और मृत्यु से रहित स्वतन्त्र सत्ता है, जो उत्पन्न नहीं

10. द्रष्टव्य- विवेकानन्द साहित्य (जन्मशती संस्करण), नवम खण्ड, में 'पुनर्जन्म' पृ0सं0235.

11. ऋ010.129 (नासदीय सूक्त) सम्पूर्ण। विशेषरूप से द्रष्टव्य-वही, 10.129.2: आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्त परः किञ्च नास। वही, 10.129.4: सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।

की जा सकती और न ही नष्ट की जा सकती है, इत्यादि गीता[12] एवम् उपनिषदों[13] में प्रतिपादित आत्मा-सम्बन्धी विचारों के आलोक में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का प्रबल प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध आत्माविषयक विचार को माना है।

इसके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक यूरोपीय मनीषियों के पुनर्जन्म विषयक मन्तव्यों का आकलन करते हुए भी इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने आई0 एच0 फिक्टे (Fichte) के आत्मा के अमरता विषयक तर्क को प्रस्तुत किया है-"कि जिस वस्तु का किसी काल में आरम्भ हुआ है, उसका अन्त (विनाश) भी किसी काल में अवश्य होगा, अत: आत्मा भूतकाल में थी, यह सत्य प्रतीत होता है। फिक्टे का यह तर्क 'गीता' के उस निश्चय से साम्य रखता है, जिसमें कहा गया है कि 'जन्म लेने वालों की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु प्राप्त करने वाले का जन्म निश्चित है।'[14] अत: स्वामी जी निश्चयपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि यह समझने की आवश्यकता है कि यथार्थत: न कोई वस्तु उत्पन्न की जा सकती है और न कोई वस्तु नष्ट की जा सकती है। इसलिए भौतिक शरीर में दृष्टिगोचर होने के पूर्व आत्मा का अस्तित्व रहा होगा, यह बात समझी जा सकती है। यहाँ स्वामी जी ऐसा तर्क उपस्थापित करते हैं कि 'प्रत्येक नवजात प्राणी नये जीवन में नवीन और प्रफुल्लित होकर आता है और उसका मुक्त वरदान के रूप में उपभोग भी करता है, परन्तु उसे मुक्त वरदान के रूप में कुछ भी नहीं दिया जा सकता। प्रत्युत इस नवीन जीवन का मूल्य वृद्धावस्था एवं जीर्ण-जीवन की मृत्यु द्वारा दिया जाता है अर्थात् उस जीवन का अन्त हो जाता है। उस जीवन का विनाश तो हो जाता है, परन्तु उसके भीतर रहने वाले उस अविनाशी बीज[15] से पुन: नया जीवन अङ्कुरित होता है। वे दोनों जीवन एक ही हैं। अत: आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।[16]

---

12. गीता, 2.17, 18, 2023, 24, 30 इत्यादि।
13. कठ0उप01.2.18: न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। द्रष्टव्य- श्वेता0उप01.6; 3.18; बृह0उप08.3.3; 2.5. 15; तै0उप03.1 इत्यादि।
14. गीता, 2.27: जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
15. तदेव, 2.17–18; 2.20।
16. द्रष्टव्य–विवेकानन्द साहित्य (जन्मशती संस्करण) नवम खण्ड में 'पुनर्जन्म' पृ0सं0242–243।

स्वामी विवेकानन्द ने भी हिन्दू दार्शनिकों के समान सज्ञान कर्म की भूमिका के आधार पर आत्मा के पूर्वास्तित्व को स्वीकार किया है। एतदर्थ उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि संसार में परिव्याप्त असमानता का क्या कारण है? और उसके समाधान में यह तर्क उपस्थापित किया है कि न्यायी और दयानिधान ईश्वर की सृष्टि में एक बालक जन्म लेता है। उसकी प्रत्येक परिस्थिति उसको उत्तम और मानव समाज के लिए उपयोगी बनाने हेतु अनुकूल है, और सम्भवतः उसी क्षण दूसरे शहर में एक दूसरा बालक जन्म ग्रहण करता है, जिसकी प्रत्येक परिस्थिति उसके अच्छे बनने के प्रतिकूल है। हमें संसार में ऐसे बच्चे भी देखने को मिलते हैं, जो आजीवन दुःख भोगने के लिए जन्म लेते हैं। ऐसा उनके स्वयं के किसी अपराध का परिणाम नहीं है, इसका क्या कारण है? किसकी अज्ञानता का यह फल है? यदि उस बालक का कोई अपराध नहीं है तो उसके माता-पिता के कर्मों के लिए उसे क्यों दुःख भोगना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में स्वामी विवेकानन्द का मत है कि मानवता की गरिमा और स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करने हेतु तथा जगत् में विद्यमान असमानता और बीभत्सता के अस्तित्व को समझाने के लिए उसके यथार्थ कारण हमारे स्वयं के स्वतन्त्र कृत्यों अथवा कर्मों को मानने के अतिरिक्त कोई और दूसरा मार्ग नहीं है।[17] इस प्रकार पुनर्जन्म के पक्ष में तर्क देने वाले तत्त्ववेत्ताओं के इस तर्क से वे निश्चयेन सहमत हैं और यह स्वीकार करते हैं कि हमारे अनुभव लुप्त या नष्ट नहीं किये जा सकते। हमारे कर्म यद्यपि दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि अदृष्ट बने रहते हैं और अपने परिणाम में प्रवृत्ति का रूप धारण करके पुनः प्रकट होते हैं।[18] यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी कुछ प्रवृत्तियों यथा–'मृत्यु का भय' को अपने साथ लेकर आते हैं। यदि प्रवृत्ति बार-बार किये गए कर्म का परिणाम है, तो जिन प्रवृत्तियों को साथ लेकर जीव जन्म लेता है, उनको समझने के लिए उसके कारण को जानना आवश्यक है और यह स्पष्ट है कि वे प्रवृत्तियाँ हमें इस जन्म में प्राप्त नहीं हो सकतीं, अतः हमें उनका मूल पिछले (पूर्व) जन्म में ढूँढना पड़ेगा। इस प्रकार उन प्रवृत्तियों अथवा अदृष्ट कर्मों के आधार पर प्राप्त होने वाले जन्म से स्वतः पुनर्जन्म सिद्धान्त मानना पड़ता है।

---

17. द्रष्टव्य– विवेकानन्द साहित्य (जन्मशती संस्करण) नवम खण्ड में 'पुनर्जन्म' विषय पर व्याख्यान, पृ0सं0244–245।
18. गीता, 18.60: स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।

वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों को भूतकालीन ज्ञानपूर्वक किये गए प्रयत्नों द्वारा समझाने के उद्देश्य से भारतीय पुनर्जन्म सिद्धान्त को मानने वालों और वर्तमान विकासवादी परम्परा के अनुयायियों के विचारों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए भी स्वामी विवेकानन्द ने पुनर्जन्म-सिद्धान्त की विकासवादी दृष्टिकोण से समीक्षा की है। इस विषय में उनका अभिमत है कि दोनों में मतैक्य है, परन्तु अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू लोग अध्यात्मवादी होने के कारण उसे जीवात्माओं के ज्ञानपूर्वक प्रयत्नों के द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं और विकासवादी उसे पिता से पुत्र में आने वाले आनुवंशिक संक्रमण द्वारा समझाते हैं। इस विषय में यदि विवाद है भी तो पुनर्जन्मवादियों और भौतिकवादियों में ही है; क्योंकि पुनर्जन्म-सिद्धान्त मानने वाले अध्यात्मवादियों की धारणा है कि सभी अनुभव प्रवृत्तियों के रूप में अनुभव करने वाले जीवात्मा में संग्रहीत रहते हैं और उस अविनाशी जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा संक्रमित किये जाते हैं; जबकि भौतिकवादी मस्तिष्क को सभी कर्मों का आधार मानने के कारण कोशिकाओं (Cells) द्वारा उसके संक्रमण का सिद्धान्त मानते हैं। यहाँ स्वामी जी ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए यह समाधान प्रस्तुत किया हैं कि पुनर्जन्म और कोशिकाओं द्वारा आनुवंशिक संक्रमण के मध्य जो विवाद है, वह वस्तुतः आध्यात्मिकता और भौतिकता का विवाद है। यदि कोशिकाओं द्वारा आनुवंशिक संक्रमण पूर्णतः समस्या का समाधान करता है तो भौतिकता अपरिहार्य है और आत्मा के सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं हैं। परन्तु यदि वह पर्याप्त नहीं है तो यह सिद्धान्त पूर्णतया सत्य है कि प्रत्येक आत्मा अपने साथ इस जन्म में अपने भूतकालिक अनुभवों को लेकर आता है।[19] अतः दोनों में से एक को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है और यह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसको मानता है।[20] यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी की यह धारणा गीता के उस सिद्धान्त पर आधृत है, जिसमें यह प्रतिपादित है कि स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए सम्पूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचा जाता है अर्थात् जन्म-ग्रहण करना पड़ता है।[21] अतः यह कहा जा

19. इस विषय में भारतीय ज्योतिष शास्त्र की भी वह धारणा ध्यातव्य है जो यह मानती है कि जीव का प्रत्येक जन्म अपने पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का ही फल है अर्थात् उसी पर आधृत होता है, अतः उसके साथ भूतकालिक अनुभव तो होते ही हैं। द्रष्टव्य गीता, 9.8; 18.60भी।
20. द्रष्टव्य-विवेकानन्द साहित्य (जन्मशती संस्करण) नवम खण्ड 'पुनर्जन्म' विषय पर व्याख्यान, पृ0सं0246.
21. गीता, 9.8: प्रकृतिं स्वामिष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।

सकता है कि स्वामी विवेकानन्द पूवर्जन्म-सिद्धान्त के विषय में गीता आदि में प्रतिपादित सिद्धान्तों, विचारधाराओं के पक्षधर हैं।

उपरि विवेचित विचार-मन्थन से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी पुनर्जन्म के विषय में भारतीय परम्परा के हिमायती हैं और कर्म-सिद्धान्त को इसका मूल मानते हैं, परन्तु विचारशील मनीषी एवं विकासवादी युग में होने के कारण उन्होंने इस सिद्धान्त को विवेकसङ्गत बनाने के लिए समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया और विचारकों के लिए दोनों विकल्प खुला रखा है। वस्तुतः 'आत्मा के पृथक् अस्तित्व के विना पुनर्जन्म-सिद्धान्त सम्भव ही नहीं है' यह बात वे भलीभाँति समझते थे।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0129-138)

औपनिषदिक ब्रह्म

प्रो0 ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष–मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

औपनिषदिक अध्यात्मविद्या का प्रमुखतम आद्य तत्त्व ब्रह्म है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृह्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है–विशाल होना। इस धातुजन्य अर्थ को दृष्टि में रखकर यदि ब्रह्म शब्द पर विचार किया जाए तो इसका अर्थ होता है–भूमा, विशाल, समृद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ। ये सभी अर्थ ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए सार्थक सिद्ध होते हैं। इसी को परमात्मा, ईश्वर, परमेश्वर, वासुदेव, कृष्ण, हरि, विष्णु आदि नामों से भी कहा जाता है। समस्त दार्शनिक इस तत्त्व को एक मत से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्व शक्तिमान्, अनादि, अनन्त, नित्य व चेतन स्वीकार करते हैं। यही तत्त्व सबका आधार है और इसी की इच्छा से निखिल प्रपञ्च चेष्टा करता है। इसी के अनुशासन में रहकर समस्त स्थावर एवं जङ्गम सृष्टि निज-व्यापार में व्यापृत रहती है।

ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को पहचानना नीर-क्षीर-विवेचन-पटु पारदृश्वा मर्मज्ञ विद्वानों के लिए भी शक्य नहीं है। यह एक ऐसा विचित्र तत्त्व है जो सबको ज्ञात होकर भी अज्ञात है, श्रुत होकर भी अश्रुत है। सबका आत्मा होकर भी पृथक् भूत-सा प्रतीत होता है। विभिन्न आचार्यों ने इसके यथार्थ स्वरूप का परिचय देने का प्रयास किया है, किन्तु आज भी समस्या का समाधान नहीं हो सका है। यहाँ उन आचार्यों के मत पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

आचार्य शङ्कर

आचार्य शङ्कर ब्रह्म को अन्तिम सत्ता मानते हैं। परमार्थ रूप में ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निश्चल, नित्य, निर्विकार, असङ्ग, अखण्ड, सजातीय-विजातीय-स्वमत भेद से रहित, कूटस्थ, एक, शुद्ध, चेतन, नित्यमुक्त और स्वयम्भू है। **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**[1], **'विज्ञानं ब्रह्म'**[2], **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**[3], **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'**[4], **'आनन्दो**

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11
2. तैत्तिरीयोपनिषद्–ब्रह्मानन्दवल्ली 4
3. वही–1

ब्रह्मेति व्यजानात्'[5] इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के निर्गुणत्व, निर्विशेषत्व तथा ब्रह्म के चैतन्य स्वरूप में प्रमाण हेतु उद्धृत की जाती हैं। अनात्म तत्त्व को व्यावहारिक सत्ता माना है, जो माया के कारण है। माया को लेकर ब्रह्म में द्वैत नहीं आता क्योंकि यह माया सदसद्विलक्षण वस्तु है। ब्रह्म जगत् का उपादान व निमित्त कारण है। यद्यपि वह समस्त कारणों से रहित है। न वह किसी का कारण है, न उसका कोई कारण है, किन्तु फिर भी अनादि काल से जगत् का कारण जानने का प्रयास किया जा रहा है तो अन्तिम कारण ब्रह्म को ही मानना पड़ता है। वस्तुतः वह तो कार्य-कारण रहित है-**'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'।**[6]

आचार्य रामानुज

आचार्य रामानुज के मत में ब्रह्म दो प्रकार का है–स्थूल चिदचिद् विशिष्ट व सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट। दोनों ही रूपो में ब्रह्म अखण्ड स्वरूप ही रहता है। यह विशेषता उसमें कोई विकार अथवा परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। ब्रह्म कभी निर्गुण नहीं हो सकता। व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति निर्गुणावस्था में सम्भव ही नहीं। **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**[7] इस श्रुति में निर्गुण का अर्थ है–हेय तथा निकृष्ट गुणों से सर्वथा रहित होना। ब्रह्म में श्रेष्ठ गुणों का अभाव है, यह इसका अर्थ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि स्थान-स्थान पर उसको सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प, सर्वशक्तिमान्, दयालु आदि विशिष्ट गुणों से मण्डित किया गया है।

आचार्य शङ्कर ब्रह्म और ईश्वर में अन्तर करते थे। ब्रह्म उसका पारमार्थिक नाम है जिसमें वह निर्गुण व निर्विशेष रहता है। ईश्वर का अर्थ है-समस्त गुण सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली, जगत् का कर्त्ता, पालयिता, संहर्ता परम चेतन तत्त्व। परन्तु आचार्य रामानुज का मत भिन्न है। वे ब्रह्म का पारमार्थिक रूप इसी को मानते हैं। वह कभी भी गुणों से रहित नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर आदि एक ही हैं।

आचार्य रामानुज ब्रह्म में स्वगत-भेद मानते हैं। जैसे हस्त पादादि अवयव शरीर से भिन्न होकर भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव व जगत् भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। सत्ता, ज्ञान व आनन्द ब्रह्म के स्वरूप नहीं हैं, विशेषण हैं। इन्हीं से परमेश्वर सविशेष कहलाता है। उसमें

4. वही–9
5. तैत्तिरीयोपनिषद्–भृगुवल्ली–2
6. श्वेताश्वतरोपनिषद् –6/8
7. श्वेताश्वतरोपनिषद् –6/11

सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, भक्तवत्सलता, सर्वकर्तृत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि अनन्त दिव्यगुण रहते हैं। इसी कारण उसे सगुण कहा जाता है।

आचार्य मध्व

इनकी मान्यता है कि ब्रह्म सगुण और सविशेष है। ब्रह्म सदैव जीव और जगत् से भिन्न रहता हैं। जीव और जगत् ब्रह्म के शरीर नहीं, अपितु स्वतन्त्र तत्त्व हैं। ये गुण ही परमेश्वर के स्वरूप हैं। चेतन जीव और अचेतन जगत् ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। हरि ही देवों में श्रेष्ठ हैं। सृष्टि रचयिता, पालक और संहर्ता भी वही हैं। देश, काल व गुणों की उसमें कोई सीमा नहीं है।

आचार्य निम्बार्क

इनके मत में ब्रह्म का नाम कृष्ण है। यह कृष्ण गुणों का आलय सर्वजनपूज्य, सबके लिए वरेण्य और भक्तवत्सल हैं।[8] वह स्वेच्छया मनुष्यादि योनियों में अवतीर्ण होकर भक्तों की रक्षा करता है। कृष्ण नामधेय ब्रह्म यद्यपि स्वतन्त्र तत्त्व है तथापि वे भक्तों के वश में रहते हैं। शाङ्कर मत में जीव और जगत् ब्रह्म का आभास मात्र थे, किन्तु यहाँ परमार्थ तत्त्व हैं। चिद् और अचिद् रूप में परमेश्वर की प्राकृतिक शक्ति ही जब स्थूल रूप धारण कर लेती है तो ब्रह्म उसका उपादानकारण कहलाता है, क्योंकि यह शक्ति ही उसकी इच्छा का अनुवर्तन करती है। इसलिए वही इसका निमित्त कारण भी है।

आचार्य वल्लभ

आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म को सगुण, सर्वज्ञ, साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्त्ता, सच्चिदानन्दस्वरूप, चैतन्य और नित्य मानते हैं, किन्तु इनके मत में अन्य मतों से विलक्षणता है। ये शङ्कर की तरह संसार निर्माण के लिए ब्रह्म को माया से मलिन नहीं मानते। माया का अधिपति वह ब्रह्म सदा-सर्वदा शुद्ध ही रहता है। वह दोष और गुणों से रहित है। वह त्रिरुद्ध धर्मों का धारण करने वाला भी है। सविशेष होकर भी निर्विशेष है। लीला के लिए वह जड़ व जीव रूप में आविर्भूत होता है। उस समय उसमें घोर परिवर्तन नहीं होता।

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ब्रह्म व ईश्वर को पर्यायवाची मानते हैं। वैष्णवाचार्यों की भाँति वे ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, नित्य, सर्वव्यापक, दयालु आदि मानते हैं। ईश्वर सगुण व

---

8. स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्। व्यूहाग्निं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।। दशश्लोकी 4

निर्गुण दोनों हैं।[9] वह निर्गुण इसलिए है क्योंकि उसमें रूप, रस, आकार आदि गुणों का नितान्त अभाव है। वह कभी मनुष्य पश्वादि के रूप में अवतीर्ण नहीं होता। वह सगुण भी है, क्योंकि उसमें दया, दाक्षिण्य, उदारता, न्याय, सर्वज्ञत्वादि निखिल गुणों का वास होता है। वह निराकार है।[10] विना शरीर के ही अपनी शक्ति से वह समस्त कार्य करने में समर्थ है।[11]

स्वामी जी की मान्यतानुसार ईश्वर निष्क्रिय नहीं है। यदि वह निष्क्रिय होता तो सृष्टि कैसे करता? अतः विभु होते हुए भी चेतन और क्रियावान् है।[12] श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह वचन प्रमाण है–**'परास्य शक्तिविविधैश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।**[13] जगत् का निमित्तकारण ईश्वर और साधारण निमित्तकारण जीव है। प्रकृति उपादान कारण है। वह जीव के भोग और मोक्ष के लिए है। जीवों पर परोपकार के लिए वह सृष्टि करता है,[14] केवल लीला के लिए नहीं। जीवों को मोक्ष देने वाला भी ईश्वर ही है।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

उपर्युक्त मतों का मूलाधार उपनिषदें ही हैं। कहीं अभिधा, कहीं आलंकारिक शैली उपनिषदों में अपनाई गई है। उसकी व्याख्या स्वानुकूल करके ही आचार्यों द्वारा अपने मत को पुष्ट किया गया है।

वास्तव में उपनिषदों में भेद-दृष्टि का सिद्धान्त ही प्रतिपादित किया गया है। ईश्वर या ब्रह्म एक सर्वोपरि विलक्षण तत्त्व है, जिसे परिभाषा में बाँधना अत्यधिक कठिन कार्य है। कहीं **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'**[15] तो कहीं **'तदेजति तन्नैजति तदु दूरे तद्वन्तिके'**[16] कहा गया

---

9. यद्गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुणम्, गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्। सत्यार्थप्रकाश–सप्तम समु0पृ0132
10. सत्यार्थ–प्रकाश, सप्तम समुल्लास
11. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।। श्वे03/19
12. सत्यार्थ–प्रकाश, सप्तम समुल्लास
13. श्वेताश्वतरोपनिषद् –6/8
14. सत्यार्थ–प्रकाश, अष्टम समुल्लास
15. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 3/20
16. ईशोपनिषद् –5

है। कहीं पर **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'**[17] तो कहीं पर उसकी निराकारता **'न तस्य प्रतिमास्ति'**[18] कहकर सिद्ध की है। **'सहस्रशीर्षा'**[19] कहकर उसके सर्वसामर्थ्य को प्रकट किया है। ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि स्वीकार किया है। ब्रह्म या ईश्वर को उपनिषदों में सृष्टिकर्त्ता, पालक और संहर्त्ता माना है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वयंभू, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, निराकार अपरिणामी कूटस्थ, सत्, चित् व आनन्दस्वरूप है।

ब्रह्म के विभिन्न विशेषण

जगत्कर्त्ता

यह विशाल और विचित्र संसार जिसका प्रत्येक कार्यकलाप नितान्त वैज्ञानिक है, अकारण नहीं बन सकता। इसका कर्त्ता कोई दिव्य गुणों वाला अतुलित ऐश्वर्यशाली, योग, देव ऋषि अथवा सिद्धपुरुष भी नहीं हो सकता। विवश होकर हमें इसके कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। कर्त्ता का अर्थ है–ज्ञात, चिकीर्षा और कृतिमत्ता से युक्त होना[20] अर्थात् जिसको जगत् के जन्म, स्थिति और संसार का ज्ञान हो, जो जन्मादि को करना चाहता हो तथा जिसमें क्रिया हो–वह कर्त्ता कहलाता है। लोक में कुम्भकार, शिल्पकार आदि भी कर्त्ता कहलाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कार्य का ज्ञान है, वे उसे करना चाहते हैं और उसे करने के लिए कुछ क्रिया करते हैं। यह सृष्टि रचना का ज्ञान चिकीर्षा और कृतिमत्ता केवल ईश्वर में ही हो सकती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को विश्वकृत व विश्ववित् कहा गया है।[21] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि समस्त भूत और भौतिक पदार्थ उसी परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं, उसी में स्थित रहते हैं और उसी के द्वारा लय को प्राप्त होते हैं।[22]

जगत् की रचना का उद्देश्य

दर्शनशास्त्र की समस्या है कि ईश्वर ने यह संसार क्यों बनाया? परमेश्वर को निरीह, पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वदा सर्वथा सन्तुष्ट बताया गया है। उसकी ऐसी कोई आवश्यकता नहीं जिसके लिए वह व्यावहारिक जगत् की रचना करे। यदि किसी अपूर्ण कामना की पूर्ति के

---

17. श्वे0उप0–3/19
18. श्वे0उप0–4/19
19. श्वे0उप0–3/4
20. वेदान्त परिभाषा
21. स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि –श्वे0–6/16
22. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति...... तैत्ति0–3/1/1

लिए वह जगद्रचना में प्रवृत्त होता है तो उसका पूर्णकामत्व बाधित होता है। ऐसी विलक्षण स्थिति में वह ईश्वर न रहकर उत्कृष्ट गुण सम्पन्न जीव हो जाएगा। आचार्य शङ्कर के अनुसार ईश्वर की लीला मात्र के लिये जगद्रचना उचित प्रतीत नहीं होती। लीला का उद्देश्य मनोरञ्जन हो सकता है जो परमात्मा के पूर्णकामत्व को बाधित करता है। कुछ की मान्यता है कि जगद्रचना का उद्देश्य जीवों के शुभाशुभ कर्मानुसार उन्हें फल देना है। योगसूत्र भाष्यकार व्यास भी मानते हैं कि परमेश्वर ने जीवों के लिए ही सृष्टि की है। उसका उद्देश्य यही है कि मैं जगत् की रचना करके उनको कर्मानुसार सुख-दुःख प्रदान करूँगा।[23] यही मत स्वामी दयानन्द जी का भी है।[24]

भोक्ता, भोग्य व प्रेरक-इन तीनों में जीव को भोक्ता, जगत् को भोग्य और परमात्मा का प्रेरक कहा जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि प्रेरक परमेश्वर ने भोक्ता जीव के लिए संसार बनाया। उसका अपना उद्देश्य नहीं। केवल जीवों का उपकार करना ही उसका उद्देश्य है।

एकोऽहं बहु स्याम

उपनिषदों में कहा है-**'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत'**।[25] अन्यत्र कहा है-**'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽसृजत'**।[26] इसके द्वारा शङ्कर अद्वैतसिद्धि करते हैं कि परमेश्वर अकेला था। उसने अनेक होने की इच्छा की और सृष्टि रचना कर दी। इससे ब्रह्म अतृप्तकाम सिद्ध होते हैं। ईश्वर का बहुत होने का तात्पर्य है-प्रलयावस्था में प्रकृति सूक्ष्म अवस्था में थी। अतः उसका विस्तार कर दिया। उसे स्थूल बनाकर भोग्य तथा जीव को शरीर देकर भोक्ता बना दिया। यही ईश्वर का अनेक होना है।

सर्वज्ञ

विश्व का कर्त्ता होने के कारण सर्वज्ञत्व अनिवार्य है। संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान ईश्वर में ही सम्भव है। चौरासी लाख योनियों का तो नाम याद भी नहीं रह सकता, फिर भला व्यक्ति उनके कर्मों का सम्पूर्ण विवरण किस प्रकार रख सकता है? पर कार्य ईश्वर के द्वारा ही सम्भव है।

---

23. ज्ञानधर्मोपदेशेन लोकानुद्धरिष्यामि-व्यासभाष्य (सृष्टि प्रकरण)
24. सत्यार्थ-प्रकाश, नवम समुल्लास
25. छान्दोग्योपनिषद् -6/2/3
26. तैत्तिरीयोपनिषद् -ब्रह्मानन्द वल्ली 6

ईश्वर की सर्वज्ञता आगम प्रमाण से ही सिद्ध होती है। ब्रह्मसूत्र में **'शास्त्रयोनित्वात्'**[27] कहकर ईश्वर की सिद्धि आगम प्रमाण से की है।

सर्वव्यापक

उपनिषदों में ब्रह्म को विभु स्वीकार किया है। छान्दोग्य में कहा है कि वही ब्रह्म नीचे है, वही ऊपर है, पीछे, सामने, दक्षिण, उत्तर और सर्वत्र वही है।[28] वही सब दिशाओं में है, वही गर्भ में व गर्भ के बाहर है, वह सर्वतोमुख है।[29] जैसे तिलों में तेल, दधि में घृत, धाराओं में जल, काष्ठ में अग्नि व्याप्त है, इसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् के कण-कण में व्याप्त है।[30] वह सबको देखने वाला है, सब जगह उसका मुख है, उसके हाथ-पाँव सब जगह हैं।[31] वह समस्त जगत् के अन्दर और बाहर परिपूर्ण हो रहा है।[32] सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से व्याप्त है।[33] वही सर्वव्यापी परमात्मा सब भूतों में अन्तर्यामी है।[34]

कुछ दार्शनिक ईश्वर की सर्वव्यापकता को असङ्गत बताते हैं कि ईश्वर ज्ञान से व्यापक है या देह से? निराकार होने से वह देह से व्यापक तो हो नहीं सकता। यदि ज्ञान से व्यापक मानते हो तो उसे सर्वत्र रहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक स्थान पर रहकर ही जान सकता है। इसका उत्तर है कि ईश्वर स्वरूप से व्यापक है। सत्ता, ज्ञान और आनन्द ईश्वर का स्वरूप है। जैसे दीपक का प्रकाश घर में होता है तथा वहाँ घटपटादि पदार्थ भी रहते हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापक रह सकता है।

यदि प्रश्न करें कि वह सर्वत्र है तो प्राप्त क्यों नहीं होता? उत्तर है कि जल में विद्युत, दुग्ध में घृत की तरह से विशेष विधि अपनाकर उसकी प्राप्ति की जा सकती है। विवेक,

---

27. ब्रह्मसूत्र –1/3
28. स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः। छान्दोग्यो0–7/25/1
29. एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः। स नु गर्भे अन्तः। श्वेताश्वतरो02/16
30. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि .... श्वे0–1/15
31. विश्वतश्चक्षुरुत, विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्मात्– श्वे02/6
32. तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः –ईशो05
33. ईशावास्यमिदं सर्वम्–ईशो0–1
34. सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा–श्वे06/11

वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व के दृढ़ होने पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा ईश्वर साक्षात्कार होता है।[35]

कूटस्थ

ईश्वर एक स्थान पर रहकर ही क्रिया करता है, वह कहीं आता-जाता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि वह पक्षपातरहित होकर कर्मानुसार जीवों को फल प्रदान करता है।

सर्वशक्तिमान्

ब्रह्म की शक्ति असीम है। उसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। वह श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु का चक्षु है। मन, वाणी, प्राण सब उसी से शक्तिमान् हैं।[36] वह बैठा हुआ दूर तक जाता है और सोते हुए गति करता है।[37] बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, नाम, मन्त्र और कर्म-ये समस्त ब्रह्म से ही प्रकाश में आते हैं।[38] केनोपनिषद् में यक्ष के माध्यम से उसी की सत्ता का प्रकाश किया गया है।[39] ब्रह्म की शक्ति के अभाव में समस्त देव एक तृण को भी नहीं जला सकते।[40] श्रुति कहती है कि उसी के भय से सूर्य प्रकाश देता है, अग्नि तपता है। इन्द्र, यम, वायु आदि देवता उसी के भय से निजकार्य में लगे रहते हैं।[41]

स्वतन्त्र

ब्रह्म स्वतन्त्र है, ब्रह्माण्ड को वह स्वतन्त्र रूप से चलाता है। वह सब का स्वामी है, उसका स्वामी कोई नहीं है।[42] उसके समान कोई नहीं है।

नित्य

ब्रह्म की नित्यता सभी दार्शनिक एक मत से स्वीकार करते हैं। कालातीत वस्तु को नित्य कहते हैं, जो न कभी उत्पन्न हो और न ही नष्ट हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है

---

35. आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृहदा0–2/4/5
36. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो .... केनो0–1/2
37. आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। कठो–1/2/21
38. आत्मतः प्राण आत्मतः आशा .... छा07/26/1
39. केनो0–3/1
40. तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति–केनो03/6
41. भयादस्याग्नितपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।। कठो02/3/3
42. न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। श्वे06/9

कि ब्रह्म नित्य पदार्थों में सर्वाधिक नित्य और चेतन पदार्थों में सर्वाधिक चेतन है।[43] कठोपनिषद् में कहा है–ज्ञान स्वरूप परमात्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है। वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है।[44] उपनिषदों में ब्रह्म की नित्यता, सर्वसामर्थ्यता, जगत्-कर्तृत्व आदि की पुष्टि की गई है।

निराकार

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता होते हुए भी निराकार है। इसीलिए अवाङ्मनसगोचर और अप्राप्य है। शरीर में रहते हुए शरीर रहित है।[45] दिव्य, अमूर्त, प्राण-मन से परे, जगत् के अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रतिष्ठित है। शुभ्रवर्ण है फिर भी आकारवान् नहीं है।[46] वह अदृश्य, अग्राह्य, अचक्षु, अश्रोत्र, अवर्ण, अपाणिपाद और अविनाशी है।[47] उसके वास्तविक स्वरूप को चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं देखा जा सकता।[48] वह अणु से अणु और महत् से महत् है।[49] स्वामी दयानन्द ने कहा है–'क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञत्वादि गुण भी ईश्वर में नहीं घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु में गुणकर्म स्वभान भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इसमें यह निश्चित है कि ईश्वर निराकार है।[50]

ब्रह्म के स्वरूप को जानकर ही मुक्ति होती है। ब्रह्मज्ञान के उपायों का आश्रय लेकर इस परमतत्त्व को जानने के उद्योग के लिए उपनिषदें मार्ग-दर्शक हैं। अतः औपनिषदिक ब्रह्म का विवेचन किया गया है।

---

43. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां .... श्वे06/13
44. न जायते म्रियते वा कदाचिद् .... कठो01/2/18
45. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्–कठो01/2/22
46. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो .... मु02/1/2
47. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र .... मुण्डक–1/1/6
48. कठो0–2/3/9
49. अणोरणीयान् .... कठोपनिषद् –1/2/20
50. सत्यार्थ–प्रकाश, सप्तम समुल्लास

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0139-148)

पुराणों की प्रासङ्गिकता

डॉ. मञ्जुलता शर्मा
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
सैण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा

आज सम्पूर्ण विश्व एक संक्रमणकाल से गुजर रहा है। हमारी प्राचीन संस्थायें हमारे क्रमागत विश्वास, जीवन के प्रति हमारी दृष्टि, हमारे सामाजिक मूल्य, हमारी अर्थनीति, राजनीति एवं विचार विनिमय की पद्धति सब परिवर्तित हो रहे हैं। एक युग की समाप्ति पर नवयुग का उदय होना स्वाभाविक है। ऐसे परिवर्तनशील समय में मनुष्य भय, संशय, अनिश्चितता और सुरक्षा के अभाव में यथार्थ से पलायन कर रहा है। स्वप्नों के इन्द्रधनुषी संसार में विचरण करता हुआ वह सत्य के धरातल का स्पर्श करना भी नहीं चाहता। ऐसे विद्वेषपूर्ण वातावरण में मूल्यों पर आधारित शिक्षा ही एक सर्वसंस्कृति उत्पन्न करने का माध्यम बन सकती है। पुराण इन मूल्यों का प्राणतत्त्व है। इनमें भारत की सत्य और शाश्वत आत्मा निहित है। इन्हें पढ़े विना न तो भारतीय जीवन के दृष्टिकोण को आत्मसात् किया जा सकता है और न ही मनुष्य के गन्तव्य और पाथेय का ज्ञान हो सकता है। इनमें हमारी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक चेतना संरक्षित है। लोक जीवन के समस्त पक्ष इनमें प्रतिबिम्बित होते हैं। संसार का ऐसा कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं, मानव मस्तिष्क की ऐसी कोई कल्पना एवं योजना नहीं जिसका निरूपण पुराणों में नहीं हुआ है। अपने रोचक आख्यानों द्वारा जन-जन को प्रभावी शिक्षा देने में पुराण सफल सिद्ध हुये हैं। पौराणिक साहित्य ने मूल्यों के विकास हेतु ऐसे आधार पीठ का सृजन किया, जिस पर हमारी सांस्कृतिक धरोहर चिरकाल तक अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रख सके। आज बदलते हुये परिवेश में हमारे प्राचीन मूल्य उतने प्रासङ्गिक सिद्ध नहीं हो रहे हैं, अपितु उनके स्थान पर नवीन मूल्यों ने स्वयं को स्थापित किया है।

पुराण हमारे प्राचीन मूल्यों को जीवन में उतारने का आदेश नहीं देते, अपितु सुहृदसम्मित शैली में मनुष्य को वैचारिक ऊष्मा प्रदान करके स्वैच्छिक निर्णय लेने का दर्शन स्थापित करते हैं। गरुड पुराण के प्रथम खण्ड में सामान्य धर्म के रूप में अहिंसा आदि को स्वीकार किया गया है।[1]

---

1. गरुड-पुराण 116/2

इससे यह विदित होता है कि पुराण हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करने के स्रोत रहे हैं। इनमें धर्म की सूक्ष्मतम विवेचना करते हुये आचारशास्त्र के सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है। **'धर्म एवापवर्गाय'**[2] कहकर कूर्म पुराण उसे मोक्ष का द्वार स्वीकार करता है। वामन पुराण धर्म के द्वारा उन कार्यों एवं आचरणों की ओर सङ्केत करता हैं जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हुये समाज में सन्तुलन बनाने का महनीय कार्य करते हैं–

तपोऽहिंसा च सत्यं च शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दया दानं त्वानृशंस्यं शुश्रूषा यज्ञकर्म च॥[3]

अपने गौरवमय अतीत को धारण करने वाली आर्यसभ्यता में त्याग, तप दान, यज्ञ, चिन्तन, मनन, वर्णाश्रम, संस्कार एवं पुरुषार्थ जीवन के प्रधान लक्ष्य स्वीकृत किये गए हैं। अपनी परम्परा के निर्वहण में हमने एक विश्वसंस्कृति की स्थापना की है। परन्तु आज की परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न हैं। धर्मगुरु कहा जाने वाला भारतवर्ष स्वयं एक मौन धर्मयुद्ध से पीड़ित है। रंग, जाति, वर्ग, धर्म एवं भाषा के आधार पर हम देश को ही नहीं, अपितु विश्व को बाँट चुके हैं। धार्मिक प्रमत्तता अपनी चरम विकृति पर है। ऐसे विद्वेषपूर्ण वातावरण में अपने परम्परागत चरित्र का परित्याग करना मानव की विवशता है अथवा प्रगतिशीलता। यह ज्वलन्त प्रश्न आज भी भारतीय सभ्यता के समक्ष अनुत्तरित है। धर्म का सार अत्यन्त सूक्ष्म है। यह भुक्ति, मुक्ति प्रदान करने वाला और समस्त पापों को नष्ट करने वाला है। इस धारणा को जनमानस पर उतारकर पुराणों ने धर्म जैसे सर्वाधिक विवादित विषय को आचार संहिता के रूप में प्रस्तुत किया है। पुराणों में धर्म विषयक धारणा को अन्धविश्वास अथवा परम्परात्मक स्वरूप के रूप में ही चित्रित नहीं किया, अपितु उसके तार्किक चिन्तन को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सिद्ध किया गया है। स्कन्द पुराण के द्वितीय खण्ड में अंहिसा को धर्म का मूल बताकर उसे तप की श्रेणी में रखा गया है–

धर्ममूलमंहिसा च मनसा तां च चिन्तयन्।
कर्मणा च तथा वाचा तत एतां समाचरेत्॥[4]

इससे यह प्रतीत होता है कि धर्म ही प्रधान है धर्म के विना व्यक्ति का श्वाँस लेना लुहार की धोंकनी के समान है–

---

2. कूर्मपुराण 2/55
3. वामन-पुराण 75/11
4. स्कन्द-पुराण 44/19, अग्नि-पुराण 183/3

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति।।[5]

परन्तु यह पौराणिक धर्म सङ्कीर्णता की श्रेणी से निकलकर हमारे लिये एक ऐसा व्यापक फलक प्रस्तुत करता है, जिसमें विश्वबन्धुत्व का भाव निहित है। आज आतङ्कवाद की क्रूरता से सम्पूर्ण मानवता आहत है। प्रतिदिन होने वाले नरसंहार हमारे शाश्वत मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। ऐसे सामाजिक विचलन में पुराण अपने अनेक आख्यानों एवं उपदेशों द्वारा अंहिसा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। गरुड पुराण में अंहिसा को यम कहा है जो मोक्ष का साधनभूत है।[6] श्रीमद्भागवत पुराण सत्य से भी ऊपर अंहिसा को रखता है, उसके अनुसार यदि अंहिसा के प्रतिपादन में किसी की प्राणरक्षा करते हुये असत्य का भी आचरण करना पड़े तो वह निन्दनीय नहीं है।[7] अतः पुराणों की उद्घोषणा यही रही है–

वरं प्राणस्त्याज्यं न तु परहिंसा त्वभिमता।[8]

यद्यपि यज्ञ में पशुबलि के विषय में सर्वाधिक विवाद रहा है। परन्तु पद्मपुराण का यह कथन कि "यदि किसी की हिंसा में विशेष प्रवृत्ति हो तो यज्ञ में पशु का केवल आलम्भन (स्पर्श) करना चाहिये, उसका वध नहीं, वध करने पर नरक की प्राप्ति होती है।' इस विवाद पर विराम लगाने के लिये पर्याप्त है। अतः विना किसी कार्य के तो तृण का भी छेदन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें भी सूक्ष्म वेदना होती है–

तृणमपि विना कार्यं छेत्तव्यं न विजानता।
अंहिसा निरतो भूयाद्यथात्मनि तथापरे।।[9]

यह उपदेश प्रकृति संरक्षण के लिए भी महावाक्य कहा जा सकता है। वास्तविकता यही है कि अंहिसा का आचरण मनसा, वाचा, कर्मणा होना चाहिए। यह एक ऐसा मानवीय गुण है, जिस पर विश्वशान्ति का भवन निर्मित किया जा सकता है।

सामान्य धर्म के परिप्रेक्ष्य में सत्य हमारी संस्कृति का प्राणतत्त्व कहा गया है, इससे पारस्परिक सौख्य में वृद्धि होती है। सत्य केवल वाणी नहीं, अपितु ऐसी आत्मिक शक्ति है

---

5. नारद-पुराण 4/18
6. गरुड-पुराण 18/9
7. श्रीमद्भागवत-पुराण, द्वितीय खण्ड 8/19/43
8. वामन-पुराण 59/28
9. पद्म-पुराण 33/23

जिससे बलशील योद्धा भी परास्त किये जा सकते हैं। परन्तु सत्य के विषय में एक निर्मल धारणा यह भी है कि यह परपीड़ा से रहित होना चाहिये–

सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परं तपः।
सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः[10]

अप्रिय वचनों से पीड़ा उत्पन्न होती है, इसलिये तपस्या के समान श्रेष्ठ सत्य का परिपालन ही आर्य धर्म है। अग्निपुराण का मत है कि–

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषः धर्मः सनातनः।।[11]

वास्तव में लौकिक सुखों के साथ-साथ अलौकिक सुख भी सत्य के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। सत्य से सूर्य प्रकाशित होता है; जल रसरूप होता है, अग्नि प्रज्वलित होती है और वायु प्रवाहित होती है। सत्य से ही यह भूमि स्थित है सत्य से सागर मर्यादित है।[12] राजा हरिश्चन्द्र सत्यवक्ता होने के कारण सत्यलोक में प्रतिष्ठित हुये।[13] वस्तुतः जो मनुष्य सर्वदा सत्य में ही रति रखता है। किसी भी दशा में मिथ्या वचन नहीं बोलता सदैव सत्य से समन्वित कार्य करता है, वह सशरीर अच्युता को प्राप्त करता है।[14] क्योंकि धर्म विष्णु की काया है और सत्य उनका हृदय है।[15] इसलिये वर्तमान भौतिक परिवेश में जहाँ सत्य का उपहास किया जा रहा है, सत्यवादी को उत्पीड़ित करके उस पर मिथ्या आरोप लगाये जा रहे हैं। न्यायालयों में सत्य को किनारे रखकर असत्य प्रमाण एकत्रित किये जाते हैं, ऐसी दुर्भावनापूर्ण व्यवस्था में पुराणों द्वारा निर्दिष्ट किया गया दृष्टिकोण सत्य के प्रति न्याय कर सकता है। क्योंकि यह एक ऐसा ज्योति स्तम्भ है जिसका प्रकाश मानव मन को आलोकित करता है। परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर सत्य की परीक्षा होती है, अतः मौन रहना उत्तम है, परन्तु मिथ्या वचन अनुचित है–

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम्।[16]

---

10. स्कन्द-पुराण 44/18
11. अग्नि-पुराण 183/8
12. ब्रह्म-पुराण 228/52–53, शिव-पुराण 9/29
13. पद्म-पुराण 25/15
14. पद्म-पुराण 25/15
15. पद्म-पुराण 32/10
16. वामन-पुराण 59/28

अन्याय, छल कपट एवं चोरी से परायी वस्तु का अपहरण करना स्तेय है। इसके वशीभूत हुआ मानव लोभ में फँसकर अनेकों अनैतिक कृत्यों की ओर प्रेरित होता है। दुष्कृत्यों के पङ्क से मलिन हुई बुद्धि भ्रान्तिमयी हो जाती है। इस दुर्गुण का न होना ही अस्तेय है।[17]

चोरी के कृत्य में लगा हुआ व्यक्ति सदैव भय का अनुभव करता है। संताप एवं लज्जा से स्वयं को धिक्कारता हुआ कष्टमय अनुभूति में ही जीता है। मृत्यु के बाद उसे तिर्यक् योनि प्राप्त होती है।[18] स्कन्द पुराण के द्वितीय खण्ड में वर्णित है–

परस्वहरणं चौर्यं सर्वदा सर्वमानुषैः।
चातुर्मास्ये विशेषेण ब्रह्मदेवास्ववर्जनम्॥[19]

अतः मनुष्य को पराये धन का अपहरण छिपकर अथवा भूल से भी नहीं करना चाहिये। मन, वचन एवं कर्म से पराये धन से दूर रहना ही अस्तेय है। यह धर्म का ही एक अङ्ग है।

परस्व नैव हर्तव्यं परजाया तथैव च।
मनोभिर्वचनैः कायैर्मन एव प्रकारयेत्।[20]

जब व्यक्ति अपने चञ्चल मन और इन्द्रिय को वश में करके लोभ मोह से दूर रहकर अस्तेय का तत्परता से पालन करता है, तब ही वास्तविक सुख और शान्ति को प्राप्त करता है। जीवन का यथार्थ यही है कि जब हम किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से बहुत अधिक मोह करते हैं, तब प्रत्येक पल उसके नाश की आशङ्का से विचलित रहते हैं। परिणाम स्वरूप हमारा स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होता हैं। अतः बदलते हुये परिवेश में जहाँ मनुष्य की अनन्त इच्छाएँ और अन्तहीन प्रतिस्पर्द्धाएँ उसके व्यक्तित्व को बौना बना रही हैं। पुराणों का निर्लिप्त उपदेश योग का पथ प्रदर्शक बन सकता है।

पुराणों में अनेक स्थलों पर सञ्चय की प्रवृत्ति का विरोध किया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में कहा है कि यति को चाहिये कि मधुमक्षिका की भाँति कर और उदर को ही पात्र बनाये। भिक्षा को सायङ्काल अथवा दूसरे दिन के लिये सञ्चय करके न रखे क्योंकि विपरीत

---

17. नारद-पुराण द्वि0खं05/78
18. अग्नि-पुराण, 183/14
19. स्कन्द-पुराण द्वितीय-पुराण ख044/20
20. पद्म-पुराण 33/26

स्थिति में जैसे सञ्चित मधु के साथ मक्षिका नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार यति भी संगृहीत पदार्थ के साथ नष्ट हो जाता है।[21]

वस्तुत: ब्राह्मण जैसे जैसे अपरिग्रह की वृत्ति की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे उसका ब्रह्मतेज बढ़ता है।[22] वास्तविक अपरिग्रही वही है जो आपत्ति के समय भी ग्रहण नहीं करता।[23] अत: हितात्मा के अकिञ्चनत्व तथा राजा के विशाल वैभव को एक साथ तुला पर रखने पर अकिञ्चनत्व अधिक भारी सिद्ध होता है।[24] आज समाज में उत्कोच, भ्रष्टाचार और अनेकों समस्याओं का मूल कारण मनुष्य की अदम्य लालसा और संग्रह की प्रवृत्ति ही है। पुराण हमें इस प्रवृत्ति से मुक्त होने का मार्ग दिखाते हैं जिससे समाज में यथेष्ट सन्तुलन स्थापित हो सके।

पुराणों में सत्य,[25] अंहिसा,[26] शौच,[27] क्षमा,[28] धृति,[29] दया, पवित्रता आदि सद्गुणों को सभी वर्णों के लिये धर्म बताने का उद्देश्य ही यही था कि व्यक्ति इन मूल्यों से अपने जीवन को अनुप्राणित कर सके। आज समाज में शैक्षिक पतन, व्यभिचार, उत्कोच, घृणा, द्वेष आंतकवाद की प्रवृत्ति ने हमारे समक्ष यह अनुत्तरित प्रश्न छोड़ दिया है कि अब हमारा समाज क्या करे? अत्याधुनिक पीढ़ी जो सूर्य की प्रथम किरण से अनजान है; बिस्तर पर 'बैड टी' के संस्कार को कैसे जान सकती है? इस किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पुराण इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे अपने सामान्य धर्म अपरिग्रह, दान, आज्ञापालन, दया, गुरुसेवा आदि के विस्तृत फलक पर एक आदर्श समाज की स्थापना करते हैं।[30] उनके द्वारा निर्देशित जीवन दर्शन से हमारे नवाँकुर सौ वर्ष के नीरोगी जीवन का स्वप्न देख सकते हैं। वास्तव में पुराण अपने प्राचीन मूल्यों के आधार पर हमारी समग्रता को चिह्नित करते हैं।

---

21. श्रीमद्भागवत-पुराण 11/8/11–12
22. पद्म-पुराण12/109
23. कूर्म-पुराण 11/19
24. पद्म-पुराण 12/110
25. कूर्म-पुराण 11/16
26. ब्रह्माण्ड-पुराण 1315
27. पद्म-पुराण द्वि0खं01/90
28. पद्म-पुराण 33/20
29. ब्रह्म-पुराण 11/7
30. अग्नि-पुराण 183/14–16

प्राचीन भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान है। समाज में जीवन व्यतीत करने वाले प्राणी जब अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार नियमों का पालन करते हैं, तो इससे समष्टिगत कल्याण होता है।[31] सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में ब्रह्मा ने समस्त वर्णों के लिये उचित स्थान निरूपित किया है। क्रियावान् ब्राह्मणों के लिये प्राजापत्य लोक, संग्रामजयी क्षत्रियों के लिये इन्द्रलोक, वैश्यों के लिये देवलोक और शूद्रों के लिये गन्धर्वलोक निश्चित किया है।[32] जो कार्य वर्णाश्रमधर्म के विरुद्ध है उस पर गमन करने वाला व्यक्ति नरक में जाता है।[33] प्राय: समस्त पुराणों में चारों वर्णों की उत्पत्ति के विषय में एक मत है। वे वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से मानते हैं, जिसमें सिर से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जङ्घा से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति वर्णित है।[34] विभिन्न पौराणिक आख्यानों में आश्रम व्यवस्था को भी समाज का अभिन्न अङ्ग स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के रूप में हमारी संस्कृति के मूल्यों को वर्गीकृत करके एक सुगठित रूप में दिशा निर्देशित करने का श्रमसाध्य कार्य पुराण अत्यन्त सरलता से करते हैं। परन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था का यह पौराणिक रूप आज विकृत हो रहा है। वर्ण के नाम पर व्यक्ति अनेकों जातियों एवं उपजातियों में विभाजित है। ब्रह्मचर्य आश्रम में दी जाने वाली शिक्षा की व्यावहारिकता समाप्त हो रही है। व्यवसायों के परिवर्तन से शिक्षा में भी परिवर्तन अपेक्षित है, अत: विद्यार्थियों को शिक्षित के स्थान पर साक्षर व्यवसायी बनाया जा रहा है। आज न तो तपोवन में स्थित वे गुरुकुल हैं और न ही वह एकाग्र अनुशासन। अनुशासनहीन विद्यार्थी अनेक दुर्गुणों में लिप्त होकर अपना ब्रह्मतेज नष्ट कर रहा है। गृहस्थाश्रम का उद्देश्य भी **'बहुजन हिताय बहुजनसुखाय'** के स्थान पर मात्र पारिवारिक दायित्वपूर्ति रह गया है। वानप्रस्थ और संन्यास के लिये न तो स्थान है और न आयु। शारीरिक रोग, मनुष्य को इतना अक्षम बना देते हैं कि वह गृहस्थाश्रम में ही समस्त आश्रमों की 'इति' स्वीकार कर लेता है। पुराणों की शिक्षा और उसके मानदण्ड इस अवमूल्यन को रोकने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं।

---

31. श्रीमद्भागवत-पुराण 1/2/13
32. विष्णु-पुराण प्र0अं06/33-35
33. ब्रह्माण्ड-पुराण 10/50
34. भविष्य-पुराण द्वि0सं018/61-62, श्रीमद्भागवत-पुराण 3/6/30-33 पद्म-पुराण 2/50नारद-पुराण 11/33, विष्णु-पुराण 6/3-8

भारतीय संस्कृति में राजपद पुष्पों की शैय्या नहीं अपितु वर्णाश्रम धर्म के अन्य अङ्गों के समान एक अङ्ग है, अतः इसे राजधर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। पुराणगत राजधर्म में एक विशिष्ट तत्त्व यह है कि शासक मृत्युपर्यन्त राज्य का उपभोग न करे, अपितु अवस्था के क्षीण होने पर पुत्र के युवा हो जाने पर राज्य उसे देकर स्वयं तपोनिरत हो जाये।[35] इससे एक ओर तो राजकुमार असन्तोषवश कलह और षड्यन्त्र न करें और दूसरी ओर राजा अपने वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम को पूर्ण कर सके इसी में प्रजा का भी कल्याण निहित है।[36] जो राजा राजधर्म का पालन नहीं करता वह इहलोक और परलोक दोनों पथों से भ्रष्ट होकर नरकगामी होता है।[37] परन्तु वर्तमान समय में राजपद के लिए विभिन्न प्रकार के कुकृत्यों एवं षड्यन्त्रों का आश्रय लिया जाता है। राजा वंशानुक्रम से स्वीकृत न होकर साधारण प्रजा द्वारा चुना जाता है। इस प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के दल अपने प्रत्याशियों को जनमत हेतु प्रस्तुत करते हैं, जिस दल के सर्वाधिक प्रत्याशी होते हैं, सरकार उसी की बनती है। परन्तु विकृत मानसिकता के कारण आज यह तन्त्र शुद्ध निर्णय नहीं दे पा रहा है। प्रजा को अनेकों जातियों और उपजातियों में बाँटकर शासक वर्ग उसका शोषण कर रहा है। जातिगत विभाजन के कारण ही वर्तमान समय में मिली जुली सरकार दृष्टिगत हो रही है।

पुरुषार्थ चतुष्टय का द्वितीय सोपान अर्थ भी अपने मूल रूप में उपस्थित नहीं है। अर्थ के प्रति भी मनुष्य की दृष्टि बदल गयी है। आज विना उत्कोच (रिश्वत) के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। धन प्राप्ति के अनैतिक कृत्यों को भी स्वीकार किया जा रहा है। व्यक्ति की भौतिक तृष्णाएँ अनन्त होने के कारण संसाधानों को एकत्रित करने की स्पृहा उसे पतन की ओर ले जा रही है। धर्म युक्त अर्थ की कल्पना तो मात्र आदर्श बनकर रह गयी है। व्यक्ति की निष्ठा सदाचार में समाप्त हो गयी है, फलतः वह धर्मविहीन अर्थ के एकत्रीकरण में प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है। ऐसे असंतुलित आर्थिक समाज में पौराणिक अर्थ की धारणा को विकसित करने की आवश्यकता है, जिसमें स्वल्प संग्रह और स्वल्प व्यय को समीचीन माना जाता था। स्कन्दपुराण दान में धन को सर्वश्रेष्ठ उपयोग स्वीकार करता है।[38] वस्तुतः अर्थ धर्मपरायण होने पर ही

---

35. पद्म-पुराण 5/15-17, 40/3-4
36. श्रीमद्भागवत-पुराण 1/18/42, मत्स्य-पुराण 98/22-23, अग्नि-पुराण 87/13, वामन-पुराण 74/48
37. गरुड-पुराण 13/9-10; मत्स्य-पुराण 93/47
38. स्कन्द-पुराण 14/42-45

फलदायी होता है, यदि इस पुराणगत आर्थिक विचार को आज के परिवेश में स्वीकार कर लिया जाये तो कई समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है।

आधुनिक समाज में केवल धर्म और अर्थ ही अपने मूल स्वरूप से पदच्युत नहीं हुये हैं, अपितु काम भी अपने विकृत रूप में दिखायी दे रहा है। आज स्त्री-पुरुष के मध्य शारीरिक आकर्षण की प्रबलता ही दृष्टिगोचर होती है। सन्तान के लिये किया जाने वाला संसर्ग अपने अर्थ खो चुका है। अनेकों प्रकार की बलात्कार की घटनाएँ, जिनमें न तो आयु का विचार है और न ही सम्बन्धों की पवित्रता का, नित्यप्रति घटित हो रही हैं। वात्स्यायन का कामसूत्र शास्त्र के रूप में न होकर सस्ती अश्लील पुस्तकों के रूप में माना जा रहा है। व्यक्ति की कलुषित कामवृत्ति उसे सामूहिक आनन्द की ओर आकृष्ट कर रही है। चाहे वह कम्प्यूटर हो, टी0वी0 हो, चलचित्र हो, सबका उपयोग प्राय: विकृत काम की सन्तुष्टि के लिये किया जा रहा है। काम में धर्म का तो लेशमात्र भी अंश नहीं है। अत: धर्मविहीन काम उच्छृङ्खलता उत्पन्न कर रहा है। ऐसी मानसिकता वाले समाज में जहाँ 'काम' का अभिप्राय केवल क्षणिक आनन्द रह गया है इसे पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। पुराणों में कहा गया है कि लोक-परलोक दोनों के ही भोग असत् हैं, अत: उनका चिन्तन नहीं करना चाहिये। जैसे अङ्ग में चुभे काँटे को काँटा ही निकाल सकता है, ऐसे ही विषयासक्ति रूप काम को आत्मानुरक्ति रूपी काम ही हटा सकता है अर्थात् काम की निवृत्ति भी काम से ही होती है। आज समाज में काम को इसी रूप में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है।

सत्कर्मों से हीन मानव फिर भला मोक्ष की कल्पना कैसे कर सकता है? त्रिवर्ग के प्रति उसकी साधना इतनी निष्प्राण है कि उसे मोक्ष जैसा गूढ़ ज्ञान केवल पौराणिक विषय ही प्रतीत होता है। अपने दुष्कर्मों में प्रवृत्त हुआ, पुरुषार्थहीन वर्तमान समाज में इस विचार को स्थापित करने की आवश्यकता है कि सुख क्षणभङ्गुर हैं। अत: विवेकशील पुरुष को भगवत्प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ-चतुष्टय का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि धर्मविहीन अर्थ और काम उसे ऐसे गर्त में ले जायेंगे, जहाँ से अपनी संस्कृति का दर्शन भी उसके लिये दिवास्वप्न हो जायेगा।

फलत: पुराणों की यह चरम शिक्षा है-भगवान् में विश्वास करते हुए निष्काम कर्म का सम्पादन करना। पुराण व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देते हैं। विचार तथा आचार, चिन्तन एवं व्यवहार इन दोनों का सामञ्जस्य करके जीवन बिताना ही प्राणी का कर्त्तव्य है, अत: भक्ति के साथ ज्ञान तथा कर्म की समरसता उत्पन्न कर अपने जीवन में उतारने से हमारा जीवन नितान्त सुखमय होगा। यही है पुराणों का भक्ति-मुक्ति का आदर्श और इसी में है पौराणिकी शिक्षा का

चरम अवसान। इसलिए आज पुराणमार्ग ही ले जायेगा मानव को सुखमय प्रकाश की ओर। सत्यमेवोक्तम्–

> अन्यो न दृष्टः सुखदो हि मार्गः
> पुराणमार्गो हि सदा वरिष्ठः।
> शास्त्रं विना सर्वमिदं न भाति
> सूर्येण हीना इव जीवलोका॥[39]

---

39. शिव-पुराण, उमा संहिता 13वाँ अध्याय

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0149-152)

सम्प्रदान का अन्वर्थत्व-विमर्श

डॉ. ब्रह्मदेव
रीडर संस्कृत-विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार.

व्याकरण सम्प्रदाय में स्वीकृत षड्विध कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों में अन्यतम कारक 'सम्प्रदान' भी है। इस पद की व्युत्पत्ति 'सम्' और 'प्र' उपसर्गद्वयसहित जुहोत्यादिगणीय 'डुदाञ्' दाने धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय द्वारा होती है। इसलिए आप्टे आदि संस्कृत हिन्दी कोषों में इसका शाब्दिक अर्थ 'पूरी तरह से दे देना', 'हवाले कर देना', या 'दान' किया गया है। व्याकरण प्रक्रिया में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में अभिव्यक्त होने वाले इस शब्द के स्वरूप का निर्धारण भी सभी वैय्याकरण 'दा' धातु को दृष्टि में रखते हुए **'सम्प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानम्'** के अनुसार करते हैं।

यहाँ अवधेय है कि प्रायः समस्त व्याकरण के आचार्यों ने 'सम्प्रदान' इस महती संज्ञा का उपयोग किया है, जबकि **'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणाः'** ऐसी प्रसिद्धि है। ऐसा क्यों है? क्या यह अन्वर्थक संज्ञा के रूप में पाणिनि आदि आचार्यों को अभिप्रेत है अथवा अनन्वर्थक संज्ञा के रूप में? इसके क्या निहितार्थ हैं? इसकी विवेचना यथामति की जा रही है।

इस अवधारणा के विषय में व्याकरण-सम्प्रदाय में दोनों मत प्रचलित हैं–एक काशिकावृत्ति के अनुसार सम्प्रदान को अन्वर्थक मानने वालों का और दूसरा आचार्य पतञ्जलि के अनुरूप अन्वर्थक न मानने वालों का। यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार प्रस्तुत हैं।

सम्प्रदान की अन्वर्थता

इस मत के मूल में आचार्य पाणिनि द्वारा लघुसंज्ञा का उपयोग न करना है। इसलिए सम्प्रदान विधायक सूत्र **'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'**[1] सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या करते हुए तत्त्वबोधिनीकार ने लिखा है–

1. पा0 1.4.32

महासंज्ञाकरणमन्वर्थसंज्ञाविधानार्थम्। सम्यक् प्रदीयते अस्मै तत्सम्प्रदानमिति।[2]

अन्य कारकों से अलग 'सम्प्रदान' और 'अपादान' 'दा' धातु से बनाये जाने के कारण भी यहाँ सम्प्रदान में 'दा' का सार्थक्य प्रतीत होता है।[3] अतः एक दानक्रिया के साथ इसका संयोजन किया जाता है। दान का अर्थ है किसी वस्तु को एक बार देकर पुनः न ग्रहण करते हुए अपने स्वत्व की निवृत्तिपूर्वक परस्वत्व अर्थात् दूसरे के अधिकार को स्थापित करवाना।[4] इसीलिए **'विप्राय गां ददाति'** जैसे वाक्यों में गौ का अधिकार दान-क्रिया द्वारा विप्र को दिया जाता है, तो उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है। पर **'रजकस्य वस्त्रं ददाति'** यहाँ वस्त्रों का पुनर्ग्रहण होने के कारण रजक सम्प्रदान नहीं बनता, अपितु सम्बन्ध मात्र में षष्ठी विभक्ति होती है। इस मत को स्वीकार करने वालों में मुख्य हैं—काशिकाकार,[5] सारस्वत-व्याकरण के प्रणेता अनुभूतिस्वरूपाचार्य,[6] जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी,[7] कातन्त्रकार[8] और भर्तृहरि[9]।

हेलाराज ने **'रजकस्य वस्त्रं ददाति', 'घ्नतः पृष्ठं ददाति'** यहाँ ददात्यर्थ स्वीकार नहीं किया है, अपितु गौण अर्थ में दा धातु को स्वीकार किया है।[10] परन्तु ऐसे ही प्रयोग **'खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति'** में हेलाराज अन्वर्थता को ही स्वीकार करते हैं, अन्ततोगत्वा चपेटा के फल द्वारा शिष्य का हित साधन होना इसमें कारण कहते हैं।

---

2. सिद्धान्तकौमुदी-1.4.32
3. द्र. पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, पृ0 148.
4. तत्त्वबोधिनी (सि0कौ0 569) दानं चापुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्।
5. काशिका (भाग–1) 1.4.32, पृ0 547 अन्वर्थसंज्ञा विज्ञानाद्ददाति कर्मणेति विज्ञायते।
6. सारस्वत व्याकरण (भाग–1), पृ0 215, दानपात्रे सम्प्रदानकारके चतुर्थी। सम्यक् श्रेयोबुद्ध्या प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानकारकम्। वेदविदेगां ददाति। अन्यत्र राज्ञो दण्डं ददाति, 'रजकस्य वस्त्रं ददाति'।
7. महावृत्ति (जै. व्या.), पृ 93, सम्यक्प्रदानं सम्प्रदानमिति चाश्रितम्। तेनेह न भवति। घ्नतः पृष्ठं ददाति। रजकस्य वस्त्रं ददाति।
8. कातन्त्रवृत्ति पृ0 172, सम्यक् प्रकर्षेण दीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्। प्रकर्षशब्दः पूजार्थं द्योतयति, तेन रजकस्य वस्त्रं ददाति इत्यादौ न सम्प्रदानता।
9. वाक्यपदीय (साधनसमुद्देश) 129, इस कारिका की व्याख्या में हेलाराज लिखते हैं—अन्वर्थवशात् सम्प्रदानशब्दस्य "त्यागाङ्गम्" इति लक्षणलाभः। त्यागो दीयमानस्य स्वत्वनिवृत्त्या परस्वत्वापादनम्। अनिशकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्। प्रेरणानुमतिभ्यां वा लभते सम्प्रदानताम्।।
10. हेलाराजीय व्याख्या, वही, 'रजकस्य वस्त्रं ददाति', 'घ्नतः पृष्ठं ददाति' इत्यादौ तु ददात्यर्थो नास्ति। .. .. इति गौणोऽयं ददाते प्रयोगः।

यथा- **'खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति' इत्यादौ वस्तुतोऽसत्यपि चपेटादिस्वाम्ये तदुपकारितया दातुः स्वामित्वाभिसंधिरस्त्येव। यद्यपि प्रतिकूलरूपत्वाच्चपेटायास्तदानीमुपयोगो नास्ति, तथापि फलद्वारेणास्त्येव परोपयोगित्वम्। चपेटासहत्वे शास्त्राभ्यासयोग्यत्वात् फलावाप्तेः।**[11] इसी वाक्य में नागेश भट्ट **'ददाति'** का मुख्यार्थ स्वीकार न कर **'न्यसन'**[12] अर्थ मानते है।

इस प्रकार उक्त वैय्याकरणों के मत में जहाँ स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन होगा वहीं सम्प्रदानत्व होगा, अन्यत्र नहीं।

सम्प्रदान की अनन्वर्थता

सम्प्रदान की अनन्वर्थता को स्वीकार न करने वाले आचार्य पतञ्जलि के उक्त वाक्य **'खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति'**[13] को ही प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि सम्प्रदान को अन्वर्थक माना जाएगा, तो दा धातु का यहाँ गौणत्वेन प्रयोग होने के कारण चतुर्थी का प्रयोग नहीं होना चाहिए था। यहाँ पतञ्जलि ऐसा प्रयोग करते हैं, अतः ज्ञापित होता है कि यह संज्ञा अन्वर्थक नहीं हैं, अत एव **'रजकाय वस्त्रं ददाति'** जैसे प्रयोगों की भी उपस्थिति हो सकती है-ऐसी मान्यता कौण्डभट्ट[14] और नागेश भट्ट[15] की भी है। आचार्य पतञ्जलि सम्प्रदानसंज्ञक सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वयं कहीं सम्प्रदान की अन्वर्थकता स्वीकार नहीं करते और साथ ही वहीं **'क्रियाग्रहणं च'** इस वार्तिक का प्रत्याख्यान करते हैं एवं **'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति'** इस वाक्य का प्रयोग करते हैं-इन तीन कारणों से पतञ्जलि को भी अन्वर्थकता स्वीकार्य नहीं है। क्रियाग्रहण के प्रत्याख्यान से तात्पर्यार्थ यह निकलता है कि क्रियामात्र के 'कर्म' से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उस क्रिया का

---

11. वहीं, वाक्यपदीय साधनसमुद्देश 129
12. परमलुघुमञ्जूषा, पृ0349 'चपेटां ददाति' इत्यत्र न्यसने अर्थे इति।
13. महाभाष्य 1.1.1 (भाग-1), पृ0170
14. वैयाकरणभूषणसार, पृ0 216, 'रजकाय वस्त्रं ददाति इत्यपि खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' इति भाष्य-उदाहरणादिष्टमेव।
15. परमलघुमञ्जूषा, पृ.0349, तत्र। खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चेपटां ददाति' इति भाष्यविरोधात्। कर्मणा (पा. 1.4.32) इति सूत्र व्याख्यानुसारं भाष्यकृता अन्वर्थसंज्ञाया अस्वीकाराच्च। अत एव 'तद् आचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु मत् इति दुर्गासप्तशती (5.129) श्लोकः सङ्गच्छते। तस्माद् 'रजकाय वस्त्रं ददाति इत्यादि प्रयोगः अत्र अधार्मिकरण अर्थे ददाति।

उद्देश्यभूत जो 'कारक' उसकी सम्प्रदान संज्ञा भाष्यकार के मत में हो जायेगी। साथ ही सूत्र के 'कर्म' पद के 'क्रिया' अर्थ भी लेने से **'पत्ये शेते'** जैसे प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे।[16]

इस प्रकार अन्वर्थक न मानने वालों के मत में दा सहित सभी क्रियाओं के कर्म से अभिप्रेयमाण की सम्प्रदान संज्ञा होने से **'वृक्षाय उदकं सिञ्चति', 'मैत्राय वार्ता: कथयति', 'आचार्याय पत्रं लिखति'** जैसे वाक्यों की साधुता सिद्ध हो जायेगी। **'अजां ग्रामं नयति'** में ग्राम की सम्प्रदान संज्ञा इसलिए नहीं होती, क्योंकि सूत्र में **'यम् अभिप्रैति'** कहा है। यहाँ **'यम्'** से निर्दिष्ट का शेषित्व अर्थात् उद्देश्यत्व और कर्म से शेषत्व (= अप्रधानत्व) लिया जाता है, परन्तु यहाँ गाँव का उद्देश्य अजा के प्रति नहीं है। अत: यहाँ सम्प्रदानत्व की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भी गाँव में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि **'नी'** धातु को द्विकर्मकों में पढ़ा गया है।[17]

निष्कर्ष

इस प्रकार उक्त उभयविध विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पतञ्जलि का दृष्टिकोण व्यापक है, वे प्रत्येक क्रिया के कर्म से अभिप्रेयमाण की सम्प्रदानसंज्ञा मानते हैं। पुनश्च व्याकरण जगत् में यह भी प्रसिद्धि है कि **'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** इस कारण से भी अनन्वर्थता ही मानना उपयुक्त है। सम्प्रदान यह महासंज्ञाकरण तो 'सर्वनामस्थान' आदि संज्ञाओं के समान प्राचीन वैय्याकरणों के अनुरोध के कारण ही है न कि अन्वर्थ होने के कारण।[18] अत: **'डुदाञ्' दाने'** अथवा इसी निहितार्थ को कहने वाली या अन्य धातुओं के प्रयोगों में सम्यक् देने का अभिप्राय निहित हो या नहीं, अन्य क्रिया के 'कर्म' से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो उद्देश्य बनेगा वह 'सम्प्रदान' कारक संज्ञा को प्राप्त कर चतुर्थी विभक्ति से अभिप्रेत होगा।

---

16. परमलघुमञ्जूषा. हिन्दी व्याख्या, कपिलदेव। पृ0 350
17. पदमञ्जरी (काशिका 1.4.32) 'यमभिप्रैति' इत्युक्ते यमिति निर्दिष्टस्य शेषित्वम्, कर्मणेति निर्दिष्टस्य गवादे: करणस्य च शेषत्वं च प्रतीयते। किं च 'जीवहयोर्हरतेश्च' इति द्विकर्मकेषु नयति: परिगण्यते, अतोऽपि ग्रामस्य न भविष्यति।
18. दर्पण (वैयाकरणभूषणसार) पृ0 217 उक्त भाष्यप्रामाण्यादन्वर्थत्वमेवासिद्धम्। महासंज्ञाकरणं तु प्राचामनुरोधादेव, सर्वनामस्थानसंज्ञावत्।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0153-157)

स्फोट

डॉ0 सन्ध्या सती
ग्राम एवं पो0 ऑ0 लोकमनीपुर
सिगड्डी, कोटद्वार
पिन कोड-246149(उत्तरांचल)

भारतीय दर्शनों की शृंखला में व्याकरण-दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत लेख में, मैं व्याकरण-दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण 'अंश' को समझने का प्रयास करूँगी। इस 'अंश' का नाम है-'स्फोट'। स्फोट क्या है? इसका क्या स्वरूप है? क्या इसके अभाव में शब्दार्थ की प्रतीति हो सकती है? या यह 'शब्द-ब्रह्म' का पर्यायवाची है। इन सब बिन्दुओं पर प्रकाश डालना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

स्फोटवाद का स्वरूप भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बताया गया है। वास्तव में मनुष्य को शब्द के अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, यह जानना ही यहाँ अभीष्ट है।

प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के भाषादर्शन को स्फोट सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है। **'स्फुट्'** शब्द की मूलध्वनि परम सत् की अभिव्यञ्जना में है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि भाषा के परा या अपरा स्वरूपों का उद्गम, विकास व अर्थ की दृष्टि से उनके अन्तरङ्ग सम्बन्ध की व्याख्या (अद्वैत से) कुछ भिन्न है।

सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि 'शब्दब्रह्म' किस प्रकार से विभिन्न भाषाओं में समझे जाने योग्य रूप में अपने को प्रस्तुत करता है अथवा उस शब्द के अर्थ को मानव किस प्रकार ग्रहण करता है, स्फोटवाद इसी को समझने का प्रयास है। यदि मैं यह कहूँ कि शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्राकृतिक प्रक्रिया और मानव जाति द्वारा इसकी ऊँचाई और गहराई को पाने की वांछित चेष्टा और उपलब्धि इस सिद्धान्त के दो प्रमुख पक्ष हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भारतीय दर्शन में शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध की पर्याप्त चर्चा मिलती है। व्याकरण-दर्शन में वर्णस्फोटों तथा पदस्फोटों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले अखण्ड वाक्य **'स्फोट'** को ही **'शब्द'** माना जाता है। **'वर्णस्फोट'** तथा **'पदस्फोट'** का अखण्ड वाक्यस्फोट तक पहुँचने के साधन मात्र होने से केवल व्यावहारिक अस्तित्व ही स्वीकार किया जाता है।

भर्तृहरि के विचार में 'स्फोट' से हमारा तात्पर्य उसके (स्फोट के) ध्वनि-हीन स्वरूप से होना चाहिए–[1]**'अध्वनिकः स्फोटः।'**

उन्होने यह भी स्पष्ट किया है कि 'प्राकृतध्वनि' स्फोट का व्यञ्जक भी है तथा स्फोट की उपलब्धि ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही होती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि वाक्यपदीय के **'स च प्राकृतध्वनिकालः'** वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि का शब्द दर्शन और स्फोट दर्शन सर्वदा एक समान नहीं है। क्योंकि इनके अनुसार स्फोट ध्वनि-रहित नहीं होता, जबकि 'शब्द' ध्वनि निरपेक्ष भी है।

सङ्क्षेप में कहा जा सकता है कि भले ही महाभाष्य तथा वाक्यपदीय में ध्वनि एवं शब्द को पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है,[2] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इनका स्वरूप भी एक जैसा ही है। भले ही भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से शब्द तथा स्फोट के भेद पर विचार न किया हो फिर भी उन्होंने 'शब्द तत्त्व' के स्थान पर कहीं पर भी 'स्फोट तत्त्व का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि 'शब्द-दर्शन' स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाक्यदीय में 'स्फोट' स्फोटवाद के ध्वनि-सम्बद्धरूप को ही प्रमुख रूप से व्यक्त करता है तथा 1. वर्णस्फोट 2. पदस्फोट और 3. वाक्यस्फोट नामक स्फोट के भेदों का परिच्छेद भी ध्वनि के आधार पर ही हुआ है।[4] शृङ्गार-प्रकाश में भोज ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[5]

२. शब्द रूप में स्फोट

"स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते।"[6]

स्फोट के शब्दरूप के सन्दर्भ में भाष्यकार ने बताया है कि शब्द के आकार का ग्रहण बुद्धि से होता है।[7] मनुष्य प्रथमतः अपनी बुद्धि में ही अर्थ की दृष्टि से शब्द तथा शब्द की दृष्टि

1. महाभाष्य दीपिका, पृ076
2. वाक्यपदीय 1/13।1 हरिवृत्ति
3. वाक्यपदीय 1/76 (प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते)
4. वाक्यपदीय 1/89 हरिवृत्ति
5. शृङ्गार-प्रकाश पृ0सं0125
6. वाक्यपदीय 1/25 हरिवृत्ति

से वर्ण का आकलन करता है। भर्तृहरि के अनुसार भी शब्द के स्वरूप की अवधारणा बुद्धि में ही होती है।[8]

३. स्फोट शब्द नित्यत्व के रूप में

वाक्यपदीय में जहाँ-जहाँ भर्तृहरि ने शब्द की निरवयता की चर्चा की है, वहाँ उन्होंने 'स्फोट शब्द' का प्रयोग नहीं किया है। हाँ, टीकाकार ने उन प्रसङ्गों में भी शब्द तथा स्फोट को एक ही माना है,[9] तथा स्फोट के दो भेदों (1) बाह्य तथा (2) आभ्यन्तर की चर्चा भी की है, बाह्य स्फोट को पुनः दो प्रकार का बताते हैं[10]–

1. जाति स्फोट
2. व्यक्ति स्फोट

जहाँ यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि **'सङ्घातवर्तिनी जाति'** जाति-स्फोट का प्रतीक है तथा शब्द का निर्वयव स्वरूप पुण्यराज के अनुसार व्यक्ति स्फोट का प्रतीक है।[11] भर्तृहरि के द्वारा प्रयुक्त बहुत से वाक्य ऐसे हैं, जिन्हें शब्द नित्यत्व के पक्ष में उद्धरित किया जा सकता है। जैसे–

1. शब्दस्य न विभागोऽस्ति'।[12]
2. नित्येषु तु कुतः पूर्वम्'।[13]

४. स्फोट जाति के रूप में

भर्तृहरि ने शब्दाकृति को दर्शन भेद के आधार पर अनेक व्यक्ति से अभिव्यङ्ग्य जाति माना था। इसी को उन्होंने स्फोट के रूप में निर्दिष्ट किया था।[14]

---

7. महाभाष्य 1/4/109
8. वृषभ, वाक्यपदीय, 1/23, पृ023
9. पुण्यराज, 7, वाक्यपदीय, 2/1
10. पुण्यराज वाक्यपदीय 2/19
11. वाक्यपदीय
12. वाक्यपदीय 2/13
13. वाक्यपदीय 2/22
14. वाक्यपदीय 2/13

सायण ने जाति स्फोट का उल्लेख **'परमार्थसंवित्लक्षणसत्ताजाति'** के रूप में किया है। 'गो' 'अश्व' आदि में सत्ता ही महासामान्य है। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता में अवस्थित हैं, क्रिया भी जाति है। वह सत्ता नित्य है। वह देश, काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है। वाक्यपदीय में भी इसी प्रकार की बात कही गयी है

सा नित्या सा महानित्या तामाहुस्त्वतलादयः।

कैयट ने भी व्यवहार नित्यता के आधार पर वर्ण-पद-वाक्य-स्फोट अथवा जाति स्फोट को नित्य माना है।[15]

५. स्फोट वाक् रूप में

नागेश ने मध्यमा वाक् को स्फोट का प्रतिनिधि माना है

तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षतिः।[16]

अर्थात् उनके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। पुनः जब परमेश्वर में मायावृत्ति उदित होती है तो उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। इसी को शक्ति तत्त्व कहते हैं। उस बिन्दु का उचित अंश बीज है। चित्-अचित मिश्र अंश नाद है। यहाँ चित् अंश बिन्दु तथा अचित् अविद्या है। यह अविद्या शब्द और अर्थ दोनों संस्कारों से युक्त होता है। उस बिन्दु से चेतन मिश्र नाद उत्पन्न होता है। वह नाद वर्ण आदि विशेष ज्ञान रहित होते हुये भी ज्ञान प्रधान तथा सृष्टि के उपयोग अवस्था विशेष रूप है। उसी का दूसरा नाम 'शब्दब्रह्म' है। यह शब्दब्रह्म जगत् का उपादान है। इसी को (खं) तथा परा भी कहते हैं। सङ्क्षेप में कहा जा सकता है नागेश के अनुसार मध्यमा वाक् में जो नाद का अंश होता उसी को 'स्फोट' कहते हैं।[17] यहाँ नाद के अंश से अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमर्शक से है।

६. स्फोट 'शब्दब्रह्म' के रूप में

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥[18]

---

15. महाभाष्य प्रदीप पृ0147
16. मञ्जूषा पृ0180
17. वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा, पृ0168–180
18. वाक्यपदीय 1.1

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व का अक्षर ब्रह्म के रूप में निर्देश किया है। तथा उससे अर्थ रूप में जगत् का वितर्त माना है। इसी शब्दतत्त्व को कुछ दार्शनिक **'ब्रह्म स्फोटवाद'** के नाम से पुकारते हैं अर्थात् शब्दतत्त्व को स्फोट मानकर स्फोट को 'शब्दब्रह्म' कहते हैं। इसी सन्दर्भ में भर्तृहरि ने एक उद्धरण प्रस्तुत किया है।[19]

जो सब तरह की कल्पनाओं से भी नहीं आता उसकी अनेक प्रकार से जैसे तर्क, आगम तथा अनुमान आदि के द्वारा कल्पना की जाती है, वह भेद और संसर्ग से परे है। वह न भाव रूप है, न अभाव रूप। उसमें न क्रम है, न अक्रम। वह सत्य और अनृत से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल प्रविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूतों के अन्तः में अवस्थित है। वह समीप भी है तथा दूर भी। वह स्वयं अत्यन्त मुक्त है। उसका चैतन्य भले ही एक है फिर भी अनेक रूप में उसी तरह विभक्त हो जाता है, जैसे-उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल।[20] वह परम ज्योति (शब्दतत्त्व) त्रयी (वेद) के रूप में विवर्तित होती है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि वह ब्रह्म शब्द है। सब कुछ शब्द से निर्मित है। उसका मूल आधार शब्द है। शब्द मात्राओं से ही विवर्त होता है और पुनः शब्द मात्राओं में ही सबका लय होता है।

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥[21]

19. वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा, पृ0168-180
20. संस्कृत-व्याकरण-दर्शन, त्रिपाठी पृ0475
21. वाक्यपदीय, 1/1 हरिवृत्ति

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0158-168)

संस्कृतवाङ्मय में वाक्य और वाक्यार्थ का स्वरूप

डॉ0 रामप्रकाश वर्णी (डी0लिट्0)
रीडर संस्कृत-विभाग
एल0 आर0 कॉलेज जसराना, फिरोजाबाद (उ0प्र0)

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर 'शब्द' सर्वथा 'निरंश' सिद्ध होता है। जब यह 'परावाक्'[1] की अवस्था में होता है, तब अर्थतत्त्व भी इसी में समाहित होता है। इसी की विवर्तोन्मुखी अवस्था का नाम **'पश्यन्ती वाक्'** है जिसमें 'शब्द' और 'अर्थ' भिन्न रूप से किन्तु स्वयं में अखण्डरूपेण प्रतीत होते हैं।[2] व्यावहारिक शब्द और अर्थ के इस पारमार्थिक रूप को ही व्याकरणशास्त्र में **'वाक्य'** और **'वाक्यार्थ'** माना जाता है। तदनुसार वास्तविक वाचकत्व अखण्ड वाक्य में ही होता है और वाचकत्व जो कि तत्त्वतः, 'अखण्ड-प्रतिभा' रूप है, वाक्यार्थ का ही होता है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। **'वाक्य'** और **'वाक्यार्थ'** में **'पद'** और **'पदार्थ'** की स्थिति केवल **'अपोद्धार'** के द्वारा होने से काल्पनिक है। इसी कारण लोकव्यवहार में अर्थवान् और वर्णसङ्घात के रूप में प्रतीत होने वाले पद वस्तुतः अर्थहीन होते हैं, क्योंकि अर्थ की प्रतिपत्ति **'वाक्य'** से होती है। इसी कारण वाक्य में ही शक्यता स्वीकृत होती है।[3] परिणामतः **'गौरित्ययमाह'** इस समुदित वाक्य को ही अर्थवान् और इस समुदित वाक्य में **'गौः'** शब्द को शब्दपदार्थक माना जाता है।[4]

वाक्य को परिभाषित करते हुए नैयायिकों, मीमांसकों, आलङ्कारिकों और वैय्याकरणों ने निम्नलिखित रूप में अपने-अपने लक्षण प्रस्तुत किये हैं—

---

1. महाभाष्यदीपिकाविमर्शः खण्ड 2।9।।
2. तद्व्यावृत्तभेदोऽपि सर्वा प्रा (सर्वो वाक्यरूपः) शब्दाख्योऽर्थो विरुद्धधर्मक्रमरूपोपग्रहेणासतामपि भेदेन प्रयुक्त इतोपलभ्यते। पुण्यराज, वाक्यपदीयम् 2।27।।
3. अथवा शक्यमेवार्थवद् वर्णवत्पदान्यनर्थकान्येव। एवमेव च वाक्यादेवार्थप्रतिपत्तिः। महाभाष्यदीपिका, पृ0250।।
4. अथवा शक्यमेवार्थवद्वर्णवत्पदान्यनर्थकान्येव। एवमेव च वाक्यादेवार्थप्रतिपत्तिः। गौरित्ययमाहेति। समुदायेऽर्थवति कुतो गोशब्दशब्दपदार्थकत्वमिति प्रत्युक्तेरभावः। महाभाष्यदीपिका—वही।।

नैयायिकाभिमत वाक्यलक्षण

नैयायिक वाक्य को 'आकाङ्क्षा, योग्यता' और 'आसक्ति' से युक्त 'पदसमूह' के रूप में स्वीकार करते हैं।[5] वात्स्यायन ने सुबन्त और 'तिङन्त' को 'पद' और 'साकाङ्क्ष-पदसमूह' को 'वाक्य' मानकर उसी की अर्थवत्ता का प्रतिपादन किया है।[6] भट्टाचार्य जगदीश तर्कालङ्कार ने इसे 'साकाङ्क्ष-पदसमूह' के रूप में स्वीकार किया है।[7] अन्नं भट्ट ने वाक्य के लिए 'आकाङ्क्षा योग्यता' और 'आसत्ति' को आवश्यक तत्त्व के रूप में अङ्गीकार किया है। तदनुसार एक पद की दूसरे पद के विना प्रयुक्त होने पर जो शब्दबोध-कार्य में असमर्थता है वही 'आकाङ्क्षा' है। यह पदों के अर्थ का धर्म है। इसके अनुसार एक समन्वितार्थ के अभिधान के लिए पदों के अर्थों में परस्पर, हस्ती इत्याकारक पदसमवाय में वाक्यत्व स्वीकार नहीं किया जाता है।[8] अन्नं भट्ट ने पदार्थों के पारस्परिक अन्वय सम्बन्ध में किसी बाधा का न होना, 'योग्यता' माना है।[9] 'वह्निना सिञ्चति' आदि में 'वह्नि' में सिञ्चन की योग्यता न होने से वाक्यत्व की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती है। 'आसत्ति' पदों का अव्यवहित और अविलम्बित उच्चारण है।[10] यह पदसमूह का धर्म है। एतदनुसार पदों की व्यवधानरहित नैरन्तर्ययुक्त उपस्थिति वाक्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आज उच्चारित किये गये 'देवदत्तः' पद का कल उच्चारयिव्यमाण 'गच्छति' पद के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ उक्त पदद्वय में 'आसत्ति' अर्थात् 'सन्निधि' का अभाव है।

ध्यातव्य है कि नैयायिकों ने वाक्य का जो लक्षण प्रस्तुत किया है, वही साहित्य शास्त्रियों को भी अभीष्ट है। आचार्य विश्वनाथ ने 'योग्यता, आकाङ्क्षा' और 'आसत्ति' से युक्त पदसमुच्चय को वाक्य कहा है।[11]

---

5. वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। तर्कभाषा, पृ0108।।
6. पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति। न्यायभाष्यम् 2।1।55।।
7. मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्। शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका 13।।
8. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। तर्कसग्रंह, पृ0160।।
9. अर्थाबाधो योग्यता। वहीं।।
10. पदानामविलम्बेनोच्चारणम्। वहीं।।
11. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पणः, 2।1।।

मीमांसकों का वाक्यलक्षण

मीमांसादर्शन में वाक्य को 'पदसमूहात्मक' माना गया है। तदनुसार एकार्थक पदसमूह ही वाक्य है, किन्तु वाक्य के विभक्त होने पर पद भी अवश्य ही परस्पर साकाङ्क्ष होने चाहिए।[12] भर्तृहरि ने इस मत की विवेचना करते हुए कहा है–मीमांसकों को गुणवाचक अर्थात् विशेषणों व क्रियाविशेषणों से युक्त तथा क्रियाप्रधान वाला एकार्थक पदसमूह 'वाक्य' के रूप में अभीष्ट है, जिसमें निर्भागावस्था में शब्दों में निराकाङ्क्षता, परन्तु सभागदशा में साकाङ्क्षता अनिवार्यत्वेन अपेक्षित है।[13] यहाँ 'एकार्थता' का तात्पर्य 'एकप्रयोजनत्व' या 'एकोद्देश्यत्व' ही है।

यहाँ यह अवधेय है कि नैयायिकों एवं मीमांसकों के उपर्युक्त दोनों वाक्य-लक्षणों का वाक्यपदीयोक्त 'सङ्घातवाद' में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[14] महाभाष्यदीपिका में **'संसर्गदर्शनम्'** पद से इन्हीं वाक्यसिद्धान्तों का निर्देश किया गया हैं।[15]

उपर्युक्त 'पदसङ्घातवाद' के अतिरिक्त भी 'पदवादी' आचार्यों के अनेकवाद भर्तृहरि के काल में विद्यमान थे, जिनकी चर्चा उन्होंने अपने 'वाक्यपदीयम्' नामक ग्रन्थ में की है।[16] भर्तृहरि के पूर्ववर्त्ती तथा समकालिक व्याकरण, मीमांसा आदि विचारसरणियों में वाक्यचिन्तन विषयक समृद्ध परम्परा के निरर्थक ये वाद अधोलिखित हैं–

पृथक् सर्वपदवाक्यवाद

'वाक्य' के 'सङ्घातवाद' मत में 'पद' सङ्घातावयव होने के कारण सङ्घाताश्रित होता है, अतः वह परतन्त्र होता है, परन्तु 'पृथक्सर्वपदवाक्यवाद' में ऐसा नहीं है। वहाँ पृथक्-पृथक् हुए सभी पद पृथक्-पृथक् 'वाक्य' माने जाते हैं। यद्यपि शिविकावाहकों की भाँति इस मत में सभी पद साकाङ्क्ष होते हुए भी स्वतन्त्र वाक्यशक्ति से युक्त माने जाते हैं,[17] तदपि क्योंकि पदार्थ कभी

---

12. क–अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्।। मीमांसा02।1।46।। ख– एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। शाबरभाष्यम् 2।1।46।।
13. साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्। कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते।। वाक्यपदीयम् 2।4।।
14. द्र0 वही 2।1।।
15. द्र0 महाभाष्यदीपिका पृ0219।।
16. आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहतिः।। पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।। वाक्यपदीयम् 2।1,2।।
17. क–पृथक् स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम्। संस्कृत व्याकरण दर्शन पृ0357 पर उद्धृत।। ख–तेन सर्वाण्येव पदानि अन्योन्यसापेक्षाणि प्रत्येकं वाक्यमित्यर्थः। वही

सत्तानिरपेक्ष नहीं होता और 'वृक्षः' कहने पर 'वृक्षोऽस्ति' ऐसा सत्तारूप बोध होता ही है, अतः प्रत्येक पद में पृथक्-पृथक् वाक्यशक्ति स्वीकार करनी चाहिए। 'योगदर्शन' के भाष्य से भी इसकी पुष्टि होती है।[18] इस मत में पदों का अर्थ केवल 'है' इतना ही सत्य है, किन्तु उन-उन अर्थों को वाक्य के रूप में व्यवस्थित कर पाना सम्भव नहीं है।[19] डॉ0 रामसुरेश त्रिपाठी ने अपने 'संस्कृत-व्याकरण-दर्शन' नामक ग्रन्थ में 'द्वादशारनयचक्र' नामक ग्रन्थ के माध्यम से इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-**'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्'** इत्यादि वाक्य का प्रत्येक पद, सम्पूर्ण समुदाय में परिसमाप्त होता है। यहाँ प्रयुक्त 'देवदत्त' पद 'गवात्मक' भी है और 'अभ्याजात्मक' भी क्योंकि वह प्रवर्तक है। इसी प्रकार अन्य पद भी तत्तद्रूपात्मक है 'अभ्याज' भी देवदत्तामक है।[20] इस तरह प्रत्येक पद 'कृत्स्नव्यापारकारि' है, क्योंकि किसी एक की अनुपस्थिति में व्यापार सम्भव नहीं है।

आदिपदवाक्य

भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' के वाक्यकाण्ड में इस मत का उल्लेख किया है। 'पृथक् सर्वपदवाक्यवाद' मत में जहाँ सभी पदों को पृथक्-पृथक् वाक्य माना जाता है, वहाँ 'आदिपदवाक्यवाद' मत में केवल 'आद्यपद' को ही वाक्य माना जाता है। तदनुसार जब वक्ता **'देवदत्त! गामभ्याज'** ऐसा कहता है तब 'देवदत्त!' उस प्रथम शब्द का उच्चारण करते हुए भी सम्पूर्ण विवक्षितार्थ उसकी बुद्धि में ही स्थित रहता है। उस अर्थ की विवक्षा के होते हुए भी वह 'देवदत्त' पद को प्रयुक्त करता है। इसके विपरीत 'गौर्वधान' इत्यादि स्थल पर उच्चारित प्रथम 'देवदत्त' पद एतद्वाक्यगत सम्पूर्ण सम्प्रेष्य की विवक्षा से गर्भित होता है। अतः यही मानना चाहिए कि 'वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त होने वाला प्रथम पद ही 'वाक्य' होता है क्योंकि उसी में ही वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है,[21] अन्य सभी पद उसी से स्वयमेव आक्षिप्त हो जाते हैं। उत्तरकाल में श्रूयमाण ये अन्य पद केवल 'नियम' या 'अनुवाद' के लिए

---

18. सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। योगभाष्यम् 3।17।।
19. द्र0 वाक्यपदीयम् 2।1,2।।
20. उद्धृत, संस्कृतव्याकरणदर्शन, पृ0357।।
21. तेषामेवमुपगृहीतसर्वविशेषे एकस्मिन्नर्थे बहुशब्दानभ्युपगच्छतामविकल्पः कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिपदं प्रतिवर्णं वा समाप्यते। स्वोपज्ञवृत्ति 2।18।।

ही उच्चारित होते हैं। आदि में उच्चारित यह पद 'क्रियारूप' या 'साधनरूप' उभय अर्थों में से अन्यतर हो सकता है। अतः 'क्रिया' और 'कारक' का नियत साहचर्य है, अतः एक से अन्य का आक्षेप हो जाता है।[22] किन्तु केवल 'आद्य-पद' के श्रवण पर समग्र अर्थ की प्रतिपत्ति लोकसिद्ध नहीं है, इसी कारण भोजराज प्रभृति विद्वानों ने इस मन्तव्य की तीव्र आलोचना की है।[23]

क्रमवाक्यवाद

यह मत उपर्युक्त मतों से सर्वात्मना भिन्न है। इसमें सन्तानवृत्ति को 'क्रम' माना जाता है जो कि 'कालशक्ति' से पृथक् नहीं है। शब्दों में इस 'कालशक्ति विशेष' का निवेश 'क्रम' कहा जाता है।[24] शब्द की बाह्य अभिव्यक्ति और अर्थबोध इस कालशक्ति के अधीन है तथा उसकी 'प्रतिबन्ध' और 'अभ्यनुज्ञा' रूप अवान्तर शक्तियों से परिचालित है। पदों के एक निश्चित सन्निवेश में 'क्रम' के कारण एक वैशिष्ट्य उत्पन्न होता जाता है। वैशिष्ट्य का आधावक यह 'क्रम' ही 'वाक्य' है।[25] इसके अतिरिक्त वाक्य की अपनी और कोई सत्ता नहीं है। पदसमूह से जो भी अर्थ 'विशेष' के रूप में भासित था, बोधगम्य होता है, वह इस 'क्रम' के कारण ही होता है। इस मत के प्रतिपादक आचार्यों का यह भी कथन है कि पदों के सन्निवेश में प्राप्त होने वाले 'विशेष' की 'वाक्य' संज्ञा करने से वाक्यत्व एक प्रलापमात्र ही होगा, वस्तुतः 'क्रम' ही प्रधान है। पदों में प्रतीत होने वाली अर्थवत्ता भी क्रमजन्य ही है।[26] आशय यह है कि इस मत में 'क्रम' वही है जिसे अन्य दार्शनिक 'वाक्य' कहते हैं और यह वाक्य 'पदक्रम' से व्यतिरिक्त कुछ नहीं है, परन्तु संस्कृतभाषा में 'गौः शुक्लः' और :शुक्लः गौः' आदि में पदक्रम

---

22. नियतं साधनं साध्यं क्रियानियतसाधना। स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते।। वाक्यपदीयम् 2।47।।
23. द्र0 शृङ्गारप्रकाश, पृ0277।।
24. क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपवैषम्यस्य निवेश इव। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते। स्वोपज्ञवृत्ति 2।50।।
25. द्र0 वाक्यपदीयम् 2।55।।
26. क–तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेदमभिलापमात्रं पदमेवार्थवदिति। स्वोपज्ञवृत्ति. 2।50।। ख–तेन वाक्यं न विद्यते। वाक्यपदीयम् 2।50।। ग–पदक्रमो नामायं वाक्यं ... नियतं तयोः। वहीं 2।52।।

विपर्यय के होने के बाद भी अर्थभेद न होने के कारण पदक्रम की औपचारिकता का प्रतिषेध करते हुए इस मत की तीव्र आलोचना की जाती है।[27]

वैय्याकरणमत में वाक्य का स्वरूप

'महाभाष्यदीपिका' में भर्तृहरि ने 'वाक्य' का एक लक्षण 'उद्धृत' किया है, जिसका तात्पर्य है कि 'विशेषणों सहित आख्यात पद वाक्य है।[28] पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में यह वाक्यलक्षण 'अपरे' आचार्यों के मत के रूप में उद्धृत किया है, जो कि कात्यायनीय वाक्यलक्षण का सङ्क्षेप रूप है। कात्यायन के अनुसार 'अव्यय, कारक और विशेषण' में से किसी के सहित या सभी के सहित आख्यात पद 'वाक्य' कहलाता है।[29] जैसे–'उच्चैः पठति' यहाँ अव्यय सहित क्रियापद वाक्य है, 'ओदनं पचति' में कारक सहित क्रियापद वाक्य है, एवम् 'ओदनं मृदु विशदं पचति' में अव्यय, कारक, विशेषण सहित क्रियापद वाक्य है। इस कात्यायनीय वाक्यलक्षण की पूर्णता हेतु पतञ्जलि का परामर्श है कि 'सुष्ठु पचति, दुष्ठु पचति' इत्यादि प्रयोगों के ग्रहणार्थ उक्त वाक्यलक्षण में **'सक्रियाविशेषणं च'** यह अंश और पढ़ना चाहिए।[30] किन्तु अन्य आचार्यों के मतानुसार यह सब कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'कारक, अव्यय' आदि सभी 'क्रियाविशेषण' ही हैं। अतः उक्त लक्षण को केवल **'आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्'** इतना ही रखना उचित है।[31] यहाँ **'आख्यातं सविशेषणम्'** का तात्पर्य यह है कि 'वाक्य' में 'आख्यात' तो प्रधान होगा, परन्तु उसके साथ ही उसे साक्षात् या परम्परया आख्यात से सम्बद्ध विशेषणों से युक्त आख्यातपद ही वाक्य होता है यह सुस्थिर होता है।[32]

इस वाक्यलक्षण के साथ ही कात्यायन ने एक और वाक्य लक्षण को वहीं उपन्यस्त किया है, वह है **'एकतिङ्वाक्यम्'** अर्थात् समान या सदृश अर्थ के वाचक तिङन्त से युक्त

---

27. क– द्र0श्लोक वार्तिक वाक्याधिकरणम् 55।। ख– न्यायरत्नाकर श्लोक वा0वहीं।
28. ननु चाख्यातं सविशेषणं वाक्यमित्युक्तम्। महाभाष्यदीपिका, पृ0269।।
29. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।। महाभाष्यम् 2।1।1 वा09।।
30. सक्रियाविशेषणं चेति वक्तव्यम्। सुष्ठु पचति। दुष्ठु पचति इति। वहीं।।
31. अपर आह–आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि क्रियाविशेषणानि। वहीं।।
32. द्र0नागेश कृत उद्योत महाभाष्यम् 8।1।28।।

समुदाय की भी **'वाक्यसंज्ञा'** होती हैं।[33] अत: दो तिङन्त पदों वाले **'ब्रूहि ब्रूहि'** इत्यादि वाक्यों का भी एतद्द्वारा ग्रहण हो जाता है। लगता है भर्तृहरि ने कात्यायन के द्वारा सर्वत: प्राक् परिभाषित इस वाक्यलक्षण को स्वकीय वाक्यपरिभाषाओं के संग्रह में 'आख्यात शब्द ही वाक्य है' इस रूप में समाविष्ट किया है।[34] 'अमरकोष' में भी वाक्य के वैकल्पिक लक्षण में 'कारकान्वित क्रिया' को 'वाक्य' माना गया है।[35]

इस विषय में पाणिनि की सहमति यह है कि वे एक ही वाक्य में दो तिङन्त पदों का स्वीकार करते हुए **'तिङ्ङतिङः'**[36] सूत्र का विधान करते हैं, जबकि 'कात्यायन' इस सूत्र में न्यस्त **'अतिङ्'** पद को इस आधार पर निरस्त करते हैं कि 'यहाँ एक वाक्य में ही स्वरव्यवस्था का प्रकरण है।[37] इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है कि **'एकवाक्य में कभी दो तिङन्त नहीं'** रहते हैं। तदपि पाणिनि का यह **'तिङ्ङतिङ'** सूत्र तभी सार्थक सिद्ध हो सकता है, जब पाणिनि दो तिङन्त पदों के रहते हुए एकवाक्यता को स्वीकार करें अन्यथा नहीं। तभी 'पचति भवति' भी सार्थक हो सकते हैं। अस्तु। इस विवाद से इतना तो निश्चित ही ज्ञापित होता है कि 'पाणिनि' और 'पतञ्जलि' दोनों को ही वाक्य में 'आख्यात' का ही वाक्यत्व अभीष्ट है। भले ही उसके विशेषण रूप पद 'कारक-अव्यय' आदि हों या 'क्रिया-विशेषण' तिङन्त आदि। इसी कारण नागेश भट्ट ने लिखा है कि किन्हीं आचार्यों का मत है कि पाणिनि का अभिमत **'आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्'** आदि लक्षण कात्यायन के लक्षण के अनुरूप हैं।[38] भर्तृहरि का कात्यायन के उक्त वाक्यलक्षण को निर्दुष्ट मानते हैं।[39] पुण्यराज ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि मीमांसकों का **'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं**

---

33. क–एकतिङ्। महाभाष्यम् 2।1।1वा010 ख–एक: शब्द: समानवचनो न तु सङ्ख्यावाची। बहुव्रीहिश्चायम्। कैयट–प्रदीप–वहीं।।
34. द्र0 वाक्यपदीयम् 2।1।।
35. सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।। अमरकोष–1।2।।
36. अष्टाध्यायी 8।1।28।।
37. अतिङ्वचनमनर्थकं समानवाक्याधिकारात्। वहीं वा01।।
38. द्र0नागेश उद्योत महाभाष्यम् 8।1।28।।
39. क–ननु चाख्यातं सविशेषणं वाक्यमित्युक्तं, नाख्यातपदं श्रूयते। महाभाष्यदीपिका पृ0269।। ख–वाक्यपदीयम् 2।3।।

चेद् विभागे स्यात्'[40] यह वाक्यलक्षण व्याकरण में कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि एकाधिक तिङन्त पदों वाले वाक्यों यथा–**'ओदनं पच तव भविष्यति'**, **'अयं दण्डः, हरानेन'** में प्रयोजनैक्य से एकवाक्यता मानने वाले मीमांसकों के मत में निघात हो जायेगा, जबकि व्याकरण में यह निघात अभीष्ट नहीं है। यदि कात्यायनीय वाक्यलक्षण को स्वीकार करें तो उक्तस्थलों में 'निघातरूपानर्थ' की प्राप्ति नहीं होती। अतः वार्तिककारीय लक्षण ही निष्कृट है।[41] किञ्च कात्यायनीय वाक्यलक्षण इसलिए भी समीचीन है, क्योंकि इसे मानने पर अनेक क्रियात्मक-वाक्य, जैसे–'**पूर्वं स्नाति, पचति, ततो व्रजति**' में आपाततः प्रतीयमान अनेक वाक्यता का दोष भी नहीं है। जहाँ तक वार्तिककार के **'एकतिङ्वाक्यम्'** का प्रश्न है वहाँ उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वाक्य में अनेक तिङन्त पदों का होना अनुचित है,[42] अपितु उसका तात्पर्य मात्र इतना हैं कि 'एक-वाक्य' में केवल एक ही मुख्य **'आख्यात'** या 'क्रिया' होनी चाहिए। यदि एक मुख्य क्रिया-पद के साथ कई कृदन्त या तिङन्त हों तो कोई दोष नहीं है। वाक्य में मुख्यता केवल एक ही क्रियापद की होगी जो एकवाक्यता का आधार बनेगी। मुख्य क्रियाओं की अनेकता में वाक्यों में भी भेद माना जायेगा इसी प्रकार 'अव्ययत्व, कारकत्व' और 'विशेषणत्व' से रहित सम्बोधन पद का वाक्याङ्गत्वाभावरूप जो उपाक्षेप कात्यायनीय वाक्यलक्षण पर लगाया जाता है, वह भी अनुचित ही है, क्योंकि उक्त वाक्यलक्षणोक्त 'विशेषण' पद 'क्रियाविशेषण' का भी ग्राहक है। सम्बोधन के क्रियाविशेषण होने के कारण 'व्रजानि देवदत्त' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'देवदत्त' इस सम्बोधन की भी वाक्य में अङ्गता सोपपन्न है।[43] अतः सिद्ध होता है कि कात्यायनीय वाक्यलक्षण समुचित है।

यद्यपि भर्तृहरि आख्यातपदवाक्यता को दृढ़ता से स्वीकार करते हैं, तदपि वह उन्हें मात्र शाब्दव्यवहार के स्तर तक ही इष्ट है।[44] यह शाब्दव्यवहार शास्त्रीय व लौकिक उभयात्मक है।

---

40. मीमांसासूत्र 2।1।46।।
41. तस्माद् वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्यायः।। पुण्यराज वा0प02।3।।
42. द्र0 वहीं 2।6।।
43. द्र0 वाक्यपदीयम् 2।5।
44. तत्र लौकिक वाक्यग्रहणनिषेधार्थं वाक्यं परिभाष्यते। कैयट–प्रदीप 2।1।1।।

'भोज'[45] ने उक्त कात्यायनीय वाक्यलक्षण को शास्त्रीय माना है, किन्तु भर्तृहरि को व्यवहार में भी आख्यातपद की वाक्यता ही इष्ट है। नागेश का भी यही मत है।[46] व्यवहार में आख्यातपदवाक्यत्व के सिद्धान्त को उपस्थापित करते हुए भर्तृहरि परमार्थरूप में वाक्य का निरवरवत्व स्वीकार करते हैं। उन्हें अर्थाधायिका इकाई के रूप में **'अखण्डवाक्य'** ही स्वीकार है तथा वही सार्थक वाक्य ही उनका शब्द है। वह सर्वथा अखण्डरूप है, तद्‌गत वर्णसङ्घातरूप पद भी अनर्थक ही हैं।[47] वाक्य में पदों की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से कल्पित है।[48] परमार्थत: तो अखण्ड वाक्य ही अर्थबोधक होता है। यह एक और निरवयव है। इसमें न पदादि अवयवों की सत्ता स्वीकरणीय है और न पदों में वर्णों का अस्तित्त्व।[49]

अखण्ड वाक्य का स्वरूप

'वाक्यपदीयम्' का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शब्दव्यक्तिवादी के अनुसार निरंश और निरवयव 'वाचक' ही वाक्य है। इसमें 'उपांशु-परमोपांशु, द्रुत' और 'विलम्बित' आदि भेदों का आभास 'उपाधिकृत' है।[50] जबकि शब्दाकृतिवादी आचार्य उस अखण्डवाक्य को पदसमूह में रहने वाली 'जाति' के रूप में परिभाषित करते हैं।[51] उसमें पौर्वापर्यक्रम आदि उपाधिसंसर्ग से ही उपदर्शित होते हैं। दूसरी ओर आन्तरवाक्यवादियों का मन्तव्य है कि वाक्य बुद्धिगत शब्दतत्त्व से भिन्न नहीं है। वह अखण्डवाक्यरूप 'शब्द' बुद्धि में रहता है। यह आभ्यान्तरिक शब्द केवल ध्वनि से ही अभिव्यक्त होता है। बुद्धि की यह 'अनुसंहति' ही

---

45. वार्तिककारस्तु अन्यदेव लौकिकात्पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहार: सिध्यतीति उपेक्ष्यते। शृङ्गारप्रकाश, पृ0116
46. द्र0 नागेशकृत उद्योत 2।1।1।।
47. अथवा शक्यमेवार्थवद्वर्णवत्पदान्यनर्थकान्येव। एवमेव च वाक्यदेवार्थप्रतिपत्तिः गौरित्ययमाहेति। समुदायेऽर्थवति कुतो गोशब्दशब्दपदार्थत्वमिति प्रच्युतेरभाव:। महाभाष्यदीपिका, पृ0250। 47. द्र0नागेशकृत उद्योत 2।1।1।।
48. अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यते। महाभाष्यम् पस्पशाह्निक पृ047।।
49. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा च न। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।। व0व02।73।।
50. क- द्र0पुण्यराज वाक्यपदीयम् 2।19।। ख- एकोऽनवयव: शब्द: ।। वही 2।1।।
51. क- जाति: सङ्घातवर्तिनी। वही ।। ख- द्र0पुण्यराज, वाक्यपदीयम् 2।2021।।

'वाक्य' है।[52] बुद्धिगत यह शब्दतत्त्व एक ही है। यह बौद्धों के मत के साथ साम्य रखने वाला मत है।

आशय यह है कि अखण्डशब्द ही 'वाक्य' है, भले ही उसे शब्दाकृतिवादी **'सङ्घातवर्त्तिनी-जाति'** वा **'आकृति'** कहें या शब्दव्यक्तिवादी **'एकोऽनवयवः शब्दः'** कहें या आन्तरस्फोटवादी **'बुद्ध्यनुसंहृतिः'**। इन सभी वाक्यविकल्पों में भर्तृहरि का अभिनिवेश एक निरवयवशब्दवाक्यत्व के प्रति ही है। 'अखण्डशब्द' ही बाह्य या आभ्यन्तर रूप में वाक्य है।[53]

पदवाद और वाक्यवाद का आधार

'तैत्तिरीय-संहिता' के अनुसार प्राचीन काल में वाणी अव्याकृत थी।[54] 'ऋक्प्रातिशाख्य' में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **'पदप्रकृतिः संहिता'**।[55] यहाँ **'पदप्रकृतिः'** पद में समासवृत्ति के स्वरूपभेद से दो मन्तव्य हो गये।[56] एक मत के अनुसार यहाँ **'पदानां प्रकृतिः, पदप्रकृतिः'** यह षष्ठी तत्पुरुष समास है। इसके अनुसार **'संहिता'** ही मूल है, पद कल्पित और असत्य हैं, यह वाक्यवादी आचार्यों का विचार है। दूसरी ओर एक और मन्तव्य **'पदप्रकृतिः'** पद में 'बहुव्रीहिसमास' मानता है। तदनुसार **'पदानि प्रकृतिर्यस्याः'** यह उक्त समस्तपद का विग्रह होता हैं। इसके अनुसार पद 'मूल' है और वाक्य 'कल्पित' है। यह पदवादी विचारकों का मत है।[57]

'पदवाद' का सिद्धान्त मीमांसकों का है। उनके अनुसार पद ही मौलिक है और 'अनेकता' से 'एकता' निष्पन्न होती है, जबकि वैय्याकरण 'वाक्यवाद' के समर्थक हैं। इनके मतानुसार 'एकता' से 'अनेकता' निष्पन्न होती है,[58] अर्थात् पहले एकत्व है फिर उससे अनेकत्व उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि पतञ्जलि ने वैयाकरणों को 'पदकार' कहकर सम्बोधित

---

52. द्र0 वाक्यपदीयम् 2।1।।
53. द्र0पुण्यराज, वाक्यपदीयम् 2।30।।
54. वाग् वै पाराच्यव्याकृता। तैत्तिरीयसंहिता 6।4।7।।
55. ऋक्प्रातिशाख्यम् 2।1।।
56. पदप्रकृतिभावश्च वृत्तिभेदेन वर्ण्यते। पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया।। वा0प02।58।।
57. द्र0वाक्यपदीयम् स्वोपज्ञवृत्ति 2।58।।
58. अभेदपूर्वका भेदाः कल्पिता वाक्यवादिभिः। भेदपूर्वानभेदाँस्तु मन्यन्ते पददर्शिनः।। वाक्यपदीयम् 2।57।।

किया है,[59] अतः उनको 'वाक्य' ही मौलिक रूप में अभिप्रेत है तथा वैयाकरण वाक्य में से ही पदों का विभाग करते हैं। जहाँ तक वैयाकरणों के 'वाक्यवादी' होने का प्रश्न है, यह उनकी वेदविषयक आस्था के कारण है। अतः वैयाकरण 'वेद' को नित्य मानता है, अतः वैदिक ज्ञानराशि को अखण्डवाक्य के रूप में ग्रहण करना उसकी बाध्यता है।

वाक्य के सम्बन्ध में कैयट का मत

कैयट वार्तिककार के **'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्'** को ही वाक्य का लक्षण मानते हुए 'प्रदीप' में लिखते हैं–

आख्यातमिति। नानाकारकान्निघातादि निवृत्तये, क्वचित्प्रवृत्तये च समानवाक्ये निघातयुष्मदादेशा वक्ष्यन्ते। तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधार्थं वाक्यं परिभाष्यते। अव्ययकारकविशेषणानि प्रत्येकं, समुदितानि चाश्रीयन्ते, यथा 'वृषलैर्न प्रवेष्टव्यम्', 'अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति। आख्यातमिति चैकत्वं विवक्ष्यते, लक्षणविधानसामर्थ्यात्। तथा च 'तिङ्ङतिङः' इत्यत्र वक्ष्यते–'तिङ्प्रतिषेधानर्थक्यं च समानाधिकारा'दिति। पचति, भवतीत्यादौ सत्यपि साध्यसाधनभावे आख्यातयोर्द्वित्वात्समानवाक्यात्वाऽभावन्नि–घाताऽप्रसङ्गात्। उच्चैरिति। यद्यप्यव्ययं कारकं विशेषणं च तथाऽपि प्रपञ्चार्थमस्योपादानम्। तथा च वक्ष्यते 'आख्यातं सविशेषणमित्येवे'ति।

सक्रियाविशेषणं चेति। प्रत्यासत्त्या कारकस्यैव यद्विशेषणं तद गृह्यते, न तु क्रियाया इति भावः। आख्यातेन च क्रियाप्रधानत्वं लक्ष्यत इत्यतिङन्तेष्वपि देवदत्तेन शयितव्यमित्यादिषु वाक्यत्वं सिद्ध्यति॥ एक तिङिति। एकशब्दः समानवचनो न तु सङ्ख्यावाची। बहुव्रीहिश्चायम्। ब्रूहि ब्रूहीति। ब्रूहि ब्रूहि देवदत्तेत्वत्र वाक्यत्वादामन्त्रितनिघातः सिद्ध्यति।[60]

59. क–अवग्रहे नैवादरः। न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्या इति। महाभाष्यदीपिका पृ0206॥ ख–न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्॥ महाभाष्यम् 3।1।109॥

60. कैयट–प्रदीप–महाभाष्यम् 2।1।1॥

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0169-176)

संस्कृति की अवधारणा

डॉ. जितेन्द्र कुमार
प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर

संस्कृति शब्द का व्यवहार लोगों के द्वारा आजकल प्रायः किया जाता है, किन्तु जिस अर्थ में इस पद का प्रयोग हो रहा है, क्या वह शब्द का वस्तुतः अर्थ है भी या नहीं? इसी प्रश्न और जिज्ञासा की मीमांसा में संस्कृति के अर्थ का तात्त्विक परामर्श किया जाना प्रासङ्गिक प्रतीत हो रहा है।

संस्कृत के उद्भट विद्वान् व्याकरणशास्त्र के प्रणेता आचार्यों में उपलब्ध सर्वाधिक प्रामाणिक एवं अधिकृत वैयाकरण महामुनि पाणिनि का संस्कृति पद के प्रति क्या कथन है? उसको यहाँ लिखना आवश्यक है।

सम् उपसर्ग पूर्वक **'कृ'** करने अर्थ वाली मूल धातु से स्त्रीलिङ्ग में क्तिन् प्रत्यय करने पर **'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'**[1] इस सूत्र से सम् और परि उपसर्गों से भूषण अर्थ में (ही, किसी अन्य अर्थ में नहीं,) कृ धातु को सुट् का आगम होता है, तब संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार से संस्कृत, संस्कार, परिष्कार एवं परिष्कृति शब्दों का अर्थ सुस्पष्ट किया गया है। यह सभी शब्द पाणिनि-व्याकरण के अनुसार मण्डन अथवा अलङ्करण अर्थ में सिद्ध होते हैं। जब **'कृ'** धातु भूषित करने अर्थ में नहीं होगी तब सम् एवं परि उपसर्ग के साथ सुट् का आगम नहीं होगा। उक्त बात पर बल देने का अभिप्राय बहुत स्पष्ट है। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि-व्याकरण का अन्यतम और प्रशस्यतम होना असन्दिग्ध है। शब्दशास्त्र के विषय में पाणिनि ने जो कह दिया वह वेदवाक्य के समान सभी संस्कृत के विद्वानों और वैयाकरणों के द्वारा प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। यह माना जाता है कि पाणिनि ने भी संस्कृतभाषा में प्रयुक्त पदों का सूक्ष्मान्वेषण एवं अध्ययन करके अपनी स्वोपज्ञ, सूक्ष्मेक्षिका तथा तात्त्विक प्रतिभा द्वारा प्रसूत विश्लेषण का परिणाम ही व्याकरणशास्त्र में प्रस्तुत किया है। अतः शब्दशास्त्र का मर्म व्याकरण से जाना जाता है।

---

1. अष्टा06.1.132

उक्त पाणिनि के विश्लेषण से संस्कृति शब्द के अर्थ को समझने में हमें अत्यन्त सहायता प्राप्त होती है। तदनुसार संस्कृति का अर्थ हुआ कि–**'भूषणभूत सम्यक् कृति एवं चेष्टा संस्कृति नाम से जानी जाती है।'**

सङ्क्षेप में इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि--आत्मा की उन्नति के लिये जिन कर्मों का विधिपूर्वक भलीभाँति सम्पादन किया जाता है, वह संस्कृति है। अथवा मनुष्यों का इस लोक और परलोक के अभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है। अथवा जिन क्रियाओं और चेष्टाओं से अपने जीवन की समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ मनुष्य सुख और शान्ति को प्राप्त करे उन चेष्टाओं एवं क्रियाओं को ही भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा कहा जा सकता है, वही संस्कृति है।

उक्त परिभाषित संस्कृति की समस्त मानवों को आवश्यकता है, अन्य प्राणियों को नहीं। क्योंकि पशुपक्षीकीटपतङ्गादि भोगयोनियों में जीव की क्रियायें, चेष्टायें स्वाभाविक ही होती हैं। उनमें अच्छे और बुरे का भेद करने का सामर्थ्य ही नहीं होता है। इसलिए सभी मानवों के द्वारा संस्कृति को आंशिक रूप में धारण किया जाता है। उक्त संस्कृति शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है, यह मनुष्य की आत्मा है, यह आत्मा के गुणों का विकास है। यजुर्वेद में लिखा है कि–**'सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा'**[2] अर्थात् सम्पूर्ण संसार के मनुष्यों द्वारा वरण करने योग्य संस्कृति प्रथम है। जबकि सभ्यता इससे भिन्न है, क्योंकि यह परिवर्तनीय है। सभ्यता शरीर है। सभ्यता भौतिक है। सभ्यता बाह्य है। सभ्यता भौतिक उन्नति का नाम है। दोनों में बहुत अन्तर है। दोनों का होना बहुत अच्छा है, परन्तु दोनों न हों तो संस्कृति का होना सभ्यता से अच्छा है। सभ्यता को संस्कृति की रक्षा के लिये छोड़ा जा सकता है, संस्कृति को सभ्यता की रक्षा के लिये नहीं छोड़ा जा सकता। आत्मा के लिए शरीर छूट सकता है, शरीर के लिये आत्मा कैसे छूट सकती है?

संस्कृति और सभ्यता में से संस्कृति श्रेयस्कर है। संस्कृति के विना कोई भी सभ्यता अपने अस्तित्व को धारण नहीं करती, किन्तु सभ्यता के विना भी संस्कृति जीवित ही नहीं सुरक्षित भी रहती है। जिस देश के पास भौतिक साधन नहीं होते हैं अथवा अत्यल्प होते हैं तो क्या उस देश में संस्कृति नहीं होती? ऐसी बात नहीं है। हो सकता है कि जिन देशों में भौतिक उन्नति प्रचुर मात्रा में हो वहाँ संस्कृति का आधार न हो वहाँ येन केन प्रकारेण स्वार्थसिद्धि एवं भौतिक उत्थान करने में गौरव का अनुभव किया जाता हो, वह संस्कृति नहीं विकृति है। और

---

2. यजु0 7.14

जिस देश में संस्कृति और सभ्यता दोनों हैं, उस देश के तो कहने ही क्या? वह तो सर्वोत्तम है और दूसरे देशों के लिये श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है।

लेकिन कोई भी देश, समाज और व्यक्ति संस्कृति के विना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकता है, इसमें हमेशा से सन्देह रहा है। सभ्यता बाहर की वस्तु है, रेल, तार, यान, विमान, कम्प्यूटर, ऊँचे-ऊँचे भवन, उपग्रह, विभिन्न उपयोगी साधन सभ्यता के विकास के प्रदर्शक हैं। संस्कृति अन्दर की चीज है—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सन्तोष, संयम आदि तत्त्व संस्कृति के विकास के निदर्शक हैं। इनके विना कोई देश, समाज, मानव रह ही नहीं सकता है। कोई ऐसा मनुष्य संसार में ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा जो चौबीसों घण्टे झूठ बोलता हो, सदैव हिंसा करता रहता हो, हमेशा गुस्सा करता हो, अनवरत युद्ध करने में व्यस्त हो। इन शब्दों का व्यवहार तो मिलेगा, परन्तु यथार्थ रूप मे वैसा का वैसा अर्थ कहीं घटित नहीं हो सकता है। इन शब्दों का प्रयोग भी तुलना में सापेक्ष दृष्टि से अधिक के अर्थ में ही प्राप्त होता है। जबकि इसके विपरीत चौबीसों घण्टे सत्य बोलने वाले, हिंसा न करने वाले, क्रोध न करने वाले, लड़ाई न करने वाले सन्तोष और संयम से रहने वाले सब स्थानों पर सुलभ ही नहीं हैं, प्रत्युत सभी ऐसे हो भी सकते हैं। अतः संस्कृति में मनुष्य के अपरिहार्य गुणों का अन्तर्भाव माना जाता है। जिसके विना मानव जीवित नहीं रह सकता है और यदि जीता भी है तो आत्मा के विना जी सकता है? अर्थात् कथमपि जीवन धारण कर नहीं सकता।

शक्तिसम्पन्न पशु निर्बल पशु को मार देता है। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, परन्तु उनको कोई पाप नहीं लगता है। मानव के साथ ऐसा नहीं होता क्योंकि मुनष्य को ईश्वर प्रदत्त विचार के लिये एक बुद्धि प्राप्त है, जिससे विचार कर क्या करना उचित है क्या अनुचित वह कर्म करता है। लाभ-हानि देखकर कार्यों में प्रवृत्त होता है।

इसलिए कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी को भी यदि पीड़ित करता है, दुःख देता है अथवा मारता है तो उसकी लोग निन्दा करते हैं, उसे ऐसा करने से रोकते हैं, पाप करता है, इसका फल भी भोगेगा, हत्यारा है आदि आदि अनेकविध उक्त कर्म को न करने की अपमान, तिरस्कार करके भी प्रेरणा देते हैं। मारने, दुःख देने, पीड़ा पँहुचाने की बात तो बहुत दूर ऋग्वेद का मन्त्रांश तो **'केवलाघो भवति केवलादी**[3] "जो अकेला खाता है वह पाप खाता है' की बात करता है। इसी का अनुसरण करते हुए गीता में भी लिखा है कि—जो केवल अपने खाने के लिये ही भोजन बनाते हैं वे पाप का भोजन करते हैं। **"भुञ्जते**

---

3. ऋ010.117.6

ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्'[4] इत्यादि वचन कहकर दूसरों का विना एहसान और प्रतिदान की भावना से कर्त्तव्य बुद्धि और अपने भोजन के स्वाद के सुख को बढ़ाने के लिये बाँटकर अथवा खिलाकर खाने की बात का उल्लेख करना अनायास विना नामोल्लेख के शाश्वत संस्कृति का निदर्शन किया गया है। उक्त संस्कृति के दर्शन मनुष्यों में ही दिखायी पड़ते हैं, जो स्वादिष्ट और विविध व्यञ्जनों को बाँटकर नहीं खाता तो उसे पशुवृत्ति का द्योतक कुत्ते के समान आचरण क्यों करते हो कहकर निन्दित समझते हैं तथा मना करते हैं। इस संस्कृति के परिणामस्वरूप ही मनुष्यों में दूसरों को देकर, पूछकर स्वयं उपभोग की प्रवृत्ति प्रत्येक समाज में कम मात्रा में ही सही किसी न किसी रूप में दिखायी पड़ता है। ऐसा न करने वाला असंस्कृत और अशिष्ट समझा जाता है।

मानव समाज में रहता है, समाजमात्र समूह का ही नाम नहीं है, प्रत्युत उसमें मर्यादा है, शालीनता है, सहृदयता है, सामाजिक भय है और सुरक्षा की भावना है। यह मानव समुदाय से उत्पन्न होने वाले तत्त्व हैं। मनुष्य की यदि सर्वप्रथम कोई संस्कृति है तो मेरी सम्मति में सब प्रकार से दूसरों की रक्षा करना, पोषण करना, उन्नति में सहायक होना, अविद्वेषभाव को पल्लवित करना और परस्पर प्रीति बढ़ाना ही है। अपने उक्त मत की संपुष्टि के लिये अथर्ववेद का मन्त्रांश सङ्क्षेप में प्रस्तुत सङ्क्षेप कर रहा हूँ।

"पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः'[5] अर्थात् मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा और पालन-पोषण करे। यहाँ अपने मत की सुदृढ़ पुष्टि पुनः करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। अतः हिन्दी भाषा के सुविख्यात, स्वनामधन्य, मूर्धन्य विद्वान् कविशिरोमणि महाकवि तुलसीदास की अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी सूक्ति पटल पर कुलाचें भर रही है–

परहित सरस धर्म नहि भाई। परपीड़ा सम नहि अधमाई।।[6]

कवि यह कहना चाहते हैं कि सरस उत्साह के साथ परहित को छोड़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है तथा परपीड़ा के समान कोई नीच, अधम कर्म नहीं हैं, यही संस्कृति है। इसके विना कोई संस्कृति नहीं, कोई धर्म नहीं, कोई कर्म नहीं, कोई सेवा नहीं, कोई त्याग नहीं, कोई दान नहीं तथा न कोई सद्व्यवहार और पूजा है। ये सब कर्म परहित करने के साधन हैं। न कि साध्य। साध्य और साधन में क्या भेद है यह समझकर ही व्यवहार करना चाहिए। साधन मार्ग

---

4. गीता-3.13
5. ऋ06.75.14
6. रामचरित मानस

है, साध्य लक्ष्य अथवा उद्देश्य है। साधन से साध्य की प्राप्ति करनी चाहिए। साधन को ही साध्य समझकर प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए मानव का मानव के प्रति व्यवहार एक ही है कि वह अन्योन्य की हर प्रकार से रक्षा करे जिससे सभी मनुष्य परस्पर सौहार्द्र से रह सकें। इसके विपरीत पशुओं के समूह को समाज कहते हुए किसी को नहीं सुना होगा तथा इस शब्द का प्रयोग कोई पशुसमुदाय के लिये करता भी नहीं है। इसमें भी शब्दशास्त्र के अनन्य उपासक पाणिनि का निर्देश बहुत महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। **"समुदोरजः पशुषु"**[7] इस सूत्र में पाणिनि कहना चाहते हैं कि पशुओं के समूह के लिए समाज शब्द का प्रयोग नहीं होता, अपितु संस्कृत भाषा में **'समजः'** इस पद का व्यवहार दिखायी देता है। समाज और समज में बहुत कम ही भेद दिखायी पड़ता है, परन्तु एक मात्रा का भेद शब्द से बताकर विना कहे ही ऋषि ने स्पष्ट सङ्केत करके सब कुछ कह दिया है।

मनुष्य जो भी कार्य करता है वह सब आत्मा के लिये ही करता है अथवा उस कर्म का संस्कार या प्रभाव आत्मा पर अनिवार्य रूप से पड़ता ही है। परन्तु दूसरी तरफ पशु जो क्रिया करता है, वह सब शरीर के लिये ही करता है। यह भेद ही संस्कृति शब्द से कहा जाता है।

यदि हम भी पशुओं के समान दन्तादन्ती, नखानखी, केशाकेशी, दण्डादण्डी परस्पर करें तो हमारे पास फिर कोई संस्कृति नहीं है और संस्कृति से विहीन मनुष्य पशु से भी बड़ा पशु है। पशुओं की चेष्टायें नैसर्गिक हैं इसलिए उपनिषद् का वाक्य मनुष्यों के लिये ही है–**"आत्मानं विद्धि'**। यह उपदेश मनुष्यों के लिए उपयोगी होने से मनुष्य ही इसका आचरण कर सकता है। पशु स्वयं अपने भोजन का संग्रह कभी नहीं करता, परन्तु मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह परिग्रह करता है, अतः वेद और उपनिषद् दोनों मानवों को आदेश देते हैं कि–

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्"[8] ईश्वरप्रदत्त वस्तुओं का आवश्यकता के अनुसार दूसरों के लिये छोड़कर ही प्रयोग करना चाहिये तथा गिद्ध के समान दूसरों के द्वारा उपार्जित द्रव्य पर कभी कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिये। अन्यों का पोषण करते हुए ही अपने उदर की पूर्ति करनी चाहिये। इसीलिये गीता का वचन स्मरणीय है–**'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'**[9] परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते हुए और पोषण करते हुए ही

---

7. अष्टा03.3.69
8. यजुर्वेद 40.1; ईशोपनिषद् (1)
9. गीता–3.11

हमें रहना चाहिए। यही सच्चे अर्थों में संस्कृति की भावना है। सामान्यत: लोग इसका प्रयोग सभ्यता के अर्थ में अधिक करते दिखायी देते हैं। संस्कृति सभ्यता शब्दों का एक साथ उच्चारण करना भी बहुधा आलङ्कारिक शब्दविन्यास मात्र अधिक दिखायी पड़ता है। यह भी प्राय: देखने में आता है कि परम्परा, प्रथा, रीति-रिवाज, लोकाचार, सामाजिकता के निर्वहण हेतु जो क्रियायें और चेष्टायें लोगों के द्वारा अनुष्ठित की जाती हैं उनको संस्कृति नाम से कहा जाता है। भिन्न-भिन्न देशों में, प्रदेशों में, समाज में प्रचलित रूढ़िजन्य कार्यों को संस्कृति से समझा जाता है, किन्तु मेरे मत में वह संस्कृति नहीं है। वह परम्परा हो सकती है, परन्तु संस्कृति का स्थान इन सबसे ऊँचा है। संस्कृति सार्वदेशिक, सार्वजनीन, सार्वभौम और सार्वकालिक है। वह तो लोगों के हृदय में रहती है। वह सत्य, अंहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, सन्तोष, प्रेम, संयम आदि तत्त्वों में रहती है एवं उनमें सन्निहित है। यह संस्कृति तो सभी मनुष्यों के लिये है। कोई मानव इसको छोड़कर सुसंस्कृत, समाज के योग्य और मनुष्यत्व के पद को भी अलङ्कृत करने में सक्षम नहीं हो सकता है। अत: इसकी आवश्यकता अपरिहार्य रूप से हमेशा और सब जगह सभी मानवों के लिये दिखायी देती है। ऋग्वेद में भी मनुष्य को मनुष्य बनने मात्र का उपदेश प्राप्त होता है–"**मनुर्भव**'[10] हे मनुष्य! तू मनुष्य बन जा।

प्रसङ्ग प्राप्त परम्परा शब्द का अर्थ भी यहाँ बताना उचित प्रतीत होता है। परम्परा का अर्थ भी अपनी मूल भावना को छोड़ चुका है। लोगों में यह अवधारणा अन्दर तक व्याप्त हो गयी है कि–हमारे पूर्वजों के द्वारा प्रचलित क्रियाओं एवं कार्यों का वैसा का वैसा ही अनुकरण करना परम्परा है, किन्तु यहाँ थोड़े परिष्कार की आवश्यकता है। डॉ0 विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में परम्परा का अर्थ है–"**पर के भी जो परे हो, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यति, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, सतत साध्य हो। परम्परा इसीलिए साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह इसीलिए स्वीकार करती है कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार को कभी जड़ न होने दे–सीधी रेखा में नहीं, वर्त्तुल गोलाइयों में उत्तरोतर ऊर्ध्वगामी होती रहे।**'

परम्परा शब्द का यह अर्थ जहाँ शाब्दिक है, वहीं यथार्थ की भूमि पर भी अवलम्बित है। यही अर्थ कुप्रवृत्तियों को दूर करने में सहायता देता है, अत: इसका समर्थन उचित प्रतीत होता है। वस्तुत: मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अच्छा बने और लोगों के द्वारा श्रेष्ठ

---

10. ऋ010.53.6

समझा जाये, लेकिन श्रेष्ठ होने की प्रक्रिया थोड़ी कठिन है। दृढ़ इच्छा शक्ति के विना इसको सभी लोग नहीं कर पाते तब वे लोकाचार के बहाने, परम्परा, रीति-रिवाज आदि के बहाने सही जानते हुए भी छोड़ देते हैं। अत: किसी भी समाज में व्याप्त परम्परा प्राप्त क्रियाओं, प्रक्रियाओं, चेष्टाओं, रहन-सहन की विधियों, कर्मों, गीतों, नृत्यों एवं वाद्यों के प्रयोग को ही संस्कृति शब्द से लोगों के द्वारा कहा जाता है। लेकिन वह कृति हो सकती है, अपकृति हो सकती है, दुष्कृति हो सकती है, प्रकृति हो सकती है, विकृति हो सकती है, सुकृति हो सकती है, परन्तु संस्कृति नहीं हो सकती है। संस्कृति में तो तप, दान, सरलता, अहिंसा, सत्य, दया, वर्णाश्रम-व्यवस्था, पञ्चमहायज्ञ और परमात्मा की कृतज्ञता ये तत्त्व यथातथ्य रूप से विराजमान रहते हैं। इन तत्त्वों के विना न कोई राष्ट्र, न समाज, न परिवार, न व्यक्ति उत्थान अथवा उन्नति के पद को प्राप्त कर सकता है।

कविकुलतिलक, कविताकामिनीविलास, भारतीयसंस्कृति के उद्घोषक, कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास ने अपने काव्य में संस्कृति के स्वरूप का अनायास रूप से निदर्शन किया है। वे अपनी रचनाओं में तीन तत्त्वों त्याग, तपस्या और तपोवन का अन्यतम महत्त्व पदे-पदे प्रतिपादित करके संस्कृति का उद्घोष करते हैं।

उपर्युक्त अङ्ग्रेजी भाषा में culture कल्चर शब्द बहुत प्रसिद्ध हुआ है। इस शब्द की निष्पत्ति लेटिन भाषा के culte कल्टे इस पद से हुयी है जिसका अर्थ विविध-पूजा पद्धति से लिया जाता है। एक और कोषगत शब्द caltus केल्टस् जिसका अर्थ care, cultvation संरक्षण और पोषण के भाव से लिया जा सकता है। यह कोष में लिखा हुआ अर्थ वास्तव में पौधे के समान मनुष्य का रक्षण और पोषण अर्थ अभिव्यक्त करता हुआ दिखायी देता है। यह अर्थ बहुत सम्भव है कि यह अर्थ संस्कृति शब्द से ही गया हो। लेकिन दूसरा अर्थ परवर्ती काल में पूजा-पद्धति की विभिन्नता को ध्यान में रखकर विकसित हुआ हो इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। और विविध पूजापद्धति के अर्थ को अनूदित मानकर संस्कृति पद का अर्थ भी भारतीय समाज में रूढ़ हो गया, जिसके कारण संस्कृति का अपना अर्थ जो प्राचीन काल में प्रसिद्ध और पाणिनि प्रोक्त था, जिसकी चर्चा इस लेख में की गयी है, वह कहीं खो गया है, तिरोहित हो गया तथा कल्चर शब्द के अनुवाद के रूप में प्रचलित हो गया है। लोगों के द्वारा इसी अर्थ को आजकल ग्रहण किया जाता है, जो अपने मूलभाव को और अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाता। इसमें हमें ऊपर उठने की आवश्यकता है, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम जानें कि कल्चर शब्द संस्कृति का अनुवाद नहीं है। इसको अनुवाद के रूप में प्रचलित किये जाने के कारण संस्कृति का अपना अर्थ भ्रमित हो गया है। संस्कृति शब्द बहुत व्यापक होने के साथ ही

साथ अपने गर्भ में गम्भीर और गौरवमय अर्थ को धारण किये हुए है। कल्चर शब्द की संस्कृति पद से कोई तुलना नहीं हो सकती। समष्टिगत एक समान अनुभवों से आविष्कृत अथवा प्रादुर्भूत सामाजिक नृत्य, गीत, रहन-सहन और क्रिया कलापों के अर्थ में संस्कृति शब्द कल्चर शब्द से प्रभावित होकर प्रचलित हो गया। परन्तु पाणिनि ने जो अर्थ सङ्क्षेप से सङ्केतित किया वह ऋषिप्रोक्त होने के कारण, शास्त्रोक्त होने के कारण, शब्द का यथावत् अर्थ होने के कारण प्रामाणिक है। यह अर्थ ही हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के व्यवहार में धारण, पालन, रक्षण और अनुकरण करने योग्य है। यह ही उपदेश है, यह ही आदेश है, यह ही निर्देश है, यह ही संस्कृति है।

उपर्युक्त समग्र चिन्तन का उत्कृष्ट अंश सङ्क्षेप में प्रस्तुत है–संस्कृति मानव मन के अज्ञान को दूर करती है, संस्कृति चित्त के भ्रम का निवारण करती है, अविद्या रूपी अन्धकार का हरण करती है, ज्ञानज्योति को प्रकाशित करती है, सत्यवृत्ति को स्थापित करती है, दुर्गुणों की विशाल राशि का छेदन करती है, चित्त को निर्मल करती है तथा शान्ति का जीवन में आधान करती है। निश्चित रूप से संस्कृति मानव की, राष्ट्र की, अखिल विश्व की उपकारक है। संस्कृति को छोड़कर कोई मनुष्य, कोई समाज शान्ति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। संस्कृति ही मानव के लिये क्षेमकारी है, जीवन की सञ्चालिका है, अपने अन्तकरणः को सुख देने वाली है।

संस्कृति ही मानव हृदयों में विश्वबन्धुत्व के सद्भाव को उत्पन्न करके निखिल लोक का कल्याण करती है। भारतीय एवं वैदिक संस्कृति निश्चित रूप से समस्त अतिशय गरिष्ठ गुणों की गरिमा से सम्पूर्ण विश्व के गगनमण्डल में सूर्य की ज्योति के समान देदीप्यमान, ज्योतिष्मान् और जाज्वल्यमान है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0177-183)

प्राचीन भारतीय साहित्य में वैज्ञानिक विकास

डॉ. रेखा सेमवाल
टिहरी परिसर UMBGV
टिहरी-गढ़वाल(उत्तरांचल)

दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शनैः शनैः विज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं का विकास हुआ है। खाने में क्या भोज्य है क्या अभोज्य यह जानने के लिए सर्वप्रथम आयुर्वेद-विज्ञान का जन्म हुआ। उपयोग में आने वाली वस्तुओं को अधिक मात्रा में उत्पादित करने के लिए कृषि, पशुपालन आदि विज्ञानों का जन्म हुआ। रहने के उपयुक्त घर बनाने हेतु वास्तुकला-विज्ञान का आविष्कार हुआ। इसके साथ ही भौतिक-विज्ञान और गणित-विज्ञान का समारम्भ हुआ। इन सभी विज्ञानों में निपुणता और परिपक्वता लाने में प्राचीन मानवों का वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूतत्त्व विद्या आदि का आनुषङ्गिक रूप से ज्ञान बढ़ता रहा है। इसके साथ ही शुभ-अशुभ, दिन, मास, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र, राशि, आदि का ज्ञान ज्योतिष के नाम से सुप्रसिद्ध हो गया।

आयुर्वेद

वैदिक साहित्य एवं प्राचीन भारतीय साहित्य में चार उपवेदों की परिकल्पना देखने को मिलती है। ये चार उपवेद हैं—आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद, अर्थवेद या अर्थशास्त्र। इन चारों उपवेदों में आयुर्वेद का नाम सर्वप्रथम और प्रमुखतया लिया जाता है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध मानव की आयु वृद्धि के साथ-साथ उसके संवर्द्धन से है। मानव जीवन की चार उपलब्धियाँ मानी जाती हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसका आशय यह है कि मानव को अपने जीवन में इस चतुर्वर्ग का पालन करना चाहिए। और ये तभी सम्भव है जब मनुष्य स्वस्थ हो। चरक संहिता में लिखा गया है—

धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्याहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

इस श्लोक से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आयुर्वेद का प्रयोजन शरीर को रोगों से बचाना है। सामान्यतः इस उपवेद का आरम्भ अथर्ववेद को माना जाता है। वैदिक साहित्य के उल्लेखों से तत्कालीन आयुर्वेद-विज्ञान सम्बन्धी प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई देते हैं। अश्विनी, वरुण, रुद्र आदि

अनेक देवता वैद्य थे।[1] वरुण का एक बहुत बड़ा औषधालय था, जिसमें सहस्रों वैद्य कार्य किया करते थे।[2] ऋग्वेद में अनेक प्रकार की औषधियों का उल्लेख मिलता है। यथा–

या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥[3]

अथर्ववेद में अनेक रोगों के लक्षण, निदान और चिकित्सा का सूक्ष्म विवेचन है। विभिन्न प्रकार रोगों के लिए विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। कुष्ठरोग के निवारण के लिए तक्मज्वर द्रव दिया जाता था।[4] अपामार्ग, पिप्पली के उपयोग से अनेक रोगों का निवारण किया जाता है। आयुर्वेद से सम्बन्धित चार संहितायें प्रसिद्ध हैं–चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भेड संहिता और बोअर मैन्युस्क्रिप्टस। इनमें से चरक आयुर्वेद के सबसे प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। चरक संहिता में आठ अध्याय हैं। सूत्रस्थान में औषधि, पथ्य, वैद्य के कर्त्तव्य आदि का वर्णन है। रोगों का निदान स्वास्थ्य वृद्धि और दीर्घ जीवन के उपाय तथा वातरोग, ज्वर आदि का विश्लेषण चरक-संहिता में विस्तार पूर्वक किया गया है।

वैदिक काल के पश्चात् रामायण तथा महाभारतकाल में भी आयुर्वेद का पर्याप्त विकास हुआ। महाभारत के अनुसार प्राचीन समय में चार प्रकार के वैद्य हुआ करते थे–विषवैद्य, शल्यवैद्य, रोगवैद्य, कृत्याहारवैद्य। इसके साथ ही भारत के परवर्ती युग में भी शारीरिक चिकित्सा की प्रतिष्ठा सुश्रुत ने की है। सुश्रुत ने शल्यचिकित्सा का उपयोग युद्धभूमि में माना है।

गुप्तकालीन आयुर्वेद का प्रत्यक्ष प्रमाण वाग्भट्ट के अष्टाङ्ग-संग्रह नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है।[5] अष्टाङ्ग-संग्रह में शारीरिक चिकित्सा और शल्यकर्म सम्बन्धी अनेक नवीन प्रयोग मिलते हैं। गुप्तयुग में वृक्ष सम्बन्धी आयुर्वेद तथा पशु चिकित्सा सम्बन्धी प्रकरण उपलब्ध हैं।

भारतीय चिकित्सापद्धति की सर्वोत्कृष्टता को विदेशी विद्वानों ने भी प्रमाणित किया है। विलियम हण्टर महोदय का कहना है कि भारतीय आयुर्वेद में विज्ञान का सर्वांगीण अन्तर्भाव हुआ है। इसी प्रकार मैक्डॉनल ने भी लिखा है कि नाक के कट जाने पर फिर मांस का प्रत्यारोपण नाक की रचना करने की विधि आधुनिक युग में यूरोप ने भारत से ही सीखा।

---

1. ऋग्वेद 1. 116 16, 1.24, 9, 2.33.4,7
2. ऋग्वेद 1.24.9
3. ऋग्वेद 10.97.15
4. अथर्ववेद 5.41
5. अष्टाङ्ग संग्रह।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में आयुर्वेद-विज्ञान का विकास शनैः शनैः उन्नत अवस्था में होता रहा। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक युग की चिकित्सापद्धति है।

भौतिक विज्ञान

वैदिक युग से ही भौतिक विज्ञान का प्रादुर्भाव हो गया था। पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्रायें, प्रकृति, पुरुष आदि इन सबसे युक्त पञ्चभौतिक जगत् में भूतों का अध्ययन करना मानव के लिये संस्कृति के आदिकाल से ही अपेक्षित रहा है। भूतों की सिद्धि के विना मानवों का पशुता की कोटि से ऊपर उठना कठिन है। भूतों का पशुओं से भिन्न विधि से उपयोग करने की दिशा में विज्ञान ही एकमात्र सहायक हो सकती है। जगत् के तथ्य को जानने के लिए भौतिक-विज्ञान का विशेष महत्त्व है। भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से दार्शनिकों का परमाणु-सम्बन्धी अनुसन्धान अद्वितीय है। वैशेषिकदर्शन तथा जैनदर्शन ने परमाणुओं को शाश्वत माना है। दार्शनिकों का मानना है कि शब्द, तेज और ताप में गतिशीलता है।

प्राचीन वैज्ञानिकों के अनुसार भौतिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत अनेक तत्त्वों का अन्वेषण सुप्रतिष्ठित हो चुका था। यथा—सूर्य के ताप से सारे जगत् का ताप सम्भव है। प्रकाश के प्रक्षेप, विक्षेप और उत्पेक्ष आदि का ज्ञान परिपक्व अवस्था में था। शब्द की गति के लिये वैज्ञानिकों ने वायु और आकाश को प्रतिष्ठित किया।

चुम्बक का ज्ञान भारतीय वैज्ञानिकों को यूरोपीय वैज्ञानिकों से बहुत पहले हो गया था। इसी ज्ञान के बल पर भोज ने जलयान-निर्माण के प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि जलयान बनाते समय उसके तल के काष्ठ फलकों को सम्बद्ध करने के लिये लोहा प्रयोग में नहीं लाना चाहिये। उमास्वाती ने भी विद्युत् से सम्बन्धित भौतिक विज्ञान के अनेक अनुसन्धानों का सङ्केत किया है। गुप्तयुग में भी वराह मिहिर ने भी जल बरसाने बाले मेघों के लक्षणों को निर्धारित किया है।

रसायनविज्ञान

रसायन विज्ञान का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही हो गया था। अथर्ववेद में औषधियों के अनेक रासायनिक प्रयोग उल्लिखित है। रसायन के प्रारम्भिक आचार्यों में महर्षि पतञ्जलि सुप्रसिद्ध है। परवर्ती युग में गुप्तकालीन शासन-काल में रसायन-विज्ञान की विशेष प्रगति हुई।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी विषप्रयोग, बुभुक्षा-विवरण आदि प्रकरणों में अनेक वस्तुओं के मिश्रण का रासायनिक प्रयोग कर अनेक प्रकार की औषधियों के निर्माण की विधियाँ उल्लिखित हैं। अर्थशास्त्र में धातुओं के शोधन की विविध विधियाँ दी गई हैं, जैसे सोने

को गलाकर तिहाई भाग रंग देने से पीतवर्ण का हो जाता है। अन्य मिश्रण को मिला देने पर सोने का रंग मूंग के समान, कृष्णवर्ण का हो सकता था।

नागार्जुन के रत्नसागर में भी रासायनिक द्रव्यों के शोधन, रूपपरिवर्तन आदि विषयों का प्रतिपादन मिलता है। रसरत्नाकर में रत्नों को गलाने की विधि दी गई है। पारद के रस सम्बन्ध की विधि रसरत्नाकर में मिलती है, जैसे–

जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पञ्चलवणानि कटुत्रयं च।
शिग्रूदकं सुरभिसूरणकन्दमेभिः सम्मर्दितो रसनृपश्चरतेष्टलोहान्॥[6]

यशोधर ने भी सोना बनाने की विधि को उल्लेखित किया है। यशोधर ने इस विधि को हेम-क्रिया का नाम दिया। यशोधर ने कहा है–'दृष्टः प्रत्यययोगोऽयं कथितो नात्र संशयः' अर्थात् सोना बनते हुये देखा है। अत एव ऐसे प्रयोगों पर सन्देह नहीं करना चाहिए।

प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक रासायनिक प्रयोग देखने को मिलते हैं और आज के युग में ऐसे प्रयोग सार्थक सिद्ध हो रहे हैं।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति विज्ञान का प्रादुर्भाव भी वैदिक युग में हो गया था। वैदिक ऋषियों को वनस्पति जगत् के प्रति पर्याप्त अभिरुचि थी, क्योंकि वनस्पतियों के अध्ययन की आवश्यकता आयुर्वेद की दृष्टि से आवश्यक थी। ऋग्वेद के अनुसार–

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीव चातनः॥[7]

वनस्पति-विज्ञान के विकास का मुख्य कारण था कृषि कार्य। आर्य और आर्येत्तर वर्ग के लोगों का प्रारम्भिक युग से ही कृषि कार्य करने के प्रति अत्यधिक रुचि थी। वैदिक युग में कृषि विज्ञान की इतनी अधिक उन्नति हो चुकी थी कि आज के युग में भी ग्रामीण इलाकों में उससे आगे नहीं बढ़ी।

उपनिषदों में भी वनस्पति की तुलना मानव शरीर के अङ्गों से की गई है। इसके अनुसार पुरुष के रोम पत्ते हैं, मानव की त्वचा के समान ही वनस्पति की छाल है, त्वचा के

---

6. रसरत्नाकर 3.1
7. ऋग्वेद 10.97.6

काटने से जैसे रक्त निकलता है, वैसे ही वृक्षों के काटने पर रस निकलता है, मानव शरीर में जैसे हड्डी मांस होता है, ऐसे ही वृक्षों पर गूदा, काष्ठ आदि रहते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिर ने उपवन-विद्या के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रयोगों के निर्देश किये हैं। वराहमिहिर का मानना था कि पौधे साधारण ऋतु के साथ-साथ अन्य ऋतु में भी फल देने की शक्ति रखते हैं।

दर्शनों में भी वनस्पति-विज्ञान का परिचय मिलता है। दर्शनशास्त्र में उल्लिखित है कि पौधों का जन्म, मृत्यु, निद्रा, जागरण, रोग, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि का परस्पर आदान-प्रदान होता है। इसी तरह पौधों का क्रमिक विकास, शैशव, यौवन, सोना-जागना, सङ्कोच, रोग आदि तत्त्व सम्भव होते हैं।

विमानविज्ञान

वैदिक साहित्य में विमान-विज्ञान का प्रादुर्भाव भी हो गया था, क्योंकि प्राचीन देवताओं के विषय में उल्लिखित है कि वे अपने-अपने वाहनों पर बैठकर आकाशलोक में भ्रमण किया करते थे। प्राचीन भारत में विमान बनते थे या नहीं इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन यह बात भी सत्य है कि प्राचीन भारतीयों को विमान का प्रत्यक्ष ज्ञान कभी न कभी अवश्य था। रामायण में भी उल्लेख है कि रावण की राजधानी में अनेकों विमान थे। रामायण के पुष्पक विमान का नाम प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार महाभारत में भी उल्लिखित है कि देवताओं के विमानों का निर्माण विश्वकर्मा करते थे। कालिदास जैसे महाकवि ने भी अपने काव्यों में विमान-यात्रा का वर्णन किया है। शिशुपाल के भ्राता शाल्व ने भी युद्ध के लिये उपयोगी सौभ नामक विमान बनवाया था। इस प्रकार के साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि कहीं न कहीं विमान-विज्ञान का कारण रूप प्रतिष्ठित रहा है।

किन्हीं ग्रन्थों में विमान-विज्ञान की रचना करने में सहायक सामाग्री उपलब्ध होती है। समराङ्गणसूत्र में विमान बनाने की विधि का उल्लेख मिलता है। भारद्वाज ने अपने ग्रन्थ 'यन्त्रसर्वस्व' में विमान सम्बन्धी रहस्यों को बताया है, इन्हीं साहित्यिक ग्रन्थों की विधियों की सहायता से एक विमान 1890 मे बम्बई में बनाया भी गया और जो कि सफल भी रहा।

ज्योतिष विज्ञान

दिन, मास, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु आदि की प्रवृत्ति का ज्ञान ही ज्योतिष-विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। याज्ञिक विधि-विधानों का भी ज्योतिष से विशेष सम्बन्ध है। वैदिक युग से ही

नक्षत्र-विद्या का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता था।[8] ज्योतिषशास्त्र का अस्तित्व हम वेदों में सर्वत्र पाते हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्रों के लिए देवतत्त्व रूप में स्तुतिपरक ऋचायें गाई गई हैं। वैदिक यज्ञों को सम्पन्न कराने की विधियाँ तथा उसके ऋतु, दिन, लग्न आदि के शुभ-अशुभ आदि का ज्ञान रखने के कारण ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य होने से आगे चलकर षड्वेदाङ्गों में स्वतन्त्र स्थान पा सका।

वैदिक संहिताओं से बढ़कर उनके व्याख्या ग्रन्थ ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ज्योतिष के विभिन्न अङ्गों पर विस्तृत विवेचन मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में जहाँ छः ऋतुओं का वर्णन है, वहीं शतपथ-ब्राह्मण में पाँच ऋतुओं की गणना की गई है।[9] उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन भी द्वादश मास को दृष्टि में रखकर किया गया है।

रामायण तथा महाभारतकालीन समय तक ज्योतिष का विकास बहुत आगे तक बढ़ गया था। महाभारत में जैसे पाँडवों के वनवास की अवधि की परिसीमन करने के लिए जब दुर्योधन ने यह प्रश्न भीष्म के सम्मुख रखा तो भीष्म पितामह ने दुर्योधन से कहा कि समय के बढ़ने तथा नक्षत्रों के हटने से प्रति पाँचवें वर्ष दो अधिमास होते हैं। मेरी जानकारी के अनुसार पाँडवों को तेरह वर्ष पाँच मास और बारह दिन अधिक हो गये हैं।[10]

कल्पसूत्रों में भी ज्योतिष विषयक ज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। 'गृह्यसूत्र' में मास तथा उनके नक्षत्र आदि का विस्तृत वर्णन है। श्रौतसूत्र में वसन्त मास से मासों का आरम्भ माना जाता है।[11] इसी प्रकार 'पारस्करसूत्र' में भी विवाह से सम्बन्धित शुभ-अशुभ फल का विवेचन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार निरुक्तकार यास्क तथा पाणिनि-व्याकरण में ज्योतिष का विकास चरम सीमा पर हुआ है। जैन साहित्य में ज्योतिष का विकास उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। सामान्यतः ज्योतिष का काल-विभाजन इस प्रकार है–

1. अन्ध युगःआदिकाल से 10000 ई0पू0 तक
2. उदयकालः10000 ई0पू0 से 500 ई0पू0 तक

---

8. छान्दोग्य उपनिषद् 7.1.2.7.1.4 आदि।
9. एतरेय ब्राह्मण 1/11
10. महाभारत, विराट पर्व, 42, 3–4
11. श्रौतसूत्र 4/12

3. आदिकाल:500 ई0पू0 से 500 ई0 तक
4. पूर्वमध्यकाल:500 ई0पू0 से 1000 ई0 तक
5. उत्तरमध्यकाल:1000 ई0पू0 से 1600 ई0 तक
6. आधुनिक काल:1600 ई0 से अब तक।

इस प्रकार ज्योतिष विज्ञान निरन्तर प्रगति को प्राप्त होता गया। लेकिन भारतीय ज्योतिष की पूर्वागत प्रगति मध्य युग में आकर अवरुद्ध हो गई थी। इसका कारण यवन साम्राज्य की प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं। यवन साम्राज्य द्वारा किये गए आक्रमणों से भारतीय ज्योतिष को कुछ क्षति पहुँची, वहीं दूसरी ओर यवन-हिन्दू ज्योतिष ने मिलकर सर्वथा नवीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा भी की।

आधुनिक युग में पाश्चात्त्य ज्योतिष के माध्यम से भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, जिसे हम भारतीय ज्योतिष का नवयुग कह सकते हैं। इस युग में एक ओर तो ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकायें लिखी गईं और दूसरी ओर पाश्चात्त्य विज्ञान के सम्पर्क से अनेक नये प्रयोग किये गए। इस प्रकार ज्योतिष से आगे चलकर गणित विज्ञान का विकास हुआ। भारतीय अङ्कगणना का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है, जिसके अनुसार 1 से 10 तक की क्रमिक गणना के पश्चात् 11 का एकादश रूप प्रतिष्ठित है।[12] उस समय षष्टि सहस्र की गणना कल्पनीय थी। वैदिक युग में अंकगणित का उपयोग छन्द रचना और वैदिक मन्त्रों के विधि प्रकार के पाठों में विशेष रूप से होता था। उपनिषद् आदि ग्रन्थों में अनेक राशिविद्याओं का उल्लेख मिलता है। वैदिक युग से ही गणित अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। इस प्रकार आगे चलकर रेखागणित तथा बीजगणित का विकास हुआ।

---

12. ऋग्वेद 1.7.9.10, 5.45

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0184-192)

भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्रों की प्रासङ्गिकता

डॉ. उमा जैन
रीडर संस्कृत-विभाग,
मु.ला.एण्ड जय ना. खे. गर्ल्स कॉलिज(पी.जी.),
सहारनपुर

प्राचीन काल में शस्त्रों और अस्त्रों दोनों का प्रयोग होता था। शस्त्र और अस्त्र दोनों के लिए आयुध शब्द का प्रयोग होता था। आयुध में अंगरक्षक शस्त्र कवच, शिरस्त्राण आदि को भी ग्रहण किया जाता था, जो शरीर की रक्षा के लिए योद्धा पहना करते थे। शस्त्र और अस्त्र का लक्षण शुक्रनीति में बताया है कि जो यन्त्र या मन्त्र के द्वारा फेंका जाता है, उसे अस्त्र (Missile) कहते हैं। जो हाथ में लेकर चलाये या छोड़े जाते हैं, उन्हें शस्त्र कहते हैं जैसे–असि (तलवार), कुन्त (भाला) आदि।[1]

अस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं–एक मन्त्र शक्ति से छोड़े जाने वाले (मान्त्रिक, दिव्य अस्त्र) और दूसरे यान्त्रिक किसी यन्त्र बन्दूक, तोप आदि से छोड़े जाने वाले या नालिक–नली वाले यन्त्र से छोड़े जाने वाले।[2] नालिक के भी दो भेद हैं–1. लघुनालिक–छोटी नली वाले बन्दूक आदि। 2. बृहत् नालिक–बड़ी नली वाले, तोपादि। बृहत् नालिक का छेद बड़ा होता है और यह बहुत दूर तक के लक्ष्य को भेदन करता है। और यह तोपगाड़ी आदि के द्वारा ढोया जाता है।[3] अन्य रूप में अस्त्र के दो प्रकार बताये गये थे–दिव्य और मानवीय। दिव्य अस्त्र दिव्य गुणों से युक्त होते थे। इनका प्रभाव असाधारण होता था। ये प्रायः प्राकृतिक शक्तिजन्य होते थे, जैसे–विद्युत्, अग्नि, जल, वायु आदि अथवा किसी देवता या ऋषि के द्वारा प्रदत्त होते थे, जैसे–ब्रह्मास्त्र, आथर्वण अस्त्र आदि।

आग्नेयास्त्र–आग्नेयास्त्र को अग्निबाण भी कहते थे। इसके प्रयोग से जलती हुई आग चारों ओर फैल जाती थी। यह अग्नि के साथ धुँआ भी फेंकता था, जिससे शत्रु बेहोश हो जाते थे। अथर्ववेद में आग्नेय अस्त्र के प्रयोग से शत्रु बेहोश हो गए और इन्द्र ने उनके सिर काट

---

1. अग्निपुराण अथर्व0248
2. शुक्रनीति 4.7.181 अग्नि0अथर्व0248
3. शुक्र04.7.184–188

लिये।[4] आग्नेयास्त्र के प्रयोग से शत्रु अन्धे हो गए और उनकी सेना पराजित हो गई।[5] **वायव्य अस्त्र** को मारुत अस्त्र भी कहते हैं। इसके प्रयोग से आँधी जैसी तेज हवा चलने लगती थी और शत्रु किङ्कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाते थे। अथर्ववेद में इन्द्र ने इस अस्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को इधर–उधर भगा दिया था।[6] **पाशुपत अस्त्र** को रुद्रास्त्र भी कहते हैं। पशुपति या रुद्र शिव का नाम है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्रास्त्र से बचाव की प्रार्थना की गई है।[7] **ब्रह्मास्त्र** ब्रह्मा की शक्ति माना जाता था। इसकी प्रहारक शक्ति असाधारण थी। इसकी कोई काट नहीं थी। अथर्ववेद में इसको सबसे बड़ा प्रहारक तथा घोर तपस्या का फल कहा गया है।[8] **आथर्वण अस्त्र** अथर्वन् ऋषि द्वारा आविष्कृत था। इसका प्रयोग चोर, हिंसक, पशु आदि पर किया जाता था। वे जिस स्थिति में होते थे, उसी स्थिति में ही रह जाते थे और फिर पकड़ कर मार दिये जाते थे।[9] **वारुण अस्त्र** ये नागपाश अर्थात् साँप की तरह मनुष्य को लिपट कर बाँध लेते हैं और पापी को जकड़कर मार देते हैं।[10] रामायण में लक्ष्मण को बेहोश करने के लिए मेघनाद ने इन्हीं का प्रयोग किया था। **संमोहन अस्त्र** के प्रयोग से शत्रुसेना को बेहोश करके उसके हाथ काट दिये जाते थे।[11] अग्नि और इन्द्र के लिए कहा गया है कि वे शत्रुसेना को बेहोश कर दे।[12] **तामस अस्त्र** यह अश्रुगैस (Tear Gas) के तुल्य होता था। वह चारों ओर धुँआ फैला देता था। जिससे चारों ओर अन्धेरा हो जाता था और शत्रुसेना का दम घुटने लगता था, किङ्कर्त्तव्य विमूढ़ होकर इधर–उधर भागने लगते थे। इससे शत्रुसेना के सैनिक एक–दूसरे को पहचान नहीं पाते थे।[13] अथर्ववेद का कथन है कि त्रिषन्धि सेनापति ने इस अस्त्र के प्रयोग से सारी शत्रुसेना को नष्ट कर दिया था।[14] **वज्र** यह इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है। यह अयस् अर्थात्

---

4. अथर्ववेद 6.67.2
5. वही 3.1.6
6. वही 3.1.5
7. ऋग्वेद 2.33.14, यजुर्वेद 16.50
8. अथर्व05.6.9
9. वही 4.3.7
10. ऋग्01.24.15, यजु012.12, अथर्व04.16.6
11. अथर्व03.1.1
12. वही 3.1.5, 3.1.6
13. वही 3.2.6, यजु017.47
14. वही 11.10.19

उत्तम कोटि के लोहे या फौलाद का बना हुआ होता था। इसमें तीन सन्धि होती थी, अतः इसे 'त्रिषन्धि' कहते थे। इन्द्र के वज्र को हजार नोक वाला बताया गया है।[15]

आचार्य कौटिल्य ने यन्त्रों द्वारा चालित अस्त्रों को दो वर्गों में रखा है–स्थितयन्त्र और चलयन्त्र। स्थितयन्त्र वे अस्त्र हैं, जिनकी मशीन एक स्थान पर रहती है और उनसे शत्रु पर गोला आदि बरसाया जाता है। जैसे–**सर्वतोभद्र** इसको मशीनगन भी कहते हैं। **जामदग्न्य** यह बाण बरसाने वाला बड़ा यन्त्र है। **विश्वासघाती** दुर्ग के द्वार पर खाई के ऊपर रखी तिरछी मशीन। जिसके स्पर्श से मृत्यु हो जाती थी। **पर्यन्यक** यह एक वारुण अस्त्र है। आग बुझाने वाला यन्त्र, दमकल या फायर बिग्रेड।[16] चलयन्त्र वे अस्त्र हैं, जिनकी मशीन इधर–उधर ले जायी जा सकती है। जैसे–**पाञ्चालिक** यह बढ़िया लकड़ी पर लगा तेज धार वाला यन्त्र है। यह दुर्ग के बाहर जल के अन्दर रखा जाता था इसको जल–सुरंग (Mine) कह सकते हैं। **शतघ्नी** किले की दीवार पर रखा स्तम्भ की आकृति का यन्त्र है, जिससे एक साथ सौ मनुष्यों को मारा जा सकता था। **त्रिशूल** वर्तमान त्रिशूल की आकृति का अस्त्र।[17] आचार्य कौटिल्य ने हलमुख अस्त्रों का भी उल्लेख किया है। जिनका अग्रभाग हल की नोंक के तुल्य तीक्ष्ण होता था। इनमें से कुछ इस प्रकार है–शक्ति चार हाथ लम्बा, कनेर के पत्ते के समान आकृति वाला लोहे का अस्त्र है। **प्रास** 24 अङ्गुल लम्बा, दुधार बीच में मूठ और दोनों ओर मुड़े हुए कोण वाला होता है। **कुन्त** 10 हाथ लम्बा भाला, **शूल** तेज नोंक वाला आयुध, **तोमर** 4 से 5 हाथ लम्बा, बाण के समान तीक्ष्ण किनारे वाला आयुध होता है।[18]

मानवीय अस्त्रों का प्रयोग वीर योद्धा अपनी विजय एवं शत्रु की पराजय हेतु युद्ध में प्रयोग करते हैं। और आयुध को अपना प्रिय भाई या सम्बन्धी बताते हैं।[19] आयुध उनका जीवन रक्षक है, अतः वह उनके प्राणों के तुल्य प्रिय होता है। प्राचीन काल में अस्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार के आयुधों का प्रयोग होता था। मानव अर्थात् वीर योद्धाओं द्वारा प्रयुक्त अस्त्र–शस्त्र इस प्रकार है–**धनुष–बाण** आर्यों का महत्त्वपूर्ण अस्त्र था। धनुष से शत्रुओं का संहार किया जाता

---

15. वही 20.30.3, 11.10.3, ऋग्01.80.12
16. कौटिल्यार्थ0पृ0209
17. वही पृ0209
18. वही पृ0210
19. ऋग्08.6.3

था, युद्ध में विजयश्री मिलती थी। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में शिव के धनुष का नाम पिनाक है।[20] धनुर्धारी के लिए धानुष्क, धन्वामिन्, इषुमत्, धन्वासह शब्द आये हैं।[21] धनुष ताल (ताड़) से, चाप (बाँस) से, दाख (बढ़िया लकड़ी) से, शार्ङ्ग (सींग) से बनाए जाते थे। धनुष को कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण भी कहते हैं।[22] धनुष के दोनों छोर पर मजबूत डोरी बाँधी जाती थी, जो (डोरी, ज्या) गाय या बैल के स्नायु से निर्मित ताँत से बनती थी।[23] इस डोरी को कान तक खींचकर बाण चलाया जाता था। योद्धा धनुष की टङ्कार से आनन्दित होते थे।[24] बाण के लिए बाण, इषु, शर, शरव्या, शल्य, सायक आदि शब्द प्रयुक्त हुए है। बाण का अगला भाग लोहे, हाथी दाँत या अन्य कठोर पदार्थ से बनता था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि बहुत बड़े बाणों में सौ तक नोंक होती थी और उनमें सैकड़ों पंख लगे होते थे।[25] जिससे एक साथ सैकड़ों और हजारों शत्रुओं को मारा जा सकता था। ऐसा बाण रुद्र के पास था[26] रामायण–महाभारत में भी इन बाणों का प्रयोग हुआ है। कुछ बाण शत्रुवध के लिए विष में बुझे हुए भी होते थे, जिनसे शत्रु जीवित बच नहीं पाता था।

प्राचीन भारत में धनुष–बाण का अत्यन्त प्रचलन था। सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि उस समय भी ताँबें और पीतल के बाणाग्र (Arrow-heads) बनते थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से तीन या चार सहस्र वर्ष पूर्व धनुष–बाण का प्रचलन था। शनैः शनैः नए शतघ्नी (बन्दूक) आदि आग्नेयास्त्रों के आने से इसका क्रमशः ह्रास हो गया। पुरातत्त्ववेताओं के आधार पर शीला झुनझुनवाला ने बाणों के कुछ विशिष्ट प्रकार बताये हैं–**अरमुख**–दाँतेदार मुख वाला तीर। **क्षुरप्र** तीक्ष्ण धार वाली पत्ती के मुँह वाला तीर। **सूचीमुख**–सुई की तरह नोक वाला तिकोना तीर। **भल्ल** दो मुहानों पर भाले की नोक वाला तीर। यह सीने को छलनी करने के काम आता था। **अर्धचन्द्र**–आधे चन्द्रमा की तरह दो तीखी नोकदार पत्तियों वाला तीर, सीधा गले को निशाना बनाया करता था। **गोपुच्छ**–गाय की पूँछ

---

20. यजु016.51
21. वही 16.22, ऋग्01.127.3
22. कौटिल्यार्थ0पृ0804
23. ऋग् 6.75.11
24. यजु029.4016.9, ऋग्06.75.3
25. ऋग्08.77.7
26. अथर्व011.2.12, 4.6

जैसी तीखी बहुधारा वाला गोलाकार तीर। **वत्सदन्त**–बैल के दाँत जैसा तीर, जो शत्रु के धनुष का नाश करता था। **द्विभल्ल**–दो ओर से नोकदार तीर। **कर्णिक**–फूल के उद्गम स्थान जैसा तीर शत्रु के लोहे के कवच का नाश करता था। **ककतुन्द**–अट्टहास करता हुआ तीर।[27]

इषुधि, तूणीर–युद्ध के समय बाणों को रखने के लिए एक विशेष प्रकार का खोल प्रयोग में लाया जाता था, इसे इषुधि, तूणीर, निषङ्ग या तरकश कहते हैं। इसे पीठ पर बाँधकर लटकाया जाता था। निषङ्ग शब्द का अर्थ बाण और खड्ग भी है।[28] **सृक**–निघण्टु के अनुसार सृक का अर्थ वज्र है।[29] यह एक क्षेप्य अर्थात् फेंका जाने वाला अस्त्र है। सृक शब्द का मुख्य प्रयोग भाले के लिए है। इसका बाण अर्थ भी लिया गया है। यजुर्वेद में रुद्र को **'सृकहस्ताः'** हाथ में भाला लिये हुए कहा गया है।[30] **हेति, मेनि**–ये दोनों शब्द क्षेप्य अस्त्र (Missile) के लिए प्रयुक्त होते थे। क्षेप्य अस्त्रों में बाण, भाला वज्र सभी आते हैं।[31] **प्रहेति**–हेति का ही उत्कृष्ट रूप प्रहेति है। प्रक्षेप्य अस्त्रों में जो अधिक भयंकर और प्रभावकारी अस्त्र होते थे, उन्हें प्रहेति कहते थे। यजुर्वेद में हेति और प्रहेति दोनों शब्दों का साथ–साथ प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि प्रहेति अत्यधिक घातक अस्त्र होता था।[32] **अशनि**–वज्र के लिए है। यह जलता हुआ प्रक्षेपास्त्र है, जिससे शत्रु को भस्म कर दिया जाता है। इन्द्र शत्रुओं को नष्ट करने के लिए इस तीक्ष्ण अशनि (वज्र) का प्रयोग करता था।[33] **ऋष्टि**–यह एक विशेष प्रकार का भाला है। इसका प्रयोग विशेष रूप से मरुद् आदि देवता किया करते थे। वे इसको कन्धे पर लेकर चलते थे। इन्द्र, अग्नि आदि देव शत्रुनाश के लिए इसका प्रयोग करते थे।[34] ऋष्टि के समान ही **रम्भिणी** होता था। **सीसे की गोली**–चोर और डाकुओं को मारने के लिए प्रयोग में लायी जाती थी। इसे वेद में सीस कहा गया है।[35]

---

27. शीला झुनझुनवाला, भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र, पृ018
28. ऋग् 6.75.5, यजु016.61
29. निघण्टु 2.20
30. यजु016.61
31. ऋग्010.89.12, अथर्व012.5.16
32. यजु015.15.19
33. ऋग्01.80.13, 1.54.4
34. वही 5.54.11, अथर्व08.3.7
35. अथर्व01.16.4, 1.16.2

प्राचीन समय में प्रयुक्त होने वाले शस्त्र हैं **असि**–यह तलवार है जो पक्के लोहे की बनती थी। चोर, डाकुओं और शत्रुओं को नष्ट करने के लिए इसका उपयोग होता था।[36] आचार्य कौटिल्य ने तीन प्रकार के खड्गों (तलवारों) का वर्णन किया है–**निस्त्रिंश**–जिसका अग्रभाग काफी टेढ़ा हो। **मण्डलाग्र**–जिसका अग्रभाग कुछ गोलाकार हो। **असियष्टि**–जिसका आकार पतंला एवं लम्बा हो।[37] **स्वधिति**–यह तलवार या छुरी है। पशुओं को मारने के लिए इसका प्रयोग होता था।[38] एक मन्त्र में छुरे को स्वधिति (तलवार) का पुत्र बताया गया है।[39] **परशु**–यह चौड़ी धार की कुल्हाड़ी है। बढ़िया लोहे से बनायी जाती थी, जो अतितीक्ष्ण शत्रुनाशक आयुध है।[40] परशुराम का यह विशिष्ट आयुध था। यह जंगलों आदि को काटने के भी काम आता था। कौटिल्य ने इसको क्षुरवर्ग के आयुधों में रखा है।[41] गुप्तकाल तक इसका उपयोग युद्ध के लिए किया गया है। **वाशी**–परशु या वसूले के तुल्य शस्त्र है। यह लोहे का बना होता था और मरुद् देवों का प्रिय शस्त्र था।[42] **क्षुर**–चौड़े फाल वाले छुरे के तुल्य अतितीक्ष्ण शस्त्र था।[43]

कृपाण–ऋग्वेद में कृपाणयुद्ध का वर्णन है। यह वर्तमान कृपाण के तुल्य शस्त्र था। इन्द्र ने कृपाणयुद्ध के लिए अपने सैनिकों को प्रोत्साहित किया था।[44] **शूल**–यह नुकीला लोहे का बना हुआ शस्त्र था, जो सीधा पेट आदि में मारा जाता था। इसके लगते ही उस स्थान से खून बहने लगता था।[45] **उल्का**–यह जलता हुआ आग का गोला होता था। जो एक साथ चारों ओर शत्रुओं पर फेंककर उनको जला सकता था।[46] **सूना**–यह भाले या शूल के तुल्य तीक्ष्ण

---

36. वही 10.1.20
37. कौटिल्यार्थ0पृ0211
38. ऋग्01.162.18
39. यजु03.63
40. ऋग् 1.127.3
41. कौटिल्यार्थ0पृ0211
42. ऋग्08.29.3
43. वही 1.166.10
44. वही 10.22.10
45. वही 1.162.11
46. वही 4.4.2, यजु013.10

नोक वाला शस्त्र था।[47] **कर्त**–यह आरा या नुकीले शस्त्र के लिए है। इसके कटने से अङ्ग कट जाता था और घाव हो जाता था।[48] कौटिल्य ने परशु कुठार आदि के साथ क्रकच (आरा) का भी क्षुर–तुल्य आयुधों में उल्लेख किया है।[49] **समुद्रफेन** का भी आयुध के रूप में उल्लेख किया है। इन्द्र ने समुद्रफेन से नमुचि (वृत्रासुर) को मारा था।[50] समुद्रफेन जमकर पत्थर के तुल्य कठोर हो जाता था। सम्भवत: इसका पत्थर के रूप में ही प्रयोग होता था। इसके फेंकने से शत्रु का सिर आदि फट जाता था। **दण्ड**–डंडा या लाठी है। इसका शस्त्र के रूप में उल्लेख मिलता है।[51] यह सुरक्षा का सबसे सरल और सुलभ साधन था। इसको हर व्यक्ति अपने साथ लेकर चल भी सकता है आधुनिक काल में भी सुरक्षा साधन के रूप में इसका उपयोग होता है। कौटिल्य ने शतघ्नी (तोप), चक्र और मशीनों के साथ आयुधों में दण्ड (डंडा या लाठी) का भी उल्लेख किया है।[52]

अश्मन्, पाषाण–का भी प्राचीन समय में आयुध के रूप में प्रयोग हुआ है। यह यन्त्र, गुलेल, गोफन (ढेल बांस) या हाथ से शत्रुओं पर फेंककर उन्हें मारा जाता था। ऋग्वेद में कहा है कि पत्थरों की चोट से शत्रुओं को नष्ट करो। पत्थरों से राक्षसों को मारो। पत्थरों की चोट से हमारी रक्षा करो।[53] मौर्यकाल में भी पाषाण की आयुध रूप में गणना की जाती थी। आचार्य कौटिल्य ने भी यन्त्रपाषाण, गोष्फण पाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी (गुलेल से पत्थर फेंकना) दृषद् (चट्टान या बड़े पत्थर को प्रहारार्थ फेंकना) को शस्त्र के रूप में वर्णित किया है।[54] वर्तमान में भी शत्रुओं से स्वरक्षा हेतु पाषाण का प्रयोग किया जाता है। **धूमाक्षी**–यह अस्त्र शत्रु पर फेंका जाता था और उसके प्रयोग से शत्रुओं की आँखों में धुँआ घुस जाता था। इसे धूमास्त्र कह सकते हैं। इसके घोर शब्द से कान बहरे हो जाते थे या फट जाते थे।[55] आचार्य कौटिल्य

---

47. अथर्व020.126.18
48. वही 4.12.7
49. कौटिल्यार्थ पृ0211
50. ऋग्08.14.13, यजु019.71, अथर्व020.29.3, साम0211
51. अथर्व05.5.4, ऋग्07.33.6
52. कौटिल्यार्थ0पृ0109
53. ऋग्07.105.5, 17, 1.162.2, अथर्व01.26.1
54. कौटिल्यार्थ0पृ0211
55. अथर्व011.10.7

ने अर्थशास्त्र के 14वें अधिकरण के औपनिषदिक प्रकरण में रासायनिक द्रव्यों की सहायता से शत्रुओं को हानि पहुँचाने का वर्णन किया है। इसमें विविध औषधियों और द्रव्यों के प्रयोग से शत्रुओं को पीड़ित कर नष्ट करने का वर्णन किया है।[56] **विस्फोटक, उदार**–तैत्तिरीय-ब्राह्मण में भयंकर ज्वाला के लिए उदार शब्द का प्रयोग आया है। इससे स्पष्ट है कि विस्फोटकों से भयंकर ज्वालाएँ निकलती थीं।[57] श्री सातवलेकर ने उदार अस्त्रों को बताते हुए कहा है कि ये शत्रु पर दूर से फेंके जाते थे और वे शत्रु पर गिरकर उसको भयंकर रूप से नष्ट कर देते थे।[58] आधुनिक काल में प्रायः इन विस्फोटक अस्त्रों का प्रयोग करके स्थान–स्थान पर शत्रु एवं उसकी सम्पत्ति को नष्ट किया जा रहा है। यह कार्य प्रत्यक्ष रूप से कम, परोक्ष रूप से अधिक किया जा रहा है।

युद्ध में विभिन्न अङ्गों की रक्षा के लिए कतिपय अङ्गरक्षकों की आवश्यकता होती थी इसके लिए जो आयुध बनाए गए थे, उन्हें अङ्गरक्षक आयुध कहते थे। इनसे शरीर के मर्मस्थलों की रक्षा होती थी। आचार्य कौटिल्य ने विभिन्न अङ्गरक्षकों का कथन किया है–**लोहजाल**–सिर से पैर तक ढकने का लोहे का आवरण। **लोहजालिका**–सिर को छोड़कर अन्य अङ्गों को ढकने वाला लोहे का आवरण। **लोहकवच**–केवल छाती और पीठ को ढकने वाला। **सूत्रकङ्कट**–पक्के सूत का बना कवच, कमर से कूल्हे तक की रक्षा के लिए। **शिरस्त्राण**–भंयकर भंयकर सिर की रक्षा के लिए लोहे का टोप। **कण्ठत्राण**–गले की रक्षा के लिए लोहे की जाली। **कूर्पास**–आधी बाँहों को ढकने वाला आवरण। **कंचुक**–घटुनों तक शरीर को ढकने वाला जालीदार लोहे का आवरण। **वारबाण**–सारे शरीर को ढकने वाला हल्का जालीदार आवरण। **पट्ट**–विना बाँह का, लोहे के अतिरिक्त किसी अन्य धातु का बना कवच। **नागोदरिका**--हाथ की अङ्गुलियाँ की रक्षा के लिए हल्का लोहे का दस्ताना। इसी प्रकार मुँह आदि को ढकने के लिए चमड़े आदि के अन्य आवरण बनते थे।[59]

प्राचीन भारत में उपर्युक्त सभी शस्त्रास्त्रों का प्रयोग अपनी और अपने देश की रक्षा के लिए किया जाता था। समय की गति के साथ–साथ शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में भी परिवर्तन आया है। आधुनिककाल में शत्रुसेना का मुकाबला युद्धभूमि में आमने–सामने खड़े होकर धनुष–बाण,

---

56. कौटिल्यार्थ0पृ0905, 906
57. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.2.8
58. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, अथर्व0सुबोधभाष्य, कांड 11, पृ0113–114
59. कौटिल्यार्थ0पृ0211–212 (गैरोला संस्करण)

तलवार, परशु आदि के द्वारा नहीं किया जाता है और न ही मानव में इतनी सामर्थ्य है कि वह मन्त्रपूरित (आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्रादि) अस्त्रों को प्राप्त कर उनका प्रयोग करे। अत एव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए राष्ट्रसीमा पर तोप, बन्दूक, रिवाल्वर तथा मशीनगन के प्रयोग से शत्रुओं को नष्ट कर विजय प्राप्त करते हैं और विस्फोटक अणु–परमाणु तथा मिसाइलों के प्रयोग से शत्रु देश की सम्पदा को नष्ट करने का भरसक प्रयास किया जाता है। इस प्रकार शस्त्रास्त्र के प्रयोग से शत्रु को नष्ट कर देश में सुख-शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित की जाती है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0193-198)

प्राचीन भारत में अवगुण्ठन (परदा) प्रथा

डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आधुनिक भारत के कुछ क्षेत्रो में अभी भी परदा प्रथा का प्रचलन पाया जाता है। लेकिन प्राचीन भारत में यह प्रथा प्रचलित थी अथवा नहीं और यदि थी तो उसका स्वरूप क्या था, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वैदिक साहित्य में इस प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त थी और सामाजिक तथा धार्मिक समारोहों एवं उत्सवों तथा सभा एवं गोष्ठियों में विना किसी प्रतिबन्ध के भाग लेती थीं और विचारों का आदान–प्रदान करती थीं। ऐसे समारोहों तथा उत्सवों में उनका सम्मिलित होना स्वागतयोग्य माना जाता था।[1] ऋग्वेद में एक स्थान पर सभी आगुन्तकों से नव–विवाहिता वधू को देखने तथा उसे आशीर्वाद देने के लिए कहा गया है।[2] वहीं दूसरे स्थान पर कामना की गई है कि वधू जनसभाओं में आत्मविश्वास के साथ बोल सके।[3] इसी प्रकार ऋग्वेद के विवाहसूक्त के अनुसार नव–विवाहिता सास, श्वसुर, ननद और देवरों पर सम्राज्ञी बनकर जाती है, स्पष्टतः यह उनकी स्वतन्त्रता की ओर सङ्केत करता है।[4] स्वयंवर की प्रथा का प्रचलन भी यह स्पष्ट करता है कि इस समय स्त्रियों पर परदा का कोई बन्धन नहीं था।[5] किन्तु इसका मतलब यह नहीं था कि स्त्रियाँ अपने वरिष्ठ जनों से लज्जा नहीं करती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुत्रवधुएँ प्रायः श्वसुर से लजाती हुई अपने को छिपाकर चली जाती थीं।[6] इस प्रकार इन

---

1. ऋग्वेद, 1.124.8, 1.67.3, अथर्ववेद 14.1.21, ऐतरेय-ब्राह्मण 5.1–4
2. ऋग्वेद, 10.89.33, 'सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।'
3. ऋग्वेद, 10.85.26, 'वशिनी त्वं विदथमा वदासि।'
4. ऋग्वेद, 10.85.46, 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। '
5. ऐतरेय-ब्राह्मण, 4.7
6. ऐतरेय-ब्राह्मण, 12.11

उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में परदा प्रथा का कोई प्रचलन नहीं था, किन्तु फिर भी भारतीय नारी से स्त्री सुलभ शालीनता और संयमित आचरण की अपेक्षा की जाती थी।[7]

सूत्रसाहित्य में जहाँ अनेक सामाजिक प्रतिबन्धों और रीति–रिवाजों का वर्णन मिलता है वहाँ पर भी परदा प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर कहा गया है कि जब वर वधू को लेकर अपने गाँव लौटता था तो प्रत्येक ठहरने के स्थान पर वह लोगों को दिखाई जाती थी।[8] इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में परदा प्रथा का कोई प्रचलन नहीं था। निरुक्त के अनुसार कभी–कभी स्त्रियाँ अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के लिए न्यायालयों के समक्ष जाती थीं।[9] यह स्पष्ट करता है कि स्त्रियों पर किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं था। पाणिनि ने राजदरबार की स्त्रियों के लिए **'असूर्यम्पश्या'**[10] (जिन्हें सूर्य भी न देख सके) शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु काणे के अनुसार इससे केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि रानियाँ अन्तःपुर में ही निवास करती थीं और वे राजप्रासादों की सीमा से बाहर जन–साधारण के समक्ष नहीं जाती थीं।[11]

यद्यपि महाकाव्यों में इस प्रथा के प्रचलन का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु कतिपय स्थलों पर इससे सम्बन्धित कुछ उद्धरण अवश्य मिलते हैं। महाभारत में एक स्थान पर कौरवों की रक्षा में द्रौपदी का कथन है कि हमने सुना है कि प्राचीन काल में लोग विवाहिता स्त्रियों को सार्वजनिक सभाओं में नहीं ले जाते थे, किन्तु चिरकाल से चली आ रही इस परम्परा को आज तोड़ दिया गया है।[12] वहीं दूसरे स्थान पर महायुद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र के वनगमन पर कहा गया है कि जिन स्त्रियों को सूर्य और चन्द्रमा ने भी कभी नहीं देखा था वे राजमार्ग पर चल रही हैं।[13] इसी प्रकार रामायण में राम के वन जाने के अवसर पर सीता के विषय में कहा गया है कि जिस सीता को आकाश में विचरण करने वाले पक्षी भी नहीं देख

---

7. ऋग्वेद, 8.43.19
8. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1.8.7
9. निरुक्त 3.5
10. अष्टा03.2.36
11. पी0वी0काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ0336
12. महाभारत, 2.69.9
13. महाभारत, 15.16.13

सकते थे, आज उसी को राजमार्ग पर चलने वाले सभी लोग देख रहे हैं।[14] लेकिन साथ ही दूसरे स्थान पर कहा गया है कि विपत्ति के समय, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ तथा विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ उन्मुक्त होकर अथवा विना आवरण के बाहर आ सकती थीं।[15] इन उद्धरणों के आधार पर काणे का मत है कि यद्यपि यह सही है कि राजपरिवारों तथा उच्चकुलों की स्त्रियाँ कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर बाहर नहीं निकलती थीं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे परदा करती थीं, क्योंकि महाकाव्यों में कहीं पर भी सामान्य युवतियों, राजकुमारियों एवं रानियों यथा कुन्ती, गान्धारी, माद्री, द्रौपदी, उत्तरा, कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी तथा सीता आदि स्त्रियों का अपने मुख पर अवगुण्ठन करने का उल्लेख नहीं मिलता।[16] इसी प्रकार महाकाव्यों में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि स्त्रियाँ विना परदे के स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करती थीं। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था।

बौद्धग्रन्थों में यद्यपि राजघरानों तथा उच्चवर्ण की कतिपय स्त्रियों के आवरणयुक्त रथों में विचरण करने का उल्लेख मिलता है,[17] परन्तु वे स्त्रियाँ प्राय: अवगुण्ठनहीन ही रहती थीं और विना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक मन्त्रियों और अधिकारियों से वार्ता करती थीं। ललितविस्तार के अनुसार जब बुद्ध की पत्नी गोपा अपने पति के साथ जा रही थी तो उससे कहा गया कि वह अवगुण्ठन डाल ले। इस पर उसने कहा कि जब उसका शरीर संयत है, इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं, आचार राग–रहित है और मन प्रसन्न है तब कृत्रिम आवरण से क्या लाभ?[18] जनसाधारण में भी इस प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। जातकों में अनेक स्थलों पर स्त्रियों के सार्वजनिक स्थानों एवं समारोहों में स्वतन्त्रतापूर्वक सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है।[19] जैनग्रन्थों के अनुसार भी स्त्रियाँ विना किसी प्रतिबन्ध के बाहर आ–जा सकती थीं और सार्वजनिक उत्सवों तथा समारोहों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग ले सकती थीं। स्वयं श्रेणिक आदि

---

14. रामायण 2.33.8
15. रामायण, 2.116.28
16. पी0वी0काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ0336
17. जातक, 5.439, 6.31, 33, 167, 498
18. ललितविस्तार, 'गोपा शाक्यकन्या न कञ्चन दृष्ट्वा वदनं दापयति स्म।। ये कामा संवृत्ता गुप्तेन्द्रिया सुनिवृताश्च मनः प्रसन्ना किं तद्वशानां वदनं प्रतिच्छादयित्वा।।
19. जातक, 2.26, 4.4906.328

राजाओं का अपने अन्तःपुर की रानियों के साथ महावीर के दर्शन करने जाने का उल्लेख जैनग्रन्थों में मिलता है।[20] कतिपय ग्रन्थों में स्त्रियों के पुरुषवेश धारण कर अस्त्र–शस्त्र ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है।[21]

मौर्य तथा मौर्योत्तर काल में भी इस प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कौटिल्य, मेगस्थनीज तथा अशोक के अभिलेखों में कहीं पर भी इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं मिलता है। रानी के विषय में मेगस्थनीज का कथन है कि वह परदा नहीं करती थी। वह हाथी तथा घोड़े की सवारी करती थी तथा राजा के साथ शिकार पर जाती थी।[22] मनु, याज्ञवल्क्य तथा अन्य स्मृतिकारों ने भी तत्कालीन समाज व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करते समय कहीं पर भी इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार मौर्योत्तर कालीन स्तूपों यथा सांची, भरहुत तथा बोधगया जिनके प्रवेशद्वारों पर कलाकारों ने विभिन्न सामाजिक दृश्यों को चित्रित किया है, में कहीं पर भी स्त्रियों के परदे का अङ्कन नहीं मिलता है। जबकि यदि समाज में इस प्रथा का प्रचलन होता तो वे इसका अङ्कन अवश्य करते।

किन्तु गुप्त तथा गुप्तोत्तर/कालीन ग्रन्थों में इस प्रथा के प्रचलन के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। भास के नाटक **'स्वप्नवासवदत्तम्'** के अनुसार उदयन की महारानी पद्मावती ने वधू बनने से पूर्व कभी परदा नहीं किया था, किन्तु विवाह के पश्चात् उसने परदा करना प्रारम्भ किया। वह नहीं चाहती थी कि उसका पति उसकी उपस्थिति में उज्जयिनी के राजदूत का स्वागत करे। लेकिन महाराज उदयन ने उसके प्रतिरोध को अनसुना कर दिया और कहा कि अगर लोगों के सामने महारानी ने परदा किया तो लोग इस कार्य को अनुचित कहेंगे।[23] कालिदास ने भी इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अनुसार जब शकुन्तला दुष्यन्त की राजसभा में गयी तो उसने अपना मुँह आवरण से ढक लिया था जिसे आवश्यकता पड़ने पर मुख से हटा दिया गया था।[24] मृच्छकटिकम् के अनुसार वधू बनते ही

---

20. औपपातिकसूत्र, 33.144
21. विपाकसूत्र 3.23
22. मैक्रिण्डल, एशियेण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ071
23. स्वप्नवासवदत्ता, 6, 'राजा कलप्रदर्शना हे जनं कलत्रदर्शनात्परिहरतीति बहुदोषमुत्पादयति। तस्मादास्यताम्।।'
24. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/13, 'का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।'

वसन्तसेना ने अपना मुँह आवरण से ढक लिया था।[25] माघ जैसे साहित्यकार ने लिखा है कि नारी के मुख पर से अकस्मात् जब अवगुण्ठन हटता था, तब एक क्षण के लिए उसके सौन्दर्य की छवि दिख जाती थी।[26] हर्षचरितम् के अनुसार जब राजकुमारी राज्यश्री अपने भावी पति ग्रहवर्मा के समक्ष गयी तो उसने अपने मुख पर लाल रंग का परिधान डाल रखा था।[27] इसी प्रकार कादम्बरी में भी बाण ने पत्रलेखा को लाल रंग के अवगुण्ठन के साथ चित्रित किया है। स्वयं सम्राट् हर्ष ने लिखा है कि यद्यपि कन्याओं के लिए परदे की कोई आवश्यकता नहीं है, लेकिन विवाह के बाद इसकी अपेक्षा की जाती है।[28] किन्तु इसके साथ–साथ हर्षचरितम् तथा कादम्बरी में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि स्त्रियाँ विना परदे के स्वच्छन्तापूर्वक विचरण करती थीं। अल्तेकर[29] के अनुसार इन साहित्यिक उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से कुछ राजकुलों तथा उच्च सम्भ्रान्त परिवारों में स्त्रियों के लिए परदा करना अच्छा समझा जाने लगा था। परन्तु साधारण जनता में इस प्रथा का कोई प्रचलन नहीं था। गुप्तकाल की अनेक स्त्री प्रतिमाओं तथा अजन्ता, बाघ तथा एलोरा के चित्रों में भी कहीं पर अवगुण्ठन का कोई अङ्कन नहीं मिलता है। जबकि अनेक दृश्यों में स्त्री और पुरुषों के सम्मिलित झुण्ड सड़कों पर जाते हुए या सार्वजनिक देवस्थानों में पूजा में सम्मिलित होते हुए चित्रित और उत्कीर्ण किये गए हैं। फिर इसी कालावधि के चीनी यात्रियों फाह्मायान, ह्वेनत्सांग तथा ईत्सिंग ने भी अपने वर्णन में इस प्रथा का उल्लेख नहीं किया है। यदि वे इसे देखते तो इसका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि यह उनके लिए एक विस्मयकारी घटना होती।

पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों, भवभूति के नाटकों महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव में कहीं पर भी स्त्रियों के परदे का उल्लेख नहीं मिलता है। बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर जैसे ग्यारहवीं सदी के कथासाहित्य में भी स्त्री के परदे का स्पष्ट सङ्केत नहीं मिलता। अपितु कथासरित्सागर में रत्नप्रभा नामक स्त्री परदे का विरोध करते हुए कहती है कि

---

25. मृच्छकटिकम्, 10
26. 'स्रष्टावगुण्ठनपटाः क्षणं लक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुमीक्षते स्म।'
27. हर्षचरित, उच्छ्वास, 4, 'तत्र–अरुणाशुकावगुंठितमुखी वधूमपश्यत्।'
28. नागानन्द, अंक।, 'विदूषक–भो वयस्क कन्यका खल्वेषा तत्किं न प्रेक्षावहे। राजा को दोषः। निर्दोषदर्शना हि कन्यका।। '
29. ए. एस. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0169

हे आर्यपुत्र! अन्त:पुर की स्त्रियों की रक्षा इस प्रकार हो, यह उचित नहीं। स्त्रियों पर परदा और नियन्त्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नहीं है। सच्चरित्रा स्त्रियाँ अपने सदाचरण से ही सुरक्षित रहती हैं और किसी पदार्थ से नहीं।[30] कल्हण की राजतरंगिणी में भी परदे का कोई उल्लेख नहीं मिलता हैं। दसवीं सदी के लेखक अबूजैद के अनुसार भारतीय राजाओं की राजसभा में स्त्रियाँ विदेशी लोगों की उपस्थिति में विना परदे के उपस्थित होती हैं।[31] अलबरुनी ने भी इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया है।

इस प्रकार इन समस्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजपरिवारों तथा अभिजात वर्ग की स्त्रियों में तो कुछ विशेष अवसरों पर परदा प्रथा का प्रचलन था, लेकिन साधारण जनता में इसका प्रचलन नहीं था। ऐसा प्रतीत होता हैं कि साधारण जनता में इसका प्रचलन मुस्लिम आक्रमणों के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप जब भारतीय स्त्रियों की सुरक्षा एक गम्भीर समस्या बन गयी तो हिन्दू स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए परदे की प्रथा अपनाई। कालान्तर में यह प्रथा हिन्दू समाज का प्रधान अङ्ग बन गई और इसे सम्मान तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाने लगा। लेकिन फिर भी यह प्रथा सारे भारत में प्रचलित नहीं हुई, यह केवल उत्तर भारत तक ही सीमित रही। दक्षिणापत्य की स्त्रियों ने कभी भी इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया।

---

30. कथासरित्सागर, 36/6–7 राजपुत्र प्रसङ्गेन वदामि तव तच्छृणु, रक्षा चान्त:पुरेष्वीदृङ् नैवमेतत्मतं मम। नीतिमात्रमहं मन्ये स्त्रीणां रक्षा नियन्त्रणम्।
31. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज होल्ड बाई इट्स आन हिस्टारियन्स, भाग 1, पृ011

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0199-207)

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध

डॉ0 (श्रीमती) आशारानी वर्मा
वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग,
नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भोगाँव (मैनपुरी)

राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का विषय न केवल आधुनिक काल में, अपितु प्राचीन काल में भी महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय आचार्यों ने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है और इससे सम्बन्धित नीतियों का निर्धारण भी किया है। प्राचीन काल में विश्व का राजनीतिक परिदृश्य आज जैसा नहीं था, इसलिये उस समय के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को अन्तर्राज्यीय ही कहना उचित होगा। भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का विकास एकाएक ही नहीं हुआ, वरन् कई कालखण्डों में हुआ। प्रथम सोपान का आरम्भ वैदिक काल मानें तो उस समय राज्य छोटे-छोटे और जनजातीय होते थे। उनके बीच युद्ध, मैत्री और सन्धियों का क्रम चलता ही रहता था। दाशराज्ञ युद्ध[1] इसी प्रकार का उदाहरण है। इस प्रकार उस समय शान्ति और युद्धकाल-दोनों तरह के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हुआ। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विकास का दूसरा सोपान या कालखण्ड महाकाव्य युग में आया। इस समय धर्मयुद्ध की धारणा का विकास हुआ तथा राजसूय, अश्वमेध जैसे यज्ञों द्वारा भी राज्यों के आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन व संशोधन हुआ। वास्तव में ये यज्ञ एक ओर तो राजसत्ता का प्रदर्शन करते थे तो दूसरी ओर राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिये आधार भी तैयार करते थे। रामायण में वर्णन है कि राम ने निषादराज गुह और वानरराज सुग्रीव से मित्रता सम्बन्ध स्थापित किये तथा राक्षसराज रावण से युद्ध कर उसे परास्त किया। महाभारत में भी इस प्रकार की अनेक घटनायें मिलती हैं। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विकास का अगला सोपान मौर्य साम्राजय की स्थापना के कुछ पूर्व से मानना चाहिये, जिसमें भारतीय राजाओं के कुछ विदेशी राजाओं से भी सम्बन्ध स्थापित हुए। विकास के चौथे सोपान में बौद्ध एवं जैनधर्म के प्रभाव के फलस्वरूप अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इस प्रकार के सम्बन्धों के विकास का पाँचवाँ सोपान पौराणिक युग था और अन्तिम सोपान में गुप्तवंशीय शासनकाल आता है।

---

1. ऋग्वेद-7.83.8

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों की दृष्टि से राज्यों के पद और उनकी स्थितियाँ

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के नियमन की दृष्टि से राज्यों के पदों और उनकी स्थितियों का पर्याप्त महत्त्व था। तत्कालीन सभी राज्यसत्ता और शक्तियों का एक ही मात्रा में प्रयोग नहीं करते थे। कौटिल्य के अनुसार राज्यों को उनकी स्थिति के अनुसार तीन श्रेणियों में रखा जा सकता था–सम, हीन और बलवान्।[2] कुछ राज्य पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होते थे, उनके शासक सम्राट्, विराट्, एकराट् आदि कहलाते थे। ऋग्वेद में अनेकशः इन विशेषणों का प्रयोग हुआ है। हीन राज्य उन्हें कहा जाता था, जो आंशिक प्रभुसत्ता का उपयोग करते थे। सामन्त और करद राजा इसी श्रेणी में आते थे। ये सम्राट् या अधिपति को भेंट आदि देते थे और शक्तिशाली राजा इनकी रक्षा करते थे। अतः आधुनिक भाषा में इन्हें रक्षित राज्य कह सकते हैं। समराज्य उन्हें कह सकते हैं, जो स्वतन्त्र थे और जिन्हें पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त थी।

शान्तिकाल में प्रायः प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य, स्वराज्य का उपभोग करता था। भारत के अधिकांश शासक शान्ति की नीति का पालन करते थे और उचित कारण होने पर ही युद्ध करते थे। जो राजा दिग्विजय हेतु निकलते थे, उनका लक्ष्य राज्यों का उन्मूलन नहीं होता था। वे अन्य राजाओं को विजित तो करते थे पर उनका मूलोच्छेद नहीं करते थे।

मण्डल सिद्धान्त

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक महत्त्वपूर्ण आधार मण्डल सिद्धान्त था। कौटिल्य ने राज्यों के मध्य शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिये मण्डल सिद्धान्त पर बल दिया है। उन्होंने इस आधार पर राज्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है–अरि, मित्र, मध्यम और उदासीन।[3]

(अ) अरिराज्य–राज्य की सीमा से मिले हुये राज्य अरिराज्य माने गये हैं।[4] कौटिल्य अरिराज्य को तीन भागों में विभक्त करते हैं–प्रकृति, सहज और कृत्रिम। प्रकृति अरि का तात्पर्य है कि ये राज्य स्वाभाविक रूप से शत्रु बन जाते हैं। सहज अरि वे होते हैं जो राजा के स्वयं के वंश के ही होते हैं। पारस्परिक ईर्ष्या और वैमनस्य ऐसी शत्रुता का कारण बनते हैं। कृत्रिम शत्रु वे हैं जो अपनी ओर से शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते हैं।[5]

---

2. समहीनज्यायसां गुणाभिनिवेशः–कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ0. 20
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र 6.2.14–21
4. तस्य समन्ततो मण्डीभूताः भूम्यन्तरा अरिप्रकृतिः। कौ0अथर्व06.2.13
5. भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः। कौ0अथर्व0 6.2.19

(ब) मित्रराज्य–मित्रराज्य भी तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम–वे राज्य, जो एक राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले अरि राज्य की दूसरी सीमा पर स्थित हैं, इन्हें प्रकृति मित्रराज्य कहा जाता है। द्वितीय राजा के माता–पिता से सम्बन्धित राज्य सहज मित्रराज्य हैं। तीसरे, जब कोई राजा अन्य राजा का आश्रय ग्रहण करता है तो वह उसका कृत्रिम मित्र बन जाता है।[6]

(स) मध्यमराज्य–मध्यमराज्य विजिगीषु और अरिराज्य के मध्य स्थित होता है। अतः वह दोनों को सहायता देने या निग्रह करने की सामर्थ्य रखता है।[7]

(द) उदासीनराज्य–कौटिल्य ने उदासीनराज्य की संज्ञा उस राज्य को दी है जो विजिगीषु, अरि और मध्यम राज्यों के परे हैं। इसमें इतनी क्षमता होती है कि यदि वह चाहे तो अन्य तीनों राज्यों पर पृथक्–पृथक् या साथ अनुग्रह या निग्रह कर सकता है।[8]

कौटिल्य के मतानुसार–राज्य मण्डल में बारह राजा होते हैं–विजिगीषु, पड़ोसी राजा अर्थात् शत्रु, विजिगीषु का मित्र, अरिमित्र, मित्र का मित्र, अरि के मित्र का मित्र, पार्ष्णिग्राह (पीछे का शत्रु), आक्रन्द (पीछे का मित्र), पार्ष्णिग्राहासार (पार्ष्णिग्रह का मित्र), आक्रन्दासार (आक्रन्द का मित्र), मध्यम और उदासीन।[9] अधिकांश आचार्यों का मानना है कि प्रत्येक शासक को देशकाल और परिस्थिति के अनुरूप मण्डलों की रचना करते हुए राज्य सम्बन्धों का सञ्चालन करना चाहिए।

अन्तर्राज्यीय नीति के उपाय–मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्तर्राज्यीय नीति का सञ्चालन जिन साधनों से किया जाता था, उन्हें आचार्यों ने विभिन्न उपयों का नाम दिया है। मनु के अनुसार विजिगीषु राजा को मण्डल की विभिन्न प्रकृतियों के प्रति चार उपायों–साम, दाम, दण्ड और भेद से व्यवहार करना चाहिये।[10] कौटिल्य भी इन उपायों के पक्षधर हैं।[11]

---

6. भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातापितृसम्बद्धं सहजं धनजीवितहेतोराश्रितं कृत्रिमम्। कौ0अथर्व06.2.20
7. अरिविजिगीष्वोर्भूम्यन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः। कौ0अथर्व06.2.21
8. अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषु मध्यमानामनुग्रहसमर्थो निग्रहे च संहतानामुदासीनः।–कौ0अथर्व0–6.2.22
9. कौ0अथर्व0–पृ0461–462
10. मनुस्मृति 7.159
11. पुत्रभातृबन्धुषु सामदानाभ्यां सिद्धिरनुरूपा दानभेदाभ्यां सामन्ताटविक्रेषु भेददण्डाभ्याम्। कौ0अथर्व0 9.7.77

(क) साम–साम का अर्थ है अपने व्यवहार से दूसरों को प्रसन्न या सन्तुष्ट करके उन्हें अपने वशीभूत या अनुकूल बनाना। साम दो प्रकार का होता है तथ्य अर्थात् सच्चे हृदय से किया हुआ और अतथ्य अर्थात् बनावटी। साम का प्रयोग करते हुये किये गए उपकारों का वर्णन किया जाता है, सम्बन्धों की प्राचीनता दिखाई जाती है और भविष्य में किये जाने वाले अच्छे कार्यों का वर्णन किया जाता है।

(ख) दाम–शत्रुओं और बिगड़े हुये मित्रों को शान्त करने का यह एक दूसरा उपाय है। दान के भी विविध रूप हैं जैसे कि किसी वस्तु को ज्यों का त्यों लौटा देना, शत्रु के अधिकार में आई भूमि का अनुमोदन करना, स्वयं दान ग्रहण करना, शत्रु राज्य की लूट से प्राप्त धन को उसी के पास छोड़ देना आदि।

(ग) भेद–भेद का तात्पर्य है किसी युक्ति से सङ्घटित शत्रु में फूट डाल देना। इसमें विभिन्न साधनों से शत्रुओं के बीच स्थित स्नेहभाव को दूर किया जा सकता है, उनके बीच सङ्घर्ष पैदा किंया जा सकता है और थोड़ी ही सेना द्वारा शत्रु को परास्त किया जा सकता है। इसीलिये राजनीति के विद्वान् भेद की प्रशंसा करते हैं।

(घ) दण्ड–दण्ड का अर्थ है–दमन करना। यदि शत्रु अन्य तीनों उपायों द्वारा वश में न आये तो दण्ड का प्रयोग करना चाहिये। लेकिन अदण्डनीय को दण्ड देने से और दण्डनीय को दण्ड न देने से राजा अपना राज्य खो बैठता है। कामन्दक ने प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार के दण्ड माने हैं प्रजा के विरुद्ध द्वेषी व्यक्ति को प्रकाश दण्ड देना चाहिये, किन्तु जिनको दण्ड देने से प्रजा उत्तेजित हो जाती हो उनको अप्रकाश दण्ड देना चाहिये।

किस उपाय का प्रयोग किस शत्रु के साथ किया जाये, इस सम्बन्ध में शुक्र का कहना है कि शत्रु के लिये पहले साम का प्रयोग किया जाए, फिर दाम का। भेद का प्रयोग तो कभी भी किया जा सकता है। दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिये, जब प्राण सङ्कट में हों।[12] प्रबल शत्रु के साथ साम का और दाम का प्रयोग करना चाहिये, यहाँ दण्ड और भेद का प्रयोग स्वयं के लिये हानिकारक हो सकता है। अपने से अधिक बलवान् के लिये साम और भेद का प्रयोग करना चाहिये। समान शक्ति वाले राजा के साथ भेद और दण्ड का प्रयोग उचित है। अपने से कम शक्ति वाले के साथ केवल दण्ड का प्रयोग करना चाहिये।[13]

---

12. सामैव प्रथमं श्रेष्ठं दानं तु तदनन्तरम्। सर्वदा भेदनं शत्रोर्दण्डनं प्राणसंशये।। शुक्रनीति 4.37
13. प्रबलेऽरौ सामदाने सामभेदोऽधिके स्मृतौ। भेददण्डौ समे कार्यौ दण्डः [illegible]हीनके।। शु0नी04.38

षाड्गुण्य नीति

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के निर्वाह के लिये भारतीय आचार्यों ने षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के सम्बन्धों के क्षेत्र में उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त षाड्गुण्य नीति का भी बड़ा महत्त्व है। षाड्गुण्य नीति में ये छः गुण होते हैं–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा संश्रय।[14] महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि शासक को इन छः गुणों पर निरन्तर ध्यान देना चाहिये।[15] राजाओं के जय-पराजय इसी पर आधारित हैं। महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि सभी ग्रन्थों में इन गुणों का उल्लेख किया गया है।

(क) सन्धि–आचार्य ने प्रथम गुण सन्धि को माना है।[16] प्रतिज्ञापूर्वक किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध स्थापित करना सन्धि है। आचार्य शुक्र ने उस क्रिया को सन्धि माना है जिसके सम्पन्न करने से वैरी भी मित्र बन जाता है।[17] कौटिल्य के मतानुसार सन्धियाँ कई प्रकार की होती हैं, जब विजित राजा विजेता की इच्छानुसार धन देकर आत्मसमर्पण करता है तो उसे **आमिष** सन्धि कहते हैं।[18] सेनापति और राजकुमार को शत्रु के सम्मुख उपस्थित करके जो सन्धि की जाती है, उसे **पुरुषान्तर** सन्धि कहते हैं।[19] इसी का दूसरा नाम **आत्मरक्षण** सन्धि भी है। धन देकर बन्धन में पड़े हुये अमात्य आदि को जिससे छुड़ाया जाये उसे **परिक्रमा सन्धि** कहते हैं।[20] इनके अतिरिक्त **उपग्रह**,[21] **अत्यय**,[22] **सुवर्ण**,[23]

---

14. सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणाश्चिन्तयेत्सदा।। मनुस्मृति 7.160
15. षाड्गुण्या गुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत्। महाभारत, शान्तिपर्व 57.16
16. तत्रपणबन्धः सन्धिः। कौ0अथर्व07.1.5
17. याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां याति वैरिषु। सा क्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेत् तां तु यत्नतः।। शु0नी0 चतुर्थाध्याय, सेनानिरूपणप्रकरण–233
18. स्वयं सङ्ख्यातदण्डेन दण्डस्य विभेवन वा। उपस्थातव्यमित्येष सन्धिरात्मामिषो मतः।। कौ0अथर्व0 7.3.22
19. सेनापतिः कुमाराभ्यामुपस्थातव्यमित्ययम्। पुरुषान्तरसन्धिः स्यान्नात्मनेत्यात्मरक्षणः।। कौ0अथर्व0 7.3.23
20. कोशदानेन शेषाणां प्रकृतीनां विमोक्षणम्। परिक्रयो भवेत्सन्धिः स एव च यथासुखम्।। कौ0अथर्व0 7.3.26
21. कौ0अथर्व07.3.28
22. कौ0अथर्व07.3.28
23. कौ0अथर्व07.3.29

कपाल[24] आदि अनेक प्रकार की सन्धियों पर विस्तार से विचार किया गया है। भीष्म का मत है कि अपनी हीनता या दुर्बलता का पता शत्रु को लगे, इससे पहले ही उससे सन्धि कर लेनी चाहिये और यदि सन्धि द्वारा कोई कार्य सिद्ध हो तो सन्धि करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये।[25]

(ख) विग्रह–विग्रह का अर्थ है युद्ध। कौटिल्य के मतानुसार शक्तिशाली राजा को हीन राज्य के विरुद्ध विग्रह की नीति का आश्रय लेना चाहिये। महाभारत में भीष्म कहते हैं कि विरोध करने वालों से डटकर युद्ध करना चाहिये। दूसरों से युद्ध न करने वाले राजा को पृथ्वी उस प्रकार निगल जाती है, जैसे साँप बिल में रहने वाले चूहों को निगल जाता है।[26] इस विषय में मनु का मानना है कि जब राजा यह अनुभव करे कि उसकी मन्त्री, कोष आदि सभी प्रकृतियाँ स्वस्थ हैं तथा वह स्वयं उत्साहपूर्ण है तो उसे विग्रह गुण का आश्रय लेना चाहिये।[27] विग्रह के दो रूप हैं, पहला विग्रह स्वयंकृत होता है, यह शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये स्वयं किया जाता है। दूसरा विग्रह मित्रों के अर्थ हेतु किया जाता है। आचार्य शुक्र का परामर्श है कि बुद्धिमान् राजा सन्धि किये हुये भी शत्रु का विश्वास न करे, क्योंकि प्राचीन काल में सन्धि करके भी इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला था।[28] अतः जो राजा विपत्ति में पड़कर भी अभ्युदय चाहता हो वह देश, काल तथा बल उचित होने पर युद्ध आरम्भ कर दे।[29]

(ग) यान–अभ्युदय के लिये आक्रमण करना यान है।[30] आचार्य शुक्र ने यान के पाँच भेद बताये हैं विग्रहयान, सन्धाययान, संभूययान, प्रसङ्गयान, उपेक्षायान।[31] जब कोई राजा किसी

---

24. कौ0अथर्व07.3.30
25. अज्ञायमाने हीनत्वे सन्धिं कुर्यात् परेण वै। लिप्सुर्वा कञ्चिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः। महाभारत, शान्तिपर्व 69.15
26. महाभारत, शान्तिपर्व, 57.3, 4
27. मनुस्मृति–7.170
28. राजा न गच्छेद् विश्वासं सन्धितोऽपि हि बुद्धिमान्। अद्रोहसमयं कृत्वा वृत्रमिन्द्रः पुराऽवधीत्।। शु0नी0चतुर्थाध्याय, सेनानिरूपणप्रकरण–247
29. आपन्नोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा। देशकालबलोपेतः प्रारभेत च विग्रहम्।। शु0नी0 चतुर्थाध्याय, सेनानिरूपणप्रकरण–248
30. (क) अभ्युच्चयो यानम्। कौ0अथर्व07.1.9 (ख) शत्रुनाशार्थ गमनं यानं स्वाभीष्टये।– शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0235

प्रकार का विग्रह का कारण दिखाकर जबरदस्ती शत्रु पर चढ़ाई कर दे तो उसे विग्रहयान कहते हैं।[32] विजय की कामना रखने वाले राजा द्वारा शत्रु के पूर्व और अपने पृष्ठ भाग स्थित राज्य के साथ सन्धि करके आक्रमण करने को सन्धाययान कहते हैं।[33] अकेला राजा यदि शक्ति से युक्त युद्ध करने में कुशल सामन्तों के साथ एकत्र होकर किसी पर चढ़ाई करे तो उसे संभूययान कहते हैं।[34] किसी पर आक्रमण करने को संधाययान कहते हैं।[35] किसी पर आक्रमण के लिये चल चुकने पर, यदि मार्ग में अन्यत्र चढ़ाई करने को चल दे तो उसे प्रसङ्गयान कहते हैं।[35] जो शत्रु स्वयं विपन्नावस्था में पड़ गया हो उसकी यदि उपेक्षा करके उसके ऊपर चढ़ाई कर दी जाये तो उसे उपेक्षायान कहते हैं। कौटिल्य का मत है कि एक राजा को यानगुण का आश्रय उस समय लेना चाहिये, जब उसने अपने राज्य की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया है और वह सोचता हो कि शत्रु का नाश उस पर आक्रमण किये विना नहीं किया जा सकता।

(घ) आसन–आसन का अर्थ है तटस्थता। जब एक राजा परिस्थिति की प्रतीक्षा करके मौन बैठा रहता है तो वह आसन नीति का पालन कर रहा होता है।[37] मनु ने दो प्रकार के आसन का वर्णन किया है। प्रथम–राजा अपने पूर्व कर्म के कारण क्षीण होकर बैठ जाता है। दूसरे–वह अपने मित्र के अनुरोध पर चुप होकर बैठ जाता है।[38] उनका मानना है कि इस नीति

---

31. विगृह्य संधाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः। उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम्।। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0253
32. विगृह्य याति हि यदा सर्वा त्रिगणान् बलात्। विगृह्य यानं यानज्ञैस्तदाचार्यैः प्रचक्ष्यते।। शु0नी0चतुर्थ 254
33. सन्धायान्यत्र यात्रायां पार्ष्णिग्राहेण शत्रुणा। सन्धायगमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः।। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0256
34. शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्रा0–257
35. शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्रा0–258
36. (क) उपेक्षणमासनम्। कौ0अथर्व0 7.1.8 (ख) स्वरक्षणं शुत्रनाशो भवेत् स्थानात्तदासनम्। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0235
37. क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्।।–मनुस्मृति 7.166
38. यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च। तदाऽऽसीत् प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्।। –मनुस्मृति 7.172

का अवलम्बन उस समय करना चाहिये जब कि राजा अपनी सेना की दृष्टि से कमजोर हो।[39] इस नीति को अपनाकर वह शत्रु को शान्त रखेगा तथा स्वयं तैयारी के लिये समय प्राप्त कर लेगा।

(ङ) संश्रय–इसका अर्थ है आश्रय।[40] आचार्य शुक्र ने संश्रय अथवा आश्रय का लक्षण बताते हुये लिखा है कि जब बलवान् शत्रु द्वारा राज्य उछिन्न कर दिया जाये या उसका अवसर आ जाये और प्रतिकार का कोई उपाय न दिखाई दे तो राजा का आश्रय लेकर शत्रु को परास्त करे।[41] मनु ने इस नीति के भी दो भेद माने हैं। प्रथम–शत्रु से पीड़ित होने पर राजा किसी अन्य राजा की शरण लेता है। द्वितीय–पीड़ित राजा सज्जनों के साथ व्यपदेशार्थ अन्य राजा की शरण लेता है।[42] कुछ आचार्यों ने अपने बलवान् शत्रु तथा अन्य किसी बलवान् राजा के प्रति किये गए आत्मसमर्पण को संश्रय गुण माना है।

(च) द्वैधीभाव–जब एक राजा अपनी सेना के कुछ अंश को किसी स्थान पर सेनापति के अधीन रखकर स्वयं कहीं और रहता है, तो यह नीति द्वैधीभाव कहलाती है।[43] इसे अपनाते हुये वह किसी के साथ सन्धि करता है तो किसी के साथ युद्ध। शुक्र का मत है कि जब राजा को समय के अनुसार अपने कार्य का उपाय निश्चित न हो तो उस समय वह काग के नेत्र के समान द्वैधीभाव का व्यवहार करे और किसी को प्रतीत न होने दे।[44] कौटिल्य ने भी एक राजा के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव बताया है।[45]

---

39. (क) परार्पणं संश्रयः। –कौ0अथर्व07.1.10 (ख) यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद् दुर्बलोऽपि स आश्रयः। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्रा0236
40. उच्छिद्यमानो बलिना निरूपायप्रतिक्रियः। कुलोद्भवं सत्यमार्यमाश्रयेत् बलोत्कटम्।। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0288
41. (क) अर्थसम्पदनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः। साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः।। मनु07. 168 (ख) मनु07.174
42. द्वैधीभावं स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मयोः। शु0नी0चतुर्थाध्याय, से0प्र0236
43. अनिश्चितोपायकार्यः समयानुचरो नृपः। द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितम्। शु0नि0चतुर्थाध्यायः से0प्रा0291
44. सन्धिविग्रहोपादनं द्वैधीभावः। कौ0अथर्व07.1.10
45. मनु07.169

संधि, विग्रह आदि गुणों के प्रयोग के अवसरों के विषय पर भी मनु ने चर्चा की है। उनका कहना है कि जब राजा देखे कि सन्धि करने से अपनी थोड़ी ही हानि होती है, परन्तु बाद में अधिक लाभ की संभावना है तो सन्धि कर ले।[46] जब राजा देखे कि समस्त प्रकृति (मन्त्री, कोष आदि) बहुत अच्छी स्थिति में है और वह अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था में है तो विग्रह करे।[47] जब राजा अपने बल को हृष्ट–पुष्ट समझे और शत्रु की दशा इसके विपरीत हो तब शत्रु के विरुद्ध यान करे।[48] जब राजा यह देखे कि उसकी सेना और साहस क्षीण दशा में है और उनके ठीक होने के लिये कुछ समय अपेक्षित है तो धीरे–धीरे शत्रु की सान्त्वना करता हुआ आसन का आश्रय ले। ऐसा करने से उसे क्षतिपूर्ति करने का अवसर मिल जायेगा।[49] जब राजा यह देखे कि शत्रु राजा अधिक बलशाली है, तब अपने बल को दो भागों में बाँटकर द्वैध का आश्रय देकर अपना कार्य साधन करे।[50]

आचार्यों ने इस बात पर बल दिया है कि शासक को अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों के विकास के लिये सामादि सभी उपायों को अपनाना चाहिये तथा अवसर के अनुसार षाड्गुण्य नीति का चयन करना चाहिये। शुक्रनीति में उल्लेख है कि अच्छे उपायों से, अच्छी योजना से साधारण व्यक्तियों के कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं फिर राजाओं के कार्य क्यों नहीं सिद्ध हो सकते। उचित उपायों को करने से शासक अपने राज्य को सुरक्षित और उन्नतिशील बना सकता है। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिये जिन उपायों और नियमों की रचना आचार्यों ने की थी, उन सभी के पीछे यह भावना थी कि राजा अपनी राजनीति का सञ्चालन इस प्रकार करे कि उसकी सार्वभौम सत्ता स्थापित हो सके। मण्डल-व्यवस्था को अपनाकर एक राजा चक्रवर्ती बन सकता था। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ये अन्तर्राज्यीय नीतियाँ केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी थीं।

---

46. मनु07.170
47. मनु07.171
48. मनु07.172
49. मनु07.174
50. मनु07.173

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0208-211)

VEDIC SURGICAL SKILL OF ANCIENT INDIA

Dr. S.K. Joshi(B.H.U.) B.A.M.S. M.D.Ay
Reader/H.O.D. Surgery
Govt. Ayurvedic College
Gurukul Kangri Haridwar

Ayurveda, the science of life and acquaintance of existence, having the same aim of relieving the sufferings is serving since immortal. The Surgery is one of the most important and difficult fields of Medical science. In eight disciplines of *Ayurveda* the *Shalya-Tantra* is significant and widely exercised in those diseases, which are not curable by the medicines. Ancient Indian Surgery exists in India from the Vedic period. In ancient India Surgery developed along with other branches of *Ayurveda*. The other disciplines also look for the assistance of *Salya-Tantra* in many places. The knowledge of Surgery is present in different places of all four Vedas. The Vedas are considered as knowledge par excellence handed down from generation to generation by a unique method of oral communication. The only available oldest treatise of surgical skill in the world is *susruta samhita*. *Susruta Samhita* is a manuscript, which covers all the aspect of medical science including, 1. *Shalya* (surgery), 2. *Shalakya* (ophthalmology and oto-Rhinolaryngology), 3. *Kayachikitsa* (Internal medicine), 4. *Bhuta-Vidya* (psychotherapy), 5. *Kaumarabhritya* (Pediatrics), 6. *Agada-Tantra* (Toxicology), 7. *Rasayana* (Rejunvation), 8. *Vajikarana* (Aphrodisiacs).

It is the *Susruta samhita* that we first come across systemic methods of arranging the surgical know-how of the older surgeons, and of collecting the scattered information of the science from the gigantic range of the Vedic literature.

In *Susruta samhita* 120 chapters are discussed under the six headings. The presentation of *Susruta Samhita* is available in a good comprehensible form of discussion between the teacher and students.

The ***Sutrasthana*** is the first section of *Susruta Samhita*. In introductory chapter there are discussions about the definition, aim, prospects, scope and limitations of surgery. Second chapter deals with the essence of induction of the student in the discipline if surgery. The syllabus is discussed in the next two chapters with the teaching program and teaching methodology in surgery. After these four chapters the real theme of surgical skill comes in existence.

Pre operative, operative and postoperative speculations with wound, incision and the first operation of an abscess are discussed. Methods for subsidence of postoperative pain are also narrated. Eight main surgical procedures are enumerated. Excision, incision, curettage, piercing, probing, extraction, canalisation and suturing are discussed extensively. Etiological factors responsible for the manifestations of a disease are discussed in the next chapter. Description of instruments is the great contribution of author. The surgical instruments are mainly categorized as blunt and sharp. There are hundred and one blunt and twenty sharp instruments. 101 blunt instruments are described

under 6 groups. Forceps, scoops, endoscopes, dilators and other rod like instruments are used for the removal of foreign bodies from the different parts of human body. ***Swastika-Ynatra*** (Cruciform instruments) are 24 in number, and 18 fingers long with wide verities of assorted grips. These instruments are similar to those of various savage animals and birds. The nomenclature of these instruments is based on their specific character similar to those of mouth and beaks of various fierce and cruel animals and birds. ***Samdansha-Yantra*** (Dissecting Forceps) are of two types, either with or without catch and 16 fingers long and used for the extraction of foreign body fixed on skin, muscle, blood vessels and ligaments. ***Tala-Yantra***(Scoops) are spoon shaped instruments used for the extraction of foreign bodies from ear, nose and sinuses. ***Nadi-Yantra***(Tubular Instruments/Endoscopes) are of several types, for many purpose and having opening at one or both ends. The concept of endoscopes (*Nadi yantra*) gave new vision to the surgeons to see inside the body for identifying the lesion. Four main functions of endoscopes are discussed as follows. 1. *Srotogatasalyodharanartha* (Removal of foreign article from the body channels). 2. *Rogadarsanartha* (Viewing the disease). 3. *Acusanartham* (Aspiration/suction). 4. *Kriyasaukaryartha* (Facilitate the operation). The concept of endoscopes is not new to the Indian surgery. Present development of endoscopic surgery is only the extension of previous knowledge. ***Shalaka-Yantra***(Road like instruments) are of several types, for many purposes with different types of ends to serve as probe, retractor, hook, swab stick and applicator. ***Upa-Yantra***(Accessory Instruments) are the things/objects used in many procedures, but they are not characteristic instruments.

After the discussion of blunt instruments next chapter deals with the 20 sharp instruments mainly used for eight surgical procedures. All about the sharp instruments is nicely presented. Experimental surgical teaching and training program is excellent and is necessary for every student of surgery. After completion of the training registration of a surgeon is mandatory. Para surgical procedures like chemical cauterization, thermal cauterization and venasection and leech application are widely used by the Ayurvedic Surgeons till date. I want to take privilege to quote the name of my respected teacher (late) Professor P.J. Deshpande and his associate fellow of department of *Shalya-Shalakya*, Institute of medical sciences, Banaras Hindu Viswavidyalaya, for their contribution in the field of anorectic surgery in the terms of *Ksara sutra chikitsa*. It is the pioneer and world wide accepted technique in the management of haemorrhoids and fistula in anon. *Susruta* was very much aware of the pathology of burn, scald and frost bite. So he has enumerated the frostbite under the chapter of burn. Leech application is another great contribution of Indians for the management of a number of diseases. Application of leeches is most delicate method of blood letting in thrombosis, inflammatory lesions and infected wounds. Haemostasis is necessary after the trauma, operation and blood letting. To check haemorrhage, there is fourfold remedy is advocated. *Susruta* has given great importance to the blood. In sixteenth chapter he laid the foundation of plastic surgery. Rhinoplasty, labioplasty and autoplastic are the great contribution of *Susruta* in the history of surgery. *Susruta* is known as father of plastic surgery, and the technique of rhinoplasty is known as Indian method of rhinoplasty in

world plastic surgery literature. Concept of inflammation and its management by the local application of poultices is the decency of the text. The swellings other than the inflammation are categorized as cysts, lymphadenitis, thyroid swelling etc. 14 types of bandages are described and art of bandaging is narrated in detail.

Management of post operative and traumatic conditions is the subject of the 19th chapter. The wound is the nucleus of surgery and definition, site of wound; types of wound, healing/delayed healing/non healing wounds or ulcers are discussed in totality. Indications of eight main surgical procedures are discussed. Apart from other surgical procedures suturing is discussed in very realistic form. Susruta gave the concept of internal suturing. The Indian surgeons knew a number of absorbable sutures. Ligaments and ants are used for the repair of intestinal perforation. This concept gave the new light to the fundamentals of present reconstructive surgery. Impacted foreign body and removal of it is discussed.

In the ***Nidanasthana***, *Susruta* has focused first on the lesions casuing pain, loss of function and deformity. Basically they are related with the different systems vitiated by *vatika* predominance. In the next chapters' haemorrhoids, urolithiasis and fistula in ano are discussed. Surgical abdominal lesions are very well informed in seventh chapter of *nidanasthana*. The diagnosis of confounded foetus, abscess, cyst, lymphadenitis, tumour, goitre, inguino-scrotal swellings and fractures is the subject of other different chapters.

The next section, *Sharirasthana* is pertaining to the anatomy of human body. The ***Sharirasthana*** of the *Susruta Samhita* is the pioneer description because of the fact that the human body is described in detail scientifically. The concept of cadaver dissection is the essence of the text. The method of dissection of human body is described first time only in the *Susruta Samhita*. Description of different body parts is rather informative. Skin, muscles, blood vessels, bones, organs of the thorax and abdomen are discussed. The concept of *marmas* is very important. These vital points should be considered during the surgical procedures. Injury to these places during the operation may lead to deformity or death. The anatomy of blood vessels is also discussed in the text; sites for the venasection are mentioned.

The ***Chikitasthana*** (treatment section) contains the management of wound by sixty procedures. It is the most comprehensive and ideal wound management. A number of major and minor surgical operations are described in relation to treatment of following ailments.

1. Wound.
2. Fracture.
3. Haemorrhoids.
4. Urolithiasis.
5. Fistula in ano.
6. Abdominal diseases including intestinal obstruction and perforation.
7. Confounded foetus or intrauterine foetal death.

8. Abscess and internal abscess.

9. Sinus, breast lump, cyst, lymphadenitis, tumour and thyroid swelling.

10. Hernia and hydrocele.

11. Minor surgical lesions.

The ***Kalpasthana*** deals with the toxicology. *Susruta* described various poisons and their antidotes in this chapter. Snake bite, rat bite, scorpion bite insect bite and there management is the subject of other chapters of *Kalpasthana*.

The ***Uttar tantra*** is the supplementary section of *Susruta Samhita*. It is comprises of *Salakyatantra* (Diseases of eye, ear, nose and throat), *Kaumarabhrity* (Pediatrics including Gynecology), *Kayachikitsatantram* (General medicine) and *Bhutavidya* (Psychological disorders). In the *Uttar tantra,* the anatomy of eye is described nicely. Surface anatomy of eyeball is discussed. Surprisingly susruta mentioned 76 eye diseases of them eleven diseases are excisable, nine scrap able, five incise able and fifteen can be managed by puncturing. Operations of pterigium and cataract along with other eye diseases are described.

The depiction of the area under discussion has been given in concise form in *Susruta Samhita*. The description of *Susruta Samhita* even after the period of 3-5 thousand years can be considered as up to date in all dimensions. The contribution of *Susruta* in the field of surgery cannot be summarized in few pages or chapter. A parallel aspect of surgical knowledge in *Susruta Samhita* is very much relevant in present time. There can be little doubt of the paramount importance of promoting the Vedic surgical skill through the mass communication media and institution of trained persons who are devoted to the *Ayurveda*. In this regard he persons of modern surgery and other discipline to join hands to exchange the knowledge for the betterment of the suffering humanity.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0 212-216).

Women as projected in Buddhism

Dr. Renu Shukla
K.G.M. Deharadun

Women of India, who have been receiving respect and veneration, have never received the position of real authority. Women not only conduct household life but also devote themselves to search for truth and advancement of spiritual life but they had invited contradictory views from different sections of people. The status of women in Indian Society has changed with time but a woman has been rarely understood by anybody. *Buddha* too, in spite of his liberal outlook could hardly check the growing tendency to regard woman as unfit for independence.

Appearance of the *Buddha* in sixth century B.C. was considered to be a turning point in the history of India. He proved himself strangely sensitive and profoundly affected by the sorrows and sufferings in the living world around him.[1]

Doctrinally, *Buddhism* has been egalitarian from its beginnings.[2] The moral prospects of *Buddhism* touched all classes irrespective of any sex consideration. It attracted a large number of women of all classes, chaste, unchaste, rich, poor, married and unmarried, who joined his order to lead a pious life in expectation of a happy rebirth or in the hope of a total exemption of happy rebirth and annihilation altogether (*Nirvana*).[3] Many of them were successful in learning the *Dhamma*, became eloquent teachers and played a major role in inciting the faith of royal families as well as of ordinary people. The *Buddha* admitted that women, having taken to the life of *pabbajja* in Buddhism, are capable of attaining the higher fruits of religious life as far as *Arhatship*.[4]

Undoubtedly during the Buddhist epoch women came to enjoy more equality and greater respect and authority than ever before. Although their activities were confined within certain spheres - principally the domestic, social and religious - their position in general began to improve[5] but the age long practices stood as permanent barriers in way of any drastic changes in status of women.

In *Buddhism* too struggle pervades the experiences of women. They struggle to gain permission to renounce and to maintain their vows of celibacy. Buddha's reluctant permission for forming an alms women's organization at the request of his foster mother

1. S.N. Sinha and N, K, Basu, women in Ancient India P. 160, Delhi 2002.
2. S. Vats, and Shakuntala Mudgal (ed), *Women and Society in Ancient India*, P. 185, Haryana 1999.
3. S. N. Sinha, and N. K. Basu, op cit P.178
4. Anguttar Nikaya IV. 276; Vinaya pitaka. II. 254
5. I. B.Horner, Women under primitive Buddhism, P.84 ed by Ray, Kumkum, women in early Indian socities, New Delhi, 1999.

and aunt *Mahapajapati*, who became the leader of the women's community is an interesting episode in this connection.[6]

The *Buddha* acknowledged that women are quite capable of becoming *arhat* but he also declared that the *samgha* would be weakened by the presence of women with in it and for this reason they must be controlled by special regulation; moreover because the *samgha* would be weakened, the true Buddhist teaching (*dhamma*), which would have endured for 1000 years, would only last 500[7] He apparently feared that this community was liable to bring ill repute on his whole organization.[8] In the hope of off setting this danger he promulgated additional rules to restrict the nuns and place them in a position subordinated to the monks.

Some of the restriction imposed on nuns might have been necessary for their physical weakness, but there are few which can not reasonably be justified. It is surprising to learn that a bhikshuni, though of a long standing must bow before a bhikhshu though he may have been just ordained.[9] A nun seeking higher ordination must have the sanction of both the *samghas* (monk and nuns)[10] it was not same in case of monks. They could be admitted without consulting the nuns at all. A bhikshuni was not allowed to spend the rainy season (*Varshavasa*) in a place where there was bhikshu.[11] At the termination of *varshavasa* a bhikshuni had to confess her faults, if any, before both the samghas of monks and nuns.[12] A nun had to seek absolution of certain offences from both the samgahas.[13] A bhikshuni could never preach before a congregation of monks though the selected monks could preach before a congregation of nuns.[14]

These rules were undoubtedly discriminative and were made to make the nuns always remember that they were inherently inferior to monks because of their sex. The permission that was given to women to join the church was not something revolutionary in the sixth century B.C., it had been done by *Parsvanath* in the eighth Century B.C. and was being done by several contemporaries of Buddha in fifth century B.C.[15] Even in Brahmanism, which was not a missionary religion, women like Sulbha and Gargi adopted

---

6. Mahapajapati Gautami, the foster mother of lord himself requested Buddha to establish an order for women. But he refused her request three times and only upon the intervention of Ananda, his kinsman and constant attendant did he agree to let and order be founded. Please see SBE vol XX, part III, *Kullavagga* X.11; X.1.2; X.1.3, P.320-22)
7. *Kullavagga* X.1.5, SBE Vol XX P. 325
8. A. K. Warder, *Indian Buddhism*, P 60, Delhi
9. Please see the tenth Khadhaka of *Kullavagga* for the details of the eight chief Rules for the Bhikkunis, SBE vol xx, *Kullavagga*, X.1.4. P.332-24
10. Ibid
11. Ibid
12. Ibid
13. Ibid
14. Ibid 65-66.
15. S.R. Goyal *History of Indian Buddhism*, Meerut, 1987, P.296

homeless life, when the Buddha left home and proceeded in search of *"Truth"* he was invited by two brahmana female hermits to stay in their hermitages.[16] This is also strange to notice that through out the vinaya the bhikkus are represented as bringing their questions and difficulties directly to *Buddha* , while the nuns are always represented as complaining through the medium of the bhikkus.[17]

The first Buddhist council held three months after Buddha's *parinibbana* also proves the discrimination against nuns. The council consisted of five hundred enlightened monks, none of the many learned, enlightened nuns were invited. Not only this on this occasion as accusation was brought against *Ananda* for allowing first nuns to pay respect to the body of the Buddha.[18] Such a mentality supports the view that the role of ordained women was not equivalent to that of monks, despite the Buddha's egalitarian teachings.

Chronologically speaking the position of woman in various Buddhist doctrines there is a general transformation of ideals from *Hinayana* to *Mahayana* and from *Mahayana* to *Vajrayana*. Initially women were rejected and idea of womanhood was repulsed as being unsuitable for achievement of "Buddha hood" or enlightenment. Later on there was a gradual acceptance of women also as part of *Buddha hood* or spiritual awakening. The outer form Or *"Lakashanas"* which were earlier given a great deal of importance and clung on to was gradually loosened and spiritually was revealed to have no significance or connection with gender but was above it all.

Among the various Buddhist schools there are two main view points concerning the ultimate goal of one Buddhist path – those who accept three final goals i.e. "*Arhat*", "*pratyekabuddha*" and "*samyaksambuddha*".[19] And those who accept one final goal to become fully perfect *Buddha*.[20] The majority of people, both women and men, aim at becoming *arhats* and achieving the peace of *nirvana*, rather than striving to become *Buddha's*. That women and men our equally capable of attaining *nirvana* and becoming *arhat* is clearly documented by records of many thousands of women who did so during the life of the *Buddha* and in subsequent Centuries[21] but so far as the attainment of Buddha hood is concern there are passages in a few *mahayana* texts which asserts that a fully enlightened *Buddha* manifests in a form complete with thirty two major and eighty minor marks, one of which is the mark of being male.[22] The historical *Buddha* was a

---

16. N. Dutt , *Early monastic Buddhism* , Calcutta 1971, P. 87.
17. I.B. Horner , OP. Cit. P.ii308
18. *Kullavagga* XI.1.10. SBE Vol. XX P.379-80
19. According to the thervadins and some mahayanist there are there possible final goals. One may become an arhat, a being who is liberated from cyclic existence, a pratyekabuddha as solitary realizer; or a samyaksambuddha , a perfectly enlightened being.
20. According to rest of mahayanist those who become arhat or pratyekabuddha eventually enter the mahayana path and become fully perfected Buddha.
21. The inspiring Verses composed by some of these female arhat collected in the paslm of the sisters *(Therigatha)*.
22. Mahapadanasuttanta , II. 1-54

male. The old *Jakka tales* and *Mahavastu* do not mention any references to female birth of Buddha. *Dasabhumikasutra* has proclaimed that women can not reach the last three stages in a series of ten stages of enlightenment. It is also stated that women can never occupied the five ranks viz. *Sakra god, brahma god mara god, universal monarch* and the rank of a *Buddha*.[23] Later on there is a broader acceptance of females as in the *Chinese Jatakas* and *Divyanadana* mention *Gautama* as having been a female in previous existences.[24] To deny the enlightenment potential of women would be seriously at odds with the central ideal of the *mahayana* , which is achieving the happiness and liberation to all sentient beings without exception. Perhaps a misogynist slant crept in centuries later when the teachings came to be written down.

In Several *Mahayana sutras* the dramatic narrative theme of changing the female body is found. In *Vimaladattasutra*,[25] *Vimaldatta* not only enlightened and is able to answer all questions posed to her by *Mahamaudagalayana* but is also able to change her form into that of a young boy. She goes to explain that all distinction of age, sex class and so on are irrelevant to the attainment of salvation and that the male or female body has nothing to do with the attainment of *Bodhisattva*. as it is genderless.[26]

The *Mahayana sutra* explain that a person aspiring to Buddha-hood must train in wisdom and method. *Wisdom* is likened to the mother. *Method* or skilfulness is likened to the father. Although wisdom is symbolized as female and method is symbolized as male, they are practiced by women and men alike. Both qualities are essential for spiritual development, for enlightenment both must be perfected.[27]

In *Vajrayana* Buddhism, which arose in northern India sometime after 400 A.D., there is more of an acceptance of women as capable of becoming *boddhi-sattvas* by disciples, preaching , meditation as taught by their master. According to the Vajrayana, to eliminate subtle delusions and achieve Buddha hood one must train in utilizing the winds , channels and drops , and for this, a person must practice the tantric teachings. Both women and men are equally capable of practicing tantra and achieving Buddha hood in one life time through these practices.[28] There are numerous examples of beings who have achieved Buddha hood in female form such as *Tara, Vajrayogini, Saraswati* and so on. The maleness on femaleness is not in genetic make up but is in the qualities which make a *bodhisattva* as both male and female qualities are equally relevant in the making of a balanced *Buddha*.

---

23. A Prominent reference is to that of the story of *Rupavati* , a compassionate woman , who fed a cannibal with her Own breast as having been an Bodhisattva , Buddha himself in his previous birth.
24. Saddharmapundarik XII
25. *Vimaladattasutra* XI 310; XI 338-339.
26. Ibid
27. Kusum Davendra , '*The Potentialities of women in Buddhism*'; Karma Lekshe Tsomo (Ed.) Daughters of the Buddha , Delhi , 1998 , P. 82.
28. Karma Lekshe Tsomo Op. Cit. P. 83

The detailed survey of the position of women and Buddhist approach towards them suggests that Buddha's *samadrishrti* contributed to their religious advancement and women enjoyed liberty to an honourable extent. *Buddha* laid stress on the fact that a woman like a man, reaps the fruits of her past *karma* and that she must depend on her own act for her future good or evil or salvation. *Buddha* discarded the rituals in which the wife played a secondary part and a barren woman or a widow had no place. He made no distinction between a man and a woman regarding the attainment of spiritual ends. The order of nuns was open to all the women. There was no distinction between one category and another. The education given to female novices and nuns was not different from that imparted to their male counterparts. But it must be admitted that in monastic order the place accorded to the nuns was lower than that of monks. The spiritual capacities of women was challenged and effort was made to prove theologically that women are inferior to men. Not only in religious field women is said to bear the burden of her own inferiority but even in secular sphere she is recognized as a much inferior creature to man.

Buddha himself contributed to the difficulties faced by the women in Buddhism. His hesitancy in opening the *samgha* up to women, the subservience he required as a condition for women's ordination, his stipulation that women dwell communally and his opposition to their taking position of authority contributed to the obstacles women faced. At the same time it is also important to keep in mind the social and cultural setting with in which the teachings were given. We also to take into consideration the possibility of interpolation by later writers, all male. Taking these factors in to account we need to think - What Buddha did was really something revolutionary and does it really had some effect on the formation of attitude towards women in society ? The question is still unsolved.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 4 (पृ0217-221)

SIGNIFICANCE OF RIVERS IN VEDIC LITERATURE

P.K. Bharti and D.S. Malik,
Department of Zoology & Environmental science,
Gurukul Kangri University, Hardwar-249404

Every thing originated in the water and every thing is sustained by water all life on earth depends on water. Water is very essential for the survival of all living organism there is a wide variety of beneficial uses of water. Man uses water for many purposes, drinking, irrigation, fisheries, industrial purposes, transportation and waste disposal. The origin of water on the earth is not clear so far. However, the current presumption is that the primordial earth had no oceans and perhaps volatile constituents bound in the earth crust oozing to the surface through volcanoes rock movements and hot springs, condensed to form the ocean and the atmosphere. This way come into being and eventually become an indispensable component of earth' environment.

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन महे रणाय चक्षसे।[1]

जल जीवन का रसायन है, वह ऊर्जा का स्रोत है और जैव विकास व अन्य क्रियाओं का माध्यम भी पृथ्वी परयही है।

Water is not only essential for life but predominant inorganic constituent of living mater forming in general nearly three quarters of the weight of living cells. It makes some 5 percent of the body weight of an adult human and can forms as 98 percent of the mass of certain jellyfish. Organisms, which contain relatively small amounts of water, are generally in dormant state or show very slow development; Seeds and certain invertebrates that live in arid environments are examples. On the other high rainfall over a land mass in variably means a large biomass per unit area. It is a common saying that "**life is not possible without water**". No body can imagine life without water. Water is our basic need even animal and plant can't survive without water. Thus life and water are inseparable faces of the same coin.

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मायक्ष्म नाशनीः।[2]

शुद्ध जल रोग नाशक है। मृत्यु से बचाता है।

Water is the most Essential commodity for all living creatures. Man needs it for his physiological existence water is the elixir of life It is the source of energy and govern the evaluation and function of the universe on the earth 97.3% of the worlds water i.c. 1.4 billion cubic kilometer ocean salty water cannot be used for agriculture domestic and industries purpose. Out of it 2.7% fresh water i.e. 73 x 10^6 cubic in the form of streams,

---

1. Yaju. 36.14
2. Atharv. 3.12.9

lakes, wells and tube wells i.e. 0.6% 8.5 x $10^{15}m^3$ is ground water which oceans at the depth of 80 meter below the ground surface (Kataria, 2000).

Neer or Pani or Jala (Water):

In Vedic Literature water is mainly called, as *Apah* we all know that waters is the elixir of life. All living organisms plants and animals are structurally 30-98% water. Besides being a structural component of body water is essential environmentally too. Water is the medium through which nutrients of soil underneath and above on the surface move horizontally as well as vertically water has great power of dissolving most of the inorganic components in mixture form and in the pure elemental and ionic form. Water provides a medium for interaction among different compounds water is a great nurture for plants as well as for animals water helps in conducting of energy the form of heat helps in maintaining a soothing climate, water acts as a rejuvenator and medicament it self (Rig 1.23.19).

अपस्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।[3]

Chemically water is the mono-oxide of Hydrogen i.e. (H.O.H). It freely disassociated into hydrogen and hydroxyl ions. The ionization product (H^+) and (OH^-) is about 10^{-14}. Water is a colourless liquid and possesses a high dielectric constant (81), and there for salts get highly ionized when dissolved in water but not so in the other solvents. Due to this property, water is known as universal solvent present on the earth that is why the natural water contains many salts in dissolved form. On the basis of amount these slats dissolved in the earth only 3% of the total water (approximately 1.4 billion cubic kilometer) is fresh and suitable for human consumption of this, less than 0.01% is associated with rivers and streams (Water Resources 1980).

There is a main source of water in India by the river by the rivers. In India fourteen major river systems share about 83% of the drainage basis i.e. Indian rivers carry about 16, 45,000 million cubic meter of water annually (Rao, 1964). The Himalayan rives receive 20-30% of their water from melting of snow and ice over of the world would keep flow for 830 years. But now a day due to the various natural and human activities including burning of fossil fuels, natural activities like volcanic eruption, deforestation etc. the earth atmosphere is warming regularly due to the increase in the CO_2 level in the atmosphere.

Modern civilization is dependent on water for irrigation, industry and domestic needs, shipping and of increasing importance for sanitation and disposal waste. Most of our water bodies such as ponds, lakes streams and rivers have become polluted and a consequence of increasing industrialization, urbanization and other development activities. Today many of the rivers of the world revives millions of litter of sewage, domestic wastes and industrial and agriculture effluents containing substances varying form simple nutrients to highly toxic substances viz. nitrates, selenium, cadmium,

3. Rig. 1-23-19

mercury, chlorinated hydrocarbons etc. In U.S.A. every major river has become seriously polluted. The great lakes, which furnish the greatest single sources of water to America and Canada, have already been polluted. Massive pollution turned Rhine into a dead river in the heart of western Europe.

Nadi (River):

In India all 14 major rivers including Coocum, Ganga, Gomati, Kaveri, Damodar and Mini-Mahi have become polluted. The river Damodar is perhaps the most heavily polluted river. Many parts of river do not seem to have any dissolved oxygen and no wonder that they fail to support the growth of desirable aquatic fauna and flora.

The river Ganga form Haridwar to Calcutta is treated as one unending sewer fit only to carry urban liquid waste, half burnt dead bodies, carrion, pesticides and insecticides. All along Grange's nearly 1,550 miles journey to the sea, some 27 major towns and cities have identified among which hardly a third have any thing resembling a sewage treatment plant of about 312 industrial units dumping their wastes in to the water, only the dozen have effluent treatment facilities. These 27 cities contribute 902 million litres of water to the river each day. The biggest culprits are the cities of Haridwar, Kanpur, Varanasi, Patna and parts of Calcutta form Kanpur alone 270 million litres daily of untreated sewage including 30×10^6 litres daily of industrial effluents flow into the river. The water of Ganga affects the health of 250 million of people in northern India.

We receive fresh water form the rivers but we also dump our wastes and other things in their water bodies, which has created the problem of water pollution.

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणु वा।।[4]

Don't dump the waste into river, never drain urine and other by-products; otherwise water will be polluted, which may be harmful for living organisms.

The Water of dozens of rivers is rivulets and lakes enhance the rich heritage of this Himalayan State, Among the numerous rivers and streams the Ganga, Yamuna, Alaknanda and Kali are of great religions significance in India the rivers are veritable gifts form mother India it self like her they too are all women and again like her they bear a touch of divinity. River have always been an Inseparable part of Hinduism Ganga to a Hindu is not only the river of life but also at the same time the river of Death for he longs to die beside it or at the very least to have wish ashes after cremation on cash in its water. It is believed that the Holy waters of this rivers washes away the sins and cleanness the soul of lesser mortals same of the facts about the quality of Ganges's water cannot be lightly diseased scientist heaver say they have established how the water will keep for a year in bottles and that cholera grams die in it with in a few hours or even that a tank reputed to be fed from the Ganga has the power of dissolving human bones within there

4. Manu. 4.56

days. Geologists firmly believe that the mineral contents of the water. Also makes the difference a Sanskrit verse that a Hindu recites at the time of taking the dip.

गंगे चयमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मद सिधुं कावेरी जले अस्मिन् सन्निधिं कुरु॥[5]

O Ganga, O Yamuna, and also Godavari and Saraswati and Narmada and Sindhu and Kaveri by your water I purify myself. This hymn to the rivers is also a hymn to the nation.

The Ganga is a holy river of India. Many Indians mainly 'Hindus' worship it like a Goddess. Ganga is known by many names like Bhagirathi Ganga etc. Ganga is one of the four mighty rivers of world. With its tributaries it is largest and very important rivers basin of the country. It is symbol of purity. **Alaknanda** and **Bhagirathi** form the river Ganga. The two parents Strom are snow fed and own their origin to the Himalaya glaciers known as **Gomukh**. Ganga after travelling a distance of 2525 km falls into **Ganga Sagar** (West Bengal).

The Ganga joins **Ram Ganga** at Kannauj and **Yamuna** at Allahabad. At Rishikesh the Ganga cuts across the Shivalik hills and for the first time enter the plains. Ganga is a holy river and it have a large importance Haridwar is located at the bank of river Ganga. Haridwar has a great Importance for the Ashrams and temples. It is estimated that about 1200 million litres of waste are released in Ganga from about 27 major cities situated at its banks. At Haridwar thousand of pilgrims take bath on every 'Snana-parv' like, Baishakhi, Sharad purnima, etc. and at the occasion of Kumbh many lacks of pilgrims take bath in the river Ganga.

Kumbh Snan

The Maha Kumbh Festivals is held once in 12 years at Haridwar, Allahabad, Nasik and Ujjain. There are some fixed days during the period of the Mela for bathing millions of people from all over India assemble at these places of pilgrimage to take advantage of the holy bath. Kumbh is the equivalent of Aquarians, the eleventh sign in the Zodiac and the Kumbh Mela (Festival) comes every twelfth year at a certain combination of Jupiter and the sun Midway between each Maha Kumbh, Purna Kumbh, occur the Ardha-Kumbh or half Kumbh.

The period during which the sun enters Aries (Mesha) in the zodiac and Jupiter is in Aquarius (Kumbh). The famous Maha Kumbh festivals will be observed and celebrated at the scared place of pilgrimages Haridwar Uttaranchal, India this is a festival which cases of once in 12 years in Haridwar. When Jupiter comes to the sign of Aquarius. Tradition has it that drops of the ambrosia of the gods fell in 12 places (8 places in he heaven and 4 places on earth). When it was carried away on the obtaining of the ocean.

5. Rig. 1-23-21

According the Kumbh Festivals is held at 4 places in India: at Haridwar at the Junctures of time mentioned above at Prayag (Allaghabad) when Jupiter is in Aries (Mesha); at Nasik, where Jupiter is in cancer (Kariatake); and at Ujjain when Jupiter is in Libra (Tula) thus in a period of 12 years four Kumbh festivals one held in four different places.

A Scared bath in the holy water of the Ganga at Haridwar at this period is regarded as very auspicious and a great blessing religions leaders, spiritual adepts, yogins, pontiffs and many other persons of mystical and spiritual eminence gather at this time in Haridwar and take their bath in the river Ganga and degrades the quality of its water not only by bathing but also by dumping other things like however ash and garbage so the Ganga water is polluted and that time necessary to check the water quality of Ganga River.

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।

शंयोरभि स्रवन्तु नः।।[6]

शुद्ध जल हमारे अभीष्ट की प्राप्ति एवं रक्षा के लिये कल्याणकारी हो। जल (प्रदूषण रहित) हम पर सुख समृद्धि की वर्षा करे।

Now it is important that we protect the quality and neutrality of Ganga water, now the time to come to devote more and more time and mind to study the various facts of this pollution.

According to Rigveda and Yajurveda water can be purified by water purifying air (dissolved oxygen) or any other gas, Sunrays or fire (temperature) and ions (Bhutiani and Khanna, 2005).

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।[7]

Vedas have the basic principle of modern sciences, including the methods for water purification. According to natural methods passing of sunrays through water purifies it (radiation disinfections in modern science).

Kusha grass also purifies the water.

आपोयद् वस्तपस्तेन तं प्रतितपतयोऽस्मान द्वेष्टियं वयं द्विष्मः।।[8]

One has to realize the need and importance of water conservation. Conservation and management of water resources was advocated even in ancient times when there was not much pressure on this resource. This is evident from this verse as quoted from the Atharvaveda.

---

6. Rig. 10.9.4
7. Rig. 1.12
8. Rig. 2.23.1